सूर और उनका साहित्य

लेखक
डॉ० हरवंशलाल शर्मा,
एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्
कुलपति
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय,
झाँसी।

भारत प्रकाशन मन्दिर (रजि०) अलीगढ़

प्रथम संस्करण को

भूमिका

हिन्दी-जगत मे सूर साहित्य सम्बन्धी अनेक ग्रन्थो के होते हुए, और पुस्तको के लिखने के प्रयास के औचित्य पर दो शब्द अपेक्षित है। साहित्य के विस्तीर्ण क्षेत्र मे व्यक्तिगत रुचि के अनुसार तो अनेक समस्याएँ होती ही है, किन्तु कुछ समस्याएँ ऐसी भी होती है, जिनका अनुभव साहित्य-सेवीमात्र को होता है। उनकी पूर्ति के प्रकार पृथक्-पृथक् हो सकते है। प्रत्येक लेखक साहित्य के मन्दिर मे किसी प्रयोजन और साधना को लेकर प्रवेश करता है। प्रत्येक प्रवर्तन मे प्रवृत्त व्यक्ति का कोई प्रयोजन और साधना मे मानसिक प्रेरणा अवश्य निहित रहती है। अत प्रस्तुत प्रवर्तन के मूल मे कोई प्रेरणा अथवा प्रयोजन है, यह कहने की आवश्यकता नही। बात यह है कि श्रीमद्भागवत और सूरसागर का तुलनात्मक अध्ययन करते समय मुझे अनेक प्रेरणाएँ मिली और सूर-सम्बन्धी उपलब्ध साहित्य के अवलोकन के उपरान्त कुछ आवश्यकताओं का भी अनुभव हुआ। गवेषणात्मक प्रबन्ध मे तो विषय की परिमिति और शोध-कार्य का सयति के प्रतिबन्धों के कारण न तो प्रेरणाओ द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर ही प्रवृत्त हुआ जा सकता है, और न ही आवश्यकताओ की पूर्ति पर विचार किया जा सकता है। इसलिए भक्त-कवि सूरदास पर एक स्वतन्त्र पुस्तक लिखने की बात मन मे आई, किन्तु कहाँ तो विश्व-साहित्य-गगन के देदीप्यमान नक्षत्र सूर; और कहाँ भौतिक वासनाओ का सपिण्ड पतंगा मैं? सूर के साहित्य-महोदधि का सन्तरण मानसिक दुर्बलताओ को लिए हुए मुझ से कतिपय साधनो के संबल द्वारा कैसे संभव हो सकता है? फिर भी—

'तितीर्षुर्दुस्तर मोहादुडुपेनास्मि सागरम्।'

उपलब्ध साहित्य-सामग्री के पतवारों के आधार पर यह दु साहस कर ही बैठा। यो तो सारे ही हिन्दी-साहित्य-सागर के मथन की आज आवश्यकता है, फिर भी भक्ति-कालीन साहित्य के पुर्नविवेचन और खोज-सामग्री के आधार पर नवीन तथ्यों के प्रकाश मे उसके पुन.पर्यवेक्षण की परम आवश्यकता है; क्योंकि इस युग के साहित्य मे भारतीय संस्कृति और धर्म की युग-युगान्तर की परम्पराएँ निहित है। खेद की बात है कि ब्रज-भाषा के बहुत से कवि अभी अन्धकार में हैं। कहना न होगा कि ब्रज-भाषा के कवि जहाँ एक ओर धार्मिक दृष्टिकोण से शताब्दियो से चले आते हुए भक्ति-आन्दोलन का समन्वित रूप प्रस्तुत करते है, वहाँ साहित्यिक परम्पराओं का भी प्रतिनिधित्व करते है। शताब्दियों तक ब्रज-भाषा उत्तरी भारत की साहित्यिक भाषा रही है और अनेक प्राचीन परम्पराओ को इसमे प्रश्रय मिला है। खड़ी-बोली, जिसका साहित्यिक रूप ही आज हमारी राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन है, ब्रज-भाषा के राजत्व-काल मे गँवारू समझी जाती थी।

महाकवि सूरदास जी का काव्य जहाँ एक ओर मँजी हुई साहित्यिक ब्रज-भाषा मे शताब्दियों से चली आती हुई साहित्यिक परम्पराओं को नये साँचे मे ढालकर प्रस्तुत करता है, वहाँ दूसरी ओर विभिन्न धार्मिक परम्पराओं का समन्वय भी उसमें है। उत्तर और दक्षिण भारत में युद्ध-काल से ही धार्मिक परम्पराएँ विभिन्न रूपों मे पनप रही थी, और राजनीतिक तथा सामाजिक

परिस्थितियो के अनुकूल उनमे बराबर परिवर्तन और सशोधन भी हो रहे थे। दसवी शताब्दी से पूर्व उत्तरी और दक्षिणी परम्पराओ के समन्वय का कोई अवसर न आ सका था। वैष्णव सम्प्रदाय के विभिन्न आचार्यो के द्वारा ही यह समन्वय सम्भव हो सका। स्वामी शकराचार्य जी से लेकर वल्लभाचार्य जी तक समन्वय की यह प्रक्रिया चलती रही, जो शास्त्रीय पक्ष तक ही सीमित न रह कर लौकिक पक्ष तक भी पहुँची। परन्तु इन आचार्यो की भाषा सस्कृत होने के कारण साधारण कोटि के मनुष्यो तक उनके विचारों की पहुँच सम्भव न थी। यही कारण था कि भक्त-सन्त जनता की भाषा मे ही सर्वसाधारण के लिए एक सरल भक्ति-मार्ग निकाल रहे थे। यह सन्त-समाज, क्या दक्षिण मे और क्या उत्तर मे, एक ही भावना से अनुप्राणित था। हो सकता है कि आलवार भक्तों का प्रभाव भी महाराष्ट्र मे से होता हुआ उत्तरी भारत मे आया हो। इन सन्तों की वाणी मे समन्वय का स्वर तो था, पर उसके साथ शास्त्रीय साज का आधार नही था। इस कमी को वैष्णव सम्प्रदायो मे दीक्षित सन्तो ने पूरा किया। उन्होने एक ओर तो शास्त्रीय परम्पराओ को लोक-रुचि के साँचे मे ढालकर प्रस्तुत किया और दूसरी ओर विभिन्न मत-मतान्तरो और सम्प्रदायो के अच्छे-अच्छे सिद्धान्तो का समावेश और समन्वय अपनी रचनाओं मे किया। ऐसे सन्तो मे महात्मा सूरदास अग्रगण्य है।

सूरदास जी के साहित्य का कई दृष्टिकोणो से अध्ययन हुआ है और विद्वानो ने उच्चकोटि की साहित्यिक सामग्री प्रस्तुत की है, परन्तु उसका यथासम्भव सर्वाङ्गीण विवेचन नही हुआ। इसी बात को दृष्टिकोण मे रखकर मैने यह प्रयास किया है और इस पुस्तक मे सूर के जीवन-चरित्र से लेकर काव्य-पक्ष तक विचार किया है। मै यह नि सकोच स्वीकार करता हूँ कि सूर-साहित्य-विषयक सभी उपलब्ध सामग्री का मैने उपयोग किया है। सूर-साहित्य की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हुए मैने पाठको के समक्ष एक नया दृष्टिकोण रखा है। मेरा अपना विश्वास है कि भक्ति-युग के सर्वश्रेष्ठ कवि किन्ही राजनीतिक परिस्थितियो के कारण भक्ति अथवा साहित्य के क्षेत्र में प्रवृत्त नहीं हुए थे, और न ही सामाजिक चित्रण उनका ध्येय था। व्यक्तिगत साधना मे लीन साधु को इन सब झमेलो से क्या लेना ? यह सत्य है कि एक विशेष सम्प्रदाय मे दीक्षित होने के कारण उसकी परम्पराओ का निर्वाह सूर ने अपना कर्तव्य समझा, परन्तु क्या वे सोलह आने उसका निर्वाह कर सके ? इस प्रश्न का असदिग्ध उत्तर खोज निकालने में हमें सन्देह है। भौतिकता से विरत हुए भक्त की तड़पन के साथ-साथ उनकी साधना मे जीवन-मुक्त साधक की निर्मल उद्दाम आनन्दकेलि भी है। स्थूल रूप से इन दोनो प्रकार की भावनाओ को प्रस्तुत करने वाले उनके पदो में हमे शताब्दियों से चले आते हुए भक्ति आन्दोलन का समन्वित रूप स्पष्ट दीख पडता है। सूर-साहित्य के आधार का विवेचन करने के लिए मैने भागवत के अतिरिक्त अन्य सभी वैष्णव सम्प्रदायों की भी छान-बीन की है, और सभी वैष्णव-सम्प्रदायो का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत किया है।

ग्यारह अध्यायो में विभक्त इस पुस्तक के अन्त मे सूर-साहित्य की कुछ ज्ञातव्य बातों की ओर भी सकेत किया गया है। प्रथम अध्याय मे सूर के जीवन-चरित पर विस्तार से विचार किया गया है और उनके जीवन से सम्बद्ध सभी उपलब्ध सामग्री के आधार पर निष्कर्ष निकाले गये है। इस सामग्री का विभाजन बाह्य और अन्त साक्ष्य के रूप मे किया गया है। प्रथम कोटि मे सूर के जीवन से सम्बद्ध वे घटनाएं ली है, जिनका उल्लेख सम-सामयिक तथा परवर्ती प्राचीन लेखको व कवियों ने अपनी कृतियों मे किया है। इसके अन्तर्गत साम्प्रदायिक-

साहित्य, वार्त्ता-साहित्य, परवर्ती कवियों और भक्तो के उल्लेख तथा तत्कालीन इतिहास-ग्रन्थ आते है। हिन्दी.साहित्य के इतिहास और सूर-विषयक आलोचनात्मक ग्रन्थ भी इसी कोटि मे आते है। दूसरी कोटि मे सूर के वे आत्म-विषयक कथन है, जो उनके पदों मे यत्र-तत्र प्राप्त होते है, और जिनकी सगति खीच-तान कर विद्वानों ने उनके जीवन से लगाई है।

दूसरे अध्याय मे सूर के साहित्य की मीमासा की गयी है। इस सम्बन्ध मे न तो वार्त्ता-साहित्य ही मे, और न ही उनके सम-सामयिक इतिहास-ग्रन्थो मे कोई विशेष उल्लेख है। इसलिए खोज-रिपोर्ट, इतिहास-ग्रन्थ एव पुस्तकालयों मे सुरक्षित उन पुस्तको के आधार पर उनके साहित्य का निर्णय किया गया है, जो सूर के नाम से प्रचलित है। इन ग्रन्थों की प्रामाणिकता, अप्रामाणिकता तथा विषय-क्रम का विवेचन भी किया गया है। इस विषय मे एक महत्वपूर्ण बात यह है कि सूरसागर के संग्रहात्मक और द्वादश-स्कधात्मक सस्करण प्राप्त होते है। दोनों ही प्रकार के प्राप्त ग्रन्थों का तुलनात्मक विवेचन करते हुए वार्त्ता-साहित्य और साम्प्रदायिक परम्पराओ से उनकी संगति लगाने का प्रयत्न किया है।

तीसरे अध्याय मे सूर-साहित्य की पृष्ठ-भूमि प्रस्तुत की है, जो भारत के मध्य युग का इतिहास है और जिसमे वह महान् व्यापक आन्दोलन अन्तर्हित है, जो भक्ति-आन्दोलन के नाम से प्रसिद्ध है। वास्तव मे विभिन्न युगो के अभेद्य स्तरो के बीच से मन्द-मन्द किन्तु अव्याहत गति से बहती हुई, अनेक दिशाओ से उलटी-सीधी बहकर आने वाली विविध विचार-धाराओ को आत्मसात् करती हुई, भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो की सिद्धान्त-सार-सुधा से प्राणियो के अन्तःकरण को तृप्त करती हुई, भारतीय साधना की मन्दाकिनी का आश्रय इस महाकवि का 'सागर' है। भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन वैदिक काल से लेकर सूफियों के समय तक की विभिन्न साधनाओ का अध्ययन है। वैदिक काल से चली आती हुई भक्ति की वह अजस्रधारा—जो उपनिषदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों, स्मृतियो और पुराणो के मार्ग से बहती हुई अपना रूप और मार्ग बदल चुकी थी, इस भक्ति-आन्दोलन के महाप्रवाह मे विलीन हो गयी। बौद्धो और जैनो की भी वह धर्म-साधना, जो अहिसा को परमधर्म मानकर चली थी और पीछे मायिक जजालो मे फँसकर अपने मूल स्वरूप को विस्मृत कर चुकी थी, इस भक्ति-आन्दोलन मे सहायक बनी। दक्षिण के आलवार भक्तों की भक्ति-भावना, सच्चे हृदय की प्रतीक थी और लोक-गीतो तथा ग्रामीण भजनों मे प्रस्फुटित होती हुई दक्षिणप्रान्त के दिग्गज आचार्यो के सिद्धान्तों का मूल कारण बन चुकी थी, इस भक्ति-आन्दोलन को प्रेरणा देने वाली हुई। नाथ-योगी सम्प्रदाय का भी इसमे अपना स्थान है। इन भारतीय सम्प्रदायों और मत-मतान्तरों के अतिरिक्त मुसलमानों; विशेषकर सूफियों की वह एकान्त साधना भी, जो ज्ञान और उपासना का समन्वय उपस्थित करती हुई सच्चे हृदय की प्रेरणा के रूप मे दीख पडी, भारतीय धर्म-साधना को प्रभावित कर रही थी। इन विभिन्न प्रवाहो को आत्मसात् करता हुआ भक्ति का यह विपुल प्रवाह १६वी शताब्दी तक इतना विशाल और अतलस्पर्शी हो गया कि सारा समाज उसमे आकण्ठ निमग्न हो गया। इन धार्मिक परिस्थितियों के अतिरिक्त सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियों पर भी इस अध्याय में प्रकाश डाला गया है।

चतुर्थ अध्याय में भक्ति-आन्दोलन में दक्षिण के योग और वैष्णव सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का विवेचन हुआ है। वास्तव मे ८वीं शताब्दी से १५वी शताब्दी तक दक्षिण ही सुधार का केन्द्र रहा। वैष्णव, शैव आदि भक्तों ने भक्ति पर बल दिया और आचार्यो ने अपने-अपने दार्शनिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया। राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनो के कारण धर्म की जो धारा दक्षिण

मे पहुँच गई थी, वह अवसर पाकर फिर उत्तरी भारत की ओर बही और अनुकूल वातावरण पाकर एक अत्यन्त विशाल और विस्तृत प्रवाह मे परिणत हो गई। चैतन्य महाप्रभु और वल्लभाचार्य ने इसमे विशेष योग दिया। चैतन्य ने भक्ति मे भाव-पक्ष की प्रबलता पर जोर दिया, और वल्लभाचार्य ने विधि-विधान और बाह्य रूप को विशेष प्रश्रय दिया। सूरदास जी पर चैतन्य का भी पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। सहजिया, सखी और राधावल्लभीय आदि सम्प्रदाय इस युग मे रागात्मिका भक्ति से प्रेरित होकर अपने सिद्धान्तो का प्रचार जनता मे कर रहे थे; और साथ ही साथ सन्तो का एक वर्ग मनुष्य की सामान्य भाव-भूमि के आधार पर जाति-पाँति के बन्धनो से परे, साम्प्रदायिकता के आवरण को दूर फेंककर एक ही ईश्वर की निष्ठा का प्रतिपादन कर रहा था। इन सभी सम्प्रदायों का इस अध्याय मे उल्लेख किया गया है। हमारे चरितनायक भक्त-प्रवर सूरदास इस भक्ति-पारावार मे डूबती-उतराती जन-साधारण की नौका के कर्णधार कहे जा सकते है, जिन्होने मत-मतान्तरो के झझावात से डगमगाती हुई उस साधना-तरणि को प्रेमाभक्ति की पतवारो से ब्रजधाम के स्वर्णतट पर लाकर खडा कर दिया। ससार के सकीर्ण वातावरण मे तडपते हुए मानव को उन्होंने उस उच्च भाव-भूमि पर लाकर बैठा दिया, जहाँ एक ओर तो वह ऐहिकता की कलुपित दुर्गन्ध से मुक्त होकर ईर्ष्या-द्वेष, छल-कपट आदि से रहित उन्मुक्त वायु-मण्डल मे साँस ले सका; और दूसरी ओर सासारिक ताप से तप्त मनुष्य की दशा पर आँसू बहाता हुआ हाथ बढ़ाकर उसे ऊपर उठने मे सहारा दे सका। इस प्रकार जनता की कुत्सित वृत्तियों का परिष्कार कर उन्हे कृष्ण-भक्ति की ओर उन्मुख कर सूर ने लोक-कल्याण का बड़ा भारी कार्य किया।

'पुराण-साहित्य और कृष्ण का विकास' शीर्षक पचम अध्याय मे पुराण-साहित्य के विश्लेषण के साथ वैदिक-साहित्य से पौराणिक युग तक के कृष्ण-विषयक उल्लेखों पर विचार किया गया है। हमारा अपना अनुमान है कि पुराणों की स्थिति चाहे किसी रूप मे क्यों न हो; वैदिक काल में भी थी। अपनी इस मान्यता की पुष्टि मे हमने वैदिक-साहित्य से प्रमाण भी उपस्थित किये है। यह बात अवश्य है कि जिस रूप में पुराण आज उपलब्ध है, उस रूप मे प्राचीनकाल मे न रहे होगे। किन्तु पुराणो में जितने भी मुख्य तत्व दीख पडते है, उन सभी के सूत्र वैदिक-साहित्य में किसी न किसी रूप मे मिल जाते है। अन्तर केवल इतना है कि वैदिक ग्रन्थों में उनका आभास मात्र है, और पुराणों में विकसित रूप। 'पुराण संहिता' शब्द से हमारे इस कथन की पुष्टि होती है। बात यह है कि जैसे-जैसे हमारे वाङ्मय का सकलन और सम्पादन होता गया, वैसे-वैसे ही पुराण-साहित्य विकसित होता गया और उसमे नवीन-नवीन कथाओ का समावेश, वशों का वर्णन और सिद्धान्तो का संकलन होता गया। आगे चलकर जब कई धार्मिक सम्प्रदायों का जन्म हुआ तो उन्होने पुराणो को अपने प्रचार का साधन बनाया। महाभारत के पश्चात् पुराण-लेखन-प्रवृत्ति ने और भी बल पकड़ा। इसमें सन्देह नहीं कि यह प्रवृत्ति मध्य युग के अन्त तक चलती रही। रूपक की प्रवृत्ति ने वास्तविकता को और भी अन्धकार मे धकेल दिया और वह साधरण मनुष्यों की दृष्टि से ओझल हो गई। पुराणों के विषय-विवेचन के अनन्तर हमने कृष्ण के विकास पर विचार किया है कि—किस प्रकार भारत मे उत्तरोत्तर विष्णु की भक्ति का विकास होता गया और उनका महत्व बढ़ता रहा तथा वासुदेव, कृष्ण, नारायण आदि विष्णु के ही अवतार माने जाने लगे। आगे चलकर तो 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' का विश्वास ही जम गया। इस विषय से वैदिक-साहित्य से पुराण-

साहित्य तक के कृष्ण विषयक उल्लेख विचारणीय है। उन उल्लेखों के आधार पर ही पाश्चात्य विद्वानों ने कृष्ण की ऐतिहासिकता मे सन्देह करते हुए उन्हे भाव-जगत् का ही पात्र माना है। वैदिक-साहित्य से लेकर हिन्दी के भक्ति-कालीन साहित्य तक कृष्ण के जिन-जिन स्वरूपो की कल्पना होती गई, उनका ब्यौरेवार विवेचन करते हुए हमने उनका सम्बन्ध कृष्णभक्ति-साहित्य के चरितनायक, ब्रजवासी लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण से जोडा है; जो प्रेमा-भक्ति के आलम्बन, गोप-गोपियों के सर्वस्व, राधावल्लभ और नटनागर है। वास्तव मे इतिहास के विद्यार्थी के लिए गोपाल कृष्ण की खोज एक दुस्तर समस्या है, क्योंकि महाभारत तक मे गोपाल कृष्ण की कथा के सूत्र सतोषजनक नही प्राप्त होते और जो कुछ है भी, उन्हे आधुनिक आलोचक प्रक्षिप्त ही मानते है। कृष्ण चरित-सम्बन्धी पुराणों मे भी कुछ-एक मे ही गोपाल कृष्ण की कथाएँ मिलती है—जिनमे हरिवश, ब्रह्मवैवर्त्त और भागवत-पुराण ही विशेषतया उल्लेखनीय है। आधुनिक विद्वानों ने तो यह अनुमान लगाया है कि गोपालकृष्ण तथा बालकृष्ण वाली कथाओं का सम्बन्ध वासुदेव के साथ आभीरों द्वारा किया गया। पाश्चात्य विद्वानों ने आभीरों को बाहर से आई हुई जाति माना है। किन्तु उनका यह मत हमे मान्य नही, और उसके खण्डन मे हमने अपने तर्क भी दिये है। कृष्ण और कृष्ण-भक्ति को ईसाईयत की देन बताना भी हमे वायु-विकार-जन्य प्रलाप से अधिक नही जँचता। कृष्ण-भक्ति का सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ श्रीमद्भागवत है, जिसने दसवी शताब्दी से कृष्ण-भक्ति-साहित्य को पूर्णतया प्रभावित किया है। इसलिये इस ग्रन्थ मे जिस रूप में कृष्ण का चित्रण हुआ है, उसका विवेचन करना भी हमने उचित समझा और अन्त में बताया है कि सूर ने कृष्ण के किस रूप को अपना उपास्य माना है।

छठे अध्याय में श्रीमद्भागवत और सूरसागर का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस विषय पर शोध-कार्य करते हुए मुझे विद्वानो से जो सुझाव प्राप्त हुए, उनका भी मैने इस प्रकरण मे समुचित समावेश किया है। जैसा कि आचार्य प्रवर डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने सुझाव दिया था कि—किन्ही दो लेखकों या ग्रन्थों की तुलना करने के लिए आवश्यक है कि उनके विषय के अतिरिक्त काल पर भी विचार किया जाय, इसलिये मैने भागवत के स्वरूप-निर्धारण के साथ-साथ उसकी प्राचीनता पर भी विचार किया है। इसमें सन्देह नहीं कि श्रीमद्भागवत नाम के पुराण का अस्तित्व बहुत प्राचीन-काल में भी था; किन्तु आज जिस रूप से वह उपलब्ध है, वह अवश्य ही बाद का संस्करण है और यह एक ही कवि की कृति है। हमारा अनुमान है कि भागवत के रचयिता को ९वीं शताब्दी से आगे नही खींचा जा सकता। अन्त:साक्ष्य के आधार पर यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि इस ग्रन्थ की रचना दक्षिण में ही हुई होगी। जहाँ तक श्रीमद्भागवत और सूरसागर की तुलना का प्रश्न है, वह केवल भक्ति-भावना के आधार पर ही टिक सकता है; क्योंकि—

१—दशम स्कन्ध के अतिरिक्त अन्य स्कन्धों में भागवतानुसरण की बात केवल दुहराई गई है, अनुसरण किया नही गया। दशम स्कन्ध मे भी गेय पदों में सूर की दृष्टि भागवत की अपेक्षा भावना के अधिक विस्तृत प्राङ्गण में चौकडी भरती दीख पडती है।

२—भागवत मे आये हुए पौराणिक और ऐतिहासिक आख्यानो की सूरसागर मे पूर्ण उपेक्षा की गई है, कथाओं मे पारस्परिक सम्बन्ध भी नही है और पद भरती के से प्रतीत होते है।

३—भागवत के दार्शनिक पक्ष को भी सूरसागर मे प्रश्रय नही दिया गया है । स्तोत्रो और प्रवचनों के रूप मे भागवत मे दार्शनिक सिद्धान्तो की जैसी विस्तृत व्याख्या मिलती है, उसका लेशमात्र भी सूरसागर मे नही । वस्तुत 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' वाली उक्ति भागवत के दार्शनिक पक्ष से ही चरितार्थ होती है ।

४—जिस स्थान पर सूरसागर मे 'भागवत' के वर्णन को ज्यो का त्यों अपनाने का प्रयास किया भी गया है, वहाँ उसमे शिथिलता आ गई है और वर्णन से अस्वाभाविकता-सी प्रतीत होती है । ऐसे प्रसङ्गो मे कवि का कथन नीरस और कथापूर्ति हेतु किया हुआ प्रतीत होता है । ऐसे स्थलो मे कही तो वर्णनात्मक शैली के दर्शन होते है और कही ऐसी अस्पष्ट समास-शैली मिलती है कि ज्ञात होता है, मानो कवि को कथाओ का भार बलात् ढोना पड रहा है ।

सप्तम अध्याय में सूरदास के कृष्ण और गोपियो का स्वरूप दिखाया गया है । इस प्रकरण में हमने सूर के पात्रों को भागवताकार के पात्रो की तुलना मे रख कर देखा है । यद्यपि सूरदास जी ने कृष्ण के मानव रूप को ही प्रधानता दी है; फिर भी वे उनके अतिप्राकृत, लोकातीत रूप के चित्रण का लोभ सवरण नही कर सके है । यह दूसरी बात है कि मानवीय रूप की स्वाभाविकता के कारण उनका अलौकिक रूप दब-सा गया है । कृष्ण का रूप, सोन्दर्य-वर्णन, उनकी क्रीडाओ और चेष्टाओ का विवेचन तथा विभिन्न सस्कारो, उत्सवो और समारम्भो का विवरण सूर की अपनी मौलिकता है, साथ ही साथ कृष्ण की अलौकिकता की छाप सूर की भक्ति-भावना को भूषित करती चलती है । गोपियो के चित्रण मे भी सूर ने अपनी मौलिकता दिखाई है । सूर द्वारा गोपियों के चित्रण मे एक विशेषता यह है कि किसी गोपी का व्यक्तित्व पृथक् से विकसित नही हो पाया है । सब का लक्ष्य राधा की दशा को प्राप्त करना ही रहा है । ऐसा करने से गोपियों के चरित्र के विकास को बडी ठेस पहुँची है । 'भ्रमर-गीत' मे भी सूर ने गोपियों को सामूहिक रूप में ही लिया है । भागवत की भाँति उन्होने उनमे अतिप्राकृत तत्व का आरोप नही किया । उनकी गोपियाँ ब्रज की भोली-भाली नारियाँ है, जिनमे सभी मानवीय दुर्बलताएँ है, और यही कारण है कि बसन्त और फाग के अवसर पर उनकी प्रगल्भता बहुत मात्रा मे बढ जाती है । गोपियो के चित्रण में सूर पर चैतन्य-सम्प्रदाय का भी प्रभाव पडा है, परन्तु गौडीय वैष्णव आलकारिको की गोपियों से वे अलग रही है । इस प्रकरण मे सूर की राधा पर विचार करते हुए हमने राधा के विकास पर भी प्रकाश डाला है; क्योंकि कृष्ण की भाँति राधा के विषय मे भी पाश्चात्य विद्वानों ने अनेक कल्पनायें की है । कृष्ण के समान राधा का चरित्र भी अनेक वैष्णव और अवैष्णव सम्प्रदायो से प्रभावित हुआ है । राधा का विकास दिखाते हुए हमने यह निष्कर्ष निकाला है कि ब्रह्मवैवर्त्त पुराण की रचना से बहुत पहले राधा भाव-जगत् की वस्तु बन चुकी थी । सूर से पहले राधा का विवेचन करने वाले संस्कृत-ग्रन्थ ब्रह्मवैवर्त्त पुराण एवं गीत-गोविन्द है, तथा भाषा में विद्यापति और चण्डीदास ने राधा का वर्णन किया था । राधा के चित्रण में सूर अपने पूर्ववर्त्ती कवियो से कहाँ तक प्रभावित हुए तथा कहाँ तक उन्होने अपना मौलिक चित्रण प्रस्तुत किया ? इस पर भी हमने इस प्रकरण मे विचार किया है । वास्तव में सूर की राधा में—विद्यापति, जयदेव, चण्डीदास और ब्रह्मवैवर्त्त की राधा की विशेषताओं का समन्वय तो हुआ ही है; साथ ही स्वाभाविक मनोवैज्ञानिकता के स्वर्णिम वर्ण से उन्होंने अपनी राधा को ऐसा रूप दिया है कि उनसे पहले के सभी चित्र फीके पड़ गये है। उनकी राधा के प्रेम मे स्वाभाविक विकास है। उन्होंने कैशौर्य की संयत

चपलता और यौवन के उद्दाम सागर मे डूबती हुई राधा का ही चित्रण नही किया, अपितु अपने भोलेपन से सबके मन को हरने वाली और सहज निर्वाध तरलता से मनमोहन श्याम का मन मोहने वाली 'बालिका राधा' का भी चित्रण किया है। यह सूर की अपनी देन है, निजी मौलिकता है। उनकी राधा में चाहे परकीया की तीव्र वेदना न हो, परन्तु स्वकीया की गम्भीर और स्वाभाविक उत्कंठा अवश्य है।

अष्टम अध्याय में सूर के दार्शनिक सिद्धान्तो का विवेचन किया गया है। यद्यपि सूरदास जी तत्वत दार्शनिक नही थे, वे तो सन्त-भक्त और सिद्ध-कवि थे। उनका लक्ष्य दार्शनिक सिद्धान्तो का विवेचन नही था। भगवान् की भक्ति मे विभोर हुए उनके हृदय की तन्त्री से जो राग स्वतः निर्गत हुए, उन्ही का सकलन सूरसागर है। फिर भी हम इस ग्रन्थ को शताब्दियो से चली आती हुई धार्मिक परम्पराओं का आश्रय स्थल कह सकते है। इसलिये भक्ति-रस से लबालब भरा रहने पर भी इसमे सिद्धान्त-रत्नों की कमी नही है, किन्तु स्वतन्त्र रूप से इसमे दार्शनिक सिद्धान्तो की प्रतिष्ठा सिद्ध करना सम्भव नही। इसलिये सूर के दार्शनिक पक्ष को समझने के लिए जहाँ पिछले कई शताब्दियों के धार्मिक आन्दोलन का मन्थन आवश्यक है, वहाँ विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायो के सिद्धान्तों का परिचय भी अपेक्षित है। वैष्णव सम्प्रदायों ने अपना आधार श्रीमद्भागवत को माना है, और वल्लभ सम्प्रदाय में तो उसे बहुत ही अधिक मान्यता मिली है। इसलिए इस प्रकरण मे हमने भागवत के मुख्य दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए वल्लभाचार्य जी के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवरण प्रस्तुत किया है। वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यो ने श्रीकृष्ण-लीलाओं को भी आध्यात्मिक रूप मे लिया है और गोपी, गोप, राधा, मुरली आदि को प्रतीक रूप देने से स्वीकार किया है। चैतन्य महाप्रभु के शिष्यो ने तो वैष्णव सम्प्रदायों को शास्त्रीय रूप मे बहुत योग दिया। इस प्रकरण मे हमने कृष्ण लीलाओ के आध्यात्मिक पक्ष और प्रतीकार्थो पर विस्तार से विचार किया है; और फिर जीव, जगत्, संसार, माया, मोक्ष आदि के विषय मे सूर की मान्यताओं का विवेचन किया है। इन सभी विषयो मे सूर ने केवल अपनी मौलिकता ही नही, निर्भीकता भी दिखाई है। उन्होंने दार्शनिक सिद्धान्तों की कवायद नही की है। ब्रज-भूमि मे प्रवेश करने से पहले चाहे उनका मन माया और अविद्या को कोसने मे रमा हो, ब्रज के स्पर्श से तो मानो उन्हें परमधाम की प्राप्ति ही हो गयी थी, जहाँ पहुँचकर भगवान् की लीला-गान ही वे अपना कर्तव्य समझते रहे। जीवन्मुक्त भक्त को मोक्ष की विभिन्न कोटियों के पचड़े मे पडने से क्या मतलब ? इसलिये सूरसागर मे दार्शनिक सिद्धान्तों का क्रमिक विवेचन नही मिलता, किन्तु एक विशेष सम्प्रदाय मे दीक्षित होने के कारण उसका प्रभाव अवश्य लक्षित होता है।

नवम अध्याय मे सूर के भक्ति-पक्ष पर विचार किया गया है। पहले तो भक्ति का विकास दिखाते हुए उनकी व्याख्या की गई और वैदिक-काल से लेकर पौराणिक युग तक के भक्ति-सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है।

श्रीमद्भागवत, शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र और नारद-भक्ति-सूत्र के अनुसार भक्ति का विवेचन करते हुए, सूर की भक्ति-साधना पर विस्तृत रूप से विचार करने के लिए हमने उसे पाँच शीर्षकों मे विभाजित कर दिया है।

१—साधारण भक्ति-विवेचन,
२—वैराग्यपूर्ण-भक्ति,

३—वैधी-भक्ति,

४—प्रेमारूपा-भक्ति,

५—पुष्टिमार्गीय-भक्ति ।

सूर ने इस प्रपञ्चात्मक जगत् से छूटने का एकमात्र उपाय श्रीहरि-भक्ति ही माना है, जिसके बिना समस्त जीवन ही भार स्वरूप है । भक्ति-रहित जीवन अधार्मिक जीवन है । कलियुग के सतापकारी तापत्रय का शमन भक्त के कोमल हृदय से बहते हुए भगवद्-भक्तिरस के शीतल स्रोत से ही सम्भव है, जो केवल भौतिक संघर्ष-जन्य क्लान्ति को ही दूर नही करता, प्रत्युत मानसिक कालुष्य का प्रक्षालन कर हृदय को भी स्वच्छ करता है, और उसे उच्च भावों के ठहरने योग्य बनाता है । कर्म-काण्ड के जाल की जटिल उलझन मे फँसी हुई जनता धर्म के लुब्धक ठेकेदार, पडित, पुजारियों की बगुला-भक्ति का शिकार बन रही थी । तीर्थ, जप, व्रत आदि का व्यर्थ ढकोसला वास्तविकता पर आवरण डाल कर धर्म के मूलभूल तत्वों का अपहरण कर रहा था । तुलसी की तरह सूर ने भी अपने चारों ओर के संसार को आँख खोलकर देखा और ऐहिक लालसा की मृग-तृष्णा के पीछे भटकते हुए मानव-मन कुरंग को भगवद्भक्ति-सरिता के सरस कूल पर लाकर छोड़ दिया । भौतिक विषयो के दुष्परिणामों का उद्‌घाटन और प्रभु-प्रेम का प्रतिपादन उन्होने इस खूबी के साथ किया कि लोग हरि-लीलागान मे अनायास ही रत हो गये और भक्ति के बिना समस्त साधनों को बन्धन समझने लगे । ज्ञान और वैराग्य को भक्ति का साधक बनाकर उन्होने भक्त के पद की प्रतिष्ठा की, तथा ज्ञान एव योग द्वारा अगम्य तत्व को भी भक्ति के सरल मार्ग द्वारा गम्य बताया । भक्ति स्वतः पूर्ण है, वह साधन नही—साध्य है, व्यापार नही—लक्ष्य है, और उसकी प्राप्ति सब कामनाओं की इतिश्री है ।

सूर की भक्ति मे शास्त्र-प्रतिपादित भक्ति के सभी प्रकार मिल जाते है, साथ ही साथ सामयिक प्रभाव और मौलिकता का भी उनकी भक्ति मे पुट है । उनकी राधा, कृष्ण और गोपियों की शृंगारिक चेष्टाओं के पीछे भक्ति का वह रूप स्पष्ट झाँकता हुआ दिखाई देता है, जो समाज में प्रचलित लोक-गीतों और परम्पराओं मे विद्यमान था । सूर की भक्ति अन्त.करण को प्रेरणा और हृदय की अनुभूति थी, परन्तु भक्त होने के साथ-साथ वे कवि भी थे । यही कारण है कि उनकी भक्ति मे कवि-सुलभ कल्पना का योग भी हो गया है । भक्ति और साहित्य के उन्मुक्त वायुमण्डल मे सूर की कल्पना ने व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव के पंख खोलकर इतनी ऊँची और लम्बी उड़ान भरी है कि दर्शकों को कभी-कभी तो यह आभास होता है कि वह किसी अन्य लोक की यात्रा कर रही है, परन्तु सत्य यह है कि इतने ऊँचे पर उडते हुए भी उसकी दृष्टि सदैव धरा पर ही लगी रही है ।

दसवे अध्याय मे पुष्टि-सम्प्रदाय का विवेचन किया गया है और यह बताया गया है कि इसमे सूरदास जी की स्थिति क्या थी, और सूरसागर में पुष्टि-मार्ग के तत्वों का किस रूप मे विवेचन हुआ है । इस प्रकरण में पुष्टि-सम्प्रदाय की ऐतिहासिकता पर विचार करके पुष्टि-मार्गीय भक्ति के सिद्धान्तों का विवरण प्रस्तुत किया है और वल्लभाचार्य जी के ग्रन्थों का भी विशेष रूप से आश्रय लिया गया है । इसके पश्चात् श्रीमद्‌भागवत में पुष्टि-तत्व की खोज करते हुए 'व्रत्रासुर-चतु श्लोकी' पर विचार किया गया है, जो पुष्टि-मार्ग की सिद्धान्त-सूचिका कही जाती है । पुष्टि-मार्गीय सेवा के क्रम का उल्लेख करते हुए अन्त में 'सूरदास और पुष्टि-मार्ग' नामक शीर्षक से

हमने सूर की पुष्टि-मार्गीय भक्ति पर विस्तार से विचार किया है। सूर ने पुष्टि-मार्गीय तत्वों का बडा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है और कृष्ण-चरित मे अत्यधिक अतिमानवता स्वभाव से ही निषेध कर पुष्टि-मार्गीय भक्ति को सर्वसाधारण के लिये सुगम बनाने का प्रयत्न किया है। इसलिये सूरदास न तो वैष्णव आलकारिको के बन्धन मे बँधे, न ही उन्होने भागवत का गुणगान किया; और न ही वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित पुष्टि-मार्ग का यथावत् विवेचन अपना कर्त्तव्य समझा। वे तो पुष्टि-सम्प्रदाय मे दीक्षित होने पर भी साम्प्रदायिकता से बहुत दूर थे। उनका अपना अलग व्यक्तित्व है। उनका काव्य एक महान् सागर है, जिसमें अनेक प्रकार के रत्न छिपे है। मरजीवा बनकर कोई प्रयत्न करे, तो निकाल सकता है।

एकादश अध्याय में सूर-काव्य की आलोचना प्रस्तुत की गई है। पहले आलोचना के सामान्य रूप पर विचार करते हुए यूरोपीय और भारतीय काव्य-शास्त्र-परम्परा का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया है। भक्त कवि सूरदास की आलोचना करते समय हमने इस बात का ध्यान रखा है कि उनके काव्य का आधार भाव है। भक्ति-भाव से प्रेरित होकर ही उनका हृदय काव्य-मय गीतों में अभिव्यक्त हुआ। उनके भाव-विधान का आधार मनोवैज्ञानिकता है, इसलिये आलोचना के नवीनतम सिद्धान्तों की कसौटी पर भी, जिसके अनुसार मनोविश्लेषण का बडा महत्व है, उनकी कविता खरी उतरती है; और भारतीय आलोचना पद्धति के अनुसार वे महान् कवि ठहरते है। उनकी कविता में पाश्चात्य समीक्षकों द्वारा प्रतिपादित रागात्मक तत्व, कल्पना तत्व, शैली-तत्व, तथा बुद्धि तत्व तथा भारतीय आचार्यो के भाषा, शैली, रस और अलकार-विधान आदि तत्वों का समाहार बड़े ही कौशल के साथ हुआ है। कवि की गेय-पद शैली का विवेचन करते हुए हमने गेयपद शैली के विकास और महत्व पर भी विचार करना उचित समझा। हमारी दृष्टि से सूर ने भावमय गीत-शैली के शास्त्रीय परिष्कार मे अपूर्व योग दिया है। गेयपद शैली के अतिरिक्त उनकी दृष्टि कूट-पदशैली और वर्णनात्मक शैली पर भी हमने प्रकाश डाला है तथा काव्य में अलंकार-योजना के स्वरूप निर्धारण कर सूर द्वारा प्रयुक्त अलंकारों का विवेचन किया है। वास्तव मे सूर का वाग्वैदग्ध्य सहृदयता से समन्वित है और यही कारण है कि उनके काव्य मे अलंकारों के घटाटोप के दर्शन नही होते। वे अपने रूप-चित्रण में सर्वत्र संवेदनशील दीख पडते है। किसी वस्तु के साक्षात्कार से जब कवि की सौन्दर्यानुभूति सजग हो उठती है, हृदय तल्लीन हो जाता है, तो उसकी कल्पना उस वस्तु के सौन्दर्य को अधिक हृदयग्राही और प्रभावोत्पादक बनाने के लिये अप्रस्तुत व्यवहार-योजना का समावेश करने लगती है, उस समय कवि की रचना मे अलकारों का स्वत· ही समावेश हो जाता है।

यद्यपि सूर के काव्य मे राग-रागनियों का ही प्राधान्य है, तथापि परम्परा के अनुसार छन्दों का भी उन्होंने प्रयोग किया है। अलंकार-योजना और छन्दोविधान के पश्चात् हमने सूर की भाषा पर भी कुछ विचार किया है। उनके काव्य मे हमे ब्रज-भाषा का परिनिष्ठित साहित्यिक रूप मिलता है, जिसको देखकर यह अनुमान लगाना असंगत न होगा कि सूर के समय से शताब्दियों पहले से ही ब्रज-भाषा काव्य की भाषा रही होगी। सूर ने उसे सुसंस्कृत बनाकर साहित्यिक रूप देने मे ही योग दिया होगा। खेद का विषय है कि ब्रज-भाषा के विकास पर अभी तक हिन्दी के विद्वानों की दृष्टि नही पडी, और न ही इस विषय पर कोई प्राचीन पुस्तक उपलब्ध होती है। डा० दीनदयालु जी से ज्ञात हुआ कि शाहजहाँ के काल मे 'सुन्दर' नामक किसी विद्वान् ने ब्रज-

भापा पर एक पुस्तक लिखी थी, किन्तु वह हमे अभी तक देखने को नही मिली। एक और पुस्तक ब्रज-भाषा के सम्बन्ध मे प्राप्त है, जो सन् १६७६ मे मिर्जा खाँ ने लिखी और जिसका सम्पादन सन् १६३५ ई० मे जियाउद्दीन ने 'A Grammar of Brij Bhakha' के नाम से किया। यह विश्व-भारती से प्रकाशित भी हो चुकी है। इस पुस्तक का फारसी नाम 'तुहफतुए-हिन्द' है। इसका सर्वप्रथम हवाला सर विलियम जॉन्स ने सन् १७८४ मे अपने लेख 'On the Musical Notes of the Hindus' मे दिया था। इस पुस्तक की पाण्डुलिपि 'इण्डिया-ऑफिस' लन्दन मे सुरक्षित है। यह कई दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण है। इसमे हिन्दी-साहित्य की कई शाखाओं पर विचार किया गया है। जब फारसी के प्रभाव से उर्दू-भाषा फारसीमय होने लगी तो मिर्जा खाँ ने प्रचलित हिन्दी अथवा भाखा को इस पुस्तक के द्वारा मुसलमानों के अधिक निकट लाने का प्रयत्न किया और भाखा-साहित्य के अध्ययन का साधन प्रस्तुत किया। इस पुस्तक में दिये हुए शब्द-कोष मे प्राय बोलचाल के शब्दों की अधिकता है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह पुस्तक बडे महत्व की है; क्योकि इसमे हिन्दी, अरबी और फारसी का तुलनात्मक-उच्चारण भी दिया है।

ब्रजभाषा-व्याकरण की कसौटी पर सूर की भाखा खरी नही उतरती, क्योकि उन्होने केवल ब्रज-भाषा के ही शब्दो को नही तोडा-मरोडा, अपितु अन्य भाषाओ के शब्दो को भी अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा की है। सस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दो से तो उनकी भाषा का ढाँचा बनने मे सहायता मिली है, अन्य देशी भाषाओ तथा फारसी आदि विदेशी भाषाओ का भी उसमे महत्वपूर्ण योग है। इस प्रकार चलती हुई ब्रज-भाषा को व्यापक और प्रभावशाली बनाने का स्तुत्य कार्य सूर ने ही सबसे पहले किया। सूर की भाषा पर विचार करते हुए हमने इस प्रकरण मे सूर काव्य में प्रयुक्त तत्सम, अर्ध तत्सम, तद्भव और विदेशी शब्दो की सूची दी है; और साथ ही सूर-काव्य के उन मुहावरो और लोकोक्तियो की भी बानगी प्रस्तुत की है, जिनसे उनकी भाषा की प्रौढता और भाव-व्यजकता मे वृद्धि हुई है। वास्तव मे लोक-प्रचलित उपमाओ, मुहावरो और लोकोक्तियो का आश्रय लेकर सूर ने अपनी भाषा की अभीष्ट भावो की अभिव्यक्ति के लिये पूर्णतया उपयुक्त बना लिया था। इस प्रकार सूर के कला-पक्ष पर विचार करके उनके भाव-पक्ष पर भी हमने प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

महाकवि सूर आचार्यो द्वारा गिनाये हुए ही भावों और अनुभावों मे बँधकर नही चले, बल्कि अपनी कल्पना-शक्ति और अनुभूति के बल पर उन्होने 'रससिद्धकवीश्वरा' वाली उक्ति के अनुसार अनेक नवीन भावो, अनुभावों की कल्पना की है। साधारण-सी राधाकृष्ण की कथा मे उन्होंने अपने भाव-रस का सम्मिश्रण कर कल्पना के दिव्य साँचे मे ढाल उसे इतने सुन्दर रूप मे जनता के सामने रखा है कि वह उनके आराध्य-युगल की दिव्य, सौन्दर्यमयी सफल प्रतिकृति प्रतीत होती है। जिनके हृदय मे प्रेम की उत्ताल तरगें उठती है, पर कोलाहल नही होता; आँखो मे वियोग के काले मेघ उमडते हैं, पर गर्जन नहीं होता, भावो का जमघट होता है, परन्तु ओठों पर स्पन्दन नही होता, जहाँ आग्रह के साथ सकोच, औत्सुक्य के साथ संतोष, किशोर-चपलता के साथ यौवन की गम्भीरता, और साधना के साथ साध्य का असाध्य सामंजस्य है। वास्तव में सूर ने राधाकृष्ण की क्रीडाओं में अनेक भावों की कल्पना की है, जिससे उनका संयोग-वर्णन रीतिकालीन कवियो की भाँति गुलगुली गिलमों और गलीचों तक नही रह गया है, उसमें प्रकृति का अनन्त प्रसार है, सीमित संचारियो की कृत्रिम धारा के स्थान पर सरस हृदय का उन्मुक्त

भाव-वर्षण है। अनायास ही सूर के मुख से जो शृङ्गारमयी उक्तियाँ निकली है, उनमे काव्य-शास्त्र के अनेक लक्षणों का समन्वय हुआ है। सूर की रचना में नायिका-भेद के अनेक उदाहरण मिलते है, उनकी ओर भी हमने सकेत किया है।

सूर के सयोग-वर्णन के पश्चात् उनके वियोग-वर्णन की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। सयोग की भाँति वियोग वर्णन भी सूर ने वात्सल्य से ही प्रारम्भ किया है। सूर का वात्सल्य-वियोग—वात्सल्य-सयोग की ही भाँति—स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है। पुत्र से वियुक्त होने पर माता-पिता की जो स्थिति होती है, उनके हृदय मे जो भाव उठते है, तथा पुरानी बातों की स्मृति से जो अकुलाहट होती है, उन सभी का वर्णन हृदय के पारखी सूर ने बड़ी भावुकता से किया है। सूर के पद नद और यशोदा के हृदय की गहरी व्यथा को सूचित करते है। वियोग पक्ष मे विप्रलम्भ-शृगार का वर्णन भी बेजोड है। सूरदास जी ने अपने वियोग वर्णन मे जहाँ एक ओर काव्य-परम्परा का निर्वाह किया है, वहाँ दूसरी ओर साम्प्रदायिक दृष्टिकोण की भी स्वाभाविक अभिव्यक्ति की है। पुष्टि-सम्प्रदाय में सयोग-विप्रयोगात्मक रसिकेश्वर श्रीकृष्ण ही आराध्य है। भक्ति का शुद्ध रूप वियोगावस्था मे ही निखरता है। इसलिए सच्चे भक्त सूर का वियोग-वर्णन उच्चकोटि का बन पडा है। साधारण रूप मे सयोग की अपेक्षा वियोग शृंगार को साहित्यिको ने अधिक उच्च स्थान दिया है; क्योकि जहाँ सयोग मे प्रिय-सान्निध्य से प्राप्त सुख हृदय की अनेक सात्विक वृत्तियों को तिरोहित किये रहता है, वहाँ वियोग उन्हे उद्‌बुद्ध करके भावों के प्रसार के लिए समस्त विश्व का क्षेत्र खोल देता है। संयोग मे प्रेमी युगल एकान्त चाहते है। उन्हे किसी की सहानुभूति की आवश्यकता नही रहती, पर वियोग मे उनकी आत्मा का प्रसार हो जाता है और वे प्राणीमात्र के साथ ही नही, जड पदार्थों के साथ भी तादात्म्य स्थापित करते है। वियोगी व्यक्ति अपनी स्थिति को भूलकर उस सामान्य भाव-भूमि पर आ जाता है, जहाँ से उसकी दृष्टि प्रत्येक छोटी-मोटी वस्तु की सत्ता पर पडती है। उसके हृदय की अनुभूति रेचन का साधन न मिलने के कारण घनीभूत और तीव्र होती चली जाती है। समस्त संसार मे उसे उसका प्रिय व्यक्ति ही दीख पडता है। इसी कारण सहृदय कवियो ने सयोग की अपेक्षा वियोग को अधिक पसंद किया है। शृगार रस के सिद्ध कवि अमरुक ने विरही को समस्त विश्व मे उसकी प्रियतमा को ही व्याप्त दिखाकर वियोगावस्था मे अनुभूत अद्वैत का प्रतिपादन किया है—

"सा सा सा सा जगति सकले कोयऽवमद्वैतवाद:"

अपने वियोग-वर्णन में सूर ने प्राय. सभी सम्भव अन्तर्दशाओ को लिया है। भ्रमर-गीत मे जो सूर की सर्वश्रेष्ठ रचना है, एक ओर तो विप्रलम्भ-शृगार की उद्दाम सरिता का अबाध प्रवाह ब्रजनारियों के नयनाम्बु से पूरित होकर उमडता हुआ पाठक की मनोभूमि को आप्लावित करता चलता है; और दूसरी ओर सगुण भक्ति का निर्झर ऊँची-नीची और समतल भाव-भूमि मे योग-मार्ग की कठोर प्रस्तर-शिलाओं को तोडता और निर्गुण उपासना के घास-फूँस को आत्म-सात् करता हुआ प्रवाहित होता है। गोपियों के भक्ति-भाव और विश्वास से पुष्ट सरस तर्कों की झन्झा में उद्धव की निर्गुण साधना का शुष्क भुस कही का कही उड़ गया।

इस प्रकरण में वात्सल्य और शृंगार के अतिरिक्त सूर ने प्रसगानुसार जिन अन्य रसों का समावेश अपने काव्य में किया है, उनकी बानगी भी हमने प्रस्तुत की है। अन्त मे हमने सूर के प्रकृति-चित्रण पर विचार किया है। सूर के उपास्य कृष्ण ब्रज-भूमि मे अवतरित हुए थे,

उनका व्यक्तित्व प्रकृति की ही गोद मे विकसित हुआ और प्रकृति का उन्मुक्त क्षेत्र ही उनकी बाल-लीलाओं और किशोर-केलियों का रंगस्थल बना। इसलिए सूर ने प्रकृति के क्षेत्र मे विचरण करने वाले गोपालकृष्ण को अपने काव्य का नायक बनाया है। सूर-साहित्य का विकास भी ब्रज-प्रकृति की छाया मे ही होता है। यही कारण है कि उनके पात्रो की मनोदशाओं के वर्णन मे प्रकृति के अनेक रूपों और व्यापारों का अनायास ही समावेश हो गया है। ब्रज-भूमि की मोदमयी गोद मे खेलने हुए राधा और कृष्ण के हृदय मे जो पारस्परिक स्नेह का अकुर फूटा, उसे ब्रज की प्रकृति ने अपनी सरसता से पल्लवित और पुष्पित किया, फिर उससे जो आनन्दमय प्रेमभक्ति-सौरभ उडा, वह सासारिक विषयों के कटु-रस मे बहते हुए जनमन-मधुपो को प्रेरणा देकर सच्चे आनन्द रस का आस्वादन करा सका।

सूर के समय मे प्रचलित सम्प्रदायो का सूर-साहित्य पर जो प्रभाव लक्षित होता है, उसका हमने परिशिष्ट मे संक्षेप मे विवेचन किया है। दूसरी बात, जिसका परिशिष्ट मे संकेत है, यह है कि—सूरदास जी ने अपने काव्य मे प्रत्यक्ष रूप से तो सामाजिक परिस्थितियों का वर्णन नही किया है, किन्तु अपने इष्टदेव के माध्यम से अपने समय के सभी प्रचलित संस्कारों, सामाजिक व्यवस्थाओ और मनोविनोद के साधनो का वर्णन किया है। ब्रज की सस्कृति का जितना अधिक पता हमें सूर साहित्य से चलता है, उतना और किसी ग्रन्थ से नही। सूर-साहित्य का कला-पक्ष और भाव-पक्ष; दोनों ही दृष्टियो से हिन्दी के परवर्ती साहित्य पर पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा है, इसकी ओर भी हमने परिशिष्ट में सकेत किया है।

इस प्रकार इस पुस्तक में सूर-साहित्य के अध्ययन को सर्वागीण बनाने का प्रयत्न किया गया है और उन विषयों की ओर सकेत किया गया है, जो सूर-साहित्य के अध्ययन को अग्रसर करने मे सहायक हो सकते है। इस प्रयास से मुझे कहाँ तक सफलता मिली है, इसका निर्णय मै विज्ञ पाठकों पर छोडता हूँ।

सूर साहित्य के प्रायः सभी मर्मज्ञों के अध्ययन से मैंने लाभ उठाया है और स्थान-स्थान पर उनके मतो की समीक्षा भी की है। उन सभी विद्वानों के प्रति आभार प्रकट करना मै अपना कर्तव्य समझता हूँ।

पुस्तक के अन्त मे संस्करण-सहित मुख्य-मुख्य सहायक ग्रन्थो की सूची दी गई है और उसके अनन्तर नामानुक्रमणिका जोड दी गई है, जिससे पाठको को संदर्भ खोजने मे सुविधा हो। पुस्तक के प्रूफ-सशोधन का कार्य मेरे मित्र श्री देवर्षि सनाढ्य, एम० ए० तथा गोवर्द्धननाथ शुक्ल, एम० ए० द्वारा बडी सावधानी के साथ किया गया है—जिसके लिए मै उनका हृदय से आभारी हूँ।

अन्त मे मै हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों और सूर-साहित्य के मर्मज्ञों से अपनी त्रुटियों के लिये क्षमा-याचना करता हूँ और उनके सुझावों के लिए प्रार्थी हूँ, जिससे अगले सस्करण मे उनका अनुसरण किया जा सके।

—लेखक

द्वितीय संस्करण की भूमिका

'सूर और उनका साहित्य' पुनर्मुद्रित होकर आपके हाथों मे है। थोड़े से ही समय मे इसके प्रथम संस्करण का समाप्त होना इस बात का सूचक है कि विद्यार्थियो, अध्यापको एवं हिन्दी साहित्य के अन्य प्रेमियों ने इसमे अपनी रुचि के अनुकूल सामग्री अवश्य पाई है। नागपुर विश्वविद्यालय द्वारा इसका डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत होना और उत्तर-प्रदेश की सरकार द्वारा पुरस्कृत होना तो आनुषङ्गिक ही है। मेरा विचार था कि दूसरे संस्करण को अधिक संशोधित और परिवर्धित रूप मे प्रस्तुत किया जाए, किन्तु एक तो विभागीय कार्यो में अधिक व्यस्त रहने के कारण और दूसरे प्रकाशक महोदय की जल्दबाजी के कारण अभीष्ट परिवर्धन न हो सका। इधर प्रथम सस्करण के पूर्णतया समाप्त हो जाने से यह ग्रन्थ कुछ दिनो से अप्राप्य हो गया था और साहित्य-प्रेमियों की माँग बराबर आ रही थी, जिसकी उपेक्षा अधिक समय तक सम्भव न थी। अतः विवश होकर आशिक परिवर्धन से ही संतोष करना पडा। इस संस्करण मे सूर के भ्रमर-गीत पर कुछ विस्तार के साथ चर्चा की गई है और अन्त मे 'सूर साहित्य और ब्रज-सस्कृति' शीर्षक एक परिशिष्ट और जोड दिया गया है। पिछले सस्करण में जो अशुद्धियॉ रह गई थी, उन्हे यथाशक्ति दूर करने का प्रयत्न किया गया है। आकार-प्रकार, साज-सज्जा और मुद्रण के स्तर मे भी सुधार किया गया है; जिसके लिए प्रकाशक महोदय धन्यवाद और बधाई के पात्र है। प्रूफ-सशोधन कार्य के लिए अपने सहयोगी श्री परमानन्द शास्त्री का भी आभारी हूँ। आशा है इस सशोधन और परिवर्धन के साथ यह पुस्तक पाठकों के लिए अधिक उपयोगी और रुचिकर सिद्ध होगी। विद्वज्जनों के सत्परामर्शों के लिए मैं उत्सुक हूँ। वे जो सुझाव देंगे, उन्हें अगले संस्करण मे अवश्य कार्यान्वित किया जायेगा।

विजया दशमी, २०१५

हरबंशलाल शर्मा

तृतीय संस्करण की भूमिका

प्रस्तुत संस्करण मे पुस्तक के परिमार्जन और संशोधन का भी अवसर नही मिला। महाकवि के सम्बन्ध में इधर अनेक तथ्य प्रकाश मे आए हैं। कृष्ण-लीला की परम्परा भी विभिन्न प्रदेशों के लोक तथा शिष्ट साहित्य मे मिली है। श्रीमद्भागवत के व्यापक प्रभाव पर मेरी एक पुस्तक 'भागवत-दर्शन' प्रकाशित भी हुई है। नवीन सामग्री का समावेश मैं इस सस्करण में करना चाहता था परन्तु ग्रन्थ के प्रेमियों ने इतना अवसर ही नही दिया। देश के कोने-कोने से प्रकाशक महोदय के पास ग्रन्थ की इतनी माँग थी कि उन्होने उसका प्रकाशन ज्यों का त्यों ही प्रेस के देवताओं की कृपा पर छोड दिया। सस्करण पाठको की सेवा में प्रस्तुत है। आशा है चतुर्थ संस्करण में परिमार्जन और संशोधन के साथ अन्य उपयोगी सामग्री का समावेश कर दिया जावेगा।

शिवरात्रिपर्व
सं० २०२१ वि०

हरबंशलाल शर्मा

चतुर्थ संस्करण की भूमिका

"सूर और उनका साहित्य" का यह चौथा संस्करण है; परन्तु खेद है कि समयाभाव के कारण कुछ आवश्यक संशोधन तथा परिवर्धन इस संस्करण में नहीं हो सके। इधर विद्वानों ने सूर साहित्य पर अनेक दृष्टियों से विचार किया है तथा आधुनिक परिवेश में भी सूर-साहित्य को आंकने का प्रयास किया गया है। सूर-साहित्य का विश्लेषण चाहे आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर किया जाय, चाहे सौन्दर्यशास्त्र के परिप्रेक्ष्य मे—इस तथ्य को नही नकारा जा सकता कि सूर-साहित्य मे वे शाश्वत तत्व निहित है, जो आलोचना के किन्ही भी नवीनतम सिद्धान्तों की कसौटी पर खरे उतते हैं। कुछ तथाकथित नवीनतम सिद्धान्त तो ऐसे हैं जो केवल मान्यता की कोटि मे ही आ सकते है और जिनकी आयु एक दशाब्द से अधिक नही होती। इधर इस प्रकार के पाश्चात्य सिद्धान्तों के आधार पर सूर का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए किसी आलोचक ने सूर-साहित्य को दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति कहा है तो किसी ने उसे निर्वैयक्तिक काव्य के रूप में देखा है। मेरी तो आज भी यही मान्यता है कि कवि की मानसिक अनुभूति ही कविता का रूप धारण करती है। सूर का काव्य भावना का काव्य है। इसलिए तद्भाव-भावित होकर ही आलोचक सूर के काव्य का सही विश्लेषण कर सकता है। सूर का काव्य भावों का उमडता हुआ ऐसा सागर है जिसमें रस की थाह पाना दुस्तर कार्य है। असल बात तो यह है कि सूर के भाव ही सान्द्रावास्था मे रस की कोटि तक पहुँच जाते है। भावों का ऐसा तीव्र एवं व्यापक अभिव्यजन जो रस के सारे शास्त्रीय अंगों से पुष्ट है सूर के अतिरिक्त और किसी कवि के काव्य मे नही मिलता। जिस प्रकार उमडती हुई सरिता अपने कूल-नियमित सरल पथ मे प्रवाहित होने मे असमर्थ होकर नवीन-नवीन मार्ग खोज लेती है, उसी प्रकार अनुभूति और भावुकता के चरम विकास की स्थिति में कवि के कण्ठ से निकली हुई भाव-रस-धारा अनेक मार्ग बनाकर विस्तृत क्षेत्र में फैल जाती है। किसी एक मार्ग के अनुसन्धान से मूल स्रोत तक नही पहुँचा जा सकता। ठीक यही स्थिति सूर साहित्य की है। इसलिए वह अभी भी अनुसंधेय तथा गवेष्य है।

मार्गशीर्ष शुक्ल श्रीगणेश चतुर्थी २०२८ वि०
२१ नवम्बर सन् १९७१ ई०

हरबंशलाल शर्मा

विषयानुक्रमणिका

तृतीय अध्याय

सूर-साहित्य की पृष्ठ-भूमि

चतुर्थ अध्याय

भक्ति आन्दोलन में दक्षिण का योग और वैष्णव सम्प्रदाय

विषय | पृष्ठ संख्या

पंचम अध्याय

पुराण-साहित्य और कृष्ण का विकास

विषय | पृष्ठ संख्या

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

विषय	पृष्ठ संख्या

प्रथम अध्याय

सूर का जीवन-चरित

भौतिकता को अवहेलना की दृष्टि से देखने वाली आध्यात्मिकता-प्रधान भारतीय-संस्कृति के अग्रदूत अत्रत्य कवि एवं लेखकों की रचनाएँ यशोलिप्सा आदि ऐषणाओ से दूर रह कर स्वान्तःसुखाय ही प्रमाणित हो तो आश्चर्य ही क्या ? यह प्रवृत्ति उनकी निर्लिप्तता का भले ही डिण्डिम घोष से प्रतिपादन करे, किन्तु इसके कारण भारत के महान् कवियों और लेखकों का जीवन तमसावृत्त रहा है और इससे भारतीय साहित्य के क्रमिक अध्ययन करने के लिए अर्थ उत्सुक पाठक के निमित्त एक गहन समस्या प्रस्तुत होती रही है। फलस्वरूप अनेक पाश्चात्य विद्वान् अपने अनुसंधान के टिमटिमाते दीपक की धुँधली-सी आभा में हमारे उन महान् साहित्यकारों के जीवन की अस्पष्ट प्रतिच्छायामात्र देखकर कभी-कभी तो ऐसी उपहासास्पद अटकले लगाते हैं, जिनसे अनेक प्रकार की भ्रान्त धारणाएँ साहित्य-क्षेत्र मे प्रसृत हो जाती हैं । ऐसे घोर प्रत्यक्षवादी महानुभाव, लिखित ऐतिहासिक तथ्यो के अभाव मे, यदि राम और कृष्ण को भी काल्पनिक पात्र मानने का फ़तवा दे दें तो आश्चर्य नही होना चाहिये। स्वान्तः सुखायां वाली इस प्रवृत्ति-परम्परा के कारण आज हमे भास, कालिदास, भवभूति आदि कवियो के सम्बन्ध मे प्रामाणिक ज्ञान बहुत कम प्राप्त है। हिन्दी-साहित्य ने भी यह प्रवृत्ति अपने पूर्वज सस्कृत-साहित्य से विरासत में पाई। 'काव्य यशसे' मानते हुए भी भारतीय कवि ने कीर्ति के पीछे दौड नही लगायी। उसका लक्ष्य था केवल भारती की उपासना कर उसकी वीणा के तारों में मुखरता भरना, जिनकी झङ्कार के माधुर्य मे समस्त विश्व सराबोर हो जाय। यही कारण है कि एक ही नाम से अनेक कवियों की रचनाएँ आज हमे उपलब्ध होती है। हिन्दी के भक्ति-साहित्य को स्वर्ण-कालीन साहित्य का रूप देने वाले राम और कृष्ण की पावन-लीलाओं का जनता में प्रचार कर उसके संकट-विलोडित मानस मे धैर्य और आशा की तरगे तरंगित कर भक्ति-प्रवाह को अवाध गति से प्रवृत्त करने वाले हिन्दी के कवि-युगल के विषय मे भी यही बात है। हम निश्चयपूर्वक नही कह सकते कि तुलसी का आविर्भाव कहाँ और कब हुआ ? अपने साधनामय जीवन के यापन में उन्हे क्या-क्या मधुर और कटु अनुभव हुए ? यही बात महाकवि सूरदास के विषय मे भी है। केवल कतिपय प्रचलित जन-श्रुतियों एवं किम्वदन्तियों के आधार पर उनके जीवन के विषय मे कुछ धारणाये बनाकर ही हमें उन्मनस्कता पूर्वक सन्तोष की साँस लेनी पड़ती है।

यद्यपि महाकवि सूरदास के विषय में अनेक ग्रन्थों का प्रणयन हो चुका है, पर्याप्त गवेषण भी हो चुकी है और हो रही है किन्तु खेद का विषय है कि उनके जीवन और साहित्य के विषय में इतने विभिन्न मत अस्तित्व में आ गये हैं, कि इस विषय से दृढ़तापूर्वक 'इदमित्थम्' कहना नितान्त दुष्कर प्रतीत होता है। उनके साहित्य के विषय मे आगे के पृष्ठों मे विचार किया जायगा, यहाँ मैं संक्षेप से सूर के जीवन-चरित के विषय मे निवेदन कर रहा हूँ। इस सम्बन्ध में जो भी सामग्री उपलब्ध है, सभी का मैंने उपयोग किया है।

सचमुच सूरदास की जन्म-तिथि और जीवन-वृत्त के विषय में सन्देह के लिए बहुत स्थान है किन्तु उनके अस्तित्व में 'ननु-नच' करने की अणुमात्र भी गुञ्जाइश नही। कारण स्पष्ट है, उन्होंने एक ऐसे परिनिष्ठत सम्प्रदाय मे दीक्षित होकर योग दिया था जिसका उल्लेख

तत्कालीन ऐतिहासिक ग्रन्थो मे भी मिलता है। यद्यपि इस प्रश्न का निश्चयात्मक उत्तर देना कि क्या सूरदास का उल्लेख इन ऐतिहासिक ग्रन्थों मे है, अति कठिन है, क्योकि उन ग्रन्थो मे सूरदास का जैसा उल्लेख है, वह अनेक भ्रमात्मक कल्पनाओ को भी जन्म देता है। पुष्टिमार्ग की मान्यताओ के अनुसार वल्लभाचार्य जी का जन्म बैशाख कृष्णा एकादशी रविवार सवत् १५३५ मे और मृत्यु आषाढ शु० ३ सवत् १५८७ मे हुई थी और उन्होने गौ-घाट पर सूरदास जी को अपना शिष्य बनाया था।[1] इसी सम्प्रदाय की अन्य मान्यताओं के अनुसार सूरदास जी महाप्रभु से अवस्था मे १० दिन छोटे थे और गोस्वामी विट्ठलनाथ जी सूर की मृत्यु के समय जीवित थे। विट्ठलनाथ जी का गोलोकवास सम्वत् १६४२ है, अतः सूरदास जी का समय अधिक से अधिक सम्वत् १५३५ से स० १६४२ तक माना जा सकता है। उनके जीवन-चरित का निर्धारण करने मे हमे उपलब्ध सममामयिक एव परवर्ती सामग्री पर विचार करना होगा।

जीवन-सामग्री——

सूर के सम्बन्ध में प्राप्त सामग्री के दो रूप हो सकते है:—

(१) वाह्य-साक्ष्य के रूप मे।

(२) अन्तः—साक्ष्य के रूप मे।

वाह्य-साक्ष्य के रूप मे अधिगत सामग्री भी दो प्रकार की है। प्रथम कोटि मे सूर के जीवन से सम्बद्ध वे घटनाये आती हैं, जिनका उल्लेख समसामयिक तथा परवर्ती प्राचीन लेखकों व कवियो ने अपनी कृतियो मे किया है। इसके अन्तर्गत, साम्प्रदायिक-साहित्य, वार्ता-साहित्य, परवर्ती कवियों तथा भक्तों द्वारा उल्लेख तथा तत्कालीन इतिहास-ग्रन्थ आते है। दूसरी कोटि मे आधुनिक सामग्री आती है जो हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों तथा आलोचनात्मक प्रबन्धों में है।

जहाँ तक अन्तःसाक्ष्य के रूप मे उपलब्ध सामग्री का प्रश्न है, उसके अन्तर्गत सूर के वे आत्मविषयक-कथन आते हैं, जो उनके पदों मे यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। निश्चित तिथियों के उल्लेख के अभाव के साथ-साथ ये कथन हमारे लिए अधिक सहायक नहीं हो सकते, क्योंकि दैन्य-भाव प्रेरित प्रायः सभी भक्त कवियों के आत्मप्रवञ्चना तथा आत्म-भर्त्सना सम्बन्धी पद एक से मिलते हैं, जिनके आधार पर उनके भौतिक जीवन की कल्पना करना उनके जीवन के आध्यात्मिक पक्ष पर आवरण डाल कर उनके प्रति घोर अन्याय करना होगा। अतः मेरे विचार से अन्तः साक्ष्य के रूप में केवल उन्हीं पदों को उपस्थित करना तर्क संगत एवं समीचीन होगा, जिनमे किसी प्रकार की इयत्ता हो। वह सत्य है कि कवि की रचनाओ के कौशेय आवरण से उसके जीवन की अनुभूतियाँ झाँकती हुई मिलती है किन्तु इस आधार पर सूर के पदों में से उनका जीवन-वृत्त खोज निकालने की धुन में इस गुरुतर सत्य की ओर से नेत्र-निमीलन नही कर लेना चाहिये कि सूर कवि से पहले भक्त थे और फिर कृष्ण के परम-धाम व्रज मे निवास करते हुए वे अपने लौकिक बन्धनो को विच्छन्न कर अपने जीवन का स्वरूप ही बदल चुके थे।

वाह्य-साक्ष्य

वाह्य-साक्ष्य के रूप में अधिगत सामग्री मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण साम्प्रदायिक-साहित्य तथा वार्ता-साहित्य है, जिनमे सूर का उल्लेख हुआ है। वार्ता-साहित्य मे (१) चौरासी

१ वल्लभ दिग्विजय

वैष्णवन की वार्ता, (२) निजी वार्ता तथा (३) श्री हरिराय जी कृत भाव-प्रकाश आते हैं। इनके अतिरिक्त सूर के जीवन पर प्रकाश डालने वाले सम्प्रदाय-सम्बन्धी निम्नलिखित ग्रंथ हैं :—

१—बल्लभ दिग्विजय,
२—संस्कृत-वार्ता-मणि-माला,
३—अष्ट-सखामृत,
४—सम्प्रदाय-कल्पद्रुम,
५—जमुनादास कृत धौल,
६—भाव संग्रह,
७—वैष्णवाह्निक-पद।

इस साम्प्रदायिक साहित्य के अतिरिक्त जिन समकालीन अथवा परवर्ती भक्तों के ग्रंथों में सूर का उल्लेख हुआ है वे ये है :—

१—भक्तमाल (नाभादास) तथा भक्तमाल की टीका (प्रियादास),
२—भक्त नाभावली (ध्रुवदास),
३—राम-रसिकावली (ठा० रघुराजसिंह),
४—भक्त-विनोद (कवि मियासिंह),
५—नागर-समुच्चय (नागरीदास)।

जिन ऐतिहासिक ग्रन्थों मे सूर अथवा उनके पिता का उल्लेख हुआ है, वे निम्नलिखित है :—

१—आयने अकबरी,
२—मुन्तखिब्-उल-तवारीख,
३—मुंशियात-अबुल फजल।

वाह्य-साक्ष्य के रूप में उपस्थित आधुनिक सामग्री इस प्रकार है :—

१—इतिहास ग्रन्थों के रूप मे
(अ) खोज रिपोर्ट (काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा),
(आ) 'गारसे द तासी' का 'इस्त्वार दै ला लितेरा', 'त्यूर ऐन्दुवे ऐन्दुस्तानी',
(इ) शिवसिंह सेंगर का 'शिवसिंह-सरोज',
(ई) सर जार्ज ग्रियर्सन का 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आव हिन्दुस्तान',
(उ) मिश्र-बन्धुओं का 'मिश्र-बन्धु-विनोद',
(ऊ) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास',
(ए) डा० रामकुमार वर्मा का 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास',
(ऐ) डा० हजारी प्रसाद का 'हिन्दी-साहित्य'।

इनके अतिरिक्त अनेक अन्य छोटे-मोटे इतिहास-ग्रन्थ हैं, जिनमे परम्परा के अनुकूल सूर के जीवन-वृत्त का उल्लेख किया गया है।

सूत्र-रूप मे आलोचना करने की जिस प्रवृत्ति की परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से "उपमाकालिदासस्य", "भारवेरर्थगौरवम्" आदि वाक्य के रूप में भारतीय-साहित्य मे चली आ रही थी, वह सूर विषयक 'सूर-सूर", "किधौ सूर को पद लग्यौ", "सूर-कविता सुनि कौन कवि, जो नहिं सिर चालन करे" आदि आलोचनात्मक उक्तियों के रूप में हिन्दी-साहित्य में भी निर्वाहित होती रही, किन्तु आधुनिक ढग से 'भारतेन्दु' का लेख 'सूर-सागर' की भूमिका के रूप मे उपलब्ध है। कविवर जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने भी इस कार्य में योग दिया उनके पश्चात्

सूर के विषय में अनेक आलोचनात्मक ग्रन्थ प्रणीत हुए, जिनमे से निम्नलिखित ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय है :—

१—भक्त-शिरोमणि महाकवि सूरदास (श्री नलिनी मोहन सान्याल),
२—सूरदास (डा० जनार्दन मिश्र),
३—सूर-साहित्य (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी),
४—सूर-साहित्य की भूमिका (डा० रामरतन भटनागर तथा श्री वाचस्पति त्रिपाठी),
५—सूरदास (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल),
६—सूर-सौरभ (डा० मुन्शीराम शर्मा),
७—अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाम (डा० दीनदयालु गुप्त),
८—सूरदास(डा० ब्रजेश्वर वर्मा),
९—सूर-निर्णय (प्रभुदयाल मीतल तथा द्वारिकादास परीख),
१०—महाकवि सूरदास (श्री नन्ददुलारे वाजपेयी)।

वाह्य-साक्ष्य के रूप मे उपस्थित की जाने वाली जो सामग्री सम-सामयिक एव परवर्ती रचनाओं के रूप मे है, उसमे सबसे महत्वपूर्ण साम्प्रदायिक साहित्य है। भक्तों की रचनाओं में 'भक्तमाल' मे सूर-विषयक एक ही पद प्राप्त है:—

उक्ति, चोज; अनुप्रास, वरन, अस्थिति अतिभारी।
वचन, प्रीति निर्वाह अर्थ, अद्भुत तुकधारी।
प्रतिबिम्बित दिवि दिष्टि हृदय मे लीला भासी।
जनम करम गुनरूप सबै रसना परकासी।
विमल बुद्धि गुन और की, जो वह गुन श्रवननि धरै।
सूर-कवित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर-चालन करै।[1]

इस पद में केवल सूरदास जी की जन्मान्धता तथा कवित्व-वैशिष्टय का ही उल्लेख है। नाभादास जी राम-भक्तों की परम्परा मे आते हैं और उनके ग्रन्थ की रचना गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के जेष्ठ पुत्र गिरधर जी के समय की बतलाई जाती है। नाभादास जी को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सवत् १६५७ मे वर्तमान बतलाया है।[2] गिरधर जी का आचार्यत्व-काल भी संवत् १६४२ से सवत् १६७७ तक माना जाता है इस आधार पर 'भक्तमाल' की रचना लगभग सूरदास जी के समय की ठहरती है किन्तु 'भक्तमाल' मे सूरदास नाम के अन्य कवियों का भी उल्लेख है और प्रियादासकृत 'भक्तमाल' की टीका मे हमारे सूरदास के विषय मे कोई टिप्पणी नही की गई है। हाँ, पद १२६ मे, जिस अन्य सूरदास का उल्लेख हुआ है, उस पर प्रियादास की टिप्पणी अवश्य मिलती है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि हमारे चरित-नायक सूरदास के जन्म के विषय मे भक्तमाल से कोई सहायता नही मिलती, उल्टे कई सूरदासो की जीवन-घटनाओं का उल्लेख इस ग्रन्थ मे होने के कारण सन्देह का ही पोषण होता है। ध्रुवदास कृत 'भक्त नामावली' में भी सूरदादस जी का अत्यन्त सक्षिप्त उल्लेख है, जिससे किसी निष्कर्ष पर पहुँचना टेढ़ी खीर है।

यद्यपि कृष्णगढ नरेश महाराज सामन्तसिंह उपनाम नागरीदास के 'नागर समुच्चय' में महात्मा सूरदास-विषयक पर्याप्त मसाला मिलता है किन्तु वह जनश्रुतियों पर ही आधारित प्रतीत होता है; अतएव उससे भी कोई विशेष सहायता नही मिलती। महाराज रघुराजसिंह ने अपनी 'राम रसिकावली' में सूर के विषय मे विस्तार पूर्वक लिखते हुए उन्हें जन्मान्ध माना है। उनके

१ श्री भक्तमाल सटीक पृ० ५३९-४०
२ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' पृ० १४७

अनुसार सूर उद्धव के अवतार थे तथा उनका विवाह भी हुआ था। सूर के कवित्व की प्रशंसा करते हुए उन्होंने अकबर और सूर की भेट का भी उल्लेख किया है। कवि मियाँसिंह ने अपने भक्त विनोद में सूरदास के जीवन-चरित्र पर विस्तृत प्रकाश डाला है और उनके पूर्व जन्म का उल्लेख करते हुए उन्हे कृष्ण का परम मित्र माना है। वे सूर का जन्म मथुरा प्रान्त मे मानते थे। उनकी जन्मान्धता, कूप-पतन एव बादशाह अकबर के साथ एक चमत्कारपूर्ण घटना का भी उन्होने उल्लेख किया है। 'भक्त-विनोद' पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने प्रचलित जनश्रुतियो को ही एकत्र गुम्फित कर सूर की जीवन-वृत्त-माला का सृजन करने का प्रयास किया है। कहने का अभिप्राय यह है कि समसामयिक एवं परवर्ती भक्तो की रचनायें सूर का जीवन-चरित निर्धारित करने मे विशेष सहायक सिद्ध नही होती, क्योकि प्रश्न तो इन कृतियों मे सूर की जन्मतिथि अथवा काल का निश्चित उल्लेख ही नही हुआ, दूसरे सूर के सर्वांग-व्यवस्थित जीवन-चरित का भी इनमे अभाव ही है। इतना ही नही, इनमें वर्णित घटनाओं मे इतना वैभिन्य है कि विचारशक्ति भूल-भुलैया में पड़ जाती है और वास्तविक तथ्य का उद्घाटन करने मे असमर्थ रहती है। केवल दो बातों का संकेत सभी कृतियों मे समान रूप से हुआ है—एक तो सूर को जन्मान्धता के विषय मे और दूसरे उनकी कवित्वशक्ति के विषय मे। राधा-कृष्ण गोस्वामी द्वारा प्रकाशित 'व्यास वाणी' मे भी सूर के विषय मे केवल इतना ही लिखा गया है कि 'सूर के बिना अब कौन कवि उस कोटि के पदों की रचना कर सकता है ?'[१] भक्तों की रचनाओ मे बाबा वेणीमाधवदास का 'गुसाईं-चरित' भी उल्लेखनीय है, जिसके एक पद मे सूर और तुलसी की भेट का वर्णन है और कुछ विशेष वर्णन उसमें नही मिलता। इस ग्रन्थ की अप्रामाणिकता सिद्ध हो चुकी है।

तत्कालीन ऐतिहासिक ग्रन्थों का आश्रय लेने पर भी हमे निराश ही होना पड़ता है। 'आइने अकबरी' में जिसका अनुवाद ब्लाकमैन ने किया है सूर के पिता 'रामदास' का उल्लेख है, जिसे अकबर की राज-सभा का एक गायक बताया गया है और उसके पुत्र सूरदास का अपने पिता के साथ अकबर की सभा मे आने-जाने का उल्लेख किया गया है।[२] इसी प्रकार का उल्लेख 'मुन्तखिबुल-तवारीख' में भी प्राप्त होता है।[३]

'मुन्शियात अबुल फजल' अबुल फजल के पत्रों का एक सग्रह है, जिसका सकलन 'अब्दुल समद' नामक व्यक्ति ने सं० १६६३ मे किया था। इसमे सूरदास के नाम लिखा गया एक पत्र है, जिसमें न तो किसी तिथि का ही उल्लेख है और न सूर की जीवन घटनाओ पर कोई प्रकाश ही डाला गया है।

वार्ता-साहित्य तथा अन्य साम्प्रदायिक साहित्य में सूरदास सम्बन्धी जो उल्लेख मिलते है, वे विशेष रूप में विचारणीय है, वार्ता साहित्य मे गोस्वामी गोकुलनाथ जी कृत चौरासी वैष्णवन की वार्ता अधिक महत्वपूर्ण है, यद्यपि उसके रचनाकाल तथा रचयिता के सम्बन्ध मे अभी तक संदेह है। विद्या-विभाग कॉकरौली से सं० १९९८ में प्रकाशित 'प्राचीन-वार्ता-रहस्य' के द्वितीय भाग में इन वार्ताओं की प्रामाणिकता पर विचार किया गया है और वार्ता-साहित्य के तीन संस्करण माने गये है :—

१—संग्रहात्मक-वार्ता-साहित्य (सं० १६४५ से १६६० तक), जो गोकुलनाथ जी के कथा, प्रवचनों के रूप मे प्राप्त होता है।

२—हरिराय जी द्वारा सम्पादित वार्ता-साहित्य (सं० १६९४ से स० १७३५ तक)।

---

१ 'व्यास-वाणी' पृ० १२, १४ प्रकाशक—रामकृष्ण गोस्वामी

२ आइने-अकबरी भाग १ पृ० ६१२ सस्करण १८७३

३ मुन्तखिबुल-तवारीख भाग २ पृ० ३७

३—हरिराय जी द्वारा की गई व्याख्या और स्पष्टीकरण वाला वार्ता-साहित्य (सं० १७३५ से १७८० तक)।[1]

वार्ता-साहित्य की प्रामाणिकता में १२८ प्रसंगों वाली हस्तलिखित वार्ता-पुस्तक का उल्लेख किया जाता है, जो कॉकरौली-सरस्वती-भण्डार के हस्तलिखित ग्रन्थो मे सुरक्षित है और जिसके अन्त में इस प्रकार लिखा है :—

"संवत् १७४६ वर्षे श्रावण सुदी ७ शुकरे पोथी लिखी छै, प्रति गोविन्ददास पोथी लख्यू छै।"[2]

सूर-निर्णय मे इस प्रमाण को उद्धृत किया गया है और वार्ता-साहित्य की प्रामाणिकता पर प्रकाश डाला गया है।[3]

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' मे पुष्टि-सम्प्रदाय मे दीक्षित होने के उपरान्त का ही सूर का जीवन-चरित उपलब्ध होता है, उनके जन्म-स्थान, माता-पिता आदि के विषय में कोई उल्लेख नही है। इसमे तो हमारे चरित-नायक सूर के दर्शन हमे उस समय होते है, जब वे मथुरा और आगरा के बीच गौ-घाट नामक स्थान पर रहा करते थे और जहाँ उन्हें बल्लभाचार्य जी के दर्शन हुए। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अन्तर्गत सूरदास की वार्ता मे प्रसग १, २, ३, ४, ५ में सूरदास जी के जीवन पर प्रकाश डाला गया है। वार्ता के प्रारम्भ मे ही यह लिखा गया है—

'अब श्री आचार्य जी महाप्रभून के सेवक सूरदास जी गौ-घाट पर रहते तिनकी वार्ता"

वार्ता के प्रारम्भ मे कहा गया है कि एक बार महाप्रभु बल्लभाचार्य जी बहुत दिनों के पश्चात् अड़ैल से आगरा और मथुरा के बीच गौ-घाट पर पधारे। यही पर बहुत से सेवकों के साथ सूरदास जी रहा करते थे, जब उन्हे आचार्य जी के आगमन की आज्ञा मिली तो वे उनके दर्शनार्थ गये। उन्होंने सूर को भगवद्-यश-वर्णन करने का आदेश दिया। प्रभू के महत्व और अपने दैन्य को लक्ष्य करके अन्धे सूर ने "हौं हरि सब पतितन को नायक" तथा "प्रभु हौ सब सतितन कों टीकौ" पदों की मधुर ध्वनि के साथ अपनी वीणा के तारों मे स्पन्दन भरा। ये पद भक्त की सामान्य भक्ति-भावना के द्योतक है। इस प्रकार की भक्ति-भावना से परिपूर्ण मिलते-जुलते पद प्रायः सभी भक्त कवियो की रचनाओ मे उपलब्ध होते है। ये दैन्य-भाव के पद है। इन पदों से ऐसा आभास मिलता है कि उस समय तक सूरदास की भगवद्-भक्ति मे दृढ़ता नही आ पाई थी। वे भक्ति-मानसरोवर के तट पर तो पहुँच चुके थे और उसकी तह मे मुक्ताओं को टटोलने के लिए उत्सुक भी थे किन्तु कदाचित् किसी अनुभवी गोताखोर के निर्देश की अपेक्षा रखते थे और स्वय उसके निमग्न होने मे हिचकते थे। सम्भवतः इसीलिए महाप्रभु ने उनसे कहा—"सूर ह्वै कै ऐसे काहे को घिघियात, कछु भगवद् लीला वर्णन करि।"

आचार्य जी के सम्पर्क ने सूर के जीवन की धारा को परिवर्तित कर दिया। उन्होंने स्नानादि से निवृत्त होकर तत्काल ही महाप्रभू से गुरु-मन्त्र लिया और पुष्टि-मार्ग मे दीक्षित होकर अपने समस्त दोषों का निवारण कर नवधा-भक्ति की प्राप्ति की। वे निर्द्वन्द्व होकर भक्ति-मानस में अवगाहन करने लगे, जिसके फलस्वरूप उन्हें वह दिव्य-दृष्टि प्राप्त हो गई, जिससे वे प्रभु की समस्त लीलाओ के दर्शन का आस्वाद पाने मे समर्थ हुए। भागवत के दशम-स्कन्ध की सुबोधिनी के मगलाचरण की प्रथम कारिका का पाठ कर तत्क्षण ही उनके भक्ति-रस-पूरित-कल-कण्ठ से गीत की मधुर धारा बह निकली :

"चकई री चलि चरन सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग।"

---

१ प्राचीन वार्ता-साहित्य द्वितीय भाग, विद्या विभाग कॉकरौली। सस्करण स० १९५८

२ हस्तलिखित पुस्तक कांकरौली सरस्वती-भण्डार सख्या १००×१

३ सूर-निर्णय (द्वारिकादास) पृष्ठ १६ सस्करण २००६

सचमुच वे उस चरण-सरोवर पर पहुँच गये, जिससे निर्गत मन्दाकिनी आज भी अपने पूत-प्रवाह से समस्त विश्व को पवित्र कर रही है। जहाँ निःसार होकर भी संसार संसार है, बन्धन है पर बाधक नहीं, स्पन्दन है किन्तु हलचल नहीं, द्वन्द का अनुभव होता है किन्तु, निर्द्वन्द्वता के साथ। भक्त के हृदय-कपाट खुल गये किन्तु भगवान् वहाँ बन्द हो गये। कर्म के पाश टूट गये :

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥"

महाप्रभु को भी विश्वास हो गया कि सूर अब वास्तव मे 'सूर' हो गये, ऐसे सूर, जिनके जोड़ का कोई नही, जिनकी ज्योति शाश्वत है और इसका प्रमाण भी उन्हे उस समय मिल गया, जब सूरदास ने यह पद गाया: —

"ब्रज भयो महर के पूत,
जब यह बात सुनी।"

इसके अनन्तर आचार्य जी ने सूरदास जी के सब सेवको और शिष्यो को साम्प्रदाय मे दीक्षित कर लिया। फिर उन्होने सूरदास जी को 'पुरुषोत्तम-सहस्रनाम' सुनाया, जिससे उन्हें सम्पूर्ण भागवत का स्फुरण हो गया और उन्होंने भागवत के प्रथम स्कन्ध से द्वादश स्कन्ध तक की कथा को पद-बद्ध करना प्रारम्भ किया। अब सूरदास परमभगवदीय हो गये और उन्होने आचार्य जी के साथ ब्रजलोक मे पदार्पण किया।

दूसरी वार्ता मे महाप्रभु द्वारा सूरदास जी को यथावत् दीक्षित करने का सकेत है। श्री गोकुल के दर्शन-मात्र से ही उनके हृदय मे भगवान् की बाललीला का स्फुरण हुआ और उन्होंने :

"सोभित कर नवनीत लिये,...... ...."

पद की रचना की। सूर की इस अलौकिक प्रतिभा से महाप्रभु बहुत प्रसन्न हुए। उनकी कीर्तन-शैली, सगीत एवं कवित्वशक्ति पर मुग्ध होकर महाप्रभु ने उन्हे श्रीनाथ जी के कीर्तन के उपयुक्त समझा। श्रीनाथ जी के दर्शन कर मानों सूर को भगवान् का साक्षात्कार हो गया। उन्हें सच्ची शान्ति की प्राप्ति हुई। अब भगवच्चरण का परित्याग कर वे भला कहाँ जाये? अब तक ससार के प्रलोभनों ने उन्हें बहुत नचाया :

"अब हौ नाच्यौ बहुत गुपाल।"

महाप्रभु को विश्वास हो गया कि अब वास्तव मे सूरदास की 'सर्व अविद्या' नष्ट हो गई। सूरदास भी ब्रजवासियो के भाग्य पर ईर्ष्या करने लगे—

"कौन सुकृत इन ब्रजवासिन कौ ?"

सूरदास श्रीनाथ जी की सेवा में लग गये। महाप्रभु ने अपने सम्प्रदाय का स्वरूप, भगवान् की महात्म्य और ब्रज-भक्तों का स्नेह—सूरदास जी को सुनाया और तब से सूरदास जी कीर्तन के मण्डानकार्य मे दत्तचित्त हो गये।

तीसरी वार्ता में सूरदास जी की अकबर से भेंट का उल्लेख है। इस वार्ता मे सूरदास के वे पद दिये हुए है, जो उन्होने अकबर के आगे गाये। यथा :

"मना रे! तू करि माधव से प्रीति।"
नाहिन रह्यौ मन मे ठौर।"

अकबर के हृदय पर सूर की निर्भीकता और भक्ति-भावना का बड़ा गम्भीर प्रभाव पड़ा।

चौथी वार्ता मे चौपड़ के खेल का वह रूपक दिया हुआ है, जो उन्होने अपने साथियों को सुनाया था।

पाँचवीं वार्ता मे उस समय की घटनाओं का उल्लेख है, जब सूरदार जी बीच-बीच मे गोवर्धन से श्री गोकुल और श्री नवनीत-प्रिय जी के दर्शन के लिए आते थे। इनमें श्री गोसाई जी के साथ उनके सम्पर्क का भी उल्लेख है। गुसाईं जी के संस्कृत के 'पालना' के आधार पर उनका वाल-विनोद 'आँगन में की डोलनि' वाला पद दिया हुआ है, यथा:

"गोपाल दुरे हैं माखन खात।"

और "कहाँ लगि बरनौं सुन्दरताई।"

आदि पद, जो सूर ने गाये थे, दिये हुए है।

छठे प्रसंग में सूरदास जी के अन्तिम समय का वर्णन है। अन्त समय मे सूरदास जी नित्य लीला और फलात्मक लीला के स्थान पारसौली में आये और श्रीनाथ जी की ध्वजा को दण्डवत् कर ध्वजा की ओर मुख करके लेट गये, परन्तु उनके अन्तःकरण में महाप्रभु श्री विट्ठलनाथ जी के दर्शन की अभिलाषा बनी रही। गुसाईं जी के हृदय मे प्रेरणा हुई और आरती आदि से निवृत्त होकर पारसोली पहुँच गये। उनके साक्षात्कार पर सूरदास ने "देखो देखो हरि जू कौ एक सुभाय।" पद गाया, जिसमें उनके भक्त-हृदय के दैन्य का उत्कर्ष है। अन्त समय मे जब चतुर्भुजदास जी ने आचार्य महाप्रभु के यशोवर्णन के लिए कहा तो गुरु और गोविन्द मे समान भाव रखने वाले भक्त प्रवर सूरदास ने "भरोसो दृढ इन चरणन केरो।" पद गाया और जब गोस्वामी जी ने उनसे उनकी चित्तवृत्ति के विषय मे पूछा तो सूर ने "बलि बलि बलि हौं कुमरि राधिका नन्द सुवन जासों रति मानी।" पद गाया तथा जब किसी ने नेत्रवृत्ति के विषय मे प्रश्न किया तो "खंजन नैन रूप रस माते।" पद गाया और इसके पश्चात् उन्होंने अपनी यह लीला समाप्त करदी।

यद्यपि इन वार्ता-प्रसगों मे 'सूरदास' जी के जीवन-चरित की कुछ झाँकियाँ अवश्य मिलती हैं तथापि वे उनके धार्मिक-विश्वास एवं भक्ति-भावना का ही विशेष परिचय देती है, तिथि-निर्णय करने मे उपयोगी सिद्ध नही होती। हाँ, कुछ ऐतिहासिक तथ्य अवश्य प्रकाश मे आते हैं, परन्तु वे तथ्य भी स्वतंत्र रूप से विशेष महत्व नही रखते क्योंकि उनमे केवल व्यक्तियों के सम्पर्क-मात्र का परिचय मिलता है। उदाहरणार्थ हम कह सकते है कि सूरदास जी की गौ-घाट पर महाप्रभु बल्लभाचार्य जी से भेट हुई, परन्तु वह कौनसा सन्-सवत था? उस समय सूर की आयु क्या थी? यह विचारणीय है। 'सूर' एवं अकबर की भेंट के समय का निर्धारण भी आवश्यक है। इसके अतिरिक्त यह निश्चित प्रतीत होता है कि सूरदास जी के वैकुण्ठवास के समय चतुर्भुजदास, कुम्भनदास, गोविन्दस्वामी और रामदास विद्यमान थे, एवं श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ के जीवन-काल मे ही सूर ने यह लीला समाप्त की थी। परन्तु इन सब घटनाओं से सूरदास जी के निश्चित काल-क्रम के निर्धारण मे कोई विशेष सहायता नही मिलती।

वार्ता-साहित्य के ही अन्तर्गत निज-वार्ता श्री हरिराय जी की भाव-प्रकाश टीका भी सम्मिलित है। प्राचीन वार्ता-साहित्य में निज-वार्ता का उल्लेख है, जो श्री गोकुलनाथ जी द्वारा कथित है; इसमे सूरदास जी का उल्लेख इस प्रकार है—

"सो सूरदास जी जब श्री आचार्य जी महाप्रभून को प्राकट्य भयो है तब इनको जन्म भयो है। सो श्री आचार्य जी सों ये दस दिन छोटे हुते।"

भाव प्रकाश—हम पहले कह चुके हैं कि प्राचीन वार्ता-साहित्य में वार्ता-साहित्य के तीन संस्करण माने हैं। 'भाव प्रकाश' श्री हरिराय जी की टीका का नाम है और उनका समय सं० १६४७ से १७७२ तक है। सं० १७५२ की लिखी हुई 'भाव प्रकाश' की प्रति सम्प्रदाय में उपलब्ध

भी है। इससे प्रतीत होता है कि 'भाव प्रकाश' सूरदास जी से लगभग १०० वर्ष पश्चात् लिखी गई। इस वार्ता का सम्पादन हरिराय जी ने लीला-भावना वाली "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" नाम से किया था। श्री द्वारिकादास पारीख ने इनकी एक हस्तलिखित प्रति गुजरात के सिद्धपुर पाटन मे खोज द्वारा प्राप्त की है, उस प्रति का सम्पादन-काल संवत् १७५२ लिखा है। यदि उस संवत् को सत्य माना जाय तो हरिराय जी के समय मे ही उसका सम्पादन सिद्ध होता है, क्योंकि हरिराय जी का देहावसान १२५ वर्ष की पूर्ण आयु प्राप्त कर संवत् १७७२ मे हुआ था। गोस्वामी हरिराय जी गोस्वामी गोकुलनाथ जी के बड़े भाई के पौत्र थे और गोकुलनाथ जी के साथ रहा करते थे। वे सस्कृत के भी प्रकाण्ड विद्वान् थे, वार्ता-साहित्य का सम्पादन भी उन्होने किया था तथा अनेक वार्ता-पुस्तको की रचना भी की थी। 'भाव प्रकाश'-टीका में हरिराय जी ने गोकुलनाथ जी द्वारा कथित मूलवार्ता का ही विस्तृत विवेचन किया है। सूरदास जी की वार्ता मे पहले तो श्री हरिराय जी ने सूरदास जी के लीला-स्वरूपों का वर्णन किया है और बताया है कि सूरदास जी ठाकुर जी के अष्ट सखाओ में से कृष्ण सखा है और स्वामिनी जी की सखियों में चम्पकलता सखी हैं। इसके अनन्तर ग्यारह वार्ता प्रसंगो मे हरिराय जी सूरदास जी का जीवन-चरित विस्तार से लिखा है। इस भावना वाली टीका मे हरिराय जी ने भक्तों के तीन-तीन जन्मों का परिचय दिया है। हरिराय जी के अनुमार सूरदास जी का जन्म दिल्ली के पास सीही ग्राम में, जो जन्मेजय के यज्ञ-स्थान के निकट है, एक निर्धन सारस्वत ब्राह्मण के यहाँ हुआ था। सूरदास जी सलपट-जन्मान्ध थे, और उनके नेत्रो के गड्ढे भी नही थे, केवल भौंहे थीं, वे अपने पिता के चौथे पुत्र थे। जन्मान्ध पुत्र की उत्पत्ति से निर्धन ब्राह्मण को बडा कष्ट हुआ और वह उसे आपत्ति के रूप में ही मानने लगा। ६ वर्ष की आयु मे चूहे द्वारा ले जाई गईं दो मुहरो का पता बताने के कारण सूरदास जी के माता-पिता बड़े चमत्कृत हुए और पुत्र से प्रेम करने लगे। परन्तु इसलिए सूरदास जी की मुहर बताने की यही शर्त थी कि वे इसके पश्चात् घर नही रहेगे, माता-पिता के आग्रह करने पर भी वे घर मे नही रहे और वहाँ से चार कोस दूर एक तालाब के किनारे रहने लगे। वहाँ भी जब उन्होने वहाँ एक ब्राह्मण जमीदार को उसकी खोई हुई गायें बताकर चमत्कृत कर दिया तो उस जमीदार ने उसी गाँव मे तालाब के किनारे पीपल के वृक्ष के नीचे झोंपड़ी बना दी। सूरदास जी इसी झोपड़ी में रहकर सगुन बताने लगे। कुछ ही दिनों मे उनके सेवक हो गये। झोपडे के स्थान पर रहकर अच्छा घर बन गया। गाने-बजाने का सब प्रबन्ध हो गया और वस्त्र, द्रव्य आदि वैभव से वह स्थान पूर्ण हो गया। सूरदास जी वहाँ विरह के पद सेवकों को सुनाते थे। १८ वर्ष की आयु तक यह क्रम चलता रहा। एक दिन उन्हें विरक्ति हुई और अपना सब वैभव अपने माता-पिता को सौप कर केवल एक वस्त्र एव यष्टिका लेकर चल दिये। वहाँ से चलकर वे मथुरा मे विश्राम-घाट पर यमुना के किनारे रहने लगे। उनकी प्रतिभा ने वहाँ भी उन्हें दूर-दूर तक प्रसिद्ध कर दिया। एक दिन महाप्रभु बल्लभाचार्य ब्रज से अड़ैल जाते हुए गौ-घाट पर रुके और यही उनसे सूरदास जी की भेंट हुई। यह सब वर्णन 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' के अनुकूल है, केवल कोष्ठों मे हरिराय जी ने विस्तार के साथ कुछ स्थलो को समझाया है। उसकी विशेष उल्लेखनीय बातें ये है :

१—बल्लभाचार्य जी का सूरदास जी को पुष्टि-सम्प्रदाय में यथावत् दीक्षित करना,

२—सूरदास जी द्वारा पुष्टिमार्ग का निरूपण,

३—चौपड के रूपक की व्याख्या,

४—अकबर और सूरदास की भेंट का विशेष वर्णन,

५—सूरदास जी के कुछ चमत्कार,

६—सूरदास जी के सवालाख कीर्तन-पदों का उल्लेख,

७—पारसोली चन्द्रसरोबर का परिचय,

८—अकबर बादशाह के पहले जन्म का उल्लेख,

९—सूरदास जी के चार नामों का उल्लेख,

(१) सूरदास, (२) सूरजदास, (३) सूरज, (४) सूरश्याम।

इसके अतिरिक्त 'भाव प्रकाश' में और भी सम्प्रदाय-सम्बन्धी व्याख्याएँ है।

वार्ता-साहित्य के अतिरिक्त और भी ऐसा साम्प्रदायिक साहित्य है, जिसमें सूरदास का उल्लेख मिलता है। उसके कुछ ग्रन्थ निम्नलिखित है:—

(१) बल्लभ दिग्विजय

इस ग्रन्थ की रचना गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के छठे पुत्र श्री यदुनाथ जी ने सम्वत् १६५८ में की थी। बल्लभ-वंश-वृक्ष में यदुनाथ जी का जन्म सम्वत् १६१५ लिखा है अतः वे सूरदास जी के समसामयिक ठहरते है। सम्प्रदाय कल्पद्रुम में इसको यदुनाथ जी-कृत स्वीकार किया गया है तथा इस ग्रन्थ की पुष्पिका मे इसके रचना-काल के विषय मे निम्नलिखित कथन है—

"वसु-बाण-रसेन्द्वब्द्धे तपस्य सितिके रवौ।
चमत्कारिपूरे पूर्णो ग्रन्थोऽभूत सोमजातटे।"[1]

इसमें सूरदास जी का उल्लेख इस प्रकार है—

"ततोऽलर्कपुरे समागता। तत्रावासे कृते,
ततो ब्रजसमागमने सारस्वतसूरदासोऽनुग्रहीत।[2]

अर्थात् आचार्यपाद इसके अनन्तर अलर्कपुर (अड़ैल) आये, वहाँ कुछ दिन निवास किया और फिर ब्रज-यात्रा मे सारस्वत सूरदास पर अनुग्रह किया।

(२) संस्कृत-वार्ता-मणिमाला

यह भी सम्प्रदाय का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके रचयिता श्रीनाथ भट्ट तैलग ब्राह्मण थे। भट्टजी का समय सवत् १७७५ से १८३० तक का है। इस ग्रन्थ मे वार्ताओं के १२५ प्रसंगों का उल्लेख है। इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रतियाँ काँकरौली विद्या-विभाग मे सुरक्षित है। इस ग्रन्थ की ५८वी वार्ता सूरदास जी से सम्बन्ध रखती है। इसके अनुसार सूरदास जी प्राच्य ब्राह्मण थे और जन्मान्ध थे। महाप्रभु बल्लभाचार्य से अरिल्ल (अड़ैल) गाँव मे उनकी भेट हुई, उसी समय इनकी गणना, विद्वान् कवियों और उच्चकोटि के गायकों में थी। आचार्य जी ने इन्हे भगवल्लीला का उपदेश दिया, और इसके अनन्तर उन्होंने ब्रज-भाषा में काव्य-सागर की रचना की।

(३) अष्ट-सखामृत

इसके प्रणेता प्रणनाथ कवि हैं, जो वृन्दावन के निवासी थे। इसकी संवत् १७६७ की लिखी हुई एक प्रति बम्बई के एक मन्दिर मे बताई जाती है।[3] इस ग्रन्थ में सूर के विषय मे एक उल्लेख है, जिसका साराश निम्नलिखित है—

(अ) सीही ग्राम के एक सारस्वत-ब्राह्मण-वंश में जन्म लेने वाले तथा आचार्य बल्लभ के प्रिय शिष्य सूरदास जी एक प्रख्यात भक्त थे।

---

१ वल्लभ दिग्विजय।

२ वल्लभ दिग्विजय पृ० ५०।

३ 'नवीन भारत' १९ मई सन् १९४८ मे प्रकाशित 'लोक महाकवि सूरदास'

(आ) वे यद्यपि चर्मचक्षुहीन थे, तथापि उनके आन्तरिक नेत्र खुले हुए थे।

(इ) प्रतिदिन हरि-लीला-सम्बन्धी नवीन-नवीन पदो की रचना किया करते थे और सूरजदास कहलाते थे।[१]

(४) सम्प्रदाय-कल्पद्रुम

विट्ठलनाथ भट्ट ने संवत् १७२६ मे इस ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें महाप्रभु वल्लभाचार्य तथा श्री गोसाई जी की जीवन-घटनाओं का वर्णन है। इस ग्रन्थ की रचना उन्होंने कृष्णगढ़ के राजा मानसिंह के लिए की थी। किन्तु इस ग्रन्थ मे उल्लिखित तिथियो की प्रामाणिकता मे भी सन्देह है। हमारे चरित-नायक सूरदास के सम्बन्ध मे इसमे यह पद मिलता है—

"सूरदास को सरन लै तीर्थराज प्रभु आय।
भू प्रदक्षिणा पूर्ण किय, ब्रह्म-भोग करवाय।।"[२]

(५) धौल

जमुनादास जी कृत यह ग्रन्थ गुजराती भाषा में है। इसके रचयिता जमुनादास जी हरिराय जी के सेवक थे। इन्होंने सूरदासजी का जीवन-चरित पद्य-बद्ध किया है, परन्तु वह हररिराय जी की 'भाव-प्रकाश' टीका पर ही पूर्णतया आधारित है और लेखको ने स्वीकार भी किया है:—

"जमनादास, अधम ते वर्णन शूं करे आ सुण्यु वदनजेः श्री हरिराय महाभूप जो !"

(६) भाव संग्रह

यह सग्रह द्वारिकेश जी का किया हुआ है, जिनका समय संवत् १७५१ से १८०० तक माना गया है। इसमे सूर-सम्बन्धी उल्लेख इस प्रकार है:—

"सो सूरदास जी श्री आचार्य जी महाप्रभून ते दस दिन छोटे हते। लीला मे उनको स्वरूप कृष्ण-सखा, चम्पकलता सखी, श्री जी के वाक् को स्वरूप, गिरिराज के चन्द्रसरोवर द्वार के अधिकारी, स्वामी की छाप, सारस्वत ब्राह्मण, सीही ग्राम के वासी।"

(७) वैष्णवाह्निक-पद

इनके रचयिता श्री गोस्वामी गोपिकालंकार जी है, जो जतीपुरा के निवासी थे। इनका उपनाम मट्टू जी तथा जन्म संवत् १८७६ मे बताया जाता है। उन्होने सूरदास जी के जन्म के सम्बन्ध मे लिखा है कि सूरदास जी संवत् १५३५ मे बैसाख शुक्ल ५ मे, जबकि षष्ठी आ गई थी, उत्पन्न हुए थे।[३]

अब हम सूर-सम्बन्धी आधुनिक सामग्री पर विचार करेंगे। हम पहले कह चुके हैं कि आधुनिक सामग्री के दो रूप हैं—(१) इतिहास ग्रन्थों मे तथा (२) आलोचनात्मक प्रबन्धों मे। इतिहास-ग्रन्थों का आधार खोज-रिपोर्ट तथा कुछ प्राचीन ग्रन्थ है। खोज-सम्बन्धी-कार्य करने वाली तीन संस्थाओं के नाम उल्लेखनीय है—(१) काशी की नगरी-प्रचारिणी-सभा, (२) ब्रज-साहित्य-मण्डल और (३) हिन्दी-विद्यापीठ। इन संस्थाओं द्वारा हुए सूर-सम्बन्धी अन्वेषणों मे सूरदास जी

---

१ अष्ट सखामृत—

'श्री वल्लभ-प्रभु-लाड़िले, सीही सर जल जात।
... .
'प्रान' जप्यौ नहि नाम हरि, ताके मुख मे धूर,'

२ सम्प्रदाय-कल्पद्रुम पृ० ४२

३ प्रगटे भक्त शिरोमनिराय,
माधव शुक्ला पँचमि ऊपर छट्ट अधिक सुखदाय।

की रचनाओं पर तो काफी प्रकाश पडता है, किन्तु उनके जीवन पर नही। रचनाओं के विषय में हुए अन्वेषणों का उल्लेख हम दूसरे प्रकरण में करेंगे। जहाँ तक इतिहास ग्रन्थों का प्रश्न है, उनमें प्रारम्भिक ग्रन्थों में सूरदास के जीवन-सम्बन्धी आलोचनात्मक विवरण का अभाव ही है, केवल जनश्रुतियों अथवा प्राचीन अप्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर ही सूर-सम्बन्धी उल्लेख मिलते है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', डा० रामकुमार वर्मा का 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' तथा डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'हिन्दी-साहित्य' इस विषय में विशेष रूप से विचारणीय हैं। आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास मे सूर के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध मे लिखा है।

१—"सारांश यह है कि हमे सूरदास का जो थोडा-सा परिचय 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' में मिलता है, उसी पर सतोष करना पडता है।"

२—"जीवन का कोई विशेष प्रामाणिक वृत्त न पाकर इधर कुछ लोगों ने सूर के समय के आसपास के किसी ऐतिहासिक लेख मे जहाँ कहीं सूरदास नाम मिला है, वही का वृत्त प्रसिद्ध सूरदास पर घटाने का प्रयत्न किया है।"

शुक्ल जी ने सूरदास जी का आचार्य वल्लभ का शिष्य होना सं० १५८० मे माना है तथा 'सूर की सारावली' को प्रामाणिक मानते हुए उसके लिखने के समय उनकी आयु ६७ वर्ष की मानी है।

साहित्य-लहरी के

"मुनि पुनि रसन के रस लेष।
दसन गौरी नन्द कौ लिखि सुभग संवत् पेष ।।"

वाले पद के आधार पर शुक्ल जी ने 'साहित्य-लहरी' की समाप्ति सम्वत् १६०७ मे मानी है। सूर के जन्मकाल और मृत्युकाल के विषय मे उन्होंने इस प्रकार लिखा है :

"यह तो मानना ही पड़ेगा कि साहित्य-क्रीड़ा का यह ग्रन्थ 'सूर-सागर' से छुट्टी पाकर ही संकलित किया होगा। उसके दो वर्ष पहले यदि 'सूर-सारावली' की रचना हुई तो कह सकते हैं कि सम्वत् १६०५ में सूरदास जी ६७ वर्ष के थे। अब यदि उसकी आयु ८० या ८५ वर्ष की मानें तो उनका जन्मकाल सम्वत् १५४० के लगभग तथा देहावसान संवत् १६२० के आसपास ही अनुमित होता है।[1]

"'साहित्य-लहरी' के वंश परम्परा-विषयक अन्तिम पद के विषय मे शुक्ल जी की सम्मति है।"

"हमारा अनुमान है कि 'साहित्य-लहरी' में यह पद पीछे किसी भाट के द्वारा जोड़ा गया है।"

'आइने-अकबरी' और 'मुन्शियात अबुलफ़जल' में आये हुए सूर सम्बन्धी उल्लेखों के विषय में शुक्ल जी की सम्मति यह है :

"अकबर सवत् १६१३ में गद्दी पर बैठा। हमारे सूरदास संवत् १५८० के आसपास ही बल्लभाचार्य जी के शिष्य हो गये थे और उसके पहले भी विरक्ति साधु के रूप मे गऊघाट पर रहा करते थे। इस दशा में संवत् १६१३ के बहुत बाद दरबारी नौकरी करने कैसे पहुँचे ? अतः आइने-अकबरी के सूरदास और सूरसागर के सूरदास एक ही व्यक्ति नहीं ठहरते।"[2]

'मुन्शियात अबुलफ़जल' नामक पत्र-संग्रह के विषय में शुक्ल जी का मत है :

"इन शब्दों में एसी ध्वनि निकलती है कि ये (पत्र में उल्लिखित सूरदास) कोई ऐसे सन्त थे, जिनके अकबर के 'दीन-इलाही' में दीक्षित होने की सम्भावना अबुलफ़जल समझता था।

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ १६१
२ " पृष्ठ १६२-६३

सम्भव है वे कबीर के अनुयायी कोई संत हों। अकबर का दो बार इलाहबाद जाना पाया जाता है, एक तो सम्वत् १६४० में, फिर संवत्१६६१ मे। पहली यात्रा के समय का लिखा हुआ भी यदि इस पत्र को भी मानें तो भी हमारे सूर का गोलोकवास हो चुका था। यदि उन्हें तब तक जीवित भी माने तो वे १०० वर्ष से ऊपर रहे होंगे। मृत्यु के इतने समीप आकर वे इन सब झमेलों में क्यों पडने जावेगे या इनके 'दीन इलाही' में दीक्षित होने की आशा कैसे की जावेगी।"[१]

डा० रामकुमार वर्मा ने अपने 'हिन्दी-साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास' में सूरजीवन-सम्बन्धी प्राप्त समस्त सामग्री का उल्लेख किया है, परन्तु उन्होंने न तो उसकी प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता पर ही विचार किया है और न ही वे किसी निर्णय पर पहुंच सके हैं। उनके सारे निष्कर्ष सन्देहास्पद है। अंतःसाक्ष्य पर विचार करते हुए डाक्टर साहब लिखते हैं :

"यदि हम 'सूर-सारावली' और 'साहित्य-लहरी' का रचना-काल एक ही मानें (जैसा कि बहुत सम्भव है) क्योंकि दोनों पुस्तकें 'सूरसागर' के बाद में ही बनीं, तो संवत् १६०७ में सूरदास जी की आयु ६७ वर्ष की रही होगी अर्थात् उनका जन्म संवत् १५४० मे हुआ होगा। जितना अन्तर 'सूर-सारावली' और 'साहित्य-लहरी' के रचना-काल में होगा, उतना ही अन्तर जन्म-संवत् में पड़ जायगा। किन्तु अनुमान से यह कहा जा सकता है कि दोनों के रचना-काल में अधिक अन्तर नही हो सकता। अतएव सूरदास के पदों के अनुसार उनका जन्म-संवत् १५४० अथवा उसके आसपास ठहरता है।"[२]

वाह्य-साक्ष्य का उल्लेख करते हुए डॉ० वर्मा ने 'मुन्शियात अबुलफजल' में संगृहीत सूरदास विषयक पत्र को विशेष महत्व दिया है तथा 'आइने अकबरी' एवं 'मुन्तखिब-उल तवारीख' वाले सूरदास से उसकी संगति लगाई है। इस सम्बन्ध में उन्होंने जोधपुर के कविराज मुरारिदान के कथन से 'चौरासी वार्त्ता' और 'आइने अकबरी' दोनों के मतों की पुष्टि की है और सूर की मृत्यु के सम्बन्ध मे विवेचन करते हुए उन्होंने इस प्रकार लिखा है—"अतः संवत् १६४२ के श्रावण कृष्ण में सूरदास को अबुलफजल द्वारा यह पत्र लिखा गया। विटठलनाथ की मृत्यु सवत् १६४२ में हुई··· —···अतः इस प्रमाण से सूरदास की मृत्यु श्रावण सम्वत् १६४२ के बाद मे हुई। अभी तक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि सूरदास जी का जन्म सवत् १५४०, प्रसिद्धि सवत् १५८७ और मृत्यु सं० १६४२ है। इस प्रकार सूरदास ने १०२ वर्ष की आयु पाई।"[३]

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने 'हिन्दी-साहित्य' में इस विषय का विशेष विवेचन नहीं किया है। उन्होने वार्ता-साहित्य के आधार पर सूरदास जी के जन्म एवं अन्धत्व के विषय मे लिखा है :

"प्रसिद्ध है कि कविवर सूरदास महाप्रभु बल्लभचार्य के शिष्य थे। साम्प्रदायिक जनुश्रुतियों के अनुसार वे बल्लभाचार्य से १० दिन छोटे थे।··········'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' के अनुसार इनका जन्म रुनकता या रेणुका क्षेत्र मे हुआ·········श्री हरिराय जी के 'भाव प्रकाश' से पता चलता है कि सूरदास जी दिल्ली के पास सीही ग्राम में सारस्वत् कुल में पैदा हुए। ये जन्म से ही अन्धे थे।"

आचार्य हजारीप्रसाद जी लिखते हैं :

"परन्तु सूरदास जी की प्राकृतिक शोभा और रूप-वर्णन को देखकर अधिकाश विद्वान् यह नहीं मानना चाहते कि वह जन्मान्ध थे। सूरदास के कुछ पदों से यह ध्वनि अवश्य मिलती है कि

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ १६३
२ हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ७४०
३ " " " " पृ० ७४८

सूरदास जी अपने को जन्म का अन्धा और कर्म का अभागा कहते है। पर सब समय इसके अक्षरार्थ को ही प्रधान नही मानना चाहिए। यह मानसिक ग्लानि की अवस्था मे कही हुई बात है, जिसमे अपनी हीनता को अतिरञ्जित करने की प्रवृत्ति काम करती रहती है।"

आगे डाक्टर साहब ने लिखा है—'चौरासी वैष्णवो की वार्ता' से स्पष्ट है कि महाप्रभु के तिरोधान के बहुत बाद तक सूरदास जी जीवित रहे। अनुमान किया जाता है कि सन् १५२३ ई० के आसपास वे बल्लभाचार्य के सम्पर्क मे आये होंगे। महाप्रभु ने उन्हें श्रीनाथ जी के सामने कीर्तन करने का भार दिया। परन्तु जब कृष्णदास मन्दिर के अधिकारी नियुक्त हुए तो सूरदास को वहाँ से हटकर पारसोली ग्राम मे चला जाना पडा था और वही उनकी मृत्यु भी हुई। उनकी मृत्यु के समय बल्लभाचार्य के सुपुत्र श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ जी उपस्थित थे। विट्ठलनाथ जी की मृत्यु सन् १५८५ ई० मे हुई थी, इसलिये सूरदास जी की मृत्यु इससे पहले ही हो गयी थी।"[1]

हिन्दी-साहित्य के इन तीनों ही प्रसिद्ध इतिहास-ग्रंथों में सूरदास जी का जन्म-काल सन्देहात्मक ही माना है। इसके अतिरिक्त जो पूर्ववर्ती विद्वानो के इतिहास-ग्रन्थ है, उनमे इतनी भी विवेचना नही है। इसलिए उनका उल्लेख अनावश्यक-सा ही प्रतीत होता है। इन इतिहास-ग्रन्थों के अतिरिक्त सूरदास जी के सम्बन्ध में सूर-साहित्य की भूमिका के रूप मे अथवा स्वतन्त्र रूप में पर्याप्त विवेचन हुआ है। उस सामग्री का उल्लेख हम पहले ही कर चुके है। इस प्रकार का सबसे पहला लेख भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का है, जो 'वेंकटेश्वर प्रेस', बम्बई से मुद्रित 'सूर-सागर' की भूमिका के रूप में लिखा गया है। भारतेन्दु जी ने अपनी लिखी 'चरितावली' तथा 'सूरशतक पूर्वार्द्ध' की भूमिका मे भी सूर के जीवन-पक्ष पर कुछ प्रकाश डाला है। 'वेंकटेश्वर प्रेस' से प्रकाशित 'सूरसागर' के सम्पादक श्री राधाकृष्ण ने अपने समय तक की प्राप्त सभी सूर-जीवन-सम्बन्धी-सामग्री का संकलन इस ग्रन्थ मे किया है। इसी सामग्री के आधार पर श्री राधाकृष्णदास ने प्रारम्भ में अपने विचार प्रकट किये हैं। अन्तःसाक्ष्य के बल पर उन्होंने सूरदास जी के समय का निरूपण किया है। बाबू राधाकृष्णदास ने सूरदास का जन्म-सम्वत् १५४० के लगभग और देहावसान सं० १६२० के लगभग माना है। अपने निष्कर्ष को वे इस प्रकार प्रमाणित करते हैं :

१—श्री बल्लभाचार्य जी का जन्म-सम्वत् १५३५ वैसाख कृष्ण एकादशी को और अन्तर्धान संवत् १५८७ आषाढ़ शुक्ल तृतीया को तथा श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ जी का जन्म-सवत् १५७२ पौष कृष्ण ९ और अन्तर्धान संवत् १६४२ माघ कृष्ण सप्तमी को हुआ। जब इनका समय सम्वत् १५३५ से लेकर सम्बत् १६४२ के बीच १०७ वर्ष के भीतर ही निर्णीत होना चाहिए।

२—'सूर-सारावली' की रचना सूरदास जी ने लगभग ६७ वर्ष की आयु में की थी।

३—'साहित्य-लहरी' मे 'सरस' सम्वत्सर का उल्लेख है। राधाकृष्ण जी ने इस संवत् पर विशेष विचार किया है और एक लीला को सरस-संवत्सर-लीला माना है। 'साहित्य-लहरी' के 'मुनि पुनि रसन के रस लेख' वाले पद से उन्होने संवत् १६०७ लिया है और साहित्य-लहरी का संकलन भी लगभग ६७ वर्ष की आयु में माना है। इस गणना से १६०७ में से ६७ वर्ष निकाल देने से १५४० बनते है।

४—'सूरसागर' के देखने से विदित होता है कि उस समय श्री गोस्वामी हितहरिवंश जी और स्वामी हरिदास जी के पूरे अभ्युदय का समय था जैसा कि—"निस दिन स्याम सेऊँ मैं तोहि" वाले पद से प्रकट होता है।[2]

---

१ हिन्दी-साहित्य (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी)

२ सूरसागर की भूमिका (वेंकटेश्वर प्रेस) सं० १९६४।

बाबू राधाकृष्णदास ने सूरदास-मदनमोहन' नामक एक और सूरदास का उल्लेख किया है। 'भारतेन्दु' जी ने अपने लेख मे 'साहित्य-लहरी' के ११८ सख्या वाले पद को सूर-कृत मानकर उनके वंश का निर्णय किया है। उसी के आधार पर उन्होंने सवत् १९३५ मे अपनी 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' मे एक लेख छपवाया था, जिसमे उस पद पर विचार किया गया है। महामहोपाध्याय हरिप्रसाद शास्त्री जी ने अपने ऐतिहासिक-काव्यानुसन्धान के आधार पर 'वंगाल एशियाटिक सोसाइटी' द्वारा छापे गये विवरण मे चन्द्र-वृक्ष दिया है, जिसमें सूरदास का भी नाम आया है और इसी सूरदास को हमारा चरितनायक सूर बताया है। मुन्शी देवीप्रसाद ने भी इसी परम्परा का अनुसरण किया है।[१]

सूरदास जी को जन्माध मानते हुए भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने अपनी चरितावली मे लिखा है :—

"यह इस असार संसार को न देखने के लिये आँखें बन्द किये हुए थे।[२]"

मुन्शी 'देवीप्रसाद' जी ने 'आइने-अकबरी' और 'मुन्शियात अबुलफजल' की प्रामाणिकता मे संदेह न करते हुए 'अकबर' की सभा के चार गायकों मे सूरदास को भी माना है और उक्त ऐतिहासिक ग्रन्थों के आधार पर उनका जीवन-चरित निर्धारित किया है।

सूर-काव्य के अन्य जितने संकलन हुए हैं, सभी में सूरदास जी के जीवन के विषय में कुछ न कुछ प्रकाश डाला गया है, किन्तु किसी महत्वपूर्ण संकेत के अभाव के कारण सूर का जीवन-वृत्त फिर भी अस्पष्ट ही दीख पडता है। श्री महादेवप्रसाद जी द्वारा चरित 'साहित्य-लहरी-टीका' में भी, जो लहेरिया सराय से प्रकाशित हुई है, कोई विशेष बात नही, पुरानी बातों का ही पिष्ट-पेषण किया गया है। कतिपय जनश्रुतियो का भी सूर के जीवन-चरित से सामजस्य स्थापित किया गया है और 'बिल्व-मंगल' वाली कहानी को सूर के जीवन से संगत करने का प्रयास किया है।

सूर के सम्बन्ध मे आलोचनात्मक ढंग की सामग्री भी प्रचुर मात्रा मे प्राप्त है। सूर-विषयक इस समस्त साहित्य में वार्ता-साहित्य की सामग्री तथा अन्तःसाक्ष्य के रूप में उपस्थित किये जाने वाले पदों के आधार पर ही आलोचको ने अपने निर्णय दिये है। 'सूर-साहित्य' की भूमिका में श्री रामरतन भटनागर और श्री वाचस्पति त्रिपाठी में 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' को प्रामाणिक माना है तथा 'साहित्य-लहरी' के अन्तर्गत सूर के वंशवृक्ष-सम्बन्धी पद को प्रक्षिप्त। उक्त विद्वानों ने अपनी 'भूमिका' मे सूर का जन्म-संवत् १५४० मे ब्रज पदेश में माना है किन्तु उन्हें जन्मान्ध न मानते हुए उन्होने लिखा है—"वृद्धावस्था के साथ वे कदाचित् नेत्रहीन भी हो गये।" सूरदास की मृत्यु के सम्बन्ध मे उनका कथन है कि विट्ठलनाथ जी राज-भोग का नित्य-कर्म समाप्त करके सूरदास जी की मृत्यु-शय्या पर पहुँचे थे, राज-भोग का समय सवेरे प्रायः दस ग्यारह बजे तक है। अतः सूर का निधन दोपहर को हुआ होगा।[३]

सूर-विषयक दूसरा उल्लेखनीय ग्रन्थ पं० मुन्शीराम शर्मा का 'सूर-सौरभ' है। इस ग्रन्थ मे शर्मा जी ने सूर के जीवन-पद पर पर्याप्त प्रकाश डाला है और कई क्रान्तिकारी मौलिक निष्कर्ष निकाले हैं। उन्होंने एक ओर तो 'सूर-सारावली', 'साहित्य-लहरी', 'सूरसागर' आदि सभी रचनाओं को प्रामाणिक माना है और दूसरी ओर सूर के सम्बन्ध में लिखे गये लेखों और प्रचलित जनुश्रुतियों

---

१ श्री महाराज सूरदास जी का जीवन-चरित (भारत-जीवन प्रेस, काशी) सं० १९६३।

२ चरितावली (भारतेन्दु) स० १९१७।

३ सूर-साहित्य की भूमिका (रामरतन भटनागर तथा वाचस्पति त्रिपाठी) संस्करण १९४५ है, पृ० १८-१९।

का समन्वय करने का प्रयास किया है, जिसके कारण कहीं-कही तो उनके मत से सूर-सम्बन्धी विशेष रूप से प्रामाणिक सामग्री भी अप्रामाणिक-सी हो गई है और कही-कही निराधार जनश्रुतियो को भी प्रामाणिकता मे स्थान मिल गया है। शर्मा जी बल्लभाचार्य जी से मिलने के समय सूरदास की आयु ६७ वर्ष मानते है तथा उन्होने 'साहित्य-लहरी' के "मुनि पुनि रसन के रस लेख" वाले पद से उसका रचना-काल सम्वत् १६२७ निर्धारित किया है। 'साहित्य-लहरी' के सूर-वंश वाले पद को प्रामाणिक मानकर सूरदास जी को महाकवि चन्दबरदाई का वंशज माना है और इस प्रकार भाट मानकर भी उन्हें ब्राह्मण सिद्ध किया है तथा उनके पिता का नाम रामदास बतलाया है, जो वैष्णव-भक्ति के अनुसार रामचन्द्र का ही परिवर्तित रूप है। उन्होंने सूर का जन्म-स्थान 'सीही' न मान कर 'गोपचल' माना है एवं सीही ग्राम के मदनमोहन सूरदास को अकबर का कृपापात्र और संडीले का अमीन माना है। सूर के अन्धत्व के विषय मे शर्मा जी स्पष्ट नहीं है। वे केवल इतना ही मानते है कि सूरसागर की रचना करने से पहले ही वे अंधे हो गये थे। कूपपतन की जनश्रुति से शर्मा जी ने अध्यात्मिकता का सम्बन्ध भी जोड़ा है और सूर को प्रारम्भिक जीवन मे गृहस्थ भी ठहराया है। इस प्रकार 'साहित्य-लहरी' के पद को प्रामाणिक अतएव सूर के जीवन पर चतुर्दिक आलोक-विकीर्ण करने वाला मानकर उन्होंने अन्त:साक्ष्य और बाह्य-साक्ष्य से प्रमाण उपस्थित किये हैं और अन्त में सूर के जन्म-मरण के विषय मे अपना क्रान्तिकर मत देते हुए वे लिखते हैं :

"सूर संवत् १५१५ के लगभग उत्पन्न हुई और संवत् १६२८ के आसपास तक जीवित रहे। अकबर से उनकी भेंट जीवन के अन्तिम समय मे हुई होगी। सम्वत् १६२८ के पश्चात् उनके जीवित रहने का कोई प्रमाण नही मिलता।"[1] इतने पर भी सन्तुष्ट न होकर शर्मा जी ने ओरछा के प्रसिद्ध कवि 'व्यास जी' के पद को भी प्रस्तुत किया है।

सूरदास जी के जीवन, सम्प्रदाय और सिद्धान्तों के विषय में दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ डा० दीनदयालु गुप्त जी का "अष्टछाप और बल्लभ-सम्प्रदाय" है। उन्होंने वार्ता-साहित्य को ही विशेष रूप से प्रामाणिक माना है। वे सूरदास जी का जन्म-स्थान सीही ही मानते हैं, तथा उन्हें विवाहित स्वीकार नही करते। सूरदास के अन्धत्व का विवेचन करते हुए वे लिखते हैं :

"सूरदास ने अपनी रचनाओं में अपने अन्धे—निपट अंधे होने का तो कई स्थलों पर उल्लेख किया है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वे जन्मान्ध थे अथवा अमुक अवस्था में अंधे हुए थे।"[2] अन्त में गुप्त जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि "यथार्थ मे देखा जाय तो यह समस्या कोई महत्व की नही कि वे जन्मान्ध थे अथवा बाद में अन्धे हुए। इतना सबको मान्य है और इसके बाह्य और आन्तरिक प्रमाण भी हैं कि सूरदास अन्धे थे और अपनी रचना-काल की अवस्था में भी वे अन्धे थे।"[3] सूर-सम्बन्धी अन्य घटनाओं के विषय में भी उन्होंने वार्ता-साहित्य को ही प्रामाणिक माना है, कही-कही सन्-संवत् का हेर-फेर अवश्य हो गया है, जो अधिक महत्वपूर्ण नही है। सूरदास जी का जन्म-सम्वत् गुप्त जी ने सम्प्रदाय की प्रथा के अनुसार सम्वत् १५३५, शरणागति सम्वत् १५६५ या १५६६ तथा गोलोकवास संवत् १६३८-३९ मे माना है। अपनी मान्यताओं के लिये उन्होंने प्रमाण भी उपस्थित किये हैं।

डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने भी अपने 'सूरदास' नामक प्रबन्ध मे सूर के जीवन-वृत्त पर प्रकाश डालते हुए तत्सम्बन्धी प्राप्त सामग्री का विश्लेषण किया है फिर भी वे किस निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँच सके। वार्ता-साहित्य को पूर्णतया प्रामाणिक न मानते हुए वे लिखते हैं—"पर किसी

१ सूर सौरभ (प० मुन्शीराम शर्मा) पृ० ८०
२ अष्ट छाप और बल्लभ सम्प्रदाय (डा० दीनदयालु गुप्त) पृ० २०१
३ वही पृ० २०३

अन्य प्रमाण के अभाव मे इस जनश्रुति के आधार पर सूरदास की जन्म-तिथि वैशाख शुक्ल ५ सम्वत् १५३५ मानकर पूर्ण सतोष नही किया जा सकता। इस प्रश्न को भी अन्य प्रश्नो के साथ पुष्टि, खण्डन अथवा संशोधन के लिये ऐतिहासिक प्रमाणों की निरन्तर अपेक्षा बनी रहेगी।"[१] इसी प्रकार सूर के निधन-सम्वत् के विषय मे भी वर्मा जी की उक्ति संदेहात्मक है। वे लिखते हैं :

"सूरदास शतायु होने के बाद स० १६४० के लगभग गोलोकवासी हुए होंगे।"[२] जाति के विषय मे वे लिखते है, "यदि वे ब्राह्मण होते तो अपने उपास्य देव के जन्मोत्सव पर दीन ब्राह्मण का भी रूप धारण कर सकते थे। अन्त में अन्य पुष्ट प्रमाणों के मिलने तक यही कहकर संतोष किया जा सकता है कि सूरदास कदाचित् ब्राह्मण नही थे, सम्भव है वे ढाढी, जगा या ब्रह्म-भट्ट हों। यह भी सम्भव है कि ब्रह्म-भट्ट होने के नाते परम्परागत कविवंशज सूर सरस्वती-पुत्र और सारस्वत नाम से विख्यात हो गये हों, जो कालान्तर मे सहज ही भक्तों द्वारा सारस्वत ब्राह्मण कर लिया गया।"[३]

सूरदास के माता-पिता, पारिवारिक जीवन और निवास-स्थान के विषय मे भी वर्मा जी ने अपना कोई निश्चित मत नही दिया है। वार्ता-साहित्य के विवरणो पर यह लिख दिया है कि—

"उक्त विवरणों मे जाति तथा जन्मान्ध-सम्बन्धी कथनों के अतिरिक्त और कोई ऐसी बात नही है, जिस पर सन्देह करने की आवश्यकता हो।"[४]

ढाढी वाले दो पदों मे ढाढ़िन के उल्लेख के कारण वर्मा जी ने लिखा है:—"इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि सम्भव है कि सूरदास किसी समय वैवाहिक जीवन व्यतीत कर चुके हों। नही तो वे अपने उपास्य देव के जन्मोत्सव के अवसर पर अपने साथ ढाढिन की कल्पना क्यों करते ? परन्तु इस अनुमान को सूर के जीवन-वृत्त मे किसी आग्रह के साथ सम्मिलित नही किया जा सकता।"[५]

डा० ब्रजेश्वर वर्मा सूरदास जी की दृष्टि-हीनता की सम्भावना वृद्धावस्था के निकट करते हैं और सूर के काव्य मे वाह्य जगत् के यथार्थ एवं सूक्ष्म चित्रण को उनके जन्मान्ध होने की सम्भावना के खण्डन का आधार मानते है।

सूर के जीवन, ग्रन्थ, सिद्धान्त और काव्य की निर्णयात्मक समीक्षा के विषय मे श्री द्वारिकादास परीख और प्रभुदयाल मीतल ने 'सूर-निर्णय' नामक ग्रन्थ मे विद्वत्तापूर्वक अपने विचार प्रकट किये है और अनेक स्थलों पर नवीन सामग्री का उल्लेख किया है। श्री परीख पुष्टि-सम्प्रदाय मे दीक्षित होने के साथ-साथ सम्प्रदाय-साहित्य में विशेष गति रखते हैं और पहुँच भी। यद्यपि उन्होने सूरदास जी के जीवन के सम्बन्ध में वार्ता-साहित्य को ही महत्व दिया है, तथापि उन्होंने समग्र सामग्री का यथोचित उपयोग और विश्लेषण किया है। कदाचित् 'सूर-निर्णय' ही पहला ग्रन्थ है, जिसमे निर्णयात्मक रूप में सूर के विषय में कुछ व्यवस्था दी गई है। सूरदास के जन्म-स्थान के विषय मे उन्होंने लिखा है :

"हम सूरदास का जन्म-स्थान दिल्ली के निकटवर्ती सीही ग्राम को मानने के लिए विवश हैं। हिन्दी के माननीय इतिहासकार भी अब इसी मत को मानने लगे है।"[६]

---

१ सूरदास (डा० ब्रजेश्वर वर्मा) पृ० ४६
२ " " " " ३
३ ,, ,, ,, ,, ६
४ ,, ,, ,, ,, १२
५ ,, ,, ,, ,, ११
६ सूर-निर्णय पृ० ५०

सूरदास जी की जन्म-तिथि 'सूर-निर्णय' में बैशाख शुक्ला पंचमी, संवत् १५३५ मगलवार मानी गई है। उनकी वश-परम्परा के विषय मे 'सूर-निर्णय' के लेखक किसी निर्णय पर नही पहुँच पाए है, केवल हरिराय जी के 'भाव-प्रकाश' में वर्णित वंश-वृत्त से ही उन्होने सन्तोष किया है। लेखक-युगल ने वार्ता-साहित्य के आधार पर सूरदास जी को निश्चित रूप से सारस्वत ब्राह्मण और जन्मान्ध माना है। सूरदास जी का शरणागति-काल सम्वत् १५७२, अकबर-मिलन सं० १६२३, तुलसी-भेट स० १६२६ और देहावसान सं० १६४० में निश्चित किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अपनी कीर्ति-ज्योति से दिग्दगन्त को समुद्भासित करने वाले इस अन्धे कवि की जीवन की कहानी अन्धकार में ही तिरोहित है। न तो किसी ऐतिहासिक ग्रन्थ मे और न कही अन्यत्र वाह्य-साक्ष्य के रूप मे प्रस्तुत किये जाने वाले ग्रन्थों में ही इसका निश्चयात्मकता के साथ प्रतिपादन है। अन्तःसाक्ष्य के रूप में उपस्थित किये जाने वाले पदों मे केवल दो पद ही ऐसे हैं, जिनमें काल-प्रमाण का उल्लेख है। यदि यह भी अप्रामाणिक सिद्ध हो जायें तो फिर केवल उन्ही पदों का आश्रय लेने के लिए विवश होना पड़ेगा, जो भौतिक जीवन की अपेक्षा आध्यात्मिक जीवन की ओर भी विशेष सकेत करते है अथवा साधक की मानसिक दशा के ही सूचक हैं। हम पहले कह चुके हैं कि ऐसे पदों के आधार पर किसी कवि के जीवन की घटनाओ का अनुमान लगाना केवल असगत ही नही, भक्त के हृदय मे प्रतिष्ठित उपास्यदेव की अवहेलना और भक्त की भावना का घोर तिरस्कार भी है। गोस्वामी तुलसीदास के विनय के पदों को लेकर कितनी ऊट-पटांग कल्पनायें की गई हैं, यह ऐतिहासिक तथ्यों से प्रमाणित हो चुका है। इसके अतिरिक्त यह बात भी द्रष्टव्य है कि साधक साधनावस्था में जब मानसिक वेदना का अनुभव करता है तो उसके हृदय की भाव-धारा अनेक स्रोतों मे फूट निकलती है। ऐसी स्थिति में कोई आलोचक किसी विशेष मापदण्ड को लेकर कवि के उन उद्‌गारों को अपने अनुमान की पुष्टि का आधार बना सकता है, किन्तु यह कवि की मधुर-भाव-धारा मे कटुता उत्पन्न करने का प्रयास ही कहा जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त किसी पद विशेष के विश्लेषण में सबसे आवश्यक बात यह है कि हमें उसके संदर्भ का ठीक ज्ञान हो। पूर्वापर-सम्बन्ध ज्ञान के बिना अर्थ का अनर्थ होने की सम्भावना ही रहती है।

आधुनिक आलोचको ने अपने-अपने मत की पुष्टि में अन्तः-साक्ष्य का सहारा लिया है। यह अब परिपाटी भी हो गई है कि किसी कवि की जीवनवृत्त निर्धारित करने के लिये अन्तःसाक्ष्य और वाह्य-साक्ष्य का सामंजस्य हो। परन्तु यह प्रणाली उन कवियो के जीवनवृत्त के विषय में भ्रामिक हो सकती है, जिसके वाह्य-साक्ष्य प्रामाणिक न हो तथा जिनमे बहुत अधिक मात्रा मे वैभिन्य हो। हमारे महाकवि के विषय मे भी यही बात है। उनके नाम जाति, जन्मान्धत्व, सम्प्रदाय आदि के विषय मे अपनी-अपनी धारणा के अनुकूल आलोचको ने उनकी रचनाओं मे से बहुत से पद खोज निकाले है, किन्तु मैं उन्हे पूर्णरूप से प्रामाणिक नही मानता। प्रथम तो—जैसा कि मैं निवेदन कर चुका हूँ—सूर और तुलसी जैसे महात्मा भक्ति के क्षेत्र मे पहुँचकर स्वयं ही नाम, ग्राम, जाति आदि के आवरण छोड चुके थे, दूसरे भक्ति की साधना मे कुछ ऐसी सर्व-सामान्य भूमिकाओं को पार करना पडता है, जो दैन्य, ग्लानि, नैराश्य आदि परक होने के कारण पार्थिव दृष्टिकोण से जीवन की झांकियाँ-सी प्रतीत होने लगती हैं। परन्तु इसके साथ-साथ हम इस तथ्य को भी नहीं भुला सकते कि साधक इसी पार्थिव शरीर से, इसी के संस्कारों से और इसी के सम्बन्ध से ब्रह्म-सम्बन्ध स्थापित करता है। भक्ति के आलौकिक क्षेत्र मे भी वह इसी भौतिक शरीर को लिए हुए हैं और इसीलिए वह जीवन्मुक्त है। कवि का व्यक्तित्व, परोक्ष रूप से ही सही, उसकी रचनाओं

में सूक्ष्म रूप से आभासित होता ही है। किन्तु उस व्यक्तित्व का स्थूल भौतिकता से सम्बन्ध नहीं होता, जितना सूक्ष्म मानसिक प्रवृत्तियों से होता है। वह तो केवल अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति का परिचायक होता है। जब हम संसार के स्थूल सम्बन्धो से उसका समन्वय करने लगते है तो मैं उसे साधक या कवि के प्रति अन्याय ही समझता हूँ।

'सर-सारावली', 'साहित्य-लहरी' और 'सूर-सागर'—तीनो ही रचनाओ से अन्तःसाक्ष्य उपस्थित कर महाकवि सूरदास के जीवन-वृत्त को निर्धारित करने की चेष्टा प्राय: सभी आधुनिक विद्वानों ने की है। आचार्य मुन्शीराम शर्मा 'सोम' ने अन्तःसाक्ष्य के ही आधार पर सूर के सम्पूर्ण जीवन-वृत्त की भित्ति उठाई है तथा बडे परिश्रम एव विश्वास के साथ युक्तियाँ दे-देकर अपने मत को प्रामाणिक करने का प्रयास किया है। इनकी युक्तियों को पढकर तो ऐसा प्रतीत होता है मानो सूरदास जी ने जान-बूझकर अपनी रचनाओ मे अपने जीवन-वृत्त का अन्तर्हित कर रखा हो। डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने परम्परा के अनुसार अन्तःसाक्ष्य के रूप में कुछ पद उपस्थित किये है, किन्तु वे आचार्य मुन्शीराम शर्मा 'सोम' की भाँति उन्हे निश्चयात्मक नही मानते। अन्य प्रमाणों के अभाव मे ऐसे कथनों की ऐतिहासिक प्रामाणिकता में उन्होने सदेह ही प्रकट किया है। 'सूर-निर्णय' मे अन्तःसाक्ष्य के रूप मे उपस्थित किए जाने वाले पदो मे से कुछ को प्रामाणिक तथा कुछ को अप्रामाणिक माना है। 'साहित्य-लहरी' के "प्रथम ही प्रभु जागते भे प्रगट अद्‌भुत रूप" वाले पद को अप्रामाणिक सिद्ध करने में उन्होने सात युक्तियाँ प्रस्तुत की है।[1] डा० दीनदयालु गुप्त ने सूर का जीवन-वृत्त निर्धारित करने मे अवश्य कही-कही सूर के पदों का सहारा लिया है परन्तु अधिकांश मे उन्होंने वार्ता-साहित्य को ही प्रामाणिक माना है, और साहित्य-लहरी वाले पद के विषय मे उन्होंन लिखा है:—"ज्ञात होता है कि यह पद सरदार कवि तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी से पहले 'साहित्य-लहरी' के किसी टीकाकार तथा लिपिकार ने मिलाया था।"[2] स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी इस पद को सूरदास कृत नही माना है। मिश्र-बन्धुओं ने भी इस पद को प्रक्षिप्त ही माना है। हाँ, मुन्शी देवीप्रसाद तथा राधाकृष्णदास जी ने अवश्य इस पद को प्रामाणिक माना है। डा० रामकुमार वर्मा जी ने अपने आलोचनात्मक इतिहास में इन पदो के विषय में कोई निश्चयात्मक पद नही दिया है। निश्चित तिथि का निर्देश करने वाला साहित्य-लहरी का पद "मुनि पुनि रसन के रस लेष" वाला है। 'साहित्य-लहरी' को प्रामाणिक मानने वाले प्राय: सभी आचार्यों ने इस पद को प्रामाणिक माना है। केवल इसकी व्याख्या के विषय मे ही उनका कुछ मत-वैभिन्य है, जिसका सकेत हम पहले कर आए हैं। 'सूर-सारावली' के "गुरु-प्रसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन" वाले पद के विषय में भी यह बात लागू होती है। सूरसागर के जिन पदों को अन्तःसाक्ष्य के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है उनकी सख्या बहुत है और सभी आलोचको ने अपनी-अपनी धारणा के अनुकूल सूरसागर के पदो को छाँट लिया है। यदि किसी को उनका ब्राह्मण होना स्पष्ट नही है तो सूरदास जी के पदों मे प्रयुक्त 'बाँभन' पदो मे उन्हे तिरस्कार की गध आती है और ढाढ़ी वाले पद को मत की पुष्टि करते हुए प्रतीत होते है। इसी प्रकार जो उन्हें जन्मान्ध नही मानते, वे उनके रूप वर्णन वाले पदो को अपने मत की पुष्टि में उद्‌धृत करते है परन्तु इतना अवश्य है कि सूरदास जी के विनय के पद ही प्राय: आत्म-परक पद है, जिनके विषय मे मैं पहले ही कह चुका हूँ कि सांसारिकता से ऊबे हुए भक्त के वे उद्‌गार पार्थिव-अंश की अपेक्षा मानसिक द्वन्द्व का ही अधिक प्रतिनिधित्व करते है।

१ सूर-निर्णय पृष्ठ ५, ६

२ अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय पृ० ६२

सूरदास जी का जीवन-वृत्त निर्धारित करने मे हम वार्ता-साहित्य को भी प्रामाणिक मानते है। इसके दो कारण हैं। प्रथम तो सम्पूर्ण वार्ता-साहित्य मे दिये हुए सूर-सम्बन्धी वृत्त की थोड़े-बहुत अन्तर के साथ अन्विति मिल जाती है, दूसरे कुछ सम-सामयिक रचनाओं को छोडकर सूरदास जी का सर्वाधिक एवं सर्व प्रथम उल्लेख इसी वार्ता-साहित्य मे है। यह हम पहले प्रतिपादन कर चुके हैं कि सूरदास के समकालीन ग्रन्थों मे उनका वृत्त पर्याप्त मात्रा मे है और न निश्चयात्मक रूप मे। 'भक्त-माल' मे तो केवल सूर-सम्बन्धी एक ही पद है। उसमें बिल्वमगल, सूरदास, सूरजदास तथा सूरदास-मदनमोहन नामक अन्य कवियों का भी उल्लेख है। प्रियदास जी कृत 'भक्त-माल' की टीका मे 'अष्टछापी सूरदास' का कोई विवरण नहीं है। हाँ, सूरदास-मदनमोहन के विषय मे विस्तार के साथ लिखा है। वास्तव मे ये सूरदास-मदनमोहन ही हमारे सूरदास के विषय मे भ्रम उत्पन्न करते है। 'आईने-अकबरी' और 'मुन्तखिब-उल-तवारीख' मे इन्ही सूरदास मदन-मोहन का वृत्तान्त है। आज चक्षुहीन मात्र को सूरदास की पदवी से विभूषित करने की परम्परा चली आरही है और यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि महाकवि सूरदास के जीवन-वृत्त के निर्धारण में यह परम्परा भी बडी बाधक रही है। उनके विषय मे प्रचलित जन-श्रुतियो का आधार भी यही परम्परा है। 'बिल्वमंगल-सूरदास' के विषय मे भक्तमाल मे लिखा है।

"बिल्वमंगल जी कृष्ण के परम कृपा-पात्र तथा मंगलस्वरूप है। उन्होंने 'श्रीकृष्णकरुणामृत' ग्रन्थ लिखा। भगवान् ने एक बार इनको अपना हाथ पकडा कर अवलम्ब दिया और छुड़ा लिया; तब उन्होने कहा कि भगवन्, आप हाथ से चले गये तो क्या हुआ, हृदय से आप जायें तब मानूँ। चिन्तामणि वेश्या के सग से इनकी लौकिक विषय से विरक्ति हुई और फिर इन्होंने ब्रज बालाओं की केलि का अद्‌भुत वर्णन किया।"[1]

सम्भवत. सूरदास की इसी अनेकता के कारण महाकवि सूरदास के वास्तविक नाम पर भी आज वाद-विवाद है। सूर के पदो मे सूर, सूरदास, सूरज, सूरजदास और सूरश्याम ये पाँच नाम आते है। आचार्य मुन्शीराम शर्मा सभी नामों को महाकवि सूरदास के मानते हैं। 'सूर-निर्णय' के लेखकों ने 'अष्ट-सखामृत' के आधार पर उनका नाम 'सूरजदास' माना है।[2] 'साहित्य-लहरी' वाले पदों मे उनका मूलनाम सूरजचन्द लिखा है। डा० मुन्शीराम जी ने तो सूर सुजान, सूरदास और सूरजदास आदि नामों को भी प्रामाणिक सिद्ध किया है।[3] हो सकता है पद-रचना मे नाम का कुछ हेर-फेर हो गया हो किन्तु सूरदास जी का वास्तविक नाम 'सूरदास' ही था। वार्ता-साहित्य मे उनको 'सूर' अथवा 'सूरदास' ही कहा गया है और यही नाम उनके जन्मान्धत्व का भी परि-चायक है, जो प्रायः परम्परा से जन्मान्ध को दिया जाता है। नामो की यह अनेकता भी कहीं-कहीं उनके साहित्य की प्रामाणिकता मे भी बाधा उपस्थित करती है।

जन्म-स्थान

सूरदास जी की जन्म-भूमि के सम्बन्ध में चार स्थानों की प्रसिद्धि है—गोपाचल, मथुरा प्रान्त मे कोई ग्राम, रुनकता तथा सीही। गोपाचल और गोपाद्रि ग्वालियर के पुराने नाम हैं। 'साहित्य-लहरी' के वंश-परिचय वाले पद में सूर के पिता का निवास-स्थान गोपाचल माना गया है। स्व० डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने ग्वालियर का नाम 'गोपाचल' सिद्ध किया है और इसे सूर

---

१ भक्त-माल, भक्ति-सुधा, स्वाद-तिलक रूप कला पृष्ठ ३७३

२ 'सूर-निर्णय' पृष्ठ ४६

३ 'सूर-सौरभ' भाग ३ पृष्ठ ५०

की जन्म-भूमि माना है।[१] कवि मियासिह-कृत 'भक्त-विनोद' मे सूर की जन्म-भूमि के विषय मे लिखा है :—

"मथुरा प्रान्त बिप्र कर गेहा, भो उत्पन्न भक्त हरि नेहा।"

इस पद में किसी स्थान-विशेष का उल्लेख तो नही है परन्तु इसके कारण सूर के आलोचकों में पर्याप्त भ्रान्ति रही है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी-साहित्य के इतिहास' (संस्करण सवत् १९९०, पृष्ठ ५५) मे सूर का जन्म-स्थान रुनकता लिखा है। डा० श्यामसुन्दर दास ने भी अपने ग्रन्थ 'हिन्दी-भाषा और साहित्य' (संस्करण सम्वत् १९९४, पृष्ठ ३२२) मे सूर की जन्म-भूमि रुनकता लिखी है। रुनकता को सूर का जन्म-स्थान मानने की भ्रांति का कारण सम्भवत: सूरदास जी का गौ-घाट पर रहना है। रुनकता आगरा से मथुरा जाने वाली सडक पर एक छोटा-सा गाँव है। वहाँ से दो मील की दूरी पर यमुना के किनारे 'रेणुका जी' का स्थान और परशुराम जी का मन्दिर है। यहाँ से कुछ दूरी पर गौ-घाट है। यहाँ आसपास बहुत से खण्डहरों के चिन्ह है। वार्ता-साहित्य के अनुकूल सूर का जन्म-स्थान सीही है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'भाव प्रकाश' में श्री हरिराय जी ने सबसे पहले सूरदास जी के 'भाव-प्रकाश' की टीका की रचना सूरदास के लगभग १०० वर्ष पश्चात् हुई थी। उससे पहले कही वार्ता-साहित्य मे सूरदास जी के लौकिक जीवन की ओर संकेत नही है। श्री हरिराय जी के समय तक महाकवि सूरदास जी की पर्याप्त प्रसिद्धि हो चुकी थी। सम्भवतः इसीलिए उन्होने उनके सम्पूर्ण जीवन-वृत्त का लिखना आवश्यक समझा। हो सकता है कि उनको जो सूचनाएँ मिली हों, कुछ अतिरंजित अथवा भ्रान्तिपूर्ण हों; परन्तु अन्य पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव मे इतने ही से सतोष करना पडता है। गोकुलनाथ जी के समकालीन प्राणनाथ कवि ने भी 'अष्ट-सखामृत' मे सूर का जन्म-स्थान सीही माना है। सीही की स्थिति हरिराय जी ने अपने 'भाव-प्रकाश मे इस प्रकार बताई है :

"दिल्ली के पास चार कोस उरे मे एक सीही ग्राम है, जहाँ परीक्षत के बेटा जन्मेजय ने सर्पयज्ञ कियो है।"[२]

दिल्ली के आसपास इस सीही ग्राम का आज पता नही है। कहा जाता है कि जहाँ आज नई दिल्ली है, वहाँ के छोटे गाँव उठा दिये गये थे और वे दूसरे जिलों मे जाकर आबाद हो गए। दिल्ली-मथुरा सड़क पर बल्लभगढ के निकट सीही नाम का एक ग्राम है। वहाँ यद्यपि सूर सम्बन्धी कोई स्मारक अब विद्यमान नही हैं, तथापि वहाँ के लोगो मे यह अनुश्रुति प्रचलित है कि महाकवि सूरदास का जन्म उस सीही ग्राम मे हुआ था। इसके साथ-साथ वहाँ यह भी कथा प्रचलित है कि जन्मेजय ने सर्पयज्ञ उसी स्थान पर किया था। इन दोनो अनुश्रुतियों से 'भाव प्रकाश' वाले सीही ग्राम की संगति तो ठीक बैठ जाती है परन्तु दूरी वाली बात का समाधान नही हो पाता। दिल्ली के अनेक बार बसने और उजड़ने के कारण भी दूरी मे अन्तर आ सकता है, दूसरे दिल्ली से दिल्ली-राज्य की भी कल्पना की जा सकती है; तीसरे आज भी दिल्ली के निकटवर्ती ग्रामो की दूरी भ्रामक माप के रूप में प्रचलित है। लेखक का ग्राम दिल्ली से १६ मील की दूरी पर है किन्तु ग्रामवासी दिल्ली को वहाँ से ६–७ कोस ही बताते है। वर्तमान सीही को सूरदास जी का जन्म-स्थान मान लेने पर कवि मियाँसिह वाले मत की भी सगति बैठ जाती है। इसलिए सूरदास जी का जन्म-स्थान सीही ही ठहरता है।

१ 'सूरदास' (डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल) सम्पादक डा० भागीरथ मिश्र
२ 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' मे अष्ठसखान की वार्ता पृष्ठ २

जन्म-तिथि

सूरदास जी की जन्म-तिथि के सम्बन्ध मे भी वार्ता-साहित्य मे कोई स्पष्ट उल्लेख नही है, वास्तव मे 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' मे सूर की कथा का आरम्भ उस समय से होता है, जब वे आगरा-मथुरा के बीच गौ-घाट पर रहते थे। गौ-घाट पर रहने से पहले की शृंखला हरिराय जी ने अपने 'भाव-प्रकाश' मे मिलाई है। पहले लिखा जा चुका है कि पुष्टि-सम्प्रदाय की मान्यता के अनुकूल सूरदास जी श्री वल्लभाचार्य जी से आयु मे १० दिन छोटे थे। आचार्य का जन्म-सवत् १५३५ को बैशाख कृष्णा १० उपरान्त ११ रविवार निश्चित है।[१] इसलिये सूरदास जी की जन्म-तिथि सवत् १५३५ की बैशाख सुदी ५ मंगलवार हुई। सम्प्रदाय के अन्य लेखों से भी इस तिथि की पुष्टि होती है। श्री वल्लभाचार्य जी के वशज श्री गोपिकालङ्कार भट्ट जी महाराज ने भी सूर की जन्म-तिथि का एक पद मे उल्लेख किया है :

"प्रगटे भक्त-शिरोमणि राय।
"माधव शुक्ला पञ्चमि ऊपर छट्ट अधिक सुखदाय ॥"

श्री द्वारिकेश जी के 'भाव-सग्रह' और श्री गोकुलनाथ जी की निज-वार्ता से भी इस तिथि की पुष्टि होती है। श्रीनाथ-द्वारे मे सूरदास जी का जन्मोत्सव श्री वल्लभाचार्य जी के जन्मोत्सव से दस दिन पश्चात् मनाया भी जाता है।

हिन्दी के विद्वानों ने सूरदास जी का जन्म-सवत् प्राय: १५४० माना है और सभी इतिहासकारों ने इसी को दुहराया है। मिश्रबन्धुओ ने अनुमान से सूर का जन्म-सवत् १५४० लिखा था; फिर सभी विद्वानों ने उसी को मान्य समझा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'सूरसारावली' के

'गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रबीन'

वाले पद के आधार पर सूरदास जी का जन्म-सवत् १५४० के लगभग तथा निधन सवत् १६२० के आसपास अनुमित किया है।[२] सूर का जन्म-सवत् १५४० मानने वालों ने 'सूर-सारावली' और 'साहित्य-लहरी' की रचना लगभग साथ-साथ ही मानी है और क्योंकि साहित्य-लहरी का रचना-काल 'मुनि पुनि रमन के रस लेख' वाले पद से सम्वत् १६०७ ठहराया है, इसलिए सूर-सारावली की रचना भी लगभग इसी सम्वत् के समीप मान ली गई है। इस समय सूरदास जी की आयु ६७ वर्ष की थी, इसलिये उसका जन्म-सम्वत् १५४० अनुमित किया गया है। सूर-निर्णय के लेखकों ने अन्त: साक्ष के आधार पर सूरदास का जन्म-सम्वत् १५३५ ही निश्चित किया है। उन्होंने लिखा है, "वल्लभ-सम्प्रदाय की सेवा-प्रणाली के इतिहास की सगति से सूर-सारावली का रचना-काल सम्वत् १६०२ स्पष्ट होता है। उस समय सूर की आयु ६७ वर्ष की थी। १६०२ मे से ६७ कम कर देने से १५३५ रहते है, अतः अन्तःसाक्ष्य से भी सूरदास जी का जन्म-सम्वत् १५३५ ही सिद्ध होता है।"[३]

बड़ौदा कालेज के संस्कृत के आचार्य श्री भट्ट जी ने महाप्रभु वल्लभाचार्य जी का जन्म-सम्वत् १५३० माना है। वे लिखते हैं—

"The evidence in support of the year 1473 A. D. is earlier and stronger and can easily out-weigh the evidence in support of 1479 A. D., which is decidedly later and weak."[४]

---

१ वल्लभ-दिग्विजय पृ० ७
२ हिन्दी-साहित्य का इतिहास (आचार्य शुक्ल) पृ० १६०-१६१
३ सूर-निर्णय पृ० ५३
४ *"The Birth date of Ballabhacharya, the Advocate of Suddhadvait Vedant" by Prof. Bhatt of Baroda College, From 9th All India Oriental Conference, Trivendrum P. 60.*

परन्तु अभी तक भट्ट जी का मत भी मान्य नही है क्योंकि उनकी युक्तियाँ तब तक अकाट्य नही मानी जा सकती, जब तक कि वे श्री बल्लभाचार्य जी के जीवन से सम्बद्ध घटनाओं को इस हेर-फेर के साथ सिद्ध न कर दें। श्री बल्लभाचार्य जी के विषय मे अभी तक 'बल्लभ-दिग्विजय' ही प्रामाणिक है और उसमे उनका जन्म-सम्वत् १५३५ ही माना है,[१] इसलिए सूरदास की जन्म-तिथि बैशाख शुक्ल ५ मगलवार स० १५३५ ही ठहरती है।

जाति तथा वंश-परिचय—

सूरदास जी की जाति तथा वश भी विवाद ग्रस्त है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, 'साहित्य-लहरी' का सूर का वंश-वृक्ष तया तत्कालीन इतिहास-ग्रन्थ इस विषय को और भी उलझा देते हैं। साहित्य-लहरी का ११८वी सख्या वाला पद सर्वप्रथम 'ब्रह्म-भट्ट-प्रकाश नामक ग्रन्थ मे प्रकाशित हुआ था। सम्वत् १९३५ में भारतेन्दु जी ने अपनी 'हरिश्चन्द्रचन्द्रिका' के एक लेख मे इस पद पर विचार करके सूर की वश-परम्परा निश्चित की थी। उन्होंने सूर की वंशावली इस प्रकार निर्धारित की थी—
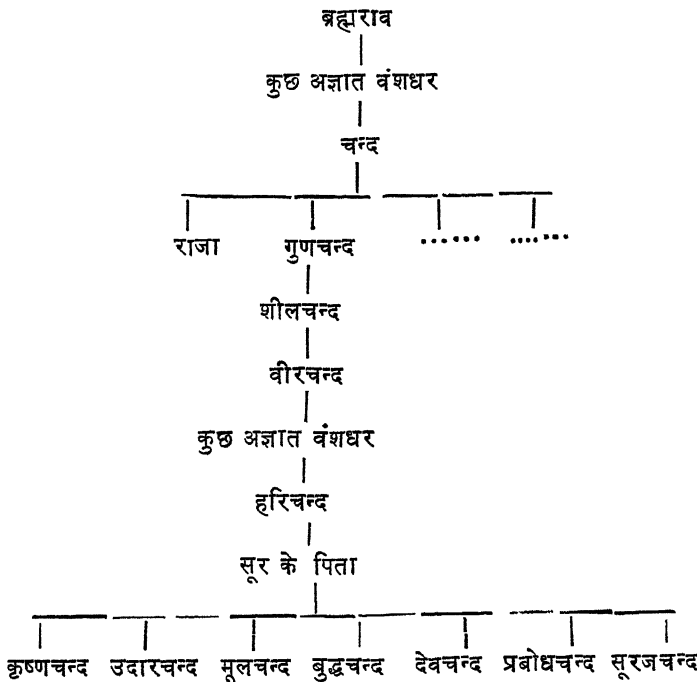
इस वंश-वृक्ष की पुष्टि महामहोपाध्याय श्री हरिप्रसाद शास्त्री द्वारा भी की गई। उन्होंने अपनी राजपूताने की यात्रा में चन्द के वश-वृक्ष का पता लगाया था, जो चन्द के वशधरो की नागौरी शाखा के वर्तमान प्रतिनिधि 'नानूराम' से प्राप्त हुआ था। इस वश-वृक्ष में भी सूरदास का नाम है और 'साहित्य-लहरी' के वंश-वृक्ष से बहुत साम्य रखता है। इस वंश-वृक्ष में सूरदास के पिता का नाम रामचन्द्र दिया हुआ है। शास्त्री जी की इस खोज से 'साहित्य-लहरी' के पद को प्रामाणिक मानने वालों को और भी बल मिला और उन्होने सूर की वंशावली निर्धारित कर डाली आचार्य मुन्शीराम जी ने तो यहाँ तक लिख डाला, "प० नानूराम भट्ट से प्राप्त हुई वंशावली के

२ बल्लभ दिग्विजय पृ० ७

आधार पर महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्री ने सूर के पिता का नाम रामचन्द लिखा है, जो वैष्णव-भक्ति के अनुसार रामदास बन जाता है। आर्य जाति के लिए सच्ची वीरता के आदर्श मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी है। सूर के पिना का नाम भी यही था।"[1]

तत्कालीन इतिहाम-ग्रन्थो मे सूरदास के पिता रामदास का उल्लेख होने से यह भ्रान्ति और भी दृढ हो गई। इसी को प्रमाणित करने के लिए आलोचकों ने अनेक तर्क दिये और डा० पीताम्बर-दत्त बडथ्वाल ने अपने 'सूरदास-जीवन-सामग्री' में इसको पूर्णरूप से पुष्ट करके सिद्ध करने की चेष्टा की।[2] डा० ग्रियर्सन ने भी यही भूल की और अकबर के गायक रामदास को ही अष्ट छापी सूरदास का पिता मान लिया।

सूरदास जी की जाति का निर्णय भी इसी पद के आधार पर हुआ है। चन्दवरदाई भाट थे और उन्ही के वशज होने के कारण सूर को भाट माना गया है। डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने उन्हे ब्राह्मणेत्तर सिद्ध करने के लिए अन्तःसाक्ष्य का सहारा लिया है। आचार्य मुशीराम शर्मा ने महाकवि 'चन्दवरदाई को भी ब्राह्मण सिद्ध करके सूर को भट्ट ब्राह्मण ही माना है।[3]

वास्तव मे सूरदास जी न तो भट्ट ब्राह्मण थे और न ढाढ़ी या जगा जाति के थे। भट्ट ब्राह्मण होने का आधार 'साहित्य-लहरी' का पद है, जो आप्रामाणिक सिद्ध हो चुका है। जहाँ तक ढाढी के पदों का प्रश्न है, वह आधार जाति-निर्णायक नही हो सकता क्योकि बल्लभ-सम्प्रदाय की सेवा-प्रणाली मे राधाष्टमी के दिन ढाढी बनने की प्रथा है। श्रीनाथ जी के सभी कीर्तनकार ढाढ़ी बनाकर आते थे और तत्सम्बन्धी पदों का गायन करते थे। कृष्णदास, नन्ददास तथा चतुर्भुजदास आदि सभी भक्तों ने इस प्रकार के पदों का प्रणयन किया है। यदि सभी पद जातिपरक मान लिये जावे तो वे सभी ढाढी जाति के ठहरेगे। 'सूर-निर्णय' मे इस पक्ष पर विचार हुआ है। उसमें लिखा है—"ऐसे और भी कितने ही पद उपलब्ध हैं, जिनसे अन्य जातीय अष्ट छापी एव दूसरे कवियों को ढाढी जाति का कहना होगा, इसके अतिरिक्त इन पदो के कारण महाप्रभु बल्लभाचार्य की शरण में आने के बाद भी सूरदास को गृहस्थ एवं सपत्नीक भी मानना पडेगा, जोकि हास्या-स्पद है।"[4] सरस्वती-पुत्र से 'सारस्वत' की कल्पना भी इसी प्रकार की कौडी है। इसलिए वार्ता-साहित्य ही अधिक प्रामाणिक है और उसके आधार पर हमे सूरदास जी को सारस्वत ब्राह्मण ही मानना चाहिए। इसकी पुष्टि इस बात से और भी हो जाती है कि दिल्ली के आसपास सारस्वत ब्राह्मण ही रहते हैं। वास्तव मे सारस्वत नाम सरस्वती के कारण ही पड़ा है। कहा जाता है कि प्राचीन काल मे सरस्वती नदी पाञ्चाल देश मे बहती हुई गगानदी मे मिलती थी और उसके आस-पास के वास्तव्य सारस्वत ब्राह्मण ही कहलाते थे। यही कारण है कि आजकल भी पाञ्चाल मे सारस्वत ब्राह्मणों का ही बाहुल्य है। वार्ता-साहित्य मे सूर को सारस्वत ब्राह्मण ही लिखा है। हाँ, गोकुलनाथ-कृत "चौरासी वैष्णवन की वार्ता' मे सूर की जाति का उल्लेख न होने के कारण कुछ सन्देह अवश्य होता है, जिसके निराकरण के हेतु सूर-निर्णय के लेखकों की यह युक्ति कि सूर पुष्टि-सम्प्रदाय मे दीक्षित होने के पूर्व अपनी जाति का परित्याग कर चुके थे तथा बाल्यावस्था में ही घर से निकलने, अन्धे होने से, जाति मर्यादा पालन में असमर्थ होने एव "जाति पाँति पूछै नहिं

१ सूर सौरभ पृ० २०

२ सूरदास-जीवन-सामग्री ले० डा० पीताम्बरदत्त वडथ्वाल, सम्पादक डा० भागीरथ मिश्र (अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ)

३ सूर-सौरभ पृ० २२

४ सूर-निर्णय पृ० ५८

कोई, हरिको भजै सो हरि का होई" के सिद्धान्त का प्रचार करने वाले विरक्त सन्तो से प्रभावित होने के कारण जाति-बन्धन-विमुक्त हो चुके थे,[1] केवल हेत्वाभास-सी ही प्रतीत होती है। हमे तो यही तथ्य प्रतीत होता है कि गोकुलनाथ जी ने साधारण रूप से भक्तों के साम्प्रदायिक जीवन-वृत्त का ही संकलन 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' मे किया है अतएव उन्होने उनके सांगोपांग जीवन की घटनाओं का विवेचन करने की आवश्यकता नही समझी, जिसके कारण सूर की जाति का प्रश्न भी उनकी दृष्टि से दूर ही रहा, परन्तु हरिराय जी ने सम्पूर्ण-जीवन-वृत्त लिखने की भावना से प्रेरित होकर यथासम्भव समग्र जीवन-घटनाओं का उद्घाटन एव उल्लेख किया है और प्रसगवश अपने 'भाव-प्रकाश' मे सूर की जाति के विषय मे भी संकेत करना वे नही भूले है।

सूर के परिवार के विषय मे अनेक भ्रामक कथन प्रचलित है, जिनका उद्गम 'साहित्य-लहरी' का वश-वृक्ष वाला पद है, जिसके अप्रामाणिक सिद्ध होने पर वार्ता-साहित्य का ही आश्रय लेना होगा और हरिराय जी द्वारा 'भाव-प्रकाश' मे उल्लिखित कथन पर ही संतोष करना पड़ेगा। किसी-किसी आलोचक ने सूर को विवाहित भी माना है, उदाहरणार्थ डा० ब्रजेश्वर वर्मा उनके गृहस्थ होने की कल्पना कर बैठे है। कुछ आलोचक इतने से सन्तुष्ट न होकर बिल्वमंगल की कहानी के सूत्र में महाकवि सूरदास को गूँथ कर उन्हें युवावस्था मे प्रेम-पाश-बद्ध घोषित करने मे भी नही हिचकते। तथ्य तो यह है कि भक्त शिरोमणि सूरदास न तो गृहस्थ ही थे और न ही कभी किसी कामिनी के कटाक्षों से आहत होकर वे प्रेम-पाश मे आबद्ध हुए। यदि केवल सांसारिक विषयो के सूक्ष्म, यथार्थ एवं शृङ्गारिक वर्णन के कारण ही किसी व्यक्ति को गृहस्थ अथवा प्रणय-रसास्वादक करार दिया जा सकता है तो ससार की असारता के प्रबल प्रचारक महान् दार्शनिक शंकराचार्य को भी इस दोष से मुक्त नही माना जा सकता। सस्कृत-साहित्य से इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते है। वस्तुतः भक्त अथवा साधक कवि की उक्तियाँ स्वान्तःसुखाय होते हुए भी सर्वभूत-हिताय होती हैं क्योकि आत्मसाक्षात्कार के अथवा मुक्तहृदयत्व के कारण उसके 'स्व' का इतना विस्तार हो जाता है कि वह समस्त विश्व को अपनी सीमा मे समेट लेता है, व्यष्टि समष्टि मे लीन हो जाता है और वह इस प्रकार की वैराग्यपरक उक्तियाँ प्रस्तुत करता है, जो सर्वसाधारण के लिए पथ-प्रदर्शिका सिद्ध हों। इस प्रकार के कथन जहाँ एक ओर उसकी स्वयं की भक्ति को दृढ करते हैं, वहाँ दूसरी ओर जनसाधारण के कल्याण का भी वहन करते है। सूर के सम्बन्ध में कहा जाता है कि सीही ग्राम से जब वे चार कोस दूर एक गाँव मे रहने लगे थे, वहाँ उनके पास यथेष्ठ वैभव, शिष्य, सेवक और गाने बजाने का प्रबन्ध हो गया था, जिसका उल्लेख हरिराय जी ने भी अपने 'भाव-प्रकाश' मे किया है। भक्ति का उदय होने पर उन्हे उस जीवन से विरक्ति हुई और वे उसका पश्चाताप बहुत दिनो तक करते रहे। तीसरे, जैसा कि हम निवेदन कर चुके है, वे विरक्ति-परक-पद उनके दैन्य, विनय और शील को ही प्रकट करने वाले है। इसलिए उन पदों को आधार मानकर उनके जीवन के विषय मे अन्यथा कल्पना करना समुचित नही।

अन्धत्व

वार्ता-साहित्य मे सूरदास जी को न केवल साधारण जन्मान्ध ही माना है अपितु सलपट अन्ध भी, अर्थात् उनके चक्षु नाम मात्र को भी न थे बल्कि कुहर रूप मे केवल चक्षु चिन्ह थे। आज भी इस प्रकार के अन्धे यत्र-तत्र दृग्गोचर हो जाते है। प्रचलित सूर-विषयक जन-श्रुतियों मे भी सूर के अन्धत्व की बात दुहरायी गई है, किन्तु आज के अधिकांश आलोचक उनके विचित्र

---

१ सूर-निर्णय पृ० ६१

रूप-वर्णन, अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य का ब्यौरे के साथ संश्लिष्ट चित्रण एवं विभिन्न प्राकृतिक दृश्यों की अवतारणा को देखकर उन्हें जन्मान्ध मानने के लिए प्रस्तुत ही नही है। प० मुंशीराम शर्मा उन्हें अवश्य जन्मान्ध मानते हुए लिखते हैं—

"यह तो साधारण मनुष्यो की बात हुई। सूर जैसे उच्चकोटि के सन्त की तो बात ही निराली है। वे भगवद्-भक्त थे, अघटित घटना घटा देनेवाले प्रभु के सच्चे भक्त के सामने विश्व के निगूढ़ रहस्य भी अनवगत नही रहते। साधारण कवि जिस वस्तु को नेत्र रहते हुए भी नही देख सकता उसे क्रान्तदर्शी व्यक्ति एव महात्मा अनायास ही देख लेते है।"[१]

सूरसागर मे से अनेक पद सूर के अन्धत्व के प्रतिपादन में प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते है, जैसे :

"राम-रस रीति नहिं बरनि आवै"
इहै निज मन्त्र, यह ज्ञान, यह ध्यान है, दरस दम्पति भजन सार गाऊँ
इहै माँगौ बार-बार प्रभु, सूर के नयन द्वै रहौ नरदेह पाऊँ।"[२]

तथा

कहावत ऐसे त्यागी दानि।
चारि पदारथ दिये सुदामहिं, अरु गुरु के सुत आनि।
रावन के दस मस्तक छेदे, सर गहि सारंग-पानि।।
लंका दई बिभीषन जन को, पूरबली पहिचानि।।
विप्र सुदामा कियौ अजाची, प्रति पुरातन जानि।
'सूरदास' सों बहुत निठुरता, नैनानि हू की हानि।।[२]

अन्तिम पंक्ति स्पष्टतः सूर के अन्धत्व की सूचक है और 'बहुत निठुरता' तो जन्मान्धत्व को ही व्यञ्जित करती है। निम्नलिखित पद सूर के जन्माधत्व का स्पष्ट प्रतिपादन करता है—

किन तेरो गोविन्द नाम धरय्यौ।
साँदीपन के सुत तुम ल्याये, जब विद्या जाय पढ़य्यौ।
सुदामा की दालिद्र तुम काटी, तन्दुल भेंटि धरय्यौ।
द्रुपद-सुता की लाज तुम राखो, अम्बर दान करय्यौ।।
जब तुम भये लेवा देवा के दाता, हम सूं कछु न सरय्यौ।
'सूर' की बिरीयाँ निठुर होइ बैठे, जनम-अन्ध करय्यौ।।[२]

सूर की जन्मान्धता के विषय में उनके और भी दो पद द्रष्टव्य हैं :

हरि बिन संकट मे को काकौ।
तुम बिन दीनदयाल कृपा-निधि नाम लेहु धौं काकौ।।
मजारी-सुत चुबै अबा मे, उनकौ बार न बाँकौ।
निरभै भये पाण्डु-सुत डौलत, उनहिं नाहिं डर काकौ।।
धन्य भाग हैं पाण्डु सुतन के, जिनकौ रथ प्रभु हाँकौ।
जरासंध जोरावर मारय्यौ, फारि कियौ दो फाँकौ।।
द्रोपदि चीर गहेऊ दुस्सासन, खेंचत भुजबल थाकौ।
महाभारत भारहि के अण्डा, तोरय्यौ गज-कांधा कौ।।

---

१ सूर-सौरभ प्रथम अध्याय पृ० २४
२ सूर-निर्णय से उद्धृत

कोटि-कोटि तुम पतित उधारे, कहू हूँ कवन कहाँ को ।
रह्यौ जात एक पतित जनम कौ, आँधरौ 'सूर' सदा कौ ॥[1]

तथा

नाथ मोहि अबकी बेर उबारौ ।
तुम नाथन के नाथ सुवामी, दाता नाम तिहारौ ॥
करम-हीन जनम कौ आँधौ मोते कौन न कारौ ।
तीन लोक के तुम प्रतिपालक, मै तो दास तिहारौ ॥
तारी जाति कुजाति प्रभु जू, मो पर किरपा धारौ ।
पतितन मे इक नायक कहिये, नीचन मे सरदारौ ॥
कोटि पापी इक पासंग मेरे, अजामिल कौन विचारौ ।
धरम नाम सुन कै मेरौ, नरक कियौ हठ तारौ ।
मोकौ ठोर नही अब कोऊ, अपनौ विरद संभारौ ।
छुद्र पतित तुम सारे रमापति, अब न करौ जिय गारौ ।
'सूरदास' साँचौ तब मानें, जो ह्वै मम निस्तारौ ॥

इन पदो से यह कल्पना की जा सकती है कि इनकी रचना के समय सूरदास नेत्र-विहीन हो गये हो, जन्म से अन्धे न हों—जैसा कि प्रायः आधुनिक आलोचको ने माना भी है · इस प्रकार रूप-वर्णन, रंगो एव विभिन्न वस्तुओ के चित्रण करने वाले पदों की अन्विति तो बैठ सकती है किन्तु सूर की दिव्य आध्यात्मिक शक्ति की अवहेलना और उपेक्षा भी द्योतित होती होती है । यह अनिवार्य नही है कि सूर ने जिन वस्तुओ का चित्रण किया है उनका उपभोग भी किया हो या चर्मचक्षुओं से देखा भी हो । वास्तव मे इस प्रकार का वर्णन, जिसमें अमूर्त-भावो के भी आन्तरिक-पक्ष का उद्घाटन किया गया हो, सान्त के प्रसार मे झलकते हुए अनन्त का पूर्ण चित्र उपस्थित किया गया हो, मोहान्धकार को भेद कर शान्ति का शुभसन्देश लाने वाली विरक्ति-ऊषा की अरुण आभा का विकिरण हो जहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति का मधुर योग हो, विलास और साधना के विकास का सुन्दर विश्वास हो, स्वर्ग और वसुधा का समन्वय हो और मानवता में देवत्व की प्रतिष्ठा हो; केवल दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न महात्मा ही कर सकते है । यह बात भी नही भूलनी चाहिये कि जन्मान्ध व्यक्तियो के अन्तःकरण के नेत्र उन्मीलित हो जाते हैं और वे अन्तर्जगत से ही वाह्य-जगत् का साक्षात्कार करने लगते है, आज भी ऐसे व्यक्ति देखे जाते है, जिनकी जन्मान्धता प्रत्यक्ष प्रमाणित है और जो अपनी क्रियाओं से चक्षुष्मान व्यक्तियों को भी आश्चर्य-चकित कर देते है। मैने स्वय इस प्रकार के एक दो व्यक्तियों को देखा है । फिर सूर तो सूर थे, भगवान का सान्निध्य प्राप्त कर चुके थे, प्रकाशमय आराध्य मे विलीन होकर स्वय तेजोमय हो चुके थे फिर उनके लिए संसार में कौन सी वस्तु अप्रकाशित रह जाती ? वे भक्ति द्वारा उस साधना-स्थिति पर पहुँच चुके थे, जहाँ पहुँच कर भक्त के लिए समस्त ब्रह्माण्ड हस्तामलकवत् हो जाता है । पाश्चात्य भौतिकवाद एव जड़वाद से प्रभावित होकर भारतीय ब्रह्म-ज्ञान के महत्व की छीछालेदर अनुचित एवं अस्पृहणीय है ।

सूर के पदों के आधार पर उनके भौतिक जीवन और व्यक्तित्व का चित्र नही बनाया जा सकता । भौतिकता की दृष्टि से परस्पर विरोधी भावों को प्रकट करने वाले इन पदो के आधार

---

१ सूर-निर्णय से उद्धृत

पर जो चित्र बनेगा वह बडा ही विकृत, विकल और सामञ्जस्यहीन होगा। कुछ पदों के आधार पर सूर को एक आँख का भी सिद्ध किया जा सकता है। निम्नलिखित पदों पर विचार कीजिए—

१—अब हौं माया हाथ बिकानौ।
परवस भयो पसू ज्यों रजु बस भज्यो न श्रीपति रानौ।
× × ×
अपने ही अज्ञान तिमिर में बिसरय्यौ परम ठिकानौ।
सूरदास की एक आँखि है, ताहू में कछु कानौ॥[1]

२—दीनदयाल पतित पावन प्रभु विरद बुलावत कैसो।
कहा भयो गज, गनिका तारे, जो न तारो जन ऐसो॥
× × ×
नेम, धर्म, व्रत, जप, तप, संजम, साधु, संग नहिं चीनौ।
दरस मलीन, दीन दुर्बल अति तिनकौ मैं दुखदीनौ॥[2]

३—द्वै लोचन साबित नहिं तेऊ।
बिनु देखै कल परति नही छिनु, एतेपर कीन्हीं यह टेऊ।
बार-बार छवि देख्यौइ चाहत, साथी निमिष मिले है येऊ।
ते तौ ओट करत छिनही छिनु, देखत ही भरि आवत द्वैऊ॥
× × ×
कहा भई जौ-मिली स्याम सौ, तू जानै-जानै सब केऊ।
सूर स्याम कौ नाम स्रवन सुनि, दरसन नीकै देत न बेऊ॥[3]

इसलिए इतिहास-पुष्ट प्रमाणो के अभाव मे सूर को जन्मान्ध ही स्वीकार करना पड़ता है।

वैराग तथा सम्प्रदाय-प्रवेश

हरिराय जी के 'भाव प्रकाश' के अनुसार केवल छः वर्ष की आयु मे ही विरक्त होकर सूरदास अपना ग्राम छोड़कर चार कोस के अन्तर पर एक तालाब के तट पर पीपल के वृक्ष के नीचे रहने लगे थे। १८ वर्ष की आयु तक वे उस स्थान पर रहे और इसके पश्चात् मथुरा-आगरा के बीच गौ-घाट पर रहने लगे। इस प्रकार यदि सूर के आविर्भाव का संवत् १५३५ है तो उसमें १८ जोड़ने से १५५३ होते हैं जो उनके गो-घाट पर आने का संवत् माना जा सकता है। गौ-घाट पर आने के बहुत दिन पश्चात् सूर का महाप्रभु से साक्षात्कार हुआ। इस समय का ठीक-ठीक निर्धारण अभी तक नहीं हो पाया। इसका निर्धारण करने के लिये "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" और "बल्लभ दिग्विजय" का अवलम्ब लिया जा सकता है। 'चौरासी वैष्णवन की वर्ता' के अनुसार बल्लभाचार्य जी दक्षिण देश और काशी मे मायावाद का खण्डन और भक्ति-मार्ग की स्थापना कर 'अड़ैल'से ब्रज को आये थे और उसी समय मार्ग मे गौ-घाट पर ठहरे थे।[4] 'बल्लभ-दिग्विजय' से भी इसी कथन की पुष्टि होती है। उसके अनुसार अड़ैल से ब्रज जाते हुए महाप्रभु गौ-घाट पर रुके थे और जब वे वापस 'अड़ैल' पहुँचे तभी उनके ज्येष्ठ-पुत्र गोपीनाथ जी का जन्म हुआ था, जिसकी तिथि आश्विन कृष्ण द्वादशी स० १५६८ मानी गई है। महाप्रभु का दक्षिण-देश मे राजसभा वाला शास्त्रार्थ

१ सभा विनय ४७
२ वही प्र० स्क० १२६
३ ,, दशम ११५०
४ अष्टछाप, कांकरौली, पृ० ११-१५

सं० १५६५मे हुआ था। इस शास्त्रार्थ के अनन्तर ही आचार्य जी अड़ैल मे आये थे। इस प्रकार सं० १५६७ या १५६८ मे उन्होंने सूरको दीक्षा दी। इस घटना के पश्चात् सूर का जीवन-वृत्त हरिराय जी ने अपने 'भाव प्रकाश' में विस्तृत रूप मे दिया है। श्री हरिराय जी कृत सूरदास की वार्ता, श्री प्रभुदयाल मीतल ने (अपने 'अग्रवाल-प्रेस' मथुरा से) अलग भी प्रकाशित करदी है, जिसमे सन्-संवत् अथवा तिथियों का उल्लेख नही है। अतः तत्तत् घटनाओं से सम्बद्ध तिथियो की निश्चयात्मकता के लिए अन्य साम्प्रदायिक ग्रन्थों का आश्रय लेना पडता है, जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके है। इस विषय मे सम्प्रदाय के दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ "वल्लभ-दिग्विजय" और "सम्प्रदाय कल्पद्रुम" विशेष सहायक सिद्ध होते है। 'सूर-निर्णय' मे सूर के शरणागति-काल के विषय मे इन ग्रन्थो के आधार पर यह निश्चित किया गया है।

"श्री बल्लभाचार्य जी की प्रेरणा से पूर्णमल खत्री ने श्रीनाथ जी के मन्दिर के निर्माण का कार्य सं० १५५६ की वैसाख शुक्ला तृतीया को आरम्भ कर दिया था। द्रव्याभाव से यह निर्माण-कार्य बीच मे ही रुक गया था। किन्तु तब तक मन्दिर का अधिकाश भाग बन चुका था, और इस स्थिति मे था कि उस नवीन मन्दिर में श्री नाथ जी का स्वरूप स्थापित हो सके। स० १५६४ मे महाप्रभु वल्लभाचार्य ने इस मन्दिर मे श्रीनाथ जी को विराजमान कर दिया था। जैसा कि 'बल्लभ-दिग्विजय' और 'सम्प्रदाय-कल्पद्रुम' से सिद्ध है। इस प्रकार द्रव्य की व्यवस्था होने पर मन्दिर के शिखर आदि वाह्य भाग की पूर्ति सं० १५७६ मे हुई थी। इस निर्माण-पूर्ति के कारण ही 'श्रीनाथ जी की प्रागट्य-वार्ता' मे सूरदास का शरणागति काल स०१५७७ माना प्रतीत होता है।"

यदि सूर वास्तव मे १५७७ में ही बल्लभ-सम्प्रदाय में सम्मिलित होते तब उनके द्वारा सं० १५७२ मे गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के प्राकट्य-अवसर पर गाया हुआ बधाई का पद किस प्रकार उपलब्ध होता ? इस प्रकार अन्तः एवं वाह्य-साक्ष्य के आधार पर सूर का शरणागति-काल सं० १५७६ विक्रमी निश्चित होता है। आचार्य शुक्ल ने सूर का आचार्य बल्लभ का शिष्य होना संवत् १५८० के लगभग माना है।[1] इस कथन का कारण कदाचित् श्रीनाथ जी के मन्दिर का स० १५७६ मे पूर्ण होना है। इसी के आधार पर आचार्य मुन्शीराम शर्मा ने भी सूर का शरणागति-काल स० १५८१ माना है।[2] 'सूरदास की वार्ता' से प्रकट होता है कि महाप्रभु से दीक्षा प्राप्त करने के अनन्तर सूर ने अपना सारा जीवन गोवर्धन मे रहते हुए श्रीनाथ जी की सेवा मे ही बिताया, परन्तु उनका स्थायी निवास गोवर्धन नही था अपितु उसके पास पारसोली ग्राम में चन्द्रसरोवर पर था। वही से वे प्रतिदिन श्रीनाथ जी की कीर्तन सेवा के लिए आते थे। वार्त्ता मे आये हुए प्रसगों से ज्ञात होता है कि वे एक बार मथुरा तथा अनेक बार नवनीतप्रिय जी के दर्शनार्थ गोकुल गये थे। उनके पूर्व श्रीनाथ जी का सेवा-भार बंगाली वैष्णवो के ऊपर था और कीर्तन-कार्य कुम्भनदास जी के अधीन। श्रीनाथ जी के कीर्तन और सेवा मन्डान का कार्य विशेष रूप से श्री विट्ठलनाथ जी के आने पर प्रारम्भ हुआ। महाप्रभु बल्लभाचार्य के जीवन-काल मे उनके जो चार प्रमुख शिष्य श्रीनाथ जी का सेवा-कार्य तथा कीर्तन किया करते थे; वे कुम्भनदास, सूरदास, परमानन्ददास और कृष्णदास थे। कुम्भनदास जी संवत् १५५६, सूर और कृष्णदास सं० १५६७, और परमानन्द दास सम्वत् १५७७ में बल्लभाचार्य जी के शिष्य हुए। महाप्रभु ने वाराणसी के हनुमान-घाट पर गंगा के मध्य में आषाढ शुक्ला तृतीया सम्वत् १५८७ के मध्याह्न

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास सस्करण स० २००६ पृ० १६२
२ सूर-सौरभ पृ० ७२

के समय जल-समाधि ली, और उनके पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ जी पुष्टि-सम्प्रदाय के आचार्य हुए। किन्तु स० १५९९ मे असमय ही उनका देहान्त हो गया और विठ्ठलनाथ जी को सम्प्रदाय का कार्य-भार वहन करना पडा किन्तु विधि-पूर्वक आचार्यत्व उन्हे सं० १६०७ मे मिला। उन्होने कीर्तन-प्रणाली को एक व्यवस्थित और विस्तृत रूप दिया। श्रीनाथ जी के आठ समय की झाँकियो के पृथक्-पृथक् कीर्तनकार नियुक्त किये गये और इस प्रकार अष्ट छाप की स्थापना हुई। इन अष्टछापी कीर्तनकारों मे सूरदास, परमानन्दास, कुम्भनदास और कृष्णदास तो महाप्रभु वल्लभाचार्य के सेवक थे और छीतस्वामी, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास गुसाई जी के सेवक थे। पुष्टि-सम्प्रदाय की सेवा-प्रणाली का वर्णन हम अगले अध्याय मे करेंगे। इस विवेचन से ज्ञात होता है कि सूरदास लगभग बत्तीस वर्ष की अवस्था मे सम्प्रदाय मे दीक्षित हुए तथा अन्तकाल तक सम्प्रदाय की सेवा करते रहे। उनके जीवन की घटनाओ का उल्लेख वार्ता-साहित्य मे विशेष कर हरिराय जी के 'भाव-प्रकाश' मे हुआ।

महात्मा सूरदास के विषय में इधर-उधर जाने की जो जन-श्रुतियाँ प्रचलित है उनकी प्रामाणिकता सन्देह के गर्भ में विलीन है। "सूरदास की वार्ता" प्रसंग ३ में उनकी अकबर बादशाह के साथ भेंट का उल्लेख मिलता है, जिसकी ओर हम पहले भी इंगित कर चुके हैं। अकबर सदृश उदार, सहिष्णु एवं कला-प्रेमी व्यक्ति की सूरदास जैसे महात्मा, भक्त एवं कवि के प्रति श्रद्धा होना स्वाभाविक है किन्तु सूरदास के हृदय में अपने उपास्य के अतिरिक्त अन्य किसी के लिए स्थान न था :

"प्रेम-गली अति साँकरी वामे दो न समायँ।"

"चौरासी-वैष्णवन की वार्ता" के अनुसार दिल्ली से आगरा जाते समय अकबर सूरदास जी से मिला था। किम्वदन्ती है कि अपनी सभा के प्रसिद्ध गायक तानसेन द्वारा सूरदास के एक पद का भाव-रस आस्वादन कर अकबर सूर से मिलने के लिए लालायित हो उठा और उनसे भेंट की। यह भेंट कब हुई? इसका कोई निश्चित समाधान अभी तक नही हो पाया। डा० दीनदयालु गुप्त का अनुमान है कि 'अकबर सूर से सन् १५७५ ई० व सन् १५८२ ई० के बीच में मिला होगा।[1] गुप्त जी अपना मत इस प्रकार देते है—

"लेखक का अनुमान है कि अकबर या तो सन् १५७७ की अजमेर यात्रा से लौटकर मिला हो या सन् १५७९ को अजमेर यात्रा से फतहपुर सीकरी को लौटता हुआ रास्ते मे मथुरा मे उनसे मिला हो। सन् १५७९ मे मिलना अधिक सङ्गत जँचता है क्योकि अकबर ने उसी साल मे धार्मिक आचार्यों की बहसे सुनी थी और अपने दरबार में भी भिन्न-भिन्न मतों के महात्माओं को बुलाया था।"[2] सूर-निर्णय के लेखकों ने लिखा है—'हमारे अनुमान से सूरदास और अकबर का मिलन सम्वत् १६२३ (सन् १५६६) मे मथुरा मे हुआ था। साम्प्रदायिक इतिहास से ज्ञात होता है कि सम्वत् १६२३ की फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी की अनुपस्थित मे उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री गिरधर जी श्रीनाथ जी के स्वरूप को गोवर्धन से मथुरा में ले गये थे। उस समय श्रीनाथ जी की सेवा के लिये सूरदास जी भी मथुरा गये थे। उस समय श्रीनाथ जी दो माह बाईस दिन पर्यन्त मथुरा में रहे थे और उस अवधि मे सूरदास को भी उनकी कीर्तन-सेवा करते हुए मथुरा मे रहना पडा था।"[3] डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने इस

१ अष्ठ-छाप और वल्लभ-सम्प्रदाय पृष्ठ २१७

२ वही, पृष्ठ २१८

३ सूर-निर्णय पृष्ठ ६२

भेंट को सम्वत् १६३२ के पश्चात् माना है किन्तु उन्होंने किसी निश्चित् सन् या सम्वत् का उल्लेख नही किया है। इस सम्बन्ध मे हमे डा० दीनदयालु गुप्त का ही मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है। 'सूर-निर्णय' मे जो समय बताया गया है, यह केवल साम्प्रदायिक साहित्य पर आधृत है किन्तु साम्प्रदायिक-साहित्य किसी एक भक्त की जीवनी के विषय मे पूर्ण नही कहा जा सकता। उनके मत की भित्ति श्रीनाथ जी के स्वरूप के मथुरा में रहने के आधार पर आश्रित है किन्तु क्या यह सम्भव नही कि सूरदास उस समय के अतिरिक्त अवसरों पर मथुरा आते-जाते रहे हों ? इसके अतिरिक्त मुगलकालीन इतिहासो से सिद्ध होता है कि सम्वत् १६२३ तक अकबर की धार्मिक नीति इतनी उदार नही थी और न ही उसे तब तक राजनीतिक शान्ति उपलब्ध हुई थी। अकबर ने हिन्दुओ पर से तीर्थ यात्रा का कर सम्वत् १६२० में तथा जजिया सम्वत् १६२२ मे उठाया। सम्वत् १६३२ तक उसने अपनी दृष्टि साम्राज्य-संगठन पर केन्द्रित रखी और उसी वर्ष उससे निवृत होकर फ़तहपुर सीकरी मे 'इबादतखाना' बनवाया था। यहाँ पर प्रसिद्ध इतिहासकार विंसेन्ट स्मिथ का मत भी उल्लेखनीय है—

For many years, he was zealous, tolerably orthodox Sunni Musalman willing to execute Shias and other heretics. Next he passed through a stage (1574-82 A. D.) in which he may be described sceptical rationalizing Muslim and finally rejecting Islam utterly he evolved an eclectic religion of his own with himself as its prophet. (1582, 1905 A. D.) [१]

राय-चौधरी ने अपनी पुस्तक 'दीन इलाही' तथा विंसेन्ट स्मिथ अपने इतिहास में अकबर द्वारा दीन-इलाही का प्रवर्तन सन् १५८२ अर्थात् सम्वत् १६३९ मे माना है। ये तिथियाँ डा० दीनदयालु गुप्त के इस मत का समर्थन करती हैं कि अकबर सूरदास ने सन् १५७४ और १५८२ ई० के बीच मे कभी मिला होगा। अकबर की अन्तिम अजमेर-यात्रा सन् १५७९ मे हुई थी।[१] अकबर ने बल्लभ-सम्प्रदायवालों के लिये जो फर्मान जारी किये थे, वे भी सन् १५७७ और १५८१ के बीच के हैं। पहला फर्मान सन् १५७७ का और दूसरा सन् १५८१ का है।[२] जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, गुप्त जी ने सूर-अकबर-मिलन सन्१५७६ ई० मे माना है किन्तु अन्य प्रामाणिक प्रमाणों के अभाव मे यही सम्वत् अन्तिम रूप से मान्य नही हो सकता। हाँ, इतना अवश्य है कि अकबर दिल्ली से आगरा लौटते हुए ही सूरदास से मिले होंगे, किन्तु अजमेर से लौटने की प्रत्येक यात्रा दिल्ली होकर ही होती थी। अकबर की यह अजमेर-यात्रा सन् १५७६ तक प्रतिवर्ष चलती रही थी। अतएव निश्चयात्मकता के साथ नही का जा सकता कि वे कब सूरदास से मिले ? यदि 'सूर-निर्णय' के अनुसार हम सूर-अकबर-भेंट की तिथि स० १६२३ अर्थात् सन् १५६६ को माने तो यह भी मानना पड़ेगा कि अकबर केवल इसी उद्देश्य से मथुरा गया होगा क्योंकि 'अकबर नामा' के अनुसार उसकी 'अजमेर-शरीफ' की यात्रा सन् १५६८ से आरम्भ हुई और इसी यात्रा के समय वह अजमेर से दिल्ली होता हुआ आगरा लौटता था।[४] इन सब बातों से यही सिद्ध होता है कि वह सन् १५७४ और १५८२ के बीच ही सूर से मिला होगा।

---

१ '*Akbar, the Great Mogul*' (विंसेन्ट स्मिथ सन् १९१७ का सस्करण पृष्ठ ३८४)

२ Cambridge History of India Part IV Page 123

३ 'इम्पीरियल फर्मान' झबेरी पृ० ४१-४२

४ अकबर नामा भाग ३, पृ० ४०५

सूर और तुलसी की भेंट का उल्लेख भी कतिपय ग्रन्थो मे हुआ है। 'मूल गुसाईं चरित' मे लिखा है कि स० १६१६ मे श्री गोकुलनाथ जी की प्रेरणा से सूरदास जी तुलसीदास जी से चित्रकूट पर मिले।[1] इसके विरुद्ध 'प्राचीन-वार्ता रहस्य' में यह कथन है कि 'तुलसीदास' जी जब अपने भाई 'नन्ददास' से मिलने ब्रज मे आये उस समय पारसोली ग्राम मे उनकी सूरदास जी से भेंट हुई।[2] हमें वार्ता-साहित्य का कथन ही समीचीन जान पडा है, जिसका समर्थन, सूर-निर्णय' के लेखको ने युक्ति पूर्वक किया है।

गोलोक-वास

सूर के गोलोक-वास के सम्बन्ध मे भी अधिक मत-भेद है, जिसके कारण उनकी निधन-तिथि संवत् १६२० से १६४२ तक दोलायमान रही है। मिश्र बन्धुओं ने सूर का निधन संवत् १६२० माना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी उनकी आयु ८०-८२ वर्ष तथा जन्म-सवत् १५४० मानकर सवत् १६२० मे ही उनकी मृत्यु होने का अनुमान किया है। डा० रामकुमार वर्मा ने कोई निश्चित मत न देते हुए दबी जबान से सवत् १६४२ को उनका मृत्यु संवत् माना है। 'सूर-निर्णय' के लेखकों ने इस प्रश्न पर पर्याप्त-विचार किया है और अन्तः साक्ष्य तथा वाह्य-साक्ष्य के आधार पर संवत् १६४० पर्यन्त सूर की उपस्थिति सिद्ध की है, जो वस्तुतः युक्तियुक्त प्रतीत होता है। हम पहले बता चुके हैं कि ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुसार सूर और अकबर की भेंट सम्वत् १६३१ से पहले सम्भव नही और इस मिलन को प्रायः सभी ने स्वीकार किया है। अतएव सूरदास जी का गोलोकवास सम्वत् १६३१ के पश्चात् ही मानना चाहिये। कृष्णदास द्वारा रचित जो वसन्त-विषयक प्रसिद्ध पद है, उसमे सूरदास जी के साथ गोसाईं जी के सप्तम-पुत्र 'घनश्याम' का उल्लेख है, जिसका जन्म श्री वल्लभ-वंश वृक्ष के अनुसार संवत् १६२८ मे हुआ। यदि वसन्तोत्सव के समय उनकी आयु ७ वर्ष की भी मानी जाय तो सूरदास जी के अस्तित्व का पता सम्वत् १६३५ तक चल जाता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वार्ता-साहित्य के अनुसार सूरदास जी के समय गोसाईं विट्ठलनाथ जी जीवित थे। श्री विट्ठलनाथ जी सम्वत् १६२८ विक्रमी से ही स्थायी रूप से गोकुल मे रहने लगे थे और तभी नवनीत प्रिय जी के मन्दिर की स्थापना हुई थी, जिनके दर्शनों के लिए सूरदास जी कभी-कभी आया करते थे। गोसाईं श्री तिरोधान फाल्गुन कृष्णा सप्तमी सम्वत् १६४२ को हुआ। 'सम्प्रदाय-कल्पद्रुम' मे उनका तिरोधान सम्वत् १६४४ फाल्गुन शुक्ला एकादशी बताया गया है। "दी इम्पीरियल फर्मान्स" मे अनूदित और सम्पादित एक फर्मान सम्वत् १६५१ का है, जिसमें गोसाईं विट्ठलनाथ जी का भी नामोल्लेख है। इस आधार पर किसी आलोचक ने उनकी स्थिति स० १६५१ तक मानी है। हमारे विचार से तो इस विषय मे डा० दीनदयालु गुप्त का मत ही अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। उन्होंने लिखा है—

"बहुधा देखा जाता है कि किसी व्यक्ति के मरने के बाद भी जब तक उसके उत्तराधिकारी के नाम उसकी सम्पत्ति के कागजो में दाखिल-खारिज नही होता, तब तक सरकारी कागज उसी के नाम जारी रहते हैं।"[3]

इस बात की पुष्टि इससे भी हो जाती कि शाहजहाँ के पश्चात् भी जो फर्मान इस सम्प्रदाय वालों के लिये जारी किये गये, उनमें भी विट्ठनाथ जी का नाम है, इसलिए ऐसे फर्मानों को तो

१ 'मूल गुसाईं चरित' पृ० २६-३०

२ प्रचीन वार्ता-रहस्य द्वि० भाग पृ० ३४४

३ अष्ट छाप और वल्लभ सम्प्रदाय भाग १ पृ० ७६

'नसल-दर-नसल' मानना चाहिए। वैसे साम्प्रदायिक साहित्य से भी यही सिद्ध होता है कि गोसाई विट्ठलनाथ जी का तिरोधान सम्वत् १६४२ मे ही हुआ क्योकि इसके पश्चात् कोई ऐसा कार्य नही हुआ; जिस पर उनके व्यक्तित्व की छाप हो। इसलिए सूरदास जी का देहावसान 'पारसोली' में स० १६४० के लगभग ही मानना अधिक समीचीन जान पडता है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' भावप्रकाशन मे, सूरदास के अन्त समय के बारे मे श्री हरिराय जी कहते है—

"जो प्रभून की यही रीति है, जो बैकुण्ठ मे भूमि पर प्रकट होइवे की इच्छा करत हैं तब बैकुण्ठवासी जो भक्त है सो पहले भूमि पर प्रकट करते है। पाछे अपने भक्तन को या जगत सों तिरोधान होय ता पाछे बैकुण्ठ मे लीला करत है। सो तैसे ही श्री आचार्य जी श्री गुसाई श्री पूर्ण पुरुषोत्तम को प्राकट्य है, सो लीला सम्बन्धी वैष्णव प्रकट लिये, अब श्री आचार्य जी आप अन्तर्धान लीला किये और श्री गुसाई जी को करनौ है। सो पहले भगवदीयन कूँ नित्य लीला में स्थापन करि कै आपु पधारेंगे।"

———

द्वितीय अध्याय

सूरदास जी का साहित्य

ग्रन्थ-रचना

वार्ता-साहित्य अथवा सूर के सम-सामयिक इतिहास-ग्रन्थों मे उनकी रचनाओ के सम्बन्ध मे कोई उल्लेख नही मिलता। जैसा कि आगे पृष्ठों से विदित होगा, वार्ता-साहित्य मे सूर के सहस्रावधि पदो अथवा असाक्षात् रूप से सवा लाख पदों की ओर सकेत अवश्य किया गया है, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट, इतिहास-ग्रन्थ एव पुस्तकालयों मे सुरक्षित ग्रथों के अनुसार सूर से सम्बद्ध २५ ग्रन्थ बताये जाते हैं, जिनमे बहुत से तो ऐसे है, जो प्राय: सूरसागर के अश हैं और कुछ ऐसे है, जो केवल टेक के ही कारण सूरकृत माने हुए हैं। आज तक इस प्रकार के जिन ग्रंथों का पता चलता है, वे निम्नलिखित है.—

१ सूरसारावली
२ भागवत-भाष्य
३ सूर-रामायण
४ गोवर्धनलीला (सरस लीला)
५ भँवर-गीत
६ प्राणप्यारी
७ सूरसाठी
८ सूरदास के विनय आदि के स्फुट पद
९ एकादशी-महात्म्य
१० साहित्य-लहरी
११ दशम-स्कन्ध भाषा
१२ मान-लीला
१३ नागलीला
१४ दृष्टिकूट के पद
१५ सूर पचीसी
१६ नल दमयन्ती
१७ सूर-सागर
१८ सूर-सागर सार
१९ राधा-रस केलि-कौतूहल
२० दानलीला
२१ ब्याहलो
२२ सूरशतक
२३ सेवाफल
२४ हरिवश टीका (संस्कृत)
२५ राम जन्म

इन ग्रन्थों में से कुछ प्रकाशित और कुछ अप्रकाशित भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि सूरदास के पदों एवं उनके नाम से प्रचलित पदों के हस्तलिखित सग्रह कुछ महानुभावों के यहाँ सुरक्षित थे और जब अनुसंधान-कार्य प्रारम्भ हुआ तो वे हस्तलिखित प्रतियाँ सूर के नाम से अलग ग्रन्थ मान ली गईं। डा० दीनदयालु गुप्त ने केवल 'सूरसागर', 'सूर-सारावली' और 'साहित्य-लहरी' ही सूर के प्रामाणिक ग्रन्थ माने हैं, 'प्राणप्यारी' को उनकी सदिग्ध रचना माना है और 'नल-दमयन्ती', 'हरिवंश-टीका', रामजन्म' और 'एकादशी-महात्म्य' को अप्रामाणिक माना है।[1]

द्वारिकादास परीख और प्रभुदयाल मीतल ने अपने 'सूर-निर्णय मे सूर की सात प्रामाणिक रचनायें मानी हैं—सूर-सारावली, साहित्य-लहरी, सूरसागर, सूरसाठी, सूर-पचीसी, सेवा फल और सूरदास के विनयादि के स्फुट पद। उन्होने 'हरिवश-टीका', एकादशी-महात्म्य, नल-दमयन्ती और रामजन्म को अप्रामाणिक तथा शेष ग्रन्थों को डा० गुप्त की भाँति सूरसागर के अन्तर्गत

---

1 अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय प्रथम भाग पृष्ठ २९८

माना है।[1] वस्तुतः गोस्वामी हरिराय जी के समय तक सूर के सभी पदो का पुस्तक रूप में संकलन नही हुआ था अन्यथा हरिराय जी उन ग्रन्थो का उल्लेख अवश्य करते। उन्होने तो सूर-सारावली, साहित्य-लहरी यहाँ तक कि सूरसागर का भी उल्लेख नही किया है। हाँ, पदों की वात को अवश्य दुहराया है।

आधुनिक आलोचकों ने सूर की तीन रचनायें—सूर-सारावली, साहित्य-लहरी और सूर-सागर ही प्रामाणिक मानी है। वार्ता-साहित्य मे सूर-साहित्य के विषय मे दो उक्तियाँ प्रसिद्ध है:

मूल चौरासी वार्ता मे :

"सूरदास जी ने सहस्रावधि पद किये हैं ताकौ सागर कहिये सो जगत मे प्रसिद्ध भये"

गोस्वामी हरिराय जी कृत सूरदास जी की वार्ता में :

"सो तब सूरदास जी मन मे विचारे, जो मै तो मन मे सवा लाख कीर्तन प्रकट करिवे को सकलन कियो है। सो तामें ते लाख कीर्तन तौ प्रकट भये है सो भगवत् इच्छा ते पच्चीस हजार कीर्तन और प्रकट करने है।"[2]

इसी वार्ता के ६० वे पृष्ठ पर लिखा है—

"और सूरदास जी ने श्री ठाकुर जी के लक्षावधि-पद किये है।" यह एक लाख पदों वाली बात सूर-सारावली मे भी लिखी है—

> कर्म-योग पुनि ज्ञान-उपासन सब ही भ्रम भरमायो।
> श्री बल्लभ गुरु तत्व सुनायौ लीला भेद बतायो ॥११०२॥
> ता दिन ते हरि लीला गाई एक लक्ष पद बन्द।
> ता को सार 'सूर-सारावलि' गावत अति आनन्द ॥११०३॥

इस सहस्रावधि एवं एक लक्ष पद-बन्द वाली उक्ति को लेकर आधुनिक आलोचकों ने बड़ी दूर की कौड़ी लगाने का प्रयत्न किया है। यद्यपि हरिराय जी ने स्पष्ट सवा लाख पदों का उल्लेख किया है किन्तु अब तक के अनुसन्धान के फलस्वरूप केवल ८, १० सहस्र पद ही प्राप्त हो सके है। डा० श्यामसुन्दरदास ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी-भाषा और साहित्य' मे केवल ६ हजार पद माने है; 'शिवसिह सरोज' मे ६० हजार पद माने गये है। राधाकृष्णदास ने सूर सागर की भूमिका में सवालाख पद मानकर सहस्रावधि का अर्थ 'सहस्रो की अवधि' किया है, 'सहस्र है अवधि जिनकी' ऐसा नही। उदयपुर के मोतीलाल मेनारिया ने इस सहस्रावधि पद-सख्या को आधार मानकर अपने एक लेख मे सूरसागर को एक हजार पदों की परिधि मे समाप्त होने वाला ग्रन्थ बतलाया है। श्री द्वारकादास परीख और प्रभुदयाल मीतल ने अपने 'सूर-निर्णय' मे सूर की रचना का परिमाण गणित से निर्धारित किया है और संख्या ९३३५० निश्चित की है तथा इनके अतिरिक्त और भी लीला-सम्बन्धी अनेक पद माने हैं। इन महानुभावों की आनुमानिक गणना के हिसाब से सूर के पदों की सख्या सवा लाख से भी कही अधिक पहुँचती है। हम उनकी गणना की प्रक्रिया से तो सहमत नही है किन्तु इतना अवश्य मानते हैं कि सूर जैसे सिद्ध कवि ने न जाने कितने पदो की रचना की होगी? आज 'सूरसागर' की जितनी प्रतियाँ हमे उपलब्ध होती है, उनकी पद-सख्या मे महान् अन्तर है। नागरी-प्रचारिणी-सभा की खोज-रिपोर्ट मे सम्वत् १७९८ की एक ऐसी प्रति का विवरण दिया गया है, जिसमें दशद-स्कन्ध का केवल एक ही पद है और द्वादशस्कन्ध के १७५४ पद। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे-जैसे पद प्राप्त

१ सूर निर्णय पृष्ठ १०५, १०६, १०७

२ सूरदास जी की वार्ता प्रसग १० पृष्ठ ५५ [अग्रवाल प्रेस, मथुरा]

होते गये, उनको पुस्तकाकार मे सकलित कर लिया गया। गोस्वामी हरिराय जी ने 'सूरदास जी की वार्ता' प्रसग ३ के 'भाव-प्रकाश' मे लिखा है—

"तामे ज्ञान-वैराग्य के न्यारे-न्यारे भक्ति-भेद, अनेक भगवत अवतार, सो इन सबन की लीला को वर्णन कियो है।"

आगे प्रसग ४ की व्याख्या करते हुए वे लिखते है—

"पाछे देसाधिपति ने आगरे मे आय के सूरदास के पदन की तलास कीनी, जो कोऊ, 'सूरदास' जी के पद ल्यावै, तिनकूं रुपैया और मोहर देय, सो वे पद फारसी मे लिखाय कै बांचै।"

इसी प्रकार वार्ता-प्रसग १० मे उल्लेख है—

"सूरदास जी, तुमने जो सवालाख कीर्तन को मनोरथ कियो है सो तो पूरन होइ चुको है, जो पच्चीस हजार कीर्तन मैंने पूरन करि दिये है तामे तुम अपने कीर्तन को चौपडा देखो"............ इत्यादि।"

वार्ता-साहित्य के इन उल्लेखो से ऐसा आभास मिलता है कि सूरदास जी के कीर्तन-पदों का संकलन उनके जीवन-काल मे ही हो गया था, पर उनके समय की कोई प्रति उपलब्ध नही है। सूरदास जैसे सिद्ध कवि के लिए अपने भक्त-भाव-भरित दीर्घ जीवन-काल मे सवा लाख पदों की रचना करना कोई असम्भव बात नही थी। इस कारण से हम सहज ही निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं।

१—सूर ने अवश्य सवालाख पदों की रचना की होगी।

२—छ: वर्ष की ही अल्पायु मे वे ग्रह-त्याग कर चार कोस की दूरी पर एक गॉव मे रहने लगे और वहाँ अपने भक्त एव सेवकों को विरह के पद सुनाते थे। १८ वर्ष की आयु तक यही क्रम चलता रहा, इस दीर्घ काल मे उन्होने कितने ही पदों की रचना की होगी।

३—१८ वर्ष की अवस्था से ३१ वर्ष की आयु तक गौ-घाट पर रहे गान-विद्या मे वे पारंगत थे जैसा कि वार्ता में लिखा भी है—

"सूरदास को कण्ठ बहुत सुन्दर हतो, सो गान-विद्या मे चतुर और सगुन बताइबे में चतुर उहाँ सेवक बहुत भये, सो सूरदास जगत मे प्रसिद्ध भये।"

इन तेरह वर्षो मे सरस्वती-कण्ठाभरण आशु कवि सूर ने नि:सन्देह अगणित पदों की रचना की होगी।

४—इसके पश्चात् सूर ने लगभग ७०–७२ वर्ष के साम्प्रदायिक जीवन में भगवान की लीला के विषय में इतने पद बनाकर गाये होगे कि उनकी गणना करना अत्यन्त कठिन है। अपनी अप्रतिम प्रतिभा, कलित कल्पना एवं भाव-भरे अन्त:करण से न जाने कितने छन्द, राग रागनियाँ और भावों की उद्‌भावना प्रज्ञाचक्ष, सूर ने की होगी। कालान्धकार की घोर कालिमा के स्तरों के नीचे सूर के न जाने कितने पद दब गये होगे, जो आज अलभ्य है परन्तु उनकी उपलब्धि के अभाव में, उनकी संख्या के विषय मे उन्मुक्त अनुमान लगाना अनुचित है। काल-रचना के विचार से सूर के पदों को हम तीन भागों मे बाँट सकते हैं:

१—पुष्टि-सम्प्रदाय मे दीक्षित होने से पहले के पद।

२—सम्प्रदाय मे दीक्षित होने के पश्चात् श्री बल्लभाचार्य जी के जीवन-काल तक के पद।

३—गोस्वामी 'विठ्ठलनाथ' जी के समय के पद।

इनमें प्रथम दो काल तो ऐसे हैं, जिनमे सूर की रचनाओं के नियमति संग्रह का न तो कोई अवसर ही था और न साधन ही। गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी के समय मे जब श्रीकृष्ण के स्वरूप

वाहक जाने लगे तो नित्य-कीर्तन और वर्षोत्सव के पदो का सग्रह आवश्यक समझा गया। इसलिए वे कीर्तन संग्रह-रूप मे प्रस्तुत किये गये; और उनका प्रचार विभिन्न स्थानो मे हुआ। आज भी आचार्यों के घरों में--जीर्ण शीर्ण अवस्था मे ही सही--वास्तविक रूप में पाये जाते हैं। कुछ समय पश्चात् ये संग्रह बोझिल होने के कारण 'नित्य-कीर्तन', 'वर्षोत्सव' और 'वसन्त धमार' शीर्षक तीन संग्रहों के रूप मे परिणत हो गये। लेखक ने अपनी ब्रज-यात्रा मे सहस्रो की सख्या मे ये संग्रह देखे है। इस प्रकार के संग्रह-ग्रन्थ मे ही मूल-रूप मे सूरसागर के जनक हैं। सूरसागर के अतिरिक्त सागरों जैसे कृष्ण-सागर, परमानन्द सागर, नन्दसागर आदि का जन्म भी इन्ही सग्रहों से हुआ। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सूरदास जी के केवल वे ही पद प्राप्य है जो उक्त सग्रहो मे दिये है और वे भी सारे पद नही मिलते क्योंकि जिन महानुभावो के अधिकार मे वे है, वे उन्हे 'जैसे परम कृपन कर सोना'— गुप्त रखते हैं—पैतृक-सम्पत्ति के रूप मे उसकी रक्षा कहते है। इस दिशा मे पर्याप्त अन्वेषण करने की आवश्यकता हैं। इन्ही पदो के सकलन आजकल विभिन्न ग्रन्थो के रूप में सूर के नाम से प्रचलित है। हम पहले कह चुके है कि इनमे केवल तीन सग्रह विशेष रूप से प्रसिद्ध है—सूर-सारावली, साहित्य-लहरी और सूरसागर। इन्ही तीन ग्रन्थों पर हम सक्षेप मे विचार करेंगे।

सूर-सारावली—

वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई और नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित सूरसागर के संस्करणों के प्रारम्भ मे यह ग्रन्थ छपा है। इस ग्रन्थ के नाम से तो ऐसा आभास होता है कि यह सूरसागर की भूमिका तथा साराश के रूप मे प्रस्तुत हुआ है, परन्तु वास्तव मे न तो यह सूरसागर की भूमिका है और न उसका सारांश ही। इममें कुल ११०७ पद हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे लिखा है।

"अथ श्री सूरदास जी रचित सूर-सागर-सारावली तथा सवालाख पदो का सूचीपत्र"। ग्रन्थ का श्रीगणेश 'बन्दौ श्री हरिपदसुखदाई' से किया है, जबकि सूरसागर का प्रारम्भ भी कुछ शाब्दिक हेर-फेर के साथ इसी पद से हुआ है। सूरसागर का पद है—'चरण-कमल बन्दौ हरिराई।' कदाचित् मंगलाचरण का यह श्लोक प्रक्षिप्त है क्योकि सूर-सारावली के प्रारम्भ मे मंगलात्मक पद दूसरा है।

'अविगत आदि अनन्त अनूपम अलख पुरुष अविनाशी।'

और मगलाचरण के प्रारम्भ मे एक अर्धाली होली के रूपक की है:

'खेलत यह विधि हरि होरी हो होरी हो वेद-विदित यह बात।'

इस पद से प्रतीत होता है कि सूरदास जी ने इस ससार को होली के खेल का रूपक माना है, जिसमें लीला-पुरुष की अदभुत लीलाये निरन्तर चलती रहती है। सारावली के १६ वें पद मे इसी रूपक का विस्तार दिया है:

आज्ञा करी नाथ चतुरानन करो सृष्टि-विस्तार।
होरी खेलन की विधि नीकी रचना रचे अपार॥

फिर आगे के पदों मे उसी सृष्टि की रचना का स्वरूप सूरदास जी ने बताया है और ३५८-५९ वें पदों में इस रूपक को समाप्त किया है:

सुर अरु असुर रची हरि रचना सो जग प्रकटहि कीन्हीं।
क्रीडा करी बहुत नाना विधि निगम बात बहु चीन्ही॥ पद सं० ३५८
यहि विधि होरी खेलत-खेलत बहुत भाँति सुख पायो।
धरि अवतार जगत में नाना भगतनि चरित दिखायो॥ पद स० ३५९

इसके अनन्तर फिर वे लिखते है

अश कला अवतार बहुत विधि राम कृष्ण अवतारी,
सदा विहार करत ब्रज-मण्डल नन्द सदन सुखकारी।

सम्पूर्ण ग्रन्थ में होली के खेल का ही निर्देश किया गया है, किन्तु पद सं० १७, ३५, ३०६, ३५९, ७२६ और ११०० विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। १०४७ से १०८७ तक के पदो मे वसन्त से प्रारम्भ करके ब्रज-निवासियों के होली खेलने का वर्णन है। इसी होली के रूपक मे मृष्टि की उत्पत्ति का भी सुन्दर वर्णन है, जैसा कि आगे के अध्याय मे प्रकट होगा। यह मृष्टि वर्णन श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराणों के आधार पर हुआ है। सक्षेप में सूरसारावली का सार इस प्रकार है :

क्रीडा करते-करते भगवान् की सृष्टि-रचना का विचार हुआ और उन्होने अपने आप मे से ही काल पुरुष की अवतारणा की जिसमे माया ने क्षोभ उत्पन्न किया और प्रकृति के सत्व, रजस्, तमस्, तीन गुण प्रादुर्भूत हुए : उन तीनों गुणों से पंचमहाभूत, पचतन्मात्रा, चार अन्तः-करण और दस प्राणों की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार २८ तत्वो का प्रादुर्भाव हुआ। तत्पश्चात् नारायण की नाभि से कमल और कमल से ब्रह्मा का उद्भव हुआ। ब्रह्मा ने १०० वर्ष पर्यन्त तप किया, जिसके फलस्वरूप उन्हे हरि के दर्शन हुए, फिर उन्होने ब्रह्मा को सृष्टि रचना की आज्ञा दी और ब्रह्मा ने १४ लोक, बैकुण्ठ, पाताल की रचना होली के खेल के रूप मे ही कर डाली। ब्रह्मा के दस पुत्र हुए, तब शतरूपा और स्वयंभू का जन्म हुआ। भगवान् ने पृथ्वी की रक्षा के लिए वराह अवतार धारण किया। कपिल रूप मे सांख्य-शास्त्र का प्रवचन देवहूति को किया, ८ लोकपालों की उत्पत्ति की और ७ लोक, ९ खण्ड, ७ द्वीप, वन, उपवन, नदी, पर्वत, आदि का निर्माण किया। इसके पश्चात् ग्रन्थ मे २४ अवतारों का वर्णन आता है, बीच-बीच में ध्रुव की कथा और हयग्रीव का वर्णन आ जाता है, हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद की कथा भी आ जाती है। छन्द संख्या ३६० से कृष्णावतार की कथा प्रारम्भ होती है और कृष्ण से सम्बद्ध समस्त लीलाओं का उसमे समावेश है। छन्द सख्या ९३७ से ९६६ तक दृष्टिकूट पदों की सूची है और अन्त में लिखा है, "इति दृष्टिकूट सूचनिका सम्पूर्ण"। इसके बाद रासलीला का वर्णन है। इस लीला के आनन्द में विभोर कवि गुरु का स्मरण करता है, जिसकी कृपा से वह इस अनिर्वचनीय आनन्द का अधिकारी बना :

गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।
शिव विधान तप करेउ बहुत दिन तऊ पार नहि लीन्ह ॥१००२॥

पद सख्या १०१३ से १०१७ तक में विविध राग-रागनियों के नाम गिनाये गये है। तत्पश्चात् वसन्त तथा होली के आनन्दोत्सवो का वर्णन है, जो १०८८ वे पद पर समाप्त होता है :

"यह विधि क्रीड़त गोकुल मे हरि निज वृन्दावन धाम।
मधुवन और कुमुद-वन सुन्दर बहुलावन अभिराम ॥
नन्दग्राम सकेत खिदर-वन और काम वन-धाम।
लोह-वन माठ वेल-वन सुन्दर भद्र वृहद् वन-ग्राम ॥

इसके अनन्तर ६ पदों में कृष्ण-कथा के गायकों, श्रोताओं और वक्ताओं के नाम गिनाये हैं। तत्पश्चात् युगल स्वरूप के उस महान् आनन्द का उल्लेख है, जिसमें विचरण करते हुए कोटि-कल्प भी एक निमेश सदृश व्यतीत हो जाते हैं—अन्त में जिस प्रकार होली की ज्वाला

में सब कुछ भस्मसात् हो जाता है, उस प्रकार उसी आनन्द की समाप्ति भी संकर्षण के वदन से उत्पन्न हुई अग्नि से हो जाती है : सूरदास जी सारे वेदान्त के तत्व का सकेत करते हुए हरिलीला को सर्वोपरि बताते है :

कर्म-योग पुनि ज्ञान उपासन सब ही भ्रम भरमायो।
श्री बल्लभ गुरु तत्व सुनायो लीला भेद बतायो ।।
ता दिन ते हरि-लीला गाई एक लक्ष्य पद बन्द।
ताको सार सूर-सारावली गावत अति आनन्द ।।

अन्तिम ४ पदो मे सारावली के पाठ के माहात्म्य का निर्देश किया गया है।

सूर-सारावली से प्रकट हो जाता है कि यह ग्रन्थ न तो सूरसागर की भूमिका ही है और न उसका सारांश ही। सूर के आलोचकों ने इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता पर विचार किया है। डा० दीनदयालु गुप्त ने इस सम्बन्ध मे लिखा है :

"चार छः शब्दों को पकड कर, जो सम्भवतः अब तक के छपे सूरसागरों में नही मिलते इस ग्रन्थ को सूरकृत न कहना उचित नहीं है, प्रक्षिप्त शब्द और वाक्य सूर के सभी ग्रन्थों मे हो सकते है। इसलिए यह रचना लेखक के विचार से सूरकृत ही है।"[1]

'सूर-निर्णय' के लेखको ने 'सूर-सारावली' की प्रामाणिकता पर विस्तार-पूर्वक विचार किया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे है :

'(१) कथावस्तु, भाव, भाषा, शैली और रचना के दृष्टिकोण के विचार से यह सारावली निःसन्देह सूरदास की प्रामाणिक रचना है । इसमे प्राप्त आत्मकथन और कवि छापों से भी इसकी पुष्टि होती है ।

(२) सारावली की रचना वि० सं० १६०२ में हुई है।

(३) सारावली का आधार पुरुषोत्तम-सहस्रनाम है।

(४) सारावली का दृष्टिकोण सैद्धान्तिक रहा है।

(५) विक्रम-संवत् १६०२ पर्यन्त सूरदास ने श्रीमद्भागवत के द्वादश-स्कंध के अतिरिक्त बल्लभ-सम्प्रदाय की नित्य और वर्षोत्सव की सेवा के जिन पदों को गाया था, उन्ही का यह सूचीपत्र अथवा सिद्धांतात्मक सार है। सृष्टि-रचना के लिए उसकी प्रारम्भिक 'विशिष्ट प्रस्तावना' और 'होरी-खेल की कल्पना' इस सिद्धान्तात्मक दृष्टि की पुष्टि करती है ।

(६) द्वादश-स्कन्धात्मक भागवत के सार-रूप से इसमे प्रधानत. २४ अवतारो का वर्णन और नित्य एवं उत्सव की सेवाओं के पदो के सार-रूप से 'सरस-संवत्सर-लीला' की भावनाओं का वर्णन है। इस प्रकार 'सारावली' मे 'कथावस्तु' को दो भागों मे पृथक्-पृथक् बॉटना भी 'ताकौ सार सूर-सारावली' वाले कथन की पुष्टि करता है ।

इस प्रकार 'सारावली' सूरदास की एक स्वतन्त्र सैद्धान्तिक रचना है।[2]

आचार्य मुन्शीराम जी 'सूर-सारावली' की प्रामाणिकता पर विश्वास करते है, परन्तु डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने अपने विस्तृत विवेचन मे इस ग्रन्थ को अप्रामाणिक माना है और अन्त में लिखा है :

---

१ "अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय" पृ० २६०

२ सूर निर्णय पृष्ठ १४२, १४३

"उपर्युक्त विवेचन के निष्कर्ष-स्वरूप यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि कथावस्तु, भाव, भाषा, शैली और रचना के दृष्टिकोण के विचार से 'सूर-सारावली' सूरदास की प्रामाणिक रचना नही जान पडती है। तथाकथित आत्मकथन और कवि-छापों से भी यही सकेत मिलता है।"[1]

डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने अपने निष्कर्ष के विषय मे अनेक युक्तियाँ प्रस्तुत की है।

वास्तव मे 'सूर-सारावली' सूरदास जी की रचना है। इसके नाम के कारण ही कुछ आलोचकों को यह भ्रान्त धारणा हो गयी है कि यह 'सूरसागर' की भूमिका अथवा साराश है। यदि सूक्ष्मता से अनुशीलन किया जाय तो यह प्रतीत होगा कि भागवत की कथा का निर्वाह 'सूरसागर' की अपेक्षा 'सूर-सारावली' मे अधिक सावधानी के साथ हुआ है। 'सूरसागर' के तो बहुत से प्रसगों का समावेश भी इस ग्रन्थ मे नही है। भावात्मकता न होने के कारण 'सूरसारावली' की शैली मे 'सूरसागर' की शैली से विभिन्नता आगई है। 'सूरसागर' को—विशेषतः द्वादश स्कन्धात्मक स्वरूप को—श्रीमद्भागवत के आधार पर रचित माना गया है और जिस प्रकार 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' को 'भागवत-सारसमुच्चय कहा गया है, उसी प्रकार 'सूर-सारावली' को 'सूरसागर-सार-समुच्चय' कहा जा सकता है। 'सूर-निर्णय' के लेखकों ने इस पक्ष पर विचार करते हुए अपना तर्क संगत मत दिया है।

'सारावली' के विषय से ही यह स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ होली-गान के रूप मे लिखा गया है। इसमे न तो कही 'सूरसागर' का ही उल्लेख है और न ही किसी ग्रन्थ के सारांश होने का संकेत है। यह तो एक स्वतन्त्र रचना है और इस प्रकार की रचनाओ की भक्त-कवियों मे परिपाटी भी रही है। गोस्वामी तुलसीदास जी की रामचरित-मानसेतर रचनाओ को यदि उनके 'मानस' के साथ रखकर सार अथवा साराश खोजने की मनोवृत्ति के चश्मे से देखा जाय तो उनमे से अनेक कृतियाँ 'मानस' के साररूप मे दीख पडेगी। कहने की आवश्यकता नही कि आलोचक ऐसी दृष्टि से साहित्य-जगत मे अराजकता की सृष्टि होगी और अनेक कवि-कृतियाँ अप्रामाणिक सिद्ध हो जायेंगी। हम 'सूरसारावली' की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे आचार्य मुन्शीराम शर्मा के मत से सहमत हैं और उसे उन्ही के शब्दों मे उद्धृत करते हैः—

'अत हमारी समझ मे 'सारावली' एक 'वृहद्-होली' नाम का गीत है, जिसकी टेक है 'खेलत यह विधि हरि होरी हो, हरि होरी हो वेद विदित यह बात।' इसी एक गीत की ११०७ कड़ियाँ हैं, जो 'सारावली' के छन्दों के रूप मे प्रकट की गई है।'[2]

यदि हमे 'सूर-सारावली' को 'सूरसागर' की भूमिका या अनुक्रमणिका मानें तो यह भी मानना पड़ेगा कि यह 'सूरसागर' के पश्चात् लिखी होगी, जो हास्यास्पद ही प्रतीत होता है। वास्तविक बात यह है कि 'सूर सारावली' सिद्धान्त रूप मे लिखा हुआ पृथक् शैली मे एक पृथक् ग्रन्थ है। सूरसागर की अनुक्रमणिका मानने का भ्रम 'एक लक्ष-पद-बन्द' वाले पद से भी हो जाता है किन्तु एक लक्ष पद-बन्द से एक अथवा सवालाख पदों की कल्पना भी निराधार ही प्रतीत होती है। श्री प्रभुदयाल मीतल ने अपने 'अष्ट-छाप-परिचय' मे एक लक्ष का अर्थ एक लाख न करके एक लक्ष भगवान् अर्थात् लक्ष-आश्रय-स्वरूप श्रीकृष्ण किया है।[3] मीतल जी के इस तर्क से हम सहमत नही है क्योंकि इस पद के पूर्वापरसम्बन्ध से लक्ष शब्द संख्या-वाचक ही प्रतीत होता है, अतएव हमारी समझ मे इस पद का निर्वाह दो प्रकार से हो सकता है :

१—'लक्ष-पद-बन्द' मे लक्ष शब्द तो सख्या-वाचक है ही परन्तु 'बन्द' शब्द प्रत्येक पंक्ति

१ सूरदास डा० ब्रजेश्वर वर्मा पृ० १०५

२ सूर-सौरभ पृ० ४८८

३ अष्ट-छाप-परिचय (प्रभुदयाल मीतल) पृ० १४३

का सूचक है । इस प्रकार एक लाख पक्तियाँ दस सहस्र पदों से भी कम मे आ सकती हैं और ६७ वर्ष की अवस्था तक उन्होने अवश्य इतने पदो की रचना कर ली होगी । कवि की भावी पद-निर्माण योजना का भी यह सूचक हो सकता है ।

२—सम्भव है यह पद प्रक्षिप्त हो और बाद मे ही किसी ने जोड़ दिया हो ।

'सूर-सारावली' के विषय-वर्णन, शैली, भाव और कवि-छापो को देखकर निश्चय-सा हो जाता है कि इसके रचयिता हमारे अष्टछापी कवि सूरदास ही है। कथा के वैषम्य, शैली की विभिन्नता और विषयान्तरता को देखकर अन्य कवि की कल्पना युक्तिसंगत नही जान पडती । श्रीमद्भागवत मे भी सृष्टि-क्रम कई प्रकार से बताया गया है और स्थान-स्थान पर विषयान्तरता भी दृष्टिगोचर होती है । पर श्रीमद्भागवत निश्चय रूप से एक ही व्यक्ति की रचना है । यो तो यदि 'सूरसागर' के प्रामाणिक पदों को भी तर्क-पूर्ण आलोचना की कसौटी पर कसने लगे तो पक्ष और विपक्ष मे बहुत कुछ कहा सुना जा सकता है। अतएव 'सूर-सारावली' को सूर-रचित ही मानना न्याय-संगत होगा । सूरदास के पदों की रचना का क्रम उनके जीवन के अन्तिम क्षणो तक चलता रहा । सम्भव है ६७ वर्ष की अवस्था तक उन्होंने जितने पदों की रचना की हो, उनके सार-रूप मे 'सूर-सारावली' की रचना हुई हो । कुछ आलोचक 'सूरसागर' के अन्त मे युगल-उपासना के पदों को देखकर कहते है कि महाप्रभु बल्लभाचार्य ने युगल-रूप की उपासना का विशेष प्रचार नही किया था, इसलिए यह ग्रन्थ सूर-कृत नही हो सकता; किन्तु यह युक्ति भी असंगत है क्योकि प्रथम तो यह कहना ही अयुक्त है कि बल्लभाचार्य जी युगल-मूर्ति के उपासक नही थे। दूसरे यदि इस युक्ति को स्वीकार कर भी लिया जाय तो 'सूर-सारावली' की रचना तो उनकी (आचार्य वल्लभ की) मृत्यु से लगभग १५ वर्ष पश्चात् हुई थी, जबकि पुष्टि सम्प्रदाय मे सेवा के मण्डान की पूर्ण प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी थी । इसलिए 'सूर-सारावली' की प्रामाणिकता मे सन्देह के लिए कोई स्थान है ही नही ।

सूर-सारावली की कोई हस्तलिखित प्रति अभी तक प्राप्त नही हो सकी है परन्तु बा० राधाकृष्णदास ने 'सूरसागर' के आरम्भ मे उसको सबसे पहले छपवाया था । 'सूरसागर' की विभिन्न प्रतियों के विषय मे हम आगे लिखेगे । 'सारावली' के दो पदो को काल-परिमाण-सूचक मानकर उसके आधार पर आधुनिक आलोचकों ने अपनी कल्पनाएँ प्रस्तुत की हैं । वे दो पद ये हैं :

> गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन ।
> शिव-विधान-तप करेउँ बहुत विधि तऊ पार नहिं लीन्ह ॥ पद सं० १००२ ॥

तथा

> सरस सम्वत्सर लीला गावै युगल-चरन चितलावै ।
> गर्भवास बन्दीखाने में 'सूर' बहुरि नहिं आवै ॥ पद सं० ११०७ ॥

आचार्य मुन्शीराम शर्मा ने उक्त दोनो पदों का समन्वय कर सरसठ वर्ष की आयु में सूर का सम्प्रदाय-प्रवेश मानकर उस वर्ष को 'सरस सम्वत्सर' की कल्पना के आधार पर सम्वत् १५८१ माना है और उसी के हिसाब से उसमे से ६७ निकाल कर सूर का जन्म सम्वत् १५१५ के लगभग माना है ।

शर्मा जी की यह कल्पना साम्प्रदायिक-साहित्य के उल्लेखों तथा ऐतिहासिक विवरणों के प्रतिकूल पडती है, अतः इसके मूल में कोरी कल्पना ही प्रतीत होती है। वास्तव मे इन पदों का अपना विशेष महत्व है । एक ओर तो ये सूर की जन्म-तिथि के निश्चय करने में सहायक होते है और दूसरी ओर साम्प्रदायिक-विवेचन की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण सिद्ध होते है । हम पहले कह आये

हैं कि अष्टछाप की स्थापना गोस्वामी विट्ठलनाथ जी द्वारा सम्वत् १६०२ मे हुई थी। इसी वर्ष गोस्वामी जी ने सम्प्रदाय की सेवा-प्रणाली को व्यवस्थित एवं विस्तृत रूप दिया था। श्री वल्लभाचार्य जी के ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ जी के निधन के उपरान्त विट्ठलनाथ जी ने ब्रज-यात्रा प्रारम्भ की और सम्वत् १६०२ में उन्होने अष्टछाप की नीव डाली। वार्ता-साहित्य से ज्ञात होता है कि सूरदास जी गोस्वामी विट्ठलनाथ जी को श्रीकृष्ण का ही स्वरूप मानते थे और उनके प्रति ऐसी ही निष्ठा, भक्ति एव श्रद्धा रखते थे। अपने अन्त समय मे "भरोसो दृढ़ इन चरनन करो" वाले पद मे सूर ने गो० विट्ठलनाथ जी के प्रति अपनी परम भक्ति को प्रकट किया है। हो सकता है कि ६७ वर्ष की अवस्था मे स० १६०२ मे जो दर्शनवाली बात उन्होने कही थी, वह भी गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के प्रति हो। इस बात की पुष्टि उनके सेवा फलवाले "सेवा की यह अद्भुत रीति, श्री विट्ठलेश सों राखै प्रीति" वाले पद से भी हो जाती है।

'सरस सम्वत्सर' वाले पद से काल-निर्णायक किसी विशेष सम्वत्सर की कल्पना भी असङ्गत ही प्रतीत होती है। हम आगे बतावेगे[1] कि किसी प्रकार पुष्टि-मार्गीय सेवा-प्रणाली के अनुसार वर्षोत्सवों का क्रम रखा गया है और तदनुकूल भावनाओं का समावेश किया गया है। रसिकेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की नित्य-लीलाओ का बड़े विस्तार के साथ सम्प्रदाय में समावेश हुआ और यह सब कार्य श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने ही किया था। सेवा का यह अद्भुत प्रकार सम्वत् १६०२ से सम्प्रदाय मे प्रचलित हुआ और इसी सेवा-प्रणाली के आधार पर वर्ष भर की लीलाओ को दृष्टि मे रखते हुए 'सरस सम्वत्सर' नामकरण किया गया। अतएव 'सरस सम्वत्सर' का अभिप्राय वर्ष भर की लीलाओ से है। सवत् १६१२ के पूर्व इस प्रकार की कोई सेवा-प्रणाली प्रचलित नही थी। इस सेवा का क्रम जन्माष्टमी से प्रारम्भ होता है, इसलिए सूर ने भी जन्माष्टमी से ही वर्णन प्रारम्भ किया है। सूर सारावली के वर्णन मे वर्षोत्सव की सभी भावनाओ का क्रम लक्षित किया जा सकता है। अत. हम 'सूर-निर्णय' के इस कथन से पूर्णतया सहमत है कि—'सरसठ बरस प्रवीन' और 'सरस-सम्वत्सर लीला' दोनों कथन ऐतिह्य दृष्टि से एक दूसरे के सापेक्ष है और 'सरस-सम्वत्सर लीला' वाले कथन को स्पष्ट करने से सरसठ बरस प्रवीन वाला पद अपने आप स्पष्ट हो जाता है।

साहित्य-लहरी

यह ग्रन्थ सूरदास जी के उन पदों का सग्रह है, जिनको दृष्टिकूट कहा जाता है और जो रस, अलंकार और नायिका-भेद वाली रचना-शैली से सम्बद्ध है। इसमे ११८ पद हैं। पद-सख्या १०९-११८ में विशेष प्रकार के ऐतिहासिक संकेत हैं। इस ग्रन्थ की कोई प्राचीन हस्तलिखित प्रति तो नही मिलती, किन्तु नागरी-प्रचारिणी-सभा की रिपोर्ट मे सूरदास जी के 'दृष्टिकूट सटीक' तथा 'सूरशतक' नाम की रचनाओं का उल्लेख है। इस ग्रन्थ की दो टीकाएँ भी प्रकाशित हो चुकी है। नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, से 'सरदार' कवि की टीका दो भागों मे प्रकाशित हो चुकी है, जिसके प्रथम भाग में ११८ तथा दूसरे में ६३ पद है। इस ग्रन्थ का नाम 'श्री सूरदास के दृष्टिकूट सटीक' है और इसके अन्त में लिखा है "इति श्री सुकवि सरदार कृता साहित्य-लहरी समाप्ता।"[2] इस ग्रन्थ की दूसरी टीका 'खड्ग विलास' प्रेस, बॉकीपुर से प्रकाशित हुई, जिसके संग्रह कर्ता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा प्रकाशक श्री बाबू रामदीनसिह है। इन दोनों ही टीकाओ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सरदार कवि से पहले भी 'दृष्टिकूट पदों' पर कोई टीका थी, सरदार कवि ने अपनी ओर से

---

१ सूर सौरभ पृ० ७२

२ श्री सूरदास के दृष्टिकूट 'सटीक' नवल किशोर प्रेस स० १९०४ वि०

भी कुछ नवीन अर्थ किये तथा साथ ही साथ कुछ दृष्टिकूट पदों को भी बढ़ाया है। अब विचारणीय प्रश्न यह कि 'साहित्य-लहरी' एक स्वतन्त्र रचना है अथवा 'सूरसागर' मे आये हुए दृष्टिकूट पदों का संकलन मात्र ? अब तक 'सूरसागर' की जितनी प्रतियाँ उपलब्ध हुई है, उनमें 'साहित्य-लहरी' के कुछ पदों को छोडकर सभी पद नही मिलते। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि 'सूरसागर' मे इस प्रकार के कुछ पद अवश्य है, जो 'साहित्य-लहरी' के दृष्टि-कूट पदो से विषय और शैली का साम्य रखते है। सुकवि 'सूरदास' की टीका से विदित होता है कि उन्होंने जिस टीका का आश्रय लिया था, उसमें पदों की सख्या कुछ कम थी और वे 'सूर के दृष्टि-कूट' पदों के नाम से प्रचलित थे। सूरदास जी का 'सूरशतक' नाम की कृति मे भी प्रायः वे ही पद है, जो 'साहित्य-लहरी' मे सगृहीत हैं। विद्या-विभाग, काँकरौली मे 'सूर-सतक' की एक प्रति मौजूद है तथा नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट में भी इसका उल्लेख हुआ है। काँकरौली-विद्या-विभाग मे सूरदास जी के दृष्टि-कूट पदों की अन्य दो टीकाएँ है। उन सब बातो से ऐसा प्रतीत होता है कि सूरदास जी ने दृष्टिकूट-पदों की रचना स्वतन्त्र रूप से ही की थी और सम्भवत. उनका सकलन उनके जीवन काल मे ही हो गया था किन्तु इतना अवश्य है कि 'साहित्य-लहरी' का जो रूप इस समय है, उसमे कुछ पद प्रक्षिप्त अवश्य है। इस ग्रन्थ के अधिकाश पदो मे नायिका भेद, अलकार आदि का विवेचन है। पहले १०४ पदों मे तो उनके वर्ण्यविषयो का भी उल्लेख है तथा आगे के पदों मे कही स्पष्ट तथा कही अस्पष्ट रूप मे काव्यांगो का विवेचन होते हुए भी भक्ति-भावना का परमोत्कर्ष लक्षित होता है। 'साहित्य-लहरी' की प्रामाणिकता भी सूर के आधुनिक आलोचकों का प्रमुख आलोच्य-विषय रहा है और डा० ब्रजेश्वर वर्मा के अतिरिक्त सभी ने इसे सूरदास जी की प्रामाणिक रचना ठहराया है। इस विषय पर विचार करते हुए डा० दीनदयालु गुप्त लिखते है :

"साहित्य-लहरी सूरदास के दृष्टिकूट पदों का ग्रन्थ है, जिसका संकलन सूर के ही जीवन-काल मे हो गया था। इसकी रचना के बाद भी सूर ने 'सूरसागर' मे दृष्टिकूट पद लिखे और उनको छाँट कर लोगो ने बाद को मूल 'साहित्य-लहरी' मे मिला दिया। यह ग्रन्थ यद्यपि 'सूरसागर' का अश कहा जा सकता है फिर भी एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है, जो अपनी निजी विशेषताएँ रखता है।"[१]

डा० गुप्त ने ११ वे पद को प्रक्षिप्त माना है और वहाँ तक कहा है कि सम्भवतः १०९वे पद के अनन्तर सभी पदों का समावेश 'साहित्य-लहरी' मे बाद को हुआ है।

आचार्य मुन्शीराम शर्मा 'सोम' ने 'साहित्य-लहरी' को समग्रतः प्रामाणिक मानकर ११८वें पद के आधार पर अनेक कल्पनाएँ कर डाली है, जिनका उल्लेख हम पहले अध्याय मे कर आये हैं। वास्तव मे अब 'साहित्य-लहरी' के ११८वे पद की अप्रामाणिकता सर्वविदित हो चुकी है, अतः उसकी अप्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए युक्तियो का उद्धरण करना पुनरुक्ति अथवा पिष्टपेषण होगा। हाँ, पद सं० १०९ अवश्य विचारणीय है, जो इस प्रकार है—

मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरीचन्द का लिखि सुबल सम्वत् पेख ॥
नन्द-नन्दन मास छै ते हीन तृतीया वार।
नन्द-नन्दन जनम ते हैं बान सुख-आगार ॥
तृतीय ऋक्ष सुकर्म जोग विचारि सूर नवीन।
नन्द-नन्दन-दास-हित साहित्य लहरी कीन ॥

---

१ अष्ट छाप और वल्लभ सम्प्रदाय—भाग १ पृष्ठ २९४

इस पद मे 'साहित्य-लहरी' के रचना-काल की ओर सकेत किया गया है। इसमे दो बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं : १—रचना काल, २—नन्द-नन्दनदास-हित। इन दोनों ही विषयों मे विद्वानों मे मत-भेद है। रसन का अर्थ आचार्य मुशीराम शर्मा ने रसना के व्यापारों के आधार पर दो मानकर 'साहित्य-लहरी' का रचना-काल सं० १६२७ माना है किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'पुनि' के स्थान पर सुनि (शून्य) मानकर संख्या १६०७ निर्धारित किया है। कुछ आचार्यो ने 'रसन' का अर्थ 'एक' (१) मानकर स० १६१७ की कल्पना की है। डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने लिखा है, "इस पद से एक और संख्या निकाली जा सकती है, यथा—मुनि= ७ पुनि (पुनः) मुनि=७, रसन के रस=६ दशन गौरी नन्दन को=१=१६७७", इसकी पुष्टि में वे आगे लिखते हैं :

यदि सूरदास के समय से इसे मिलाने का आग्रह न हो तो यह सख्या अर्थ-सुकरता के अधिक निकट है क्योंकि इसमे न तो 'पुनि' को छोडा गया है और न 'रसन के रस' को खण्डित किया गया है। ऐसा मानने से स्वतः 'साहित्य-लहरी' सूर की रचना नही ठहरती, परन्तु 'साहित्य-लहरी' का रचना-काल स० १६०७ जितना प्राचीन भी नही माना जा सकता।"[1]

हमारी सम्मति मे इसमे १६०७ का ही उल्लेख है क्योकि 'सुनि' का हस्त लेख मे 'पुनि' पढा जाना असम्भव नहीं। 'रसन के रस लेख' मे तो भ्रान्ति के लिए स्थान ही नही, स्पष्ट ही लेखक को रसन के अर्थात् रसना के रस जो ६ होते है अभीष्ट है। यहाँ 'रसन' शब्द का प्रयोग काव्य के ६ रसो की व्यावृत्ति के प्रयोजन से ही किया गया है। इस प्रकार 'साहित्य-लहरी' का रचना-काल इस पद के द्वारा सम्वत् १६०७ ही द्योतित होता है। नन्द-नन्दनदास के भी दो अर्थ किये गये हैं—नन्दनदास-नन्द अर्थात् कृष्णदास अथवा स्वय नन्ददास। यहाँ 'नन्ददास' अर्थ ही उपयुक्त प्रतीत होता है। "कृष्णदास' की कल्पना करने वालो ने भी सामान्यतः कृष्ण-भक्त तथा नन्ददास के पुत्र कृष्णदास को ही स्वीकार किया है तथा इस मान्यता की पुष्टि आख्यायिका और वार्ता ने की है। जब नन्ददास जी वल्लभ-सम्प्रदाय में प्रविष्ट हुए, तब सूरदास जी ने उन्हे नन्द-नन्दनदास कहा था। 'भाव-प्रकाश' वाली वार्ता का आश्रय लेकर श्री द्वारकादास परीख तथा प्रभुदयाल मीतल ने यह सिद्ध किया है कि जब नन्ददास ने 'पुष्टि-मार्ग' मे प्रवेश किया तब सर्व प्रथम वे सूरदास की संगति मे ६ मास तक चन्द्र-सरोवर पर रहे थे और वह सम्वत् १६०७ के लगभग ही ठहरता है। नन्ददास ने स्वयं भी इस प्रकार के काव्यागों का विवेचन करने वाले ग्रन्थों की रचना की थी। वास्तव मे हिन्दी-साहित्य में रीति काव्य-प्रवाह के मूल स्रोत को प्रवृत्त करने वाले सर्वप्रथम कवि ये ही हैं क्योंकि कृपाराम की 'हित-तरगिणी' का रचना-काल संदिग्ध है।

सूर की रचना (साहित्य-लहरी) के आधार पर उनकी भक्ति भावना को शृङ्गार के कर्दम से लाञ्छित और दूषित भी अनेक आलोचको ने ठहराया है। केवल इस ग्रन्थ मे ही नही, 'सूरसागर' मे भी शृङ्गार के उन्मुक्त वर्णनो के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते है किन्तु इस आधार पर भक्त शिरोमणि महाकवि सूरदास की रचना में भौतिक वासनाओं का आरोप उनके पवित्र—हृदय में छिद्रान्वेषण की चेष्टा करना ही कहा जायगा क्योंकि अपनी पवित्र भावना के बल पर सासारिकता के धरातल से बहुत ऊँचे उठे हुए सूर ने अपने आराध्य की अनेक प्रणय-पूर्ण लीलाओं के मधुर गान का जो स्वर उठाया है, उसमे सरसता है किन्तु कर्दम नहीं; विह्वलता है किन्तु वासना नही; सौंदर्य रस-पान की आकुल पिपासा है किन्तु ऐंद्रिय लोलुपता नही। वाष्प की

१ 'सूरदास' डा० ब्रजेश्वर वर्मा पृष्ठ १२१

तरलता है किन्तु दृढता के साथ; मुस्कान की मादकता है किन्तु चेतनता के साथ; अनुभूतियों की चपलता है किन्तु स्थिरता के साथ। कहाँ तक कहें, लौकिकता है परन्तु अलौकिकता के साथ। चैतन्य सम्प्रदाय की भाँति पुष्टि सम्प्रदाय के भक्तों ने भी भक्ति को रस मानकर अनेक प्रकार से नायक-नायिकाओ का वर्णन किया है। इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है:—

१—यह पद सूर-रचित न हो किन्तु बाद मे किसी ने उसके 'दृष्टि-कूट' पदों मे जोड़ दिया हो क्योंकि इस प्रकार की पद-प्रक्षेप-प्रणाली सरदार कवि की टीका से भी सिद्ध होती है। इतना तो मानना ही पडेगा कि इस पद के पश्चात् आये हुए 'साहित्य-लहरी' के पद अवश्य ही बाद मे जुड़े हुए है। इस पद को प्रक्षिप्त मानने के पक्ष मे यह युक्ति भी प्रस्तुत की जा सकती है कि सूरदास ने अपनी रचनाओ मे कहीं भी काल-सकेत नही किया है, केवल 'सूर-सारावली' में ६७ वर्ष की आयु का उल्लेख है। इसलिये अन्य युक्तियुक्त प्रमाणो के अभाव में हम इस पद को सूर-कृत मानने के लोभ को संवरण नही कर सकते।

२—यह पद सूर-कृत है और उन्होंने नन्ददास के लिये इन दृष्टि-कूट पदों की रचना की, इसका उद्देश्य उनकी उद्दामवासना को श्रीकृष्णार्पण कराना था। एक तीसरी कल्पना यह भी की जा सकती है कि सूरदास के दृष्टि-कूट पदों की व्याख्या किसी विद्वान ने 'साहित्य-लहरी' के नाम से भक्तो के हित के हेतु बाद मे की हो किन्तु इस कल्पना को स्वीकार करने पर इस पद द्वारा प्रतिपादित समय की व्याख्या का स्वरूप बदलना पड़ेगा।

सूरसागर

सूरसागर सूरदास जी की महत्वपूर्ण प्रामाणिक रचना है। बहुत सम्भव है सूर के जीवन-काल मे ही उसका किसी न किसी रूप में संकलन हो गया हो। हम पहले कह चुके हैं कि गोकुलनाथ जी कृत सूरदास की वार्ता में इस बात का संकेत है कि सूर ने सहस्रावधि पदों की रचना की, जिनका सागर सारे संसार मे प्रसिद्ध हुआ। हरिराय जी ने अपने 'भाव-प्रकाश' मे इसकी पुष्टि की है कि इस ग्रन्थ मे ज्ञान-वैराग्य के पृथक्-पृथक् भक्ति-भेद, अनेक भगवद् अवतार और उन सबकी लीला का वर्णन है। 'सूरदास जी की वार्ता' (प्रसग ४) मे यह भी उल्लेख है कि अकबर बादशाह ने सूरदास के पदों का संकलन कराया था। इस प्रकार वार्ता-साहित्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूरदास जी के कीर्तन पदों का संग्रह उनके समय मे ही हो चुका था परन्तु उनके समय की कोई प्रति अब उपलब्ध नहीं है। 'सूरसागर' की अनेक प्रतियाँ हमारे देखने में आयी है। मथुरा-निवासी पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी ने 'पोद्दार-अभिनन्दन-ग्रन्थ' मे अपने एक लेख मे 'सूर-सागर' की प्रतियों का विवरण दिया है, जिसे हम नीचे उद्धृत करते हैं :

हस्तलिखित

जिन प्रतियों के स्थान का कोई पता नही चलता—

१—सूरसागर सं० १७३५ की प्रति।

२—सूरसागर सं० १८१६ की प्रति।[1]

जिन प्रतियों का उल्लेख बाबू राधाकृष्णदास ने किया है, वे ये है:—

१—सूरसागर (प्रथम-स्कध से नवम स्कंध तक), प्रा० स्था० खड्ग विलास प्रेस, पटना।

२—सूरसागर (दशम-स्कन्ध पूर्वार्द्ध) भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र पुस्तकालय, काशी।

---

१ खोज-रिपोर्ट सन् १९०६

३—सूरसागर (दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध से द्वादश स्कन्ध तक) काशी राज्य—रामनगर की प्रति ।

मिश्रबन्धुओं द्वारा उल्लिखित ।

१—सूरसागर (पद सख्या १२ हजार) खत्री मुहल्ला लखनऊ, अहमदाबाद (गुजरात)

२—सूरसागर (संग्रहात्मक) प्रा० पं० केशवराम काशीराम शास्त्री, गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी, भद्रकाली ।

अलीगढ (याज्ञिक पुस्तकालय)—

१—सूरसागर प्रथम स्कन्ध नं० २६७/२६

२—सूरसागर (सम्पूर्ण) न० २६६/५४ सं० १८५४ की प्रति[1] ।

३—सूरसागर (अपूर्ण) न० ३७५/२६ ।

४—सूरसागर (अपूर्ण) न० ४०१/२६ सं० १६०० की प्रति ।

५—सूरसागर (अपूर्ण) न० ४०२/ २६ सं० १६०० की प्रति ।

६—सूरसागर (दशम अपूर्ण नं० ८१३/२६ ।

उज्जैन (मध्य भारत)—

१—सूरसागर; प्रा०—ओरियन्टल मैन्यूस्क्रिप्ट लायब्रेरी, उज्जैन ।

उदयपुर (मेवाड) सरस्वती भण्डार—

१—सूरसागर (सम्पूर्ण संग्रहात्मक) स० १६९७ की प्रति ।

२—सूरसागर (सम्पूर्ण संग्रहात्मक) सं० १७६३ की प्रति ।

३—सूरसागर (सम्पूर्ण संग्रहात्मक) ।

अन्य—

१—सूर पदावली (सक्षिप्त) सं० १७६० की प्रति ।

२—सूर सारावली (संक्षिप्त) अन्तिम पद "ब्रज ते पावस पै न गई ।"

कलकत्ता—

१—पूर्णचन्द नाहर ।
सूरसागर (पूर्ण द्वादश स्कन्धात्मक)

२—हनुमान प्रसाद पोद्दार—"फर्म ताराचन्द घनश्यामदास"
सूरसागर (पूर्ण द्वादश-स्कन्धात्मक)स० १८६६ की प्रति ।

कांकरौली[2] (मेवाड) 'सरस्वती भण्डार'—

१—सूरसागर (पूर्ण सग्रहात्मक) बन्ध सं० १

२—सूरसागर (पूर्ण संग्रहात्मक) बन्ध सं० ७ पुस्तक सं० ५

३—सूरसागर (पूर्ण सग्रहात्मक) बन्ध सं० २ । ४९ पुस्तक सं० ५

४—सूरसागर (पूर्ण संग्रहात्मक) बन्ध सं० ४७ पुस्तक स० ५

५—सूरसागर (पूर्ण सग्रहात्मक) बन्ध सं० ६६ पुस्तक सं० १

६—सूरसागर (पूर्ण संग्रहात्मक) बन्ध सं० ८१ पुस्तक स० ५

७—सूरसागर (पूर्ण संग्रहात्मक) सं० १६१२ की प्रति

८—सूरसागर (दशम स्कन्ध) बन्ध सं० ४९ पुस्तक सं० ५

---

१ ये पुस्तकें अब नागरी प्रचारिणी सभा काशी मे आ गई हैं।

२ यहाँ ब्रज-भाषा-साहित्य की हस्तलिखित पुस्तको का बड़ा भारी और सुन्दर सग्रह है।

९—सूरसागर के पद (स्फुट) बन्ध सं० १०४ पुस्तक स० ३

१०—सूरदास के पद (स्फुट) बन्ध सं० २५ पुस्तक सं० ४

कामवन (भरतपुर) "देवकीनन्दनाचार्य-पुस्तकालय"[1]

सूरसागर (पूर्ण सग्रहात्मक)

कालाकाँकर (अवध) राज्य-पुस्तकालय—

सूरसागर (पूर्ण द्वादश स्कन्धात्मक) सं० १८८९ की प्रति ।

काशी "नागरी प्रचारिणी सभा"—

१—'सूरसागर' (पूर्ण, द्वादश-स्कन्धात्मक) सं० १८८० की प्रति ।

२—'सूरसागर' (पूर्ण, द्वादश-स्कन्धात्मक) सं० १९०९ की प्रति सूबा साहिब वाली

३—सूरसागर (पूर्ण, द्वादश-स्कन्धात्मक) स० १९१६ की प्रति ।

४—सूरसागर (पूर्ण, द्वादश-स्कन्धात्मक)

५—सूरसागर (पूर्ण, द्वादश-स्कन्धात्मक) बा० श्यामसुन्दरदास वाली प्रति ।

अन्य—

१—शाह केशवदास 'रईस' काशी—

सूरसागर (पूर्ण द्वादश-स्कन्धात्मक) स० १७५३ की प्रति ।

२—जानीमल 'खजाञ्ची' काशी[2]

३—'रामकृष्णदास' काशी—

सूरसागर (पूर्ण, द्वादाश-स्कन्धात्मक) सं० १९२६ की प्रति ।

४—गोकुलदास 'रईस'

सूरसागर (पूर्ण, द्वादश-स्कन्धात्मक)

५—प० रघुनाथ राम, गायघाट काशी[3]

सूरसागर (पूर्ण, द्वादश-स्कन्धात्मक)

६—ला० रामरत्न 'छागरा' सगरा वाला, २५/२ लक्कड़ गली, काशी सूरसागर (पूर्ण, द्वादश-स्कन्धात्मक)

७—काशी-राज्य-पुस्तकालय, 'सरस्वती भण्डार', रामनगर (काशी)—

सूरसागर (पूर्ण दो खण्डो मे, द्वादश स्कन्धात्मक)

किशनगढ़ (राजपूताना), राज्यपुस्तकालय, 'सरस्वती-भण्डार सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक)

कुचामन (राजपूताना), राज्य-पुस्तक-भण्डार—

सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक स० १६७५ की प्रति)

कोटा (राजपूताना) राज्य-पुस्तकालय 'सरस्वती-भण्डार'

१—सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १६७० की प्रति

---

१ कामवन के देवकी नन्दन पुस्तकालय मे श्री सूरकृत 'गावर्धन लीला' तथा प्रान-प्यारी (स्याम सगाई) भी है।

२ बा० राधाकृष्णदास ने स्वसम्पादित तथा 'बकटेश्वर प्रेस' बम्बई से मुद्रित सूरसागर की भूमिका में इसका नाम जानीमल खानचन्द लिखा है। दे०—वेंकटेश्वर प्रेस की प्रति सवत् १९५३ का सस्करण।

३ यह प्रति बहुत सुन्दर तथा शुद्ध पाठ युक्त है, सभा ने अपना 'सूरसागर' सम्पादित कराते समय इसका प्रयोग नही किया है।

२—सूरनागर (पूर्ण-संग्रहात्मक)

खोज-रिपोर्ट[1] (रिसर्च) के अनुसार

१—खोज-रिपोर्ट सन् १९०१-४ तथा ६, (उत्तर प्रदेश द्वारा प्रकाशित)—

(क) 'सूरसागर' सं० १७९२ की प्रति।

(ख) 'सूरसागर' सं० १८५३ की प्रति।

(ग) 'सूरसागर' सं० १८६६ की प्रति।

(घ) 'सूरसागर' सं० १८७३ की प्रति।

२—खोज-रिपोर्ट सन् १९०९-१० तथा ११ पृष्ठ ७-८

सूरसागर

३—खोज-रिपोर्ट सन् १९०२—

'सूरसागर के पद' (स्फुट)

४—खोज-रिपोर्ट सन् १९०६-७-८

'सूरसागर' (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १६९७ की प्रति

छतरपुर (बुन्देलखण्ड)—राज्य-पुस्तकालय

सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक)

जयपुर (राजपूताना) राज्य-पुस्तकालय

सूरसागर। (पूर्ण, दो खण्डों मे, संग्रहात्मक)सं० १८५४ की प्रति

अन्य-स्थान—गिरधारी जी का मन्दिर, जयपुर,

सूरसागर (सग्रहात्मक)

जामनगर[2] (सौराष्ट्र), "बड़ी हवेली" (मन्दिर)

सूरसागर (संग्रहात्मक)

जूनागढ[3] (सौराष्ट्र), "बड़ी हवेली" (मन्दिर)

सूरसागर (संग्रहात्मक)

जौनपुर (उत्तर प्रदेश) पं० गणेशबिहारी मिश्र (मिश्रबन्धु) के पास लखनऊ—

सूरसागर (पूर्ण, द्वादश स्कन्धात्मक) सं० १८५४ की प्रति।

झालरापाटन (राजपूताना) राज्य-पुस्तकालय—

१—सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १६७८ की प्रति।

२—'सूरजी के पद' (स्फुट संग्रह)

दरियाबाद—(लखनऊ) रायराजेश्वर बलीसिंह पुस्तकालय—

सूरमागर (पूर्ण, द्वादश-स्कन्धात्मक), १८८२ की प्रति, लिपि 'फारसी'।

दतिया (बुन्देलखण्ड) राज्य-पुस्तकालय—

१—सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १८०९ की प्रति।

२—सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक)

---

१ खोज-रिपोर्ट के अनुसार इन सूरसागरो का ठीक-ठीक पता न होने से सम्पादन मे किसी ने इनका उपयोग नही किया है। इन खोज-रिपोर्टों में पद-संग्रह (खोज-रिपोर्ट सन् १९०२ तथा १९०६) श्री बल्लभाचार्य जी के 'उत्सव पद' (खो० रि० सन् १९०२) 'कीर्तन पद' (खो० रि० सन् १९०६) तथा इसी प्रकार 'ख्याल-टप्पा' (खो० रि० सन् १९०२) आदि सग्रह-ग्रन्थो में सूर के बहुत पद सग्रहीत हैं।

२, ३ जामनगर और जूनागढ़ (सौराष्ट्र) की इन हवेलियों मे हिन्दी (ब्रज-भाषा) साहित्य का बहुत कुछ भण्डार है, जो दर्शनीय है।

दिल्ली प्रो० नगेन्द्र द्वारा प्राप्त—
सूरसागर (पूर्ण, द्वादश-स्कन्धात्मक) सं० १८७७ की प्रति।

नाथद्वारा[1] (मेवाड) 'सरस्वती भण्डार', 'श्रीनाथ जी का मन्दिर'—
सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १६५८ की प्रति

पुवयाँ (शाहजहाँपुर, उत्तर प्रदेश) प० 'लालमणि पुस्तकालय'
'सूरदास' (पूर्ण, तीन खण्डों में द्वादश-स्कन्धात्मक)

पूना—दक्खिन कालेज पुस्तकालय—
सूर-पदावली (स्फुट)

प्रयाग

१—म्यूनिसिपल म्यूजियम (अजायबघर)—
- १—सूरसागर (केवल दान के पद) बं० सं० २१८, पु० सं० ६५।
- २—सूरसागर (रास के पद) बं० सं० २१६, पु० स० ७४।
- ३—सूरसागर अपूर्ण, (पद-संख्या २०११) बं० स० २१६, पु० सं० ८८
- ४—सूरसागर अपूर्ण, (पद संख्या २५१९) ब० सं० २१३, पु० सं० १७, सं० १७४३ की प्रति।
- ५—सूरदास के पद (छोटा संग्रह) बं० स० २०८, पु० सं० ५।
- ६—सूर पदावली (खंडित प्रति) बं० स० २१७, पु० सं० १३३।
- ७—सूरदास-भजनावली (नई प्रति) बं० स० १८६, पु० सं० ३५।
- ८—सूर-तुलसी भजनावली (सग्रह) बं० स० २१९, पु० सं० २०१

२—बिहारी जी का मन्दिर (निम्बार्क-पुस्तकालय) महाजनी टोला—
सूरसागर (सग्रहात्मक, खण्डित प्रति)

३—हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन—
- १—सूरसागर (पूर्ण, सग्रहात्मक) बं० सं २१९, पु० सं० ४७, सं० १८५० की प्रति।
- २—सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक) ब० सं० २१९, पु० सं० ३, सं० १८३९ की प्रति।
- ३—सूरसागर के पद (संग्रह) बं० स० १४९, पु० स० २०८।
- ४—सूरदास के पद संग्रह, (फारसी लिपि) पु० सं० ८९१।
- ५—सूरदास के भजन संग्रह, (लिपि फारसी) पु० सं० ८५५।

बम्बई वेंकटेश्वर प्रेस
सूरसागर (पूर्ण, द्वादश स्कन्धात्मक) बा० राधाकृष्णदास, काशी की प्रति यत्र-तत्र उन्ही के द्वारा संशोधित।

बरौली (भरतपुर स्टेट) पो० पहाडी, ठा० रामप्रसादसिंह
सूरसागर (पुस्तक-नाम 'भागवत सूरदास कृत', पूर्ण, सग्रहात्मक) सं० १७९८ की प्रति।

बाजपेयी का पुरवा (बहरायच) पो० सिसिया, शिवनारायण बाजपेयी—
सूरसागर (पूर्ण, द्वादश स्कन्धात्मक) सं० १८९९ की प्रति।

बिजावर (बुन्देलखण्ड) स्टेट-राज्य पुस्तकालय
सूरसागर (पूर्ण, सग्रहात्मक) सम्वत् १८७३

---

[1] 'नाथ द्वारा' के 'सरस्वती-भण्डार' मे हिन्दी (ब्रज-भाषा) साहित्य का अतुल भण्डार है, जो अभी तक देखने मे नही आया है। यहाँ के पुराने अध्यक्ष स्व० श्री रामनाथ जी देवर्षि द्वारा सूरसागर की एक ही प्रति का उल्लेख आया है। वैसे यहाँ सूरसागर की बहुत सी प्रतियाँ है।

बीकानेर (राजपूताना) अनूप-संस्कृत लाइब्रेरी

१—सूरसागर (पूर्ण, सग्रहात्मक) सम्वत् १६८१ की प्रति, बुरहानपुर, दक्षिण वाली।

२—सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक) सम्वत् १६६५ की प्रति, प० बेली जी की लिखी।

३—सूरसागर (पूर्ण, सग्रहात्मक) सं० १६६८ की प्रति, मथुरा (केशवदेव जी का मन्दिर मल्लपुरा) के वैद्य विष्णु भट्ट की लिखी।

४—सूरसागर (पूर्ण, सग्रहात्मक) सम्वत् १७७३ की लिखी।

५—सूरसागर (पूर्ण, सग्रहात्मक)

६—सूरसागर (पूर्ण, सग्रहात्मक)

७—सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक)

८—सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक)

९—सूरसागर (खण्डित, संग्रहात्मक)

१०—सूरसागर (खण्डित, संग्रहात्मक)

सूर-छत्तीसी (छोटा संग्रह)

सूर-पच्चीसी (छोटा सग्रह)

बूंदी (राजपूताना) राज्य पुस्तकालय, सरस्वती-भण्डार

सूरसागर की पोथी (पूर्ण सग्रहात्मक) सं० १६८१ की प्रति

बेसवाँ (अलीगढ़) ठा० मतंगध्वजप्रसादसिंह का पुस्तकालय

१—सूरसागर (प्रथम स्कन्ध से नवम स्कन्ध तक) सं० १८७६ की प्रति।

२—सूरसागर (दशम स्कन्ध से द्वादश स्कन्ध पर्यन्त) सं० १८७६ की प्रति।

भरतपुर स्टेट—राज्य पब्लिक लाइब्रेरी—

१—सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक)

२—सूर-पच्चीसी (छोटा-सा संग्रह)

भिनगा स्टेट (बहरायच) राज्य पुस्तकालय

सूरसागर (पूर्ण, द्वादश स्कन्धात्मक) पद संख्या २१२४।

मथुरा—

१—पं० नटवरलाल चतुर्वेदी, शीतला पाइसा, नई कोतवाली के पास

१—सूरसागर (पुस्तक नाम भागवत, सूरदास-कृत) पूर्ण संग्रहात्मक, सं० १६८८ की प्रति तथा कुछ अंश सं० १७४५ का लिखा पृथक्।

२—सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १७४० की प्रति।

२—पं० गोपालशकर नागर—बिहारीपुरा (सेठ भीखचन्द की गली)

सूरसागर (पूर्ण संग्रहात्मक) स० १७५८ की प्रति।

३—जवाहरलाल चतुर्वेदी कुँआ वाली गली—

सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १६४४ की प्रति (यह प्रति सबसे प्राचीन है)।

महावन (मथुरा) बा० कृष्ण जीवनलाल वकील,

१—सरसागर (पुस्तक नाम 'भागवत-पद', पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १८१० की प्रति।

२—सूरसागर (खण्डित, स्कन्धात्मक, दशम स्कन्ध के अतिरिक्त प्रथम स्कन्ध से द्वादश स्कन्ध पर्यन्त) सं० १८६७ की प्रति।

३—सूर-पच्चीसी (स्फुट-पद)

मिर्जापुर (बहरायच) पो० बहरायच, विट्ठलदास महन्त—
सूरदास (पूर्ण, द्वादश स्कन्धात्मक) स० १६०४ की प्रति ।
रीवाँ (बुन्देलखण्ड) राज्य पुस्तकालय :—
१—सूरसागर (पूर्ण, सग्रहात्मक) स० १७४० की प्रति ।
२—सूरसागर (खण्डित प्रति)
रेवाड़ी (गुडगाँवाँ) प० रामस्वरूप शास्त्री, काव्यतीर्थ, संस्कृत-अध्यापक, अहीर हाई स्कूल
१—सूरसागर (पूर्ण, द्वादश स्कन्धात्मक)
२—रास-लीला (सूरदास-कृत)
लखनऊ १—लाला० श्यामसुन्दरदास अग्रवाल मसकगज—
१—सूरसागर (पूर्ण, द्वादश स्कन्धात्मक) सं० १८६६ की प्रति ।
२—पं० बद्रीनाथ भट्ट बी० ए०, प्रो० लखनऊ यूनिवर्सिटी—
१—सूरसागर (पूर्ण, द्वादश स्कन्धात्मक)
२—सूरसागर (खण्डित प्रति, द्वादश स्कन्धात्मक)
अन्य :—
१—भ्रमर-गीत—सूरदास
२—रुक्मिणी-मंगल—सूरदास
३—सुदामा-चरित—सूरदास
३—पं० श्यामबिहारी मिश्र (मिश्रबन्धु)
सूरसागर-सार (स्फुट पदों का सग्रह)
लबेदपुर (बहरायच) बा० पदमबक्ससिंह
सूरदास (पूर्ण, द्वादश-स्कन्ध)
शेरगढ़ (मथुरा) बा० गोकुलप्रसाद सक्सेना,
सूरसागर (पुस्तक नाम—'सूरदास के पद', पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १६८२ की प्रति।
स्वामीदयाल का पुरवा (बहराइच) पो० सिसिया, प० स्वामीनारायण वाजपेयी—
१—सूरसागर (पूर्ण, द्वादश स्कन्धात्मक) स० १८६६ की प्रति ।
२—भ्रमर-गीत, सूरदास (संग्रह) सं० १८६१ की प्रति ।

अन्यत्र

भारत से बाहर अमरीका और यूरोप मे भी 'सरसागर' की प्रतियाँ मिलती है; जैसे,
अमरीका हार्वर्ड-यूनिवर्सिटी-लाइब्रेरी—
सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक)
पेरिस (फ्रांस) "पेरिस लाइब्रेरी"—
१—सूरसागर-किताब (लिपि-फारसी, स्कन्धात्मक) सं० १७६६ की प्रति।
लन्दन "ब्रिटिश-म्यूजियम"
१—सूरसागर (कापी) पूर्ण, द्वादश स्कन्धात्मक, सं० १७८० की प्रति।
२—भँवर-गीत, (सूरदास) सं० १७६६ की प्रति, श्याम जू पाण्डे लिखित ।

मुद्रित-प्रतियाँ

सूरसागर की मुद्रित प्रतियों के दो ही संस्करण—नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ और वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई के कहे जाते हैं, मिलते भी यही हैं। कलकत्ता से भी एक छोटा-सा सग्रह–"सूर

संगीतकार" नाम से प्रकाशित हुआ था। रागकल्पद्रुम में भी, जो तीन भागों में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था, ब्रजभाषा के अनेक पद-रचयिताओ के पदो के साथ सूरदास जी के भी अधिकाधिक पद छपे है। परन्तु इन सब मुद्रित प्रतियो मे नवलकिशोर प्रेस द्वारा प्रकाशित प्रतियाँ ही सबसे पुरानी है। नई खोज द्वारा 'सूर-सागर' की इससे भी पुरानी कुछ प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनका विवरण निम्न प्रकार है:

आगरा—

१—सूरसागर, प्र० मु०—मतबअ ईजाद प्रेस (लीथो), सन् १८६७, तीसरी बार।

२—सूरसागर, प्र० मु०—मतबअ कृष्णलाल प्रेस, संग्रहात्मक (लीथो) सन् १८८२।

कलकत्ता—

१—सूर-संगीत-सार-प्र०-अरुणोदय, मु० बगवासी प्रेस, सन् १९०२, विनय तथा बाल-लीला से लेकर भ्रमर-गीत तक के पदो का सक्षिप्त सग्रह।

२—राग-कल्पद्रुम, भाग १, २, ३, स०—कृष्णानन्द रागसार; सं० नगेन्द्रनाथ वसु, प्र० बंगीय-साहित्य परिषद् कलकत्ता, मु० विश्वकोष प्रेस, कलकत्ता सम्वत् १९७१-७३।

काशी—

१—"सूरसागर-रत्न" [संग्रहात्मक पूर्ण, स० रघुनाथ दास, मु० बनारस लाइट प्रेस, सन् १८६७ (लीथो)]

२—"सूरसागर", सं० 'रत्नाकर', प्र० नागरी-प्रचरिणी-सभा, काशी, मुद्रक—इण्डियन प्रेस, बनारस शाखा, सं० १९६४, आठों खण्डों मे (अपूर्ण)।

३—"सूरसागर ऊपरवाला", पूर्ण, दो खण्डों मे, प्र०—नागरी-प्रचारिणी-सभा काशी, मु०—हिन्दी टाइम टेबुल प्रेस, सं० २००५।

जयपुर (राजपूताना)

सूरसागर, पूर्ण, संग्रहात्मक, प्र० मतबअ ईजाद प्रेस (लीथो) सन् १८६५ ई०।

दिल्ली—

सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक), प्र० मतबअ इलाही प्रेस (लीथो) सन् १८६०।

मथुरा—सूरसागर, (पूर्ण, सग्रहात्मक, प्र० मुदैउल-उलूम प्रेस (लीथो) सन् १८६०।

बम्बई—

१—सूरसागर (पूर्ण, बड़ा आकार, द्वादश स्कन्धात्मक), सं०—बा० राधाकृष्णदास, काशी, प्र० वेंकटेश्वर प्रेस, सं० १९५३।

२—सूरसागर (पूर्ण, मझोला आकार, द्वादश स्कन्धात्मक) प्रकाशक वेंकटेश्वर प्रेस, सम्वत् १९९१।

लखनऊ[1]

१—सूरसागर (पूर्ण, सग्रहात्मक), प्र० नवलकिशोर प्रेस, सन् १८६४, प्रथम बार, (लीथो)।

२—'सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक), सं० पं० कालीचरन, प्रकाशक नवलकिशोर प्रेस, (टाइप में)।

---

१ नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित सभी सूरसागर राम कल्पद्रुम नाम से प्रकाशित हुए हैं। सूरसागर प्रथम अयोध्या के महाराज श्री मानसिंह जी उपनाम 'द्विजदेव' के तत्वावधान तथा मुन्शी जमनाप्रसाद की देख-रेख में पं० कालीचरन द्वारा सशोधित होकर स० १९२० मे प्रकाशित हुआ था।

३—'सूरसागर (ऊपर वाला ही), सं० प० रामरत्न बाजपेयी, प्र० नवलकिशोर प्रेस, सं० १८७४ (टाइप में) तथा आठवी बार सं० १६०२ मे ।

इस तालिका मे दो प्रकार की प्रतियों का उल्लेख है—१—संग्रहात्मक तथा २—द्वादश स्कन्धात्मक । दोनों सकलनों मे पद-क्रम का भेद है । संगृहीत प्रतियों मे प्रायः 'सूर-सारावली' नही दी गई है किन्तु नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से 'राग-कल्पद्रुम' के आधार पर मुद्रित हुए 'सूरसागर' की प्रति मे सूर-सारावली भी है तथा इसके दो भाग हैं—

१—नित्य-कीर्तन के पद जिसमे भिन्न-भिन्न राग-रागनियों मे प्रभु कीर्तन के पद है ।

८—लीला के पद ।

कीर्तन के पदों मे सूरदास के पदों के साथ अष्टछापी कवियों के पद भी मिले हुए है । काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित सूरदास से पहले वेंकटेश्वर प्रेस द्वारा मुद्रित द्वादश स्कन्धात्मक प्रति ही प्रमाणित मानी जाती थी । इस प्रति के प्रारम्भ मे ही 'सूर-सारावली' दी गई है, 'सूरसागर' उसके पश्चात् प्रारम्भ होता है । लखनऊ वाली प्रति मे विनय के पद 'मथुरा-लीला' तथा 'भ्रमर-गीत' से पहले आते है तथा बम्बई वाली प्रति मे 'सूर-सारावली' के पश्चात् प्रथम-स्कन्ध से पहले है । इन सभी प्रकार की हस्तलिखित, मुद्रित, सग्रहीत द्वादश-स्कन्धात्मक प्रतियों के अवलोकन से हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहूँचते है :

१—संग्रहात्मक प्रतियाँ द्वादश स्कन्धात्मक प्रतियों की अपेक्षा लगभग १०० वर्ष पुरानी हैं अर्थात् उनका संग्रह १०० वर्ष पूर्व हो चुका था ।

२—संग्रहात्मक प्रतियो का पाठ द्वादश स्कन्धात्मक प्रतियों की अपेक्षा अधिक शुद्ध एवं ब्रज-भाषा-व्याकरण-सम्मत है ।

३—सग्रहात्मक प्रतियों मे पद-क्रम प्रायः पुष्टि-मार्गीय परम्परा पर अवलम्बित है ।

४—इन प्रतियों मे भागवत को "पद-भाषा करि गाय" के चरितार्थ करने का विषय नही बनाया गया है ।

५—द्वादश-स्कन्धात्मक प्रतियों मे पाठ-भेद और क्रम-भेद दोनों मिलते है ।

इन कारणों से हम इस तथ्य पर पहुँचते है कि सग्रहात्मक प्रति द्वादश स्कन्धात्मक प्रति की अपेक्षा अधिक मान्य है । भागवत की तुलना मे हम इस द्वादश स्कन्धात्मक प्रति को ही रख सकते है, सग्रहात्मक को नही । दोनो प्रतियों के विषय-क्रम तथा सम्प्रदाय मे प्रचलित नित्यकीर्तन और वर्षोत्सव के क्रम को दृष्टिकोण मे रखते हुए 'सूरसागर' का 'भागवत' के साथ तुलनात्मक अध्ययन समीचीन होगा । यद्यपि प० जवाहरलाल चतुर्वेदी वाली हस्तलिखित सग्रहात्मक प्रति सबसे प्राचीन है क्योंकि वह सं० १६४४ की है[1] तथापि वह इतनी जीर्णशीर्ण है कि उसके विषय-क्रम का निर्धारण हो ही नही सकता, अतएव इस प्रयोजन के लिए हमे नाथद्वारे वाली सं० १६५८ वि० की प्रति का ही आश्रय लेना पड़ेगा । वास्तव मे इन दोनों प्रतियों के क्रम में कोई अन्तर प्रतीत नही होता । इन संगृहीत प्रतियो का प्रारम्भ पद से होता है, जो सूरदास ने 'नन्दलाल की लीला' के रूप मे महाप्रभु वल्लभाचार्य जी को सुनाया था ।

'ब्रज भयौ महरि कै पूत जब यह बात सुनी" ।

सूरदास जी की वार्ता में लिखा है "सो सुनि कै श्री आचार्य जी बहौत प्रसन्न भये और जाने, जो अब लीला को अभ्यास भयो । सो तब श्री आचार्य जो आप श्रीमुख ते सूरदास सो आज्ञा किये—जो सूर कछु नन्दलाल की लीला गावो । तब सूरदास ने नन्द-महोत्सव को कीर्तन

१ यद्यपि श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी ने सं० १६३६ को एक प्रति का और उल्लेख किया है किन्तु वह हमे अभी तक देखने को नही मिली ।

बरनन करि कै गायो सो 'पद ब्रज भयौ'[1] इत्यादि ।" द्वादश स्कन्धात्मक प्रतियों में सबसे प्रामाणिक प्रति नागरी-प्रचारिणी-सभा काशी द्वारा प्रकाशित 'सूरसागर' की है, जो दो भागों मे प्रकाशित हुई है। अत: द्वादश स्कन्धात्मक क्रम हम इसी प्रति मे से देंगे, यद्यपि इस प्रति मे अनेक स्थानों पर पाठ-भेद है और ब्रज-भाषा-व्याकरण के विषेषज्ञो का यह भी दावा है कि इसमे अनेक स्थानों पर पाठ अशुद्ध हैं। वस्तुत: नागरी-प्रचारणी-सभा का यह महान् कार्य स्तुत्य है। वर्षोत्सव तथा नित्य-कीर्तन का क्रम सम्प्रदाय की मुद्रित प्रतियों से लिया गया है, जो प्राय: सभी पुस्तको मे एक-सा मिलता है।

'सूरसागर' की नाथद्वारे वाली सं० १६५८ की हस्तलिखित प्रति का क्रम इस प्रकार है— जन्म, पलना, ढाढ़ी (मास दिनों, अन्न-प्राशन, कर्ण-छेदन, नाम-करण, मृतिका-भक्षण आदि के पद भी आ गये हैं।) बाल लीला, माखन-चोरी, गो-चरण, दान-लीला, गोवर्धन-लीला, रूप-वर्णन, गोपी-प्रेम, ध्यान-शोभा, मुरली-सवाद, ब्रज-ध्यान, मुरली-विरद, दूती-सवाद, यज्ञ-समय-वर्णन, विहार, रास-क्रीड़ा, जलम-बिहार-बसन्त-क्रीडा, होरी, राधिका-शृंगार, खण्डिता, दूती-संवाद, गूढ़-भाव, मिलाप, अक्रूर-आगमन, मथुरा-गमन, मथुरा-प्रवेश, यशोदा-विलाप, दूती-संवाद, विरह-पुञ्ज, गोपी-तर्क, सुदामा-लीला, राम-जयन्ती, नृसिह-जयन्ती, बामन-जयन्ती, विनय के पद।

मुद्रित-सूरसागर (संग्रहात्मक) की प्रतियो मे 'नवल किशोर' प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित प्रति की अधिक मान्यता रही है। सन् १८६४ मे प्रथम बार (लीथो) यह प्रति मुद्रित हुई थी। फिर सं० १८६४ मे टाइप मे इसकी प्रति छपी। उसका क्रम निम्नलिखित है :

सूर-सारावली	पृष्ठ १ से ५१ तक	राधाकृष्ण-प्रथम मिलन	
नित्य कीर्तन	,, ५२ से १५६ ,,	चकई भँवरा खेलना	२९९
राम-विलावल		गोवर्धन-लीला	३०६
जगाने के पद	,, १५७ से १५८ तक	गोचरणलीला	३३७
खण्डिता	,, १५८—१६४	कालिय-दमन	३४६
दधि-मन्थन	,, १६५—१६६	दावानल-पान-लीला	३६१
बाल-लीला	,, १६७—१८५	गोदोहन	३६४
ब्याह-खेल	,, १८६—१९१	भुजंगम-दर्शन-लीला	३६७
कुब्जा-मण्डल	,, १९२	व्रत-चर्या	
जमुना जी के पद		वस्त्र-हरण-लीला	३७०
माखन-चोरी	,, २००	पनघट-लीला	३७८
अघासुर-वध	,, २०९	दान-लीला	३८७
वत्स-हरण	,, २१०	अनुराग लीला	४२७
कालिय-दमन	,, २१३	मुरली के पद	४९५
दशम-प्रारम्भ	,, २२४	रास	५१५
बधाई	,, २२४	विनय	६०२
माटी-भक्षण	,, २५२	मथुरा-गमन	६३६
माखन-चोरी	,, २७७	भ्रमर-गीत	६७०
दामोदर-लीला	,, २८०		
वत्स-हरण	,, २९३		

1 गो० हरिरायजी कृत 'सूरदासजी की वार्ता' (अग्रवाल प्रेस, मथुरा) पृष्ठ १४

लखनऊ वाली प्रति के इस क्रम से स्पष्ट हो जाता है कि संग्रहात्मक प्रतियो के भी अनेक रूप बन गये होगे। काशी-प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित प्रति मे विनय के पद प्रथम स्कन्ध में आते है, फिर २२३ पदों के पश्चात् भागवत-प्रसग शीषक, फिर विनय के पद प्रारम्भ कर दिये गये है तथा २५० वें पद से प्रथम-स्कन्ध शीर्षक चला है। पद-समूहो के शीर्षक भी दिये गये है, जो इस प्रकार हैं :

प्रथम-स्कन्ध

विनय, मगलाचरण, सगुणोपासना, भक्त-वत्सलता, माया-वर्णन, अविद्या-वर्णन, तृष्णा-वर्णन, नाम-महिमा, विनती, श्री भागवत प्रसग, भागवत-वर्णन, श्री शुक-जन्म-कथा, श्री भागवत के श्रोता वक्ता, सूत-शौनक-सवाद, व्यास-अवतार, श्री भागवतअवतरण का कारण, नाम-माहात्म्य, विदुर के घर भगवान के द्वारा भोजन, भगवान कृष्ण-दुर्योधन-संवाद, द्रोपदी-सहाय्य, पाण्डव-राज्याभिषेक, युधिष्ठिर-प्रति भीष्मोपदेश, महाभारत मे भगवान् की भक्तवत्सलता का प्रसंग, अर्जुन-दुर्योधन का कृष्ण-गृह-गमन, भीष्म-प्रति दुर्योधन-वचन, भीष्म-प्रतिज्ञा, अर्जुन के प्रति भगवान् के वचन, भगवान् का चक्र-धारण, अर्जुन और भीष्म का सवाद, भीष्म का देह-त्याग, भगवान का द्वारिका गमन, कुन्ती-विनय, राजा धृतराष्ट्र का वैराग्य तथा वन-गमन, हरि-वियोग, पाण्डव-राज्य त्याग, उत्तर-गमन, अर्जुन का द्वारिका जाना और शोक-समाचार लाना, गर्भ मे परीक्षित की रक्षा और उनका जन्म, परीक्षित-कथा, मनःप्रबोध, चित्त बुद्धि-संवाद।

द्वितीय-स्कन्ध

नाम महिमा, अनन्य-भक्ति-महिमा, हरि-विमुख-निन्दा, सत्संग-महिमा, भक्ति-साधन वैराग्य-वर्णन, आत्म-ज्ञान, विराट्-रूप-वर्णन, आरती, नृप-विचार, श्री शुकदेव के प्रति परीक्षित वचन, श्री शुकदेव-वचन, श्री शुकदेव-कथित नारद-ब्रह्मा-सवाद, चतुर्विशति-अवतार-वर्णन, नारद के प्रति ब्रह्मा जी के वचन, ब्रह्मा की उप्पत्ति, चतुःश्लोक-श्रीमुख वाक्य।

तृतीय स्कन्ध

श्री शुक-वचन, उद्धव का पश्चात्ताप, मैत्रेय-विदुर-सम्वाद, विदुर-जन्म, सनकादिक-अवतार, रुद्र-उत्पत्ति, सत्पर्षि, दक्ष प्रजापति तथा स्वायभुव मनु की उत्पत्ति, सुर-असुर-उत्पत्ति, वाराह-अवतार, जय विजय की कथा, कपिलदेव-अवतार तथा कर्दम का शरीर-त्याग, देवहूति-कपिल-संवाद, भक्ति-विषयक प्रश्नोत्तर, भगवान् का ध्यान, चतुर्विध भक्ति, हरि-विमुख की निन्दा, भक्त-महिमा।

चतुर्थ स्कन्ध

दत्तात्रेय अवतार, यज्ञ-पुरुष-अवतार, यज्ञ-पुरुष-अवतार (संक्षिप्त), पार्वती-विवाह, ध्रुव-कथा, संक्षिप्त-ध्रुव-कथा, पृथु-अवतार, पुरंजन-कथा।

पञ्चम स्कन्ध

ऋषभदेव-अवतार, जड भरत-कथा, जड भरत-रहूगण-सम्वाद।

षष्ठ स्कन्ध

परीक्षित-प्रश्न, श्री शुक-उत्तर, अजामिलोद्धार, श्री गुरु-महिमा, सदाचार-शिक्षा (नहुष की कथा), इन्द्र-अहिल्या-कथा।

सप्तम स्कन्ध

श्री नृसिंह अवतार, भगवान् का श्री शिव को साहाय्य प्रदान, नारद-जन्म-कथा।

अष्ठम स्कन्ध

गज-मोचन-अवतार, कूर्म-अवतार, सुन्दउपसुन्द-वध, बामन-अवतार, मत्स्य-अवतार।

नवम स्कन्ध

राजा पुरुरवा का वैराग्य, च्यवन-ऋषि की कथा, हलधर-विवाह, राजा अम्बरीष की कथा, सौभरिऋषि की कथा, श्री गङ्गा-आगमन, श्री गङ्गा-पादोदक-स्तुति, परशुराम-अवतार, रामावतार, बालकाण्ड, अयोध्या-काण्ड, अरण्य-काण्ड, किष्किन्धा काण्ड, सुन्दर-काण्ड, लंका-काण्ड।

दशम स्कन्ध (पूर्वार्द्ध)

पूतना-वध, श्रीधर-अंग-भंग, कागासुर-वध, शकटासुर-वध, तृणावर्त-वध, नामकरण, अन्न-प्राशन, वर्षगाँठ, घुटुरुवों चलना, पाँवो चलना, बाल-छवि-वर्णन, कनछेदन, चन्द्र प्रस्ताव, कलेवा-वर्णन, क्रीडन, पाँडे-आगमन, शालिग्राम प्रसग, प्रथम-माखन-चोरी, उलूख-बन्धन, यमलार्जुन-उद्धार की दूसरी कथा, गौ-दोहन, वृन्दावन प्रस्ताव, गोचारण, वकासुर-वध, अघासुर-वध, ब्रह्मा द्वारा बालक-वत्स-हरण, बालवत्स-हरण की दूसरी लीला, धेनुक-वध, कालीदह-जलपान, ब्रज प्रवेश-शोभा, कमल-पुष्प मँगाना, कालिय-दमन-लीला, दावानल-पान-लीला, प्रलम्ब-वध, मुरली-स्तुति, गोपिका वचन, श्री राधाकृष्ण-मिलाप, सुख-विलास, गृह-गमन, राधिका जी का यशोदा-गृह-गमन, राधा-गृह-गमन, राधिका का पुनरागमन, चीर-हरण-लीला, दूसरी चीर-हरण-लीला, यज्ञ-पत्नी-लीला, यज्ञ-पत्नी-वचन, गोवर्धन-पूजा तथा गोवर्धन-धारण, गिरिधारण-लीला, गोवर्धन की दूसरी लीला, गोपादि का वार्तालाप, देव-स्तुति तथा कृष्णाभिषेक, इन्द्र-शरणागमन, वरुण से नन्द को छुड़ाना, रास-पञ्चाध्यायी आरम्भ, श्रीकृष्ण-विवाह-वर्णन, श्रीकृष्ण का अन्तर्धान होना, गोपी-गीत, रास-नृत्य तथा जल-क्रीडा, विद्याधर-शाप-मोचन, वृन्दावन-बिहार, शंख-चूड़-वध श्रीकृष्ण-ज्योंनार, गोपी-वचन, मुरली के प्रति, मुरली-वचन गोपियों के प्रति, गोपी-वचन परस्पर, श्रीकृष्ण का ब्रजागमन, वृषभासुर-वध, केशी-वध, व्योमासुर-वध, पनघट-लीला, दान-लीला, ग्रीष्म-लीला, यमुना-गमन, युगल-समागम लघु-मान-लीला, नैन-समय के पद, आँख समय के पद, मान-लीला तथा दम्पती विहार, खण्डिता प्रकरण, राधा का मान, राधा जी का मध्यम मान, सुखमा-गृह-गमन, सुखमा के घर सखियो का आगमन, वृन्दा-गृह-गमन, बृन्दा के धाम से प्रमुदा के धाम-गमन, बड़ी मान-लीला, दूसरी गुरुमान-लीला, झूलना, वसन्त-लीला, अक्रूर-ब्रज-आगमन, गोपि-काओं की उद्विग्नता, यशोदा-वचन श्रीकृष्ण के प्रति, यशोदा के प्रति नन्द-वचन, परस्पर गोपिका-वचन, यशोदा-विलाप, कृष्ण-वचन नन्द के प्रति, अक्रूर द्वारा कृष्ण की स्तुति, अक्रूर-प्रत्यागमन, श्रीकृष्ण का मथुरा-आगमन, रजक-वध धनुष-भंग-लीला, कुवलया-वध, हस्ती-बंध (संक्षिप्त), श्रीकृष्ण के मल्लों के प्रति वचन वसुदेव दर्शन, यज्ञोपवीत-उत्सव, नन्द-विदाई, नन्द ब्रजागमन, सखी वचन, यशोदा विलाप, ब्रजवासी वचन, आगत ग्वाल वचन, गोपी वचन, ब्रज-दशा, परस्पर नन्द-यशोदा-वचन, पंथी-वचन देवकी के प्रति, गोपी-विरह-वर्णन, स्वप्न-दर्शन, चन्द्रोपालम्भ, उद्धव-ब्रज-आगमन, श्याम-रंग पर तर्क यशोदा जी का सन्देश, उद्धव-आगमन, भ्रमरगीत संक्षेप, उद्धव प्रत्यागमन, श्रीकृष्ण का अक्रूर-गृह-गमन।

दशम-स्कन्ध (उत्तरार्द्ध)

काल-यवन-दहन, द्वारिका-प्रवेश, द्वारिका-शोभा, रुक्मिणी-पत्रिका-प्राप्ति, रुक्मिणी-विवाह की दूसरी लीला, प्रद्युम्न-जन्म, जाम्बवती और सत्यभामा का विवाह, शतधन्वा का वध, पञ्च-

पटरानी-विवाह, भौमासुर-वध तथा कल्पवृक्ष-अनायन, रुक्मिणी-परीक्षा, प्रद्युम्न-विवाह, अनिरुद्ध-विवाह, नृग का उद्धार, श्री बलभद्र का ब्रज-आगमन, पौन्ड्रक-वध, सदुक्षिणा-वध, द्विविध-वध, सांव-विवाह, नारद-सशय, जरासन्ध-वध, राजाओ की प्रार्थना-पाण्डव-यज्ञ, शिशुपाल-गति, पाण्डव-सभा, दुर्योधन का क्रोध, शाल्व वध, दन्तवक्र-वध, सुदामा-चरित, सक्षिप्त सुदामा-चरित, पथिक के प्रति ब्रज-नारी-वाक्य, कुरुक्षेत्र मे श्रीकृष्ण, यशोमती, गोपी-मिलन, श्रीकृष्ण का कुरुक्षेत्र आगमन, रुक्मिणी-प्रश्न, देवकी-पुत्र-आनयन, वेद-स्तुति, नारद-स्तुति, सुभद्रा-विवाह, जनक-श्रुत-देव और श्रीकृष्ण-मिलाप, भस्मासुर-वध, भृगु-परीक्षा, अर्जुन को निजरूप दिखाना तथा शख-चूडपुत्र-आनयन ।

एकादश स्कन्ध

नारायण-अवतार, हंस-अवतार

द्वादश स्कन्ध

बुद्ध-अवतार-वर्णन, कल्कि-अवतार-वर्णन, राजा परीक्षित-हरि-पद प्राप्ति, जन्मेजय कथा—परिशिष्ट (१) परिशिष्ट (२)

इन दोनों भागो में दिये हुए पदो की संख्या ४९३६ है और दोनो परिशिष्टो मे २०३ +२७०=४७३ पद हैं। इस प्रकार कुल पदो की सख्या ५४०९ है। सम्पादक की दृष्टि से परिशिष्ट-गत पद संदिग्ध हैं।

वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से सं० १९८० में प्रकाशित द्वादश स्कन्धात्मक 'सूरसागर' मे ४०३२ पद बताये जाते हैं किन्तु यह सख्या निर्भ्रान्त नही कही जा सकती क्योंकि इस प्रति मे कई स्थलों पर गणना मे हेर-फेर हो गया है। कई पद गणना मे सम्मिलत ही नही किये गये हैं और इसी प्रकार कई स्थानों पर बिना पदों के ही सख्या बढ़ा दी गई है, उदाहरणार्थ दशमस्कन्ध में ६००वें पद के पश्चात् १७७वें पृष्ठ के ८ पद संख्या मे जोडे ही नही गये है और फिर धनाश्री राग के ७३ पदों को जोड़कर सख्या ६७३ मान ली गई है। पृष्ठ २९९ पर पद संख्या ९८ के पश्चात् एक पद तथा पृष्ठ ३१० की पद संख्या १७०० के पश्चात् पृष्ठ ३४१ की पद सख्या १ तक के लगभग ३०० पद मानकर संख्या मे नही जोडे गये। कही एक ही राग के अन्तर्गत आये हुए छन्दों को कई पद मानकर संख्या मे जोड लिया गया है और कही सम्पूर्ण राग को एक ही पद गिन लिया गया है। अस्तु, पुष्टि सम्प्रदाय की सेवा प्रणाली के रूप मे प्रचलित सेवाविधि के दो क्रम हैं—१—प्रातःकाल से शयन पर्यन्त की नित्य सेवा-विधि और २—वर्षोत्सव की सेवा-विधि। नित्य सेवा-विधि में वात्सल्य-भक्ति का उद्रेक परनिष्ठत है। इस सेवा के आठ समय निश्चित किये गये हैं; मंगला, शृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, संध्याकालीन आरती एव शयन।

वर्षोत्सव की सेवा-विधि मे श्रीकृष्ण के नित्य और अववार-लीलाओ के उत्सव, षड् ऋतुओं के उत्सव, लोक-व्यवहार और वैदिक पर्वो के उत्सव तथा अवतारो की जयन्तियाँ सम्मिलित है। नित्य और वर्षोत्सव दोनों प्रकार की सेवा विधियों के तीन अग मुख्य है—शृगार, भोग और राग। सूर का अधिकांश काव्य नित्य और वर्षोत्सव के कीर्तन-रूप में ही है।

वर्षोत्सव का क्रम :

जन्माष्टमी से—बधाई, छठी, पलना, ढाढी, दसौधी, मास-दिना, अन्न-प्राशन, कर्णवेध, नामकरण, मृत्तिका-भक्षण, करवट, ऊखल, बाल-लीला (पूतना-वध, सकटासुर, वक, तृणावर्त, दावानल कालिय-दमन आदि), चन्द्रावली जू की बधाई, ललिता की बधाई, राधिका जी की बधाई, राधिका जी की ढाढी, राधिका जी कौ पलना, राधिका जी की बाल-लीला, बल नागरी, दान, साझी, नव-

विलास, देवी-पूजन, मुरली, करखा, दशहरा, रास, मान, पौढना, धनतेरस, रूप चौदस, दिवारी, गाय-खिलाइबौ, कान जगायबौ, हठरी अन्नकूट, गोवर्धन-पूजा, भाई-दोज, इन्द्रमान भग, गोचारण, देव-प्रबोधिनी याह, मान, मकर-संक्राति; होरी और धमार, पाटोच्छव-सवत्सर, गनगौर, जमना जी की वधाई, शृङ्गार, ब्यारू चन्दन, नरसिंह चतुर्दशी, नाव के पद, गंगादशमी, स्नान यात्रा, रथ-यात्रा, मल्हार कसूमी, छट, घटा, चूनरी लहरियाँ, हिंडोरा पवित्रा, कूल्हे ।

पुष्टि-सम्प्रदाय मे इस वर्षोत्सव के क्रम के साथ-साथ ही नित्य-कीर्तन का क्रम भी चलता था। इसलिए सूर आदि आठो सखा नित्य कीर्तन के पदों की रचना किया करते थे । नित्य-कीर्तन का क्रम निम्नलिखित है :

वन्दना (महाप्रभु जी की, गोसाई जी की, यमुना जी के पद, गगा जी के पद), जगाइबे के पद, मगला आरती, नहवाइबे के पद, खण्डिता ।।१।। बहार, व्रत-चर्या, हिलग(स्नान का प्रथम स्वरूप) दधि-मन्थन, शृङ्गार, पनघट ।।२।। ग्वाल, फल-फलादि के पद, गोदोहन के पद, धैय्या के पद, माखन चोरी, उलाहना, पालना ।।३।। भोजन बोलाइवो, शीतकाल के भाजन, ब्रज भक्तन के यहाँ भोजन, भोग सरावना, वीरी राजभोग ।।४।। छाक, कुञ्ज, मानकुञ्ज, उष्ण काल के पद, नाव के पद, खसखाने के पद, मानसागर उत्थापन ।।५।। भोग, गाय बुलाइबे के, आवनी के, मान के, ।।६।। आरती ।।७।। शृङ्गार उतारने के, साँध समय भैया, मिस के पद, बयारू, दूध, बीरी, शयन-समय के मान छुटिवे के, मान मिलाइवे के, पोढ़वे के ।।८।।

इस आठों समय की नित्य-सेवा से क्रम का आधार लेकर अष्ट-छाप के कवियों ने अगणित पद रचे। पद-रचना का क्रम उनके जीवन-पर्यन्त चलता रहा, अतएव यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इन महात्माओं ने कितने विशाल साहित्य का सृजन किया होगा, जिसमे से बहुत कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो गया होगा और कुछ प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों के रूप में सुरक्षित रहते हुए भी अप्राप्य है। साहित्य सृजन की यह गति-विधि केवल इन कवियों तक ही सीमित नही थी, अपितु प्रत्येक कवि के साथ आठ-आठ झालरिया भी रहते थे, जो 'टेक' उठाने का काम करते थे। वे स्वयं भी अच्छे कवि होते थे और सुन्दर पदों की रचना भी किया करते थे। अपने पदों मे अपने प्रधान गायक की ही छाप लगा दिया करते थे। स्वयं सूरदास के आठ झालरिया थे, जो सूर के अंग कहलाते थे। उनके नाम इस प्रकार बताये जाते हैं :—तानसेन अलीखान, जगन्नाथ कविराय, हरिनारायण श्यामदास, मुरारिदास मुकुन्ददास, जयभगवान् और कृष्ण जीवन लक्ष्मीराम ।

इस व्यवस्था के कारण सूर के वास्तविक पदों को निकालना दुस्तर कार्य है और यथा रूप प्राप्त सामग्री पर हमें सन्तोष करना पड़ता है। वर्षोत्सव और नित्य-कीर्तन के पदक्रम के आधार पर दोनों प्रकार की प्रतियों (संग्रहात्मक और द्वादश स्कन्धात्मक) का अध्ययन करने पर हम इस निश्चय पर पहुँचते है :

१—वर्षोत्सव तथा नित्य-कीर्तन के कई महत्वपूर्ण अगों पर सूरदास जी के पद किसी प्रति में या तो मिलते ही नही या एक-आध की ही संख्या मे प्राप्त होते है, जिससे स्पष्ट होता है कि सूरदास जी का बहुत-सा साहित्य अतीत के अन्धकार में विलीन है।

२—नित्य-कीर्तन और वर्षोत्सम के क्रम पूर्णरूपेण संग्रहात्मक अथवा द्वादशस्कन्धात्मक किसी प्रति मे नहीं दीख पड़ते। सग्रहात्मक प्रतियों मे यथाकथञ्चित् यदि वह क्रम मान भी लिया जाय तो द्वादशस्कन्धात्मक प्रतियों मे तो उनकी संगति बैठती ही नही। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों ही प्रतियो का सङ्कलन सूरदास जी के बहुत दिन पश्चात् हुआ होगा।

संग्रहात्मक प्रतियो का सङ्कलन लीलापरक माना जा सकता है। लखनऊ वाली प्रति में तो 'सूर-सारावली' तथा नित्य-कीर्तन के पद भी दिये है किन्तु अन्य संग्रहात्मक प्रतियों में ये दोनों प्रकरण नही पाये जाते। स्थूल रूप में संग्रहात्मक प्रतियों के शीर्षक इस प्रकार है :

भगवान् कृष्ण की बधाई और उनकी बाल-लीला, व्रज की अन्य लीलायें, मुरली, रास-लीला, मथुरा-गमन लीला, विरद पदावली, नृसिह, वामन और राम की जयन्तियाँ एवं विनय के पद। लखनऊ वाली प्रति मे विनय के पद मथुरा-गमन लीला से पहले दिये हैं। नृसिह जयन्ती सप्तम स्कन्ध मे वामन-जयन्ती अष्टम मे तथा राम जयन्ती नवम स्कन्ध में दी है और लीला के पद दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध मे दिये गये है। इस प्रकार संग्रहात्मक प्रतियो की तुलना मे हम सप्तम, अष्ठम, नवम स्कन्ध के पद एव दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध को रख सकते है। दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से हम स्वतः इस निर्णय पर पहुँच जाते हैं कि इन द्वादशस्कन्धात्मक प्रतियों का संकलन सग्रहात्मक प्रतियों के पश्चात् ही हुआ होगा। अनुसंधान-क्रम मे उपलब्ध हुई हस्तलिखित प्रतियाँ हमारे उक्त निर्णय को और भी दृढ़ कर देती है। परन्तु यह संकलन कब और किसने किया ? इस प्रश्न का उत्तर निश्चित रूप मे नही मिलता।

———

तृतीय अध्याय

सूर-साहित्य की पृष्ठ-भूमि

महाकवि सूरदास के साहित्य-महोदधि का मन्थन वास्तव मे अत्यन्त दुस्तर कार्य है। विभिन्न युगों के अभेद्य-स्तरों के बीच से मन्द-मन्द किन्तु अव्याहत गति से बहती हुई अनेक दिशाओ में उल्टी-सीधी बहकर आने वाली विविध विचार-धाराओं को आत्मसात् करती हुई, भिन्न-भिन्न सप्रदायों की सिद्धान्त-सार-सुधा से प्राणियों के अन्तःकरण को तृप्त करती हुई भारतीय-साधना की मन्दाकिनी ने इस 'सागर' को ऐसा लबालब भर दिया है कि उनमें मग्न होकर भी तह तक पहुँचना सरल कार्य नही है। 'सूर-साहित्य' की पृष्ठ-भूमि भारत के मध्यकालीन युग का इतिहास है, जिसमे वह महान् और व्यापक आन्दोलन अन्तर्हित है, जिसने ऐसी अनेक भावनाओं को जन्म दिया, जो एक ओर तो मानवता के क्षेत्र को विस्तृत करने वाली हैं तथा दूसरी ओर अनेक सकीर्णताओं को उत्पन्न करती है। इस आन्दोलन का समुचित रूप से व्यवस्थित इतिहास उपलब्ध न होने के कारण अनेक भ्रान्त धारणाओं का प्रचार होता रहा है। भारतीय इतिहास मे तो यह 'मध्यकालीन' शब्द नया-सा ही है परन्तु यूरोपीय इतिहास मे Medival Period सन् ४७६ से सन् १५५३ तक माना जाता है। इस काल मे समाज मे कुछ ऐसी प्रवृत्तियों का उदय हो गया था, जिनके कारण उत्तरोत्तर अन्धविश्वास का विकास और तथ्य-जिज्ञासा ह्रास होता गया। केवल यूरोप मे ही नहीं, विश्व के समस्त देशो मे—समस्त सम्प्रदायों और समाजों मे—इस मनोवृत्ति का महान् प्रभाव पडा था, जिसने इतिहास का स्वरूप ही परिवर्तित कर दिया, फिर भारत इसका अपवाद कैसे रह जाता? भारतवर्ष के गुप्त-युग को इतिहाकारों ने स्वर्ण-युग का नाम दिया ही है किन्तु खेद है कि दूसरी एवं तीसरी शताब्दियो के उत्कर्ष के बहुत कम चिन्हावशेष आज प्राप्त है, जिससे अनेक यूरोपीय विद्वानों ने भ्रम-वश इस युग को "अन्धकार-युग" घोषित कर डाला। वस्तुतः यह नामकरण तर्कसगत नही है, क्योकि इस काल मे धर्म, दर्शन, नीति और साहित्य-विषयक अनेक ग्रन्थों की रचना हुई तथा अनेक ऐसे सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने परवर्ती भारतवर्ष को कई रूपों मे प्रभावित किया। सन् ३२० मे गुप्त-साम्राज्य की स्थापना के साथ भारतीय इतिहास मे और भी अधिक स्फूर्ति का युग आया, सस्कृति-भाषा ने नई शक्ति प्राप्त कीं और समूचे देश में एक नवीन प्रकार की जातीयता की लहर दौड़ गई। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे ऐसी क्रान्ति हुई कि हमारे सोचने-विचारने, रहने-सहने, देखने-सुनने का ढंग ही बदल गया और ऐसा बदला कि आज भी उसका प्रभाव हमारे धर्म, दर्शन, समाज, आचार-विचार और रीति-रिवाज पर स्पष्ट लक्षित होता है। बहुत से पुराण और स्मृतियो की रचना भी सम्भवतः इसी युग में हुई थी।

छठी शताब्दी मे भारत में उस युग का सूत्रपात हुआ, जिसे हम यूरोपिय ऐतिहासिकों की परिभापा में 'मध्य-युग' कह सकते है। इस काल की धर्म साधना अनेक प्रभावों का समन्वित रूप कही जा सकती है। छठी शताब्दी से ११-१२वी शताब्दी तक का साहित्य बड़ा व्यापक है परन्तु इसमें साम्प्रदायिकता की पूरी-पूरी छाप है। जहाँ एक ओर बौद्धों और जैनों का अपने-अपने अस्तित्व के लिए भरसक प्रयास है, वहाँ दूसरी ओर ऐसे तत्वों का भी अभाव नही, जिनका परिपाक अन्ततोगत्वा ध्वंसात्मक ही होता है। वैष्णव सम्प्रदाय मे भी यत्र-तत्र

इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार होता है। इस विविध-मत-मतान्तरों के झमेले में पड़ कर राजनीति की भी ऐसी दुर्दशा हुई कि उसका रूप तो विकृत हुआ ही, स्वतन्त्र रूप से पृथक् चला आता हुआ व्यक्तित्व भी समाप्त प्रायः हो गया और वह साम्प्रदायिकता के हाथों मे खेलने लगी। इस काल में एक ऐसी परम्परा-सी चली, जिसका आधार वैदिक और अवैदिक भावनाओं के मूल में केन्द्रित हुआ, परन्तु जहाँ पर अवैदिक सम्प्रदायों मे वृद्धि हुई वहाँ वेद को ही अन्तिम प्रमाण मानने वाले धर्म-मतो और दार्शनिक सम्प्रदायों की संख्या भी एक-दो ही नहीं रही मत-वैभिन्य तथा विश्वास-वैचित्र्य होते हुए भी विभिन्न सम्प्रदाय अपने आपको श्रुत-सम्मत मानते थे। जिस प्रकार अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत, अचिन्त्यभेदाभेद आदि अनेक परस्पर विरोधी मत श्रुति को ही अपनी आधार-शिला बतलाते हैं, उसी प्रकार, शैव, शाक्त पाशुपत, गाणपत्य, सौर आदि सम्प्रदाय भी भी अपने आपको वेद-विदित कहते हैं। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर सोलहवी शताब्दी तक के युग को मध्यकालीन युग का उत्तरार्द्ध कहा जा सकता है। यह युग समन्वय की भावनाओं को लेकर चला। एक ओर तो सगुणधारा के भक्तकवियों ने विभिन्न वैष्णव-सम्प्रदायों के पारस्परिक वैमनस्य को दूर कर शैव, शाक्त आदि अन्य सम्प्रदायों से भी सम्बन्ध जोडा, दूसरी ओर सन्त कवियों ने अपनी अन्तःसाधना के बल पर मानव मात्र की शाश्वत् वृत्तियों का सपरिष्कार उद्रेक कर ऐहिकता की भर्त्सना की और निर्जीव हृदय मे ऐसी चेतना भरी, जिससे निराशा के मेघ हट गये और आशा की सुनहली रश्मियों का आलोक बिखर गया। इन कवियों का व्यक्तित्व ही समन्वयात्मकता की आधार भूमि पर खडा था। अक्खड़ता की परिधि को छूता हुआ आत्मगौरव, दीनता के अङ्क में क्रीडा करती हुई नम्रता, संसार के कठोरतम संघर्ष से जूझने की प्रस्तरतुल्य दृढता के साथ अपनी निरीहता पर नवनीत सम पिघलने वाली कोमलता सबका समन्वय वास्तव में आश्चर्य उत्पन्न करने वाला है। जनता के हृदय का वास्तविक प्रतिनिधित्व करने वाले इन कवियों ने उनके मनोभावों को ऊँचा उठाने में निःसन्देह भगीरथ प्रयत्न किया। तेरहवी शताब्दी के अनन्तर इन सन्त भक्तों ने उत्तरी भारत मे अपना प्रचार-कार्य प्रारम्भ किया और समाज की परिस्थितियों के अनुकूल १७ वी शताब्दी तक विभिन्न प्रकार से समाज की सेवा करते रहे। हिन्दी साहित्य के इतिहास मे इस काल को भक्ति-काल की संज्ञा दी है। पाश्चात्य विद्वानों ने इस युग को भक्ति का विशिष्ट युग माना है। डा० ग्रियर्सन ने इस आन्दोलन के विषय में लिखा है कि यह आन्दोलन बिजली की चमक के समान सारे भारत मे फैल गया। डा० ग्रियर्सन ने इस आन्दोलन का सम्बन्ध मध्य युग के मर्मी ईसाइयों से लगाया है और उसे ईसाइयत की देन बताया है।[1] डा० ग्रियर्सन का यह कथन स्वाभाविक ही है, क्योंकि पाश्चात्य विद्वानों की प्रायः यह परम्परा रही है कि जो कुछ भी वे भारत मे स्पृहणीय देखते है, उसका सम्बन्ध यूरोप से अवश्य जोड़ते हैं। इसे उनके अहम्मन्यता अथवा विकृत देश-भक्ति ही कहा जा सकता है, अस्तु इसमें सन्देह नही कि मध्य-युग के इतिहास में यह आन्दोलन बेजोड़ कहा जा सकता है। यह आन्दोलन उत्तरोत्तर जोर पकडता गया और पन्द्रहवी सोलहवी शताब्दी मे यह प्रवाह सिमट कर ब्रजभूमि मे प्रवाहित होने लगा तथा मानव मात्र के मन के मैल को काट कर अनिर्वचनीय आनन्द का प्रसार करने लगा। अतएव डा० ग्रियर्सन का यह कथन कि अकस्मात् विद्युत्-लेख के समान यह आन्दोलन देश के एक छोर से दूसरे छोर तक फैल गया, सत्य-सा ही है। ऐतिहासिक

1 Modern Hinduism and it's Debt to the Nestorions (ले० डा० ग्रियर्सन) Journal of Royal Asiatic Society मे सगृहीत।

दृष्टि से इस युग को हम भारतीय संस्कृति की पराजय का युग भले ही मानलें परन्तु मानव-सस्कृति की दृष्टि से इसके महत्व की उपेक्षा नही कर सकते, क्योकि इस युग मे विभिन्न संस्कृतियो और धार्मिक साधनाओ का मानवता के धरातल पर समन्वय हुआ। इस विषय पर आचार्य क्षितिमोहन सेन की, 'भारतीय मध्य-युगीन-साधना', डी० सी० सेन का 'बंगभाषा और साहित्य' पाश्चात्य विद्वान् कर्न (Kern) का Mannual of Budhism तथा डा० ग्रियर्सन, कीथ आदि के लेख पठनीय हैं।

इस भक्ति-आन्दोलन के सूक्ष्म-अध्ययन से हमें वे सारे प्रभाव लक्षित हो जाते है, जो उसके मूल में हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी तथा भक्तकवि सूरदास इस युग के सामञ्जस्यवादी प्रतिनिधि कवि माने जाते है। गो० तुलसीदास ने समाज के धरातल पर मानवता का उद्घाटन किया तो सूरदास ने व्यक्तिगत साधना को महत्व देकर मानव-हृदय के चिरन्तन समान भावो का स्पर्श किया। यही कारण है कि इस आन्दोलन की प्रेरणाओं का जितना स्फुट प्रतिबिम्ब तुलसी के काव्य में लक्षित होता है, उतना सूर की कृतियों में नही। पुष्टि-सम्प्रदाय के विवेचन मे हम बतलायेंगे कि किस प्रकार इस सम्प्रदाय के आचार्यो ने लौकिक वासनाओं और ऐहिक ऐषणाओं को परब्रह्म-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण में लगाकर उन्हे पवित्र बनाने का विधान रखा था। संसार में संघर्ष से दूर, कल-कल ध्वनि से कूलस्थ कुञ्जों को निनादित करने वाली कालिन्दी के सुरम्य तट पर, करीर के कुजों मे, मन्द पवन से आन्दोलित बल्लरियों के झुरमुटों में उठती हुई ध्वनि को सुनकर, कृष्ण और राधा की कलि-केलि का साक्षात्कार करते हुए अन्धे सूरदास केवल समाज को ही नहीं, अपने अस्तित्व को भी भूल जाते थे; स्वयं राधाकृष्णमय हो जाते थे; संसार मे उन्हे अपने आराध्य युगल का ही रूप दीख पड़ता था। कबीर का 'फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना' वाला वाक्य चरितार्थ हो गया। यही कारण है कि सूर के वाक्य मे सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव उतना नहीं दीख पडता, जितना तुलसी के काव्य में। फिर भी उसका सर्वथा अभाव नही है। सूरदास जी के साहित्य का अध्ययन करने के लिये जहाँ हमें भक्ति-आन्दोलन की धार्मिक पृष्ठ-भूमि का ज्ञान अपेक्षित है, वहाँ तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों की जानकारी भी उपेक्षणीय नही। १५वी और १६वी शताब्दी में भक्ति का जो समन्वित रूप जनता के समक्ष प्रस्तुत हुआ, वह अनेक प्रभावों का फल कहा जा सकता है।

वैदिक काल से चली आती हुई भक्ति की यह अजस्र धारा, जो उपनिषदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, स्मृतियों और पुराणों के मार्ग से बहती हुई अपना रूप और मार्ग बदल चुकी थी, इस भक्ति आन्दोलन के महाप्रवाह मे विलीन हो गई। बौद्धों और जैनों की वह धर्मसाधना, जो अहिंसा को परमधर्म मानकर चली थी, मायिक जंजालों में फँसकर अपने मूलस्वरूप को विस्मृत कर चुकी थी। बौद्धो ने तो प्रतिहिंसा के रूप मे हिंसा-वृत्ति को भी अपना लिया था। धर्म-साधना के इस विकृत-रूप का भी भक्ति-आन्दोलन पर विशेष प्रभाव पड़ा।

इसके अतिरिक्त सबसे अधिक प्रभाव इस आन्दोलन पर दक्षिण के उन आडवार भक्तों का पड़ा, जिनकी भक्ति-भावना सच्चे हृदय की प्रतीक थी और जो लोकगीतों और ग्रामीण भजनों मे प्रस्फुटित होती हुई दक्षिण प्रान्त के दिग्गज आचार्यो के सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का मूल कारण बनी। हम पहले कह चुके हैं कि शैव, शाक्त, पाशुपात, गाणपत्य, सौर आदि सम्प्रदाय भी अपने को वेद-विहित ही मानते थे और अपना मूल वेदों से ही सिद्ध करते थे। इन सम्प्रदायों का भी भक्ति-आन्दोलन पर पर्याप्त-प्रभाव पडा है। इन सबसे बढ़कर नाथ-योगी-सम्प्रदाय, जो अपने को शैव सिद्ध करता है और इस सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक आदिनाथ को शिव से अभिन्न मानकर उसका

सम्बन्ध ऋग्वेद से स्थापित करता है, इस भक्ति-आन्दोलन की पृष्ठ-भूमि में महत्वपूर्ण स्थान रखने वाला है। इन भारतीय सम्प्रदायो और मत-मतान्तरो के अतिरिक्त मुसलमानों—विशेषकर सूफियो की वह एकान्त प्रेम-साधना, जो ज्ञान और उपासना का समन्वय उपस्थित करती हुई सच्चे हृदय की प्रेरणा के रूप मे हमारे सामने आई, भारतीय धर्म-साधना को प्रभावित कर रही थी। इन विभिन्न प्रवाहों को आत्मसात् करता हुआ भक्ति का वह विपुल प्रवाह १६वी शताब्दी तक इतना विशाल और अतलस्पर्शी हुआ कि इसमे सारा समाज आकण्ठ निमग्न हो गया।

वैष्णव-सम्प्रदायों का विवेचन तो हम अगले अध्याय मे करेंगे, यहाँ हम संक्षेप से भक्ति-आन्दोलन की पृष्ठ-भूमि को प्रस्तुत करते है।

प्राचीन वैदिक वाङ्मय के अध्ययन से ज्ञात होता है कि हमारे पूर्वजों का जीवन अत्यन्त सरल और भक्ति-मार्ग सब प्रकार के आडम्बरो से शून्य था। उनका रहन-सहन बहुत सीधा-सादा था। ब्रह्म का कोई एक स्वरूप उनके सम्मुख नही था। प्राकृतिक शक्तियो के साक्षात्कार से उनमें कुछ आस्था हुई, और उन्होंने अपने भय को प्रेम का रूप दे दिया। हृदय की इसी रसात्मक अनुभूति को उन्होंने भक्ति का नाम दिया। उनकी पूजा भय और लोभ की प्रेरणा से न होकर प्रेम भावना से होती थी। कुछ असभ्य जातियों में यह पूजा आज भी भय और लोभ के कारण होती है और उनमें ग्राम-देवता, कुल-देवता आदि की कल्पना भी पाई जाती है। यहूदी जाति की एक शाखा का कुल-देवता यह्वा (Yehova) था, जिसे इसराइल के वश वाले बलि चढाया करते थे। हजरत मूसा ने इसी यह्वा देवता को सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ माना, पर वेदों मे हृदय-पक्ष को महत्व देकर सम्पूर्ण जगत् मे कार्य करने वाली प्राकृतिक शक्तियों को देवरूप मे ग्रहण किया गया। उस समय उपास्य देव का कोई एक स्वरूप नही था। एक ही ब्रह्म के अनेक रूप थे और इस ब्रह्मवाद अर्थात् Moneism की भावना का ही प्रसार था। लोभ और भय से उपासना करने वालों की भावना ऐकेश्वरवाद या मोनीथीइज्म (Monetheism) की थी। वैदिक काल मे तो एक ही ब्रह्म के अग्नि, वायु, वरुण आदि नानारूप माने जा चुके थे। उपनिषदों मे इसी भावना का विशेष रूप से विवरण मिलता है। 'सर्व खल्विद ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'तत्वमसि' आदि वाक्य इसी भावना के द्योतक हैं। जिस प्रकार यहूदी जाति के यह्वा देवता ने ईश्वर का रूप धारण किया था, उसी प्रकार काबुल की प्राचीन खाल्दी (Chaldeans) जाति का मर्दुक नामक देवता एकेश्वर-भावना प्रतीक था। ऋग्वेद मे हमे दोनों प्रकार की भावनाओं के संकेत मिलते है, परन्तु प्रधानता प्रेम-परक भावना की ही है। आगे चलकर इस भवित-भावना में यज्ञों का भी समावेश हो गया किन्तु इस भावना के साथ भक्ति का क्षेत्र कुछ संकुचित हुआ और उन सर्वव्यापक शक्तियों के अधिष्ठातृ-देवताओं की भावना नर-रूप मे होने लगी। ऋग्वेद के 'पुरुष-सूक्त' मे इस भावना की ओर भी संकेत है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस नराकार भावना अर्थात् Anthropomorphic को कुछ विस्तार मिला और परमेश्वर मे सगुणत्व का आरोप हुआ। अब तक ब्रह्म की उपासना अन्न, प्राण, मन, ज्ञान और आनन्द रूपों से होती थी, जैसा कि तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली मे आया है, 'अन्न ब्रह्मेति व्याजानात्", "प्राणः ब्रह्मेति व्याजानात्", मनो ब्रह्मेति व्याजानात्", "आनन्दो ब्रह्मेति व्याजानात्", अर्थात् भीतर और बाहर ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार किया गया था। उपनिषद् काल में यज्ञों को प्रधानता देकर एक ओर तो हृदय-पक्ष को प्रबल किया गया है, और दूसरी ओर केवल बुद्धि और ज्ञान का विषय ब्रह्म को मानकर यज्ञादि विधानों से निवृत्ति बताई गई है। इस प्रकार उपनिषदों में हमे दोनों प्रकार के वाक्य मिलते है, जैसा कि इन वाक्यो से पता चलता है :

१—द्वेवा ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तञ्चैवामूर्त्तञ्च, मर्त्यञ्चामृतञ्च, स्थितञ्च यच्च, सच्च त्यच्च ।[1]

२—तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।[2]

३—अणोरणीयान् महतो महीयान् ।[3]

उपनिषत्काल मे एकेश्वरवाद की भावना का हमें आभास मिलता है, जैसा कि मैत्रायणी उपनिषद् में लिखा है—"त्वं ब्रह्मा त्वञ्च वै विष्णुः त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिः । त्वमग्निर्वरुणो वायुस्त्वमिन्द्रस्त्व निशाकरः ॥" इत्यादि । यह भावना पैगम्बरी एकेश्वरवाद की भावना से मिलती-जुलती है । उपनिषत्काल मे ज्ञान और उपासना दोनो ही रूपों में सुधार हुआ और कर्म के साथ मन का योग किया गया । यज्ञ-विद्या को भी नई दिशा दी गई और ज्ञान-यज्ञ द्रव्य-यज्ञ से श्रेष्ठ माना गया । छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार घोराङ्गिरस ऋषि ने देवकी-पुत्र कृष्ण को वह यज्ञ-विद्या बताई थी । इसका संकेत गीता मे भी है :

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञात् ज्ञानयज्ञात् परन्तप ।

यह सम्भवतः विच्छृङ्खल द्रव्य-यज्ञ-परम्परा के सुधार का प्रयास हो, क्योकि लोक-मंगल की भावना का समावेश हमे यहीं से उपासना के साथ लगा मिलता है, उपास्य देव के स्वरूप कल्पित किये गये और लोक-कल्याण-पक्ष को लेकर उस सर्व-गुण-सम्पन्न देव के अनुकरण को महत्व दिया गया । महाभारत के शान्तिपर्व मे नारायणीयोपाख्यान आया है, जिसमे इस धर्म का महत्व स्वीकार किया गया है । महाभारत-काल में नारायण का एक निश्चित रूप माना गया था । आगे चलकर यह भावना और भी दृढ़ हुई, विशेषकर सात्वत-सम्प्रदाय से इस भावना को विशेष बल मिला । महाभारत-काल से पूर्व हमे ऐसे प्रमाण नही मिलते, जिनके आधार पर यह समझा जा सके कि नारायण का कोई व्यवस्थित उपास्य रूप प्रचलित था । श्रीमद्भगवद्गीता में जो महाभारत ही का एक अंग है, इस कल्पना को सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप दिया गया और भगवान् के उस स्वरूप मे शक्ति, शील, सौदर्य, ऐश्वर्य आदि सब का समन्वय किया गया । इस ग्रन्थ में केवल नारायण अथवा विष्णु के स्वरूप को कृष्ण रूप मे मानकर उपास्य माना गया है । सम्भवतः इस भावना को बल पकड़ते हुए देखकर ब्रह्मा के अन्य रूपों को भी लेकर अनेक ग्रन्थ रचे गये, जो विभिन्न पुराणों के नाम से अभिहित किये गये हैं । इसी समय अवतार-भावना को प्रश्रय मिलने के कारण भगवान् के २४ अवतारों की कल्पना की गई तथा धार्मिक क्षेत्र में समन्वय के उद्देश्य से सभी पुराणों को एक ही व्यक्ति की रचना सिद्ध किया गया । निवृत्ति-मार्ग की व्याख्या बादरायण सूत्रो में समन्वयात्मक रूप से की गई । इन सब प्रयत्नों के किए जाने पर भी यज्ञों के विधान में अनेक बुराइयाँ आ गई थी, पशु-बलि भी उनका एक आवश्यक अंग बन गया था, जिसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप बौद्धमत और जैन-मत का सूत्रपात, प्रचार एवं विकास हुआ, जिसका मूल आधार अहिंसा की भावना रही । कुछ विद्वानों के मत हैं कि गीता आदिग्रन्थों का सम्पादन ही बौद्ध-मत की प्रतिक्रिया के कारण हुआ । कुछ भी सही, यह एक प्रत्यक्ष-तथ्य है कि पुराणोत्तर-काल भारतीय-भक्ति-साधना के क्षेत्र में घात-प्रतिघातों का—सांस्कृतिक संघर्ष का—युग रहा और बौद्ध एवं जैन-मत का इस पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा । ईसा-पूर्व छठी शताब्दी से लेकर ईसा की तीसरी शताब्दी तक भारतवर्ष में बौद्ध-मत का पूर्ण साम्राज्य

१ बृहदारण्यक ।

२ ईशावास्योपनिषद् ।

३ श्वेताश्वेतरोपनिषद् ।

रहा; ब्राह्मण-धर्म ने पुनरुत्थान के लिये यथाशक्ति प्रयत्न किया किन्तु कोई विशेष सफलता न मिल सकी। गुप्त वशीय सम्राटों की छत्र-छाया मे ब्राह्मण-धर्म ने पुन: जोर मारा, वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा हुई किन्तु इस समय तक इस धर्म के रीति-रिवाजो पर बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रभाव पड चुका था किन्तु यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि वैदिक धर्म की जिन बुराइयो की प्रतिक्रिया मे बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ था, उनमे से अनेक बुराइयाँ इस काल तक इस धर्म मे भी प्रवेश कर चुकी थी। ईसा की तीसरी शताब्दी से १५ वी शताब्दी तक यह भक्ति-आन्दोलन प्रबल वेग से बढता रहा. इसी को मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन कहा जाता है। इस युग का सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ श्रीमद्‌भागवत है, जो अब तक भी वैष्णव-भक्ति-भावना पर अतुल प्रभाव डाल रहा है, अधिकांश पुराणों की रचना का समय भी ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से लेकर ईसा की छठी शताब्दी-पर्यन्त माना जाता है इसलिये इस युग को इतिहासकार 'पौराणिक युग' भी कहते है। इस युग मे वैदिक धर्म के पुनरुद्धार का अथक प्रयास किया गया और बौद्ध तथा जैन-धर्म के प्रभाव मे आकर प्राकृतिक वस्तुओ के प्रतीक देवताओं की सृष्टि हुई। तीर्थंकरों और बोधि-सत्वों के अनुकरण पर भगवान् के विभिन्न अवतारों की कल्पना की गई तथा भिन्न-भिन्न देव-ताओं की मूर्तियों का निर्माण हुआ। इतना ही नही, इस उपासना-पद्धति में तान्त्रिक प्रणाली का भी समावेश हुआ और योगसाधना के भी कतिपय तत्व स्वीकार किये गये। भक्ति-सिद्धान्तों के निरूपण के लिये प्राकृत और पाली के स्थान मे संस्कृत का आश्रय लिया गया; अनेक सम्प्रदायो का जन्म हुआ और सबने अपने काल्पनिक सिद्धान्तों के आधार पर उन मूल ग्रन्थों पर अनेक टीकाएँ लिखकर अपनी-अपनी मान्यताओं से उनका सामञ्जस्य स्थापित किया।

इन सम्प्रदायों में मुख्य रूप से चार-पाँच सम्प्रदाय उल्लेखनीय है :

१ अद्वैत—प्रवर्तक शंकराचार्य,
२ विशिष्टाद्वैत—प्रवर्तक रामानुजाचार्य,
३ द्वैत—प्रवर्तक मध्वाचार्य,
४ शुद्धाद्वैत—प्रवर्तक वल्लभाचार्य,
५ चिन्त्याचिन्त्य—प्रवर्तक (गौरङ्ग महाप्रभु)

ये सम्प्रदाय दक्षिणी आचार्यो की देन कहे जाते है। आगे हम इस बात की विवेचना करेंगे कि दक्षिण के आचार्यो ने उत्तरी भारत के भक्ति आन्दोलन में कितना और कैसा योग दिया ? इस विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि जो भक्ति-साधना से पहले सीधे-सादे स्तुति-गान और पशु-बलि से प्रारम्भ हुई थी, उसमें उत्तरोत्तर भेद की भावना दृढ़ होती गई और अभेद की भावना का ह्रास चलता रहा। इस विविधता का परिणाम यह हुआ कि अनेक प्रकार के वर्ग, फिर्के और सेक्ट (Sect) स्थापित हो गये तथा व्यक्ति धार्मिक बन्धनों मे इतना जकड़ गया कि उसे स्वतन्त्रता पूर्वक जीवनयात्रा करने मे भी प्रगति करना दूभर हो उठा। उसके सकल क्रिया-कलापों पर धर्म का अकुश रहने लगा और शनै: शनै: अन्धविश्वासो के कारण दृष्टिकोण नितान्त संकुचित हो गया, जिससे पारस्परिक वैमनस्य, घृणा और द्वेषभाव ही बढ़े। राजनीति मे भी धर्म को इतनी बुरी तरह उलझाया गया कि धर्म के नाम पर वह भयङ्कर नरसहार के महापाप की भागिनी बनी, जिसके स्मरण मात्र से रोगटे खडे हो जाते है। विश्व के सभी देशों मे 'जिहाद' (धर्मयुद्ध) को प्रोत्साहन मिला और धार्मिक अराजकता का ऐसा चक्र चला, जिसके नीचे निरपराध भोली-भाली जनता बुरी तरह पिस गई। आखिर हर एक वस्तु की कोई सीमा होती है, समय ने पलटा खाया, जनता अन्धविश्वास के वातावरण से तथाकथित धार्मिक भावनओं से—ऊब उठी।

कुछ वेधडक साधु-सन्त समाज के उद्धार के लिए मैदान में आये। यह ध्यान रखने की बात कि इन सन्तों मे से अधिकाश उन नीची कही जाने वाली जातियों मे से थे, जो समाज की रक्त-सचारक-धमनियाँ कही जा सकती हैं और जिनकी त्यागमयी सेवाओं के आधार पर समाज का साँस कायम है। परिवर्तन की लहर दक्षिण से ही उठी थी और देखते ही देखते मध्यभारत में होकर आती हुई उत्तरी भारत मे भी फैल गई। इस भावना से प्रेरित सन्त-महात्माओं ने अपनी अटपटी सधुक्कड़ी वाणी मे अपने अनुभव जनता के सामने रखे। यद्यपि ये सन्त बड़े निर्भीक और उच्चकोटि के भक्त थे, तथापि सिद्धान्तो के लिए परम्परा का सहारा इन्हे भी लेना पडा। एक ओर तो बुद्ध धर्म के ध्वंसावशेष पर अपना आधार जमाने वाले अनेक पंथ एवं हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय अपनी-अपनी लय और तान के अनुसार राग अलाप रहे थे, दूसरी ओर प्रेम मार्गी सूफी कवियो ने भारतीय भक्ति साधना के क्षेत्र में अपनी पीयूषवर्षिणी वाणी से वह तान छेडी, जिसके सरस-सीकरो ने नीरस मानव मानसाम्बुज मे मकरंद का मृदु वर्षण किया। कबीर आदि अनेक कवियों ने विभिन्न मतों की कुरीतियों का भण्डाफोड कर एक सामान्य भक्तिमार्ग प्रशस्त करके एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया था, किन्तु उनकी अटपटी वाणी मे उपदेशो की भरमार, कटु आलोचना के विस्तार और तीक्ष्ण व्यगों की बौछार का कोई पारावार न था, अतएव उसका उपदेश अधिकाश जनता पर प्रभाव न डाल सका। प्रेममार्गी कवियों ने किसी धर्म की कुरीतियों का उद्घाटन न करते हुए कटु-वातावरण को सर्वदैव दूर रखने का प्रयास किया और अपनी धार्मिक-साधना को देश, काल एवं समाज की आवश्यकता के अनुसार हिन्दुओं की भक्ति-साधना के साँचे मे ढालकर ऐसा रूप दिया, जिसकी उपेक्षा न तो हिन्दू ही कर सकते थे और न मुसलमान ही। उस साधना-प्रतिमा मे प्रेम-प्राणों की प्रतिष्ठा कर उन्होंने उसे मानव-मात्र का उपास्य बना दिया। हम पहले कह चुके हैं भक्ति-काल के पौराणिक युग में श्रीमद्भागवत एक ऐसा ग्रन्थ रचा गया था, जिसमें गीता की भाँति साधना की विभिन्नताओं को दूर कर तत्कालीन प्रचलित वैदिक साधनाओं का सुन्दर समन्वय करके एक सर्वोपयोगी पथ प्रशस्त करने का परमपुनीत कार्य किया गया है। यही कारण है कि सभी वैदिक सम्प्रदायों ने भागवत को मान्यता दी और उसके आधार पर अपनी-अपनी भक्ति भावनाओं का प्रसार किया। इन सम्प्रदायों में अनेक सच्चे भक्त दीक्षित हुए, जिन्होंने भागवत की मान्यता को स्वीकार करते हुए तत्कालीन भक्ति-साधनाओं का समन्वय किया। इन भक्तों ने मानवता के समान धरातल पर खड़े होकर भक्ति-गद्गद्-स्वर से चर-अचर मे स्पन्दन भरने वाले जो दिव्य गीत गाए थे, वे भक्ति-साहित्य के नाम से प्रख्यात हैं। पन्द्रहवीं, सोलहवी और सत्रहवी शताब्दियों में समस्त देश मे इन्ही गीतों की ध्वनि गूँजती रही, जिसकी प्रतिध्वनि अब भी एकाग्रचित्त होने पर सुन पड़ती है। यही इस भक्ति-आन्दोलन का उत्कर्ष था। अकबर के राज्य-काल मे यह आन्दोलन विशेष रूप से पनपा। उसने सब धर्मो के सिद्धान्तों का सार लेकर 'दीनइलाही' मत चलाया और धार्मिक-सामंजस्य उपस्थित करने का प्रयत्न किया। यद्यपि इस कार्य मे उसे सफलता नही मिली, तथापि उसकी उदारता सहिष्णुता और सत्य-जिज्ञासा की यह भावना सराहनीय है। उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि भक्ति आन्दोलन का अध्ययन वैदिक-काल से लेकर सूफियों तक की विभिन्न धर्म-साधनाओं का अध्ययन है, इसलिए इन सभी साधनाओं का थोड़ा बहुत परिचय प्राप्त करना इस आन्दोलन को समझाने में सहायक होगा।

बौद्ध मत

गौतम बुद्ध के मुख्य रूप से चार सिद्धान्त थे जिन्हें "चत्वारि आर्य-सत्यानि" कहा गया है अर्थात् दुःख, दुःख-समुदाय, दुख-निरोध और दुख-निरोध-मार्ग।

हमारा जीवन दुखमय है, उसमे आनन्द की इच्छा करना ही दुख का कारण है, अतएव उसके त्याग से ही दुःख की निवृत्ति हो सकती है और उसका त्याग सरल जीवन करने से ही संभव है। तीसरे सिद्धान्त के अनुसार प्राप्त अवस्था को 'निर्वाण' कहते हैं। गौतम बुद्ध ने अपना मत अपने अनुभवो के आधार पर खडा किया, जिनमे आदर्श नैतिक जीवन का संचार था, व्यावहारिकता की उपेक्षा न की गई थी और वैदिक धर्म की हिंसावृत्ति की प्रतिक्रिया का सन्निधान था। उन्होंने अपने सीधे-सादे मार्ग मे दार्शनिक गुत्थियाँ नही रखी थी पर उनके शिष्यो मे से एक ने धर्म के दार्शनिक पक्ष पर बहुत बल दिया और दूसरे ने व्यावहारिक-पक्ष पर। ये दोनों सम्प्रदाय 'महायान' और 'हीनयान के नाम से विख्यात हुए। 'हीनयान' मे नैतिक प्रवृत्ति वाले लोग थे, पर 'महायान' का विस्तार बहुत था, जो सभी वर्गों के विभिन्न लोगों को लेकर आसानी से चल सकता था। यह शाखा वैदिक-धर्म से प्रभावित होने के कारण बुद्ध के अनेक अवतारों मे विश्वास रखने लगी और इसमें मन्त्र-तन्त्र आदि का भी समावेश हो गया। इसी महायान शाखा मे से केवल मन्त्र-तन्त्रों को लेकर चलने वाली मन्त्रयान-शाखा भी चली। इन मन्त्रयानी साधकों मे से कुछ ने अनेक हठयोग की क्रियाओं से प्रभावित होकर 'वज्रयान' शाखा का आरम्भ किया। इसी वज्रयान-शाखा के प्रचारकों में 'चौरासी सिद्धों' का भी नाम आता है। यहाँ पहुँचकर बौद्ध धर्म का स्वरूप इतना परिवर्तित हो गया कि पहचानने में भी कठिनाई पडने लगी; शून्य का स्थान 'प्रज्ञा' ने ले लिया और करुणा का 'उपाय' ने और इस प्रकार 'प्रज्ञोपाय' द्वारा ही उन्होने निर्वाण की उपलब्धि बताई। प्रज्ञा और उपाय के मिलन की अवस्था को उन्होने 'युगनद्ध' का नाम दिया। आगे चलकर प्रज्ञा स्त्री का प्रतीक बनी और उपाय पुरुष का तथा दोनों का मिलन महासुख का कारण माना जाने लगा। 'युगनद्ध शब्द का पारिभाषिक अर्थ स्पष्ट करने के लिये स्त्री-पुरुष की मिलन-दशा की अनेक अश्लील मूर्तियाँ गढ़ी जाने लगी और इस सम्प्रदाय मे धर्म के नाम पर व्यभिचार का ताण्डव नृत्य होने लगा। साम्प्रदायिक संकीर्णता मे पड़कर महान् से महान् धर्म की भी कितनी दुर्दशा हो जाती है, यह बौद्ध-धर्म की कहानी से स्पष्ट है। हठयोगियों के प्रभाव से इस शाखा मे 'हठयोग' के भी कुछ पारिभाषिक शब्दो का समावेश हो गया, जैसे इडा, शुषुम्ना, पिंगला आदि। इन चौरासी वज्रयानी सिद्धों में से कुछ सफल साधक भी हुए हैं, जो अपनी साधना के सच्चे स्वरूप को सहज-साधना के नाम से पुकारते थे; अतएव उन्होने सहजयानी नामक एक और शाखा को जन्म दिया। इन सिद्धो का अपना विशाल साहित्य है, जिनमें अनेक साधनाओं का विस्तृत विवरण मिलता है। इस बौद्ध धर्म के साथ ही साथ जैन धर्म की भी उत्पत्ति हुई। यद्यपि बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म न तो व्यापक ही था और न ही उसमें इतनी व्यावहारिकता थी तथापि इस धर्म से भी यह भक्ति आन्दोलन बहुत कुछ प्रभावित हुआ। जैन लोग भी अपने धर्म को वैदिक-धर्म जैसा ही प्राचीन मानते है। हिन्दू-धर्म के नारायण की भाँति वे ऋषभदेव को अपना पुरुष-पुराण मानते है, परन्तु इस धर्म का क्रमबद्ध इतिहास चौबीसवे तीर्थङ्कर महावीर स्वामी से ही मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने भी वैदिक कर्म-काण्ड के विरोध मे अपने अहिंसात्मक धर्म को खडा किया था। उनके उपदेशों में व्यावहारिकता की अपेक्षा आदर्शवादिता ही अधिक है। उन्होने सयम-शील कठोर-जीवन पर विशेष बल दिया। इन्होंने जीव को तो शुद्ध रूप माना है और कर्म को आवरण, जिसको उन्होंने पुद्गल का नाम दिया है। इसमें कर्म को प्रधानता दी है और पुद्गल को हटाकर सच्ची स्थिति प्राप्त करना ही जीव का लक्षण बताया है। सृष्टि को इन्होने अनादि माना है तथा उसका नियन्ता कर्म को ही माना है। तीर्थङ्करों की मूर्तिपूजा का प्रचार इस मत मे बहुत दिनों से है। शृङ्गारादि के विषय को लेकर इसके दो मत हुए एक श्वेताम्बर और दूसरा दिगम्बर।

इनके धर्म-सिद्धान्तों की चर्चा और उनका अर्थवाद चौबीस पुराणों मे विस्तार के साथ कहा गया है। कुछ लोगो की धारणा है कि हिन्दू-धर्म मे मूर्ति-पूजा का समावेश और अवतार-भावना का श्रीगणेश इसी मत के प्रभाव से हुआ है। नवी-दशवी शताब्दी तक जैन धर्म मे भी अनेक वाह्या-चारों का समावेश हो गया था और हिन्दू तथा बौद्ध पद्धतियों से बहुत कुछ प्रभावित हो गया था। बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्मावलम्बियो ने भी अपने धर्म मे सुधार की चेष्टा की, परन्तु वह व्यर्थ रही।

नाथ योगी सम्प्रदाय

बौद्धों के सिद्ध-सम्प्रदाय से मिलता-जुलता एक और नाथ योगी सम्प्रदाय बहुत दिनों से भारत में चला आ रहा था। इमके अनुयायी भी अपना उद्गम वेदो से सिद्ध करते है। डब्लू ब्रिग्स (W. Briggs) ने इस सम्प्रदाय पर कुछ प्रकाश डाला है।[1] इस सम्प्रदाय मे व्रत, तपश्चर्या, योग-साधन आदि पर विशेष बल दिया गया है। गौतम बुद्ध के समय मे भी इस प्रकार के कुछ योगियों का उल्लेख मिलता है। सिकन्दर भी इस सम्प्रदाय के एक योगी को अपने साथ ले गया था। पतंजलि ने तो ईसा से पहले दूसरी शताब्दी में ही 'योग-दर्शन' नामक एक व्यवस्थित ग्रन्थ लिख दिया था। ये लोग अपने आपको शैव सम्प्रदाय से सम्बद्ध मानते है और शिव को ही इस सम्प्रदाय का आदि संस्थापक मानते हैं। नाथों की परम्परा मछन्दरनाथ से मिलती है, जिनके शिष्य गोरख-नाथ जी हुए। गुरु गोरखनाथ ने ही कनफटे योगियो की परम्परा चलाई और इस सम्प्रदाय में हठयोग को प्रधानता दी। समस्त भारतवर्ष मे पर्यटन कर उन्होने स्थान-स्थान पर अपने सम्प्रदाय की गद्दियाँ स्थापित की। आज भी भारत मे इस प्रकार की बारह गद्दियाँ विख्यात है। जहाँ तक इनके साहित्य का प्रश्न है, 'गोरखनाथ जी की बानियो' के अतिरिक्त अभी तक कोई भी रचना प्रकाश मे नही आई। इनका समय ८वी, ९वी शताब्दी के लगभग रहा होगा। इस सम्प्रदाय का प्रधान प्रसार-क्षेत्र नैपाल, उत्तरी भारत, आसाम तथा महाराष्ट्र रहा है। गोरखनाथ के सिद्धान्त योग-दर्शन के सिद्धान्तों के समकक्ष रखे जा सकते है। उनका कथन है कि यदि इस शरीर के नौ द्वारो को बन्द करके वायु के आने-जाने का मार्ग रोक लिया जाय तो उसका व्यापार ६४ सन्धियों में होने लगेगा, जिससे काया-कल्प होगा। जब साधना के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र को जगा दिया जाता है तो अनाहत नाद सुनाई देता है जो सबका सार है। गोरखनाथ के सिद्धान्तो मे आत्म चिन्तन, साधना आदि का भी समावेश है। हमारे भक्ति आन्दोलन पर भी इनका पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। 'गोरखनाथ' द्वारा बताई हुई निर्गुण निराकार की उपासना सूफियो के प्रेम का आधार पाकर लोकप्रिय बन गई और कबीर आदि सन्त-कवियो पर तो इसका प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता ही है। इसका विवेचन हम आगे करेगे।

सूफी-सम्प्रदाय

हम पहले बता चुके है कि संवत् ८०० से लेकर सम्वत् १४०० तक का काल भारतवर्ष के इतिहास में सामाजिक और धार्मिक क्रान्ति का युग था। ८वी शताब्दी से ही भारतवासियों का मुसलमानों से सम्पर्क हो चला था। इस्लाम धर्म के प्रवर्त्तक हजरत मुहम्मद साहब ने अरब वालों के भेद-भाव को दूर करके उन्हें एक सूत्र मे बाँधने का प्रयत्न किया था। वे पूरे ऐकेश्वरवादी थे और ईश्वर की पूर्णता और न्यायशीलता मे पूर्ण विश्वास रखते थे। कोई समस्या सामने उपस्थित होने पर वे खुदा की इबादत करने के लिए बैठ जाते थे और उससे दुआयें माँगते थे। खुदा का

1 "Gorakh Nath and the Kanfata Yogies." (an article by W. Briggs published in Religious life of India Series.

साक्षात्कार कर वे भाव-विभोर होकर लेट जाते और गद्‌गद् कण्ठ से अनेक वाक्य उनके मुख से स्वयमेव निःसृत हो जाते थे। इन वाक्यों का सग्रह ही 'कुरान-शरीफ' है। जिसमे धर्म के विषय में एक स्थान पर लिखा है—'धर्म की असलियत यही है कि ईश्वर ने जो अच्छाई का रास्ता निश्चित किया है उसका ठीक-ठीक अनुसरण किया जाए"[1]। मौलाना अब्दुल-कलाम आजाद का कथन है कि "कुरान शरीफ मत-भेदों को महत्व नही देती"[2]। स्वयं कुरान शरीफ मे लिखा है, "मत-भेदों के पीछे न पडकर नेकी की राहों मे एक दूसरे से आगे निकलने का प्रयत्न करना चाहिए"[3] इस्लाम धर्म के अनुसार कुछ साधनाएँ निश्चित की गई हैं, जैसे—हकीकत=(ज्ञानमार्ग), तरीकत=(भक्ति-मार्ग), शरीयत=(कर्म-मार्ग)। सूफी लोग अपनी साधना को मारफत कहते थे और इसे (Spiritual Love) आत्मिक प्रेम की संज्ञा देते थे। चारों खलीफाओं अर्थात् अबूबकर, उमर, उसमान और अली के जमाने मे सूफियों का कोई विरोध नही हुआ। उमय्या खानदान से अब्बासी खानदान तक यह सम्प्रदाय, बसरा, बगदाद, सीरिया, मिश्र और स्पेन तक फैल गया था। 'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे अभी विद्वानो मे मतैक्य नही है। कोई इसे ग्रीक शब्द 'सोफी' से, कोई सफ यानी कतार के आधार पर, कोई 'सफा' अर्थात् सफाई के आधार पर, कोई सुफ्फा' यानी 'मदीना' के सामने बने हुए चबूतरे से, कोई 'सूफ' यानी ऊन से निकला बताते है। सूफी मजहब हिन्दुस्तान मे उमय्या खानदान के जमाने मे ही आ गया था। लेकिन इसका असली प्रचार 'अबुलहसन-हुज-हुज्जरी' की लिखी हुई 'कश्फुन महतूब' नामक पुस्तक के द्वारा हुआ। इसके पश्चात् अन्य कितने ही प्रसिद्ध सूफी हुए जैसे—बाबा फखरुद्दीन, सूफी सैय्यद मुहम्मद बन्दा-निबाज इत्यादि। इन सूफियो के भी चार फिर्के थे—चिश्तिया, सुहरवर्दिया, कादरिया और नक्शबन्दिया। इन चारो मे कोई खास विरोध नही है। सूफी-सम्प्रदाय ने भारतीय भक्ति साधना को बहुत प्रभावित किया है: इन लोगों में कट्टरता या धर्मान्धता न थी, आचरण की विशुद्धता, पारस्परिक सहानुभूति, ईश्वर मे श्रद्धा, विश्व-प्रेम आदि इनके सम्प्रदाय की विशेषताएँ थी। भारतीय साधना के लिए इन सूफियों की मुख्य देन है 'प्रेम-साधना'। इन्होने हमारी भक्ति मे माधुर्य-भाव को पूर्णतया भर दिया। बसरा मे रहने वाली राबिया नाम की एक दासी अपने आपको परमेश्वर की पत्नी मानती थी। इसी सम्प्रदाय मे जून-नून और मन्सूरुल-हल्लाज जैसे फकीर हुए, जो प्रेम-मदिरा में मस्त होकर हंसते-हँसते प्रभु के प्रेम के लिए प्राण तक उत्सर्ग कर गये। यह सूफी सम्प्रदाय नाथयोगी सम्प्रदाय से प्रभावित हुआ था और उन्होंने अपने यहाँ चार पदों की कल्पना की थी। आलमे नासूत (भौतिक जगत्), आलमे मलकूत (चित्त-जगत्), आलमे-जबरूद (आनन्दमय जगत्) और आलमे लाहूत (सत्य जगत्)। एक और भी आलम इन्होने माना था, जिसे ये आलमे हाहूत (रहस्यपूर्ण-जगत्) कहते थे। अपनी सिद्धावस्था को ये कभी 'बका', कभी 'फना' कहते थे। आगे चलकर इस सम्प्रदाय के कुछ सन्तों ने हिन्दी मे ही रचनाएँ की और भारतवर्ष की कहानियो के द्वारा अपनी प्रेम-पीर को प्रकट किया।

इन सूफियों ने भी मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन पर गहरा प्रभाव डाला है। चौदहवी-पन्द्रहवी शताब्दियों मे भक्ति-साधना का जो स्वरूप बना, उसमे इन सभी सम्प्रदायो का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। दक्षिण में तामिल प्रान्त में ऐसे भक्त प्रायः दूसरी शताब्दी से अपनी प्रेम-पीर प्रकट कर रहे थे। वे भक्त 'आडवार' नाम से प्रसिद्ध थे तथा अपने गीतों और

१ कुरान शरीफ, सूरा ३ आयत १८।

२ तर्जुमा-उल-कुरान (मौ० आजाद) सैयद जहीरुल-हसन द्वारा अनूदित, का कुरान और धार्मिक मत-भेद शीर्षक लेख।

३ कुरान-शरीफ, सूरा ५, आयत ४८।

भजनो के द्वारा अपनी भवित-भावना को प्रकट किया करते थे। उनके इस प्रकार भक्ति-परक भजनों का एक सग्रह तामिल 'प्रबन्धम्' नाम से प्रसिद्ध है। सम्भवतः दक्षिण के सभी वैष्णव-आचार्य इसी 'प्रबन्धम्' से प्रभावित थे और उन आचार्यों के सम्प्रदायों का आचरण-पक्ष प्रायः इसी 'प्रबन्धम्' से प्रभावित है। काश्मीर मे भी इसी प्रकार के भक्तों का एक सम्प्रदाय मिलता है, जो 'प्रत्यभिज्ञा' मत का मानने वाला था। प्रत्यभिज्ञा मत के अनुसार ज्ञान और भक्ति दोनों का समन्वय ही श्रेयस्कर है। ऐसे ही भक्तों का एक सम्प्रदाय मध्यदेश में भी था, जो 'बारकरी' सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध था और जिसमे सन्त ज्ञानेश्वर का नाम उल्लेखनीय है। बगाल मे भी एक 'सहजिया' सम्प्रदाय प्रचलित था, जिसमें 'चण्डीदास' का नाम उल्लेखनीय है। इस सहजिया सम्प्रदाय मे भी प्रेम-पक्ष पर विशेष बल दिया गया है। इस सम्प्रदाय मे परकीया प्रेम को महत्व दिया है। यह सहज सम्प्रदाय बौद्धों की सहजयान शाखा के समकक्ष रखा जा सकता है। जैसे उसमें प्रज्ञा और उपाय का "युगनद्ध" रूप सामने रखा गया था, उसी प्रकार इन्होने राधा और कृष्ण का युगल-रूप सामने रखा। राधा-कृष्ण की लीला का स्वरूप वास्तव मे इसी सम्प्रदाय में विशिष्ट रूप से मिलता है। धीरे-धीरे इस सम्प्रदाय वालों ने मानवीय प्रेम को भी दिव्यता प्रदान की और कहा कि मानव प्रेम अपनी सर्वोत्कृष्ट और शुद्ध दशा में ईश्वरीय प्रेम बन जाता है। इस सहजिया और सूफी सम्प्रदाय के योग से एक और सम्प्रदाय का जन्म हुआ, जो 'बाउल' सम्प्रदाय के नाम से प्रचलित हुआ, जिसमे मानव प्रेम को ही प्रधानता दी गई। इस प्रकार दूसरी सदी से चौदहवीं सदी तक भारतवर्ष मे भक्ति ने अनेक रूप धारण किए और बहुत से सम्प्रदाय तथा मत-मतान्तर प्रचलित हुए। अन्त में इन सभी का समन्वय राम और कृष्ण की भक्ति के रूप मे हुआ। राम और कृष्ण को उपास्य मानकर चलने वाले बहुत से भक्त हुए, जिनमें तुलसीदास और सूरदास का नाम उल्लेखनीय है। ये दोनों महात्मा अपने युग के प्रतिनिधि थे और किसी प्रकार के सघर्ष मे न पडकर इन्होने अपने युग का सन्देश जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया। हम अगले प्रकरण मे बतलाएँगे कि किस प्रकार इस भक्ति-आन्दोलन में दक्षिण के आचार्यों ने योग दिया और भक्ति का एक समन्वित रूप जनता के समक्ष प्रस्तुत किया। सैद्धान्तिक रूप में तो उन दाक्षिणात्य आचार्यो ने अपने अलग-अलग सम्प्रदाय चलाये किन्तु व्यवहार-पक्ष में भक्ति को ही सर्वोपरि रखा। बात यह थी कि भक्ति सम्बन्धी शास्त्रों का प्रणयन तो अवश्य राजनीतिक परिस्थितियों के कारण दक्षिण में हुआ किन्तु उनका प्रचार और प्रसार उत्तरी भारत में ही सम्भव था, क्योकि उन ग्रन्थों के नायक अवतारों की जन्म और विचरण भूमि—जिनके कण-कण मे उनके कार्य-कलापों का सम्बन्ध था—उत्तरी भारत मे ही थी। सौभाग्यवश इन आचार्यों को ऐसे शिष्य भी मिल गये, जिन्हे वाणी का अमर वरदान प्राप्त था और जो उनके उपदेशामृत को जन साधारण की वाणी में ही जनता तक पहुँचा सकते थे। सूर और तुलसी उन भक्ति-मणि-मालाओ के सुमेरु कहे जा सकते हैं। हमारे चरित-नायक सूर दाक्षिणात्य दिग्गज पन्ति बल्लभाचार्य द्वारा संस्थापित पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित थे। राजनीतिक परिस्थितियाँ यद्यपि अनुकूल हो चली थी फिर भी अभी तक क्षितिज मेघाडम्बरों से शून्य नही था। बल्लभाचार्य के ग्रन्थो में यत्र-तत्र उन परिस्थितियों का संकेत भी मिलता है। उस समय के जो इतिहास-ग्रन्थ है, उनसे हमें तत्कालीन परिस्थितियो का परिज्ञान नही हो पाता क्योंकि उनके विवरण न तो शृंखलाबद्ध ही कहे जा सकते है और न सर्वाङ्गीण ही। आधुनिक इतिहास लेखकों ने इन्ही के आधार पर कुछ विवरण प्रस्तुत किए हैं। डा० ईश्वरी प्रसाद की History of Medieval of India तथा स्मिथ की Cambridge History of India इस विषय में

विशेष उल्लेखनीय है । Asiatic Society of Bengal Journal Vol. I. 1935 के चौथे लेख में सन् १२०० से १५५० तक की परिस्थितियों पर प्रकाश डाला गया है, इसका सम्पादन श्री मो० अशरफ ने Life and Conditions of the People of Hindustan (1200. 1550 A. D.)— (Mainly based on Islamic Sources) इस नाम से किया है । परन्तु इस ग्रन्थ में तुलनात्मक विवेचन न होने के कारण हमारी दृष्टि से यह अधिक उपयोगी नही है और भी जितने पाश्चात्य विद्वानो ने इस विषय पर ग्रन्थ लिखे हैं, उन्होंने देश की आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों का विस्तृत परिचय नही दिया है । उस समय के भक्तो और कवियों की रचनाओं में भी तत्कालीन परिस्थितियों के सकेत हमे मिल जाते हैं । भक्ति आन्दोलन की पृष्ठ-भूमि प्रस्तुत करने के लिए यह विषय बडा महत्वपूर्ण है किन्तु विस्तार-भय से हम इतनी चर्चा यहाँ न उठायेंगे, हमारा विचार है कि इस विषय पर एक पृथक् ही ग्रन्थ लिखा जाय ।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थो में परम्परा के अनुसार राजनीतिक अराजकता, सामाजिक दुर्व्यवस्था और धार्मिक अत्याचारों को ही भक्ति-आन्दोलन का मूल कारण माना है जैसा कि आचार्य शुक्ल ने लिखा है :

"देश मे मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय मे गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह स्थान न रह गया। उनके सामने ही उनके देव-मन्दिर गिराये जाते थे, देव-मूर्तियाँ तोडी जाती थी और पूज्य-पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे । ऐसी दशा मे अपनी वीरता के गीत न तो गा ही सकते और न लज्जित हुए बिना सुन ही सकते थे । आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तो तब परस्पर लडने वाले स्वतन्त्र राज्य भी न रह गये। इतने भारी राजनीतिक उलट फेर के पीछे हिन्दू जन-समुदाय पर बहुत दिनो तक उदासी-सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?"[१]

डा० ईश्वरीप्रसाद ने सुल्तान काल की हिन्दू जनता की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक दशा का वर्णन इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

"इस्लाम धर्म का प्रचार भारतवर्ष मे उनके सरल सिद्धान्तो के कारण नही अपितु इसलिए हुआ कि वह एक राजशक्ति का धर्म था, जिसका प्रचार विजित प्रजा मे बलात् कृपाण और दण्ड के आधार पर किया जाता था । स्वार्थ-सिद्धि एव राज सभा मे उच्च-पद प्राप्त करने के लोभ मे लोग अपने धर्म को त्याग कर इस्लाम को स्वीकार कर लेते थे, किन्तु पद-प्राप्त-प्रलोभन एवं राज्य की ओर से आर्थिक पुरस्कार उस वर्ग के प्रति हिन्दुओं के हृदय मे कसकती हुई बैर भावना को दबाने मे कभी सफल नही हुए, जिसने उनके स्वातन्त्र्य का अपहरण किया था और उनके धर्म को घृणा की भावना से देखता था । धार्मिक एवं राजनीतिक दोनों ही दृष्टियों से हिन्दू सताये जा रहे थे और हिन्दुओं की ओर से भी प्रबल विरोध था । मूर्तियों को तोडना सब प्रकार के विरुद्ध विश्वासों का हनन और काफिरों (हिन्दुओं) को इस्लाम में दीक्षित करना आदि कार्य आदर्श इस्लाम राज्य के कर्तव्य समझे जाते थे । सिकन्दर लोदी के राज्य-काल में तो हिन्दुओ पर अत्याचार करने का एक आन्दोलन-सा ही चल गया था । राज्य की ओर से गैर-मुस्लिम प्रजा पर बड़े प्रतिबन्ध थे, उसे बलपूर्वक मुसलमान बनाना तो सामान्य बात थी। उसे एक प्रकार का कर,

---

१ आचार्य शुक्लकृत हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृष्ठ ६०

जो 'जजिया' कहलाता था, देना पड़ता था। यद्यपि कुरान मे इस प्रकार की जबरदस्ती का विधान नही है। मुसलमान राज्यों मे शाही लोगो मे विलासिता का दौर था। राज्य के उच्चपद मुसलमानो के लिए सुरक्षित थे, योग्यता की पूछ नही थी, बादशाह की इच्छा ही कानून था। सुलतान की कृपादृष्टि से जिन्हे सम्पत्ति और अधिकार प्राप्त थे उनमें विलामिता और दुर्व्यसन घर कर गये थे, जिसके कारण ईसा की १४वी शताब्दी के अन्त मे मुसलमानों में शक्ति और स्फूर्ति की अवनति होने लगी। हिन्दू लोग निर्धनता, दीनता और कठिनाई का जीवन व्यतीत करते थे। उनकी आय उनके कुटुम्ब के लिए मुश्किल से ही काफी होती थी। विजित प्रजा के जीवन-यापन का स्तर बहुत निम्नकोटि का था और राजकीय-कर का भार उसी को प्रधानतया वहन करना पडता था। ऐमी बुरी स्थिति में उन्हें अपनी राजनितिक प्रतिभा के परिष्कार का अवसर भी कभी न मिल सका।"[१]

हम पहले लिख चुके है कि सूरदास जी का काल स० १५३५ से सं०.१६४० तक था। इस दीर्घकाल मे दिल्ली साम्राज्य मे परिवर्तन हुए। दिल्ली की गद्दी पर कई मुसलमान बादशाह बैठे और उन्होने अपनी-अपनी व्यवस्था चलाई। १०० वर्ष से ऊपर के इस समय मे लोदी, सूरी और मुगलवशी बादशाहो का आधिपत्य दिल्ली पर रहा तथा ब्रज-प्रदेश दिल्ली और आगरे के मातहत रहा। केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया के अनुसार इन बादशाहों का समय-निर्धारण इस प्रकार है—

१—बहलोल लोदी	सन् १४५१ ई० से	१४८७ ई० तक
२—सिकन्दर लोदी	१४८९	१५१७
३—इब्राहीम लोदी	१५१७	१५२६
४—बाबर	१५२६	१५३०
५—हुमायूँ	१५३०	१५३९
६—शेरशाह सूरी	१५३९	१५४५
७—इस्लाम शाह	१५४५	१५५४
८—मुहम्मद आदिलशाह तथा ९—सिकन्दर शाह	१५५४	१५५५
१०—हुमायूँ (पुनः)	१५५५	१५५६
११—अकबर	१५५६	१६०५

इतिहास के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि खिलजी वंश से पूर्व स्थिति चाहे जैसी रही हो, परन्तु खिलजी वंश का देश पर आधिपत्य होने के पश्चात् राजनीतिक भावनाओं मे क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। इस वंश का संस्थापक जलालुददीन खिलजी स्वयं अत्यन्त कोमल हृदय का व्यक्ति था। अलाउद्दीन ने तो अपने राजत्व का आदर्श ही बदल दिया था। उसने मुल्ला और मौलवियों के प्रभाव से राजनीति को दूर कर अपना धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण घोषित किया। राजनीतिक विद्रोह को दबाने में अथवा उसके कारणों को ही दूर करने के लिये उसने अवश्य ही कठोर नीति का आश्रय लिया किन्तु उसके मूल में कोई धार्मिक भावना न थी। राजनीतिक अपराध करने पर हिन्दू और मुसलमान दोनों ही समान रूप से उसके कोप के भाजन बनते थे। इस्लाम धर्म की ओर भी कोई रूरियायत करने की गुञ्जाइश उसकी नीति में नही थी। यह सत्य है कि उसके उत्तराधिकारियों की नीति ऐसी नही रही, किन्तु बीच-बीच मे कोई-कोई सुल्तान अवश्य ही धार्मिक सहिष्णुता और उदारता का परिचय देते थे। मुहम्मद तुगलक के राज्य-काल में भी

१ हिस्ट्री आफ मैडीवियल इण्डिया (डा० ईश्वरी प्रसाद) पृष्ठ ४६५-४७१

अलाउद्दीन की धर्मनिरपेक्ष नीति का अनुसरण किया गया। तैमूर के आक्रमण से फैली अराजकता के कारण शासन-सूत्र दृढ़ न रह सका और ऐसे तत्वों का उदय हुआ, जिनसे सामाजिक संगठन में भी बड़ा ही अस्तव्यस्तता का प्रादुर्भाव हुआ। सैयद और लोदी वंश के राज्य-काल मे भी (एक-दो शासको के अतिरिक्त) शासको के शासन का जैसा विवरण इतिहासों मे मिलता है, उससे उनकी धार्मिक कट्टरता का ही आभास मिलता है, जिसके कारण अन्य मतावलम्बियो को अनेक कष्ट सहन करने पडे; किन्तु इस तथ्य को समस्त इतिहासकार एक स्वर से स्वीकार करते है कि अकबर के समय तक परिस्थिति बहुत कुछ परिवर्तित हो चुकी थी। शेरशाह सूरी हिन्दुओ की पाठशालाओ और मन्दिरों को भी वक्फ देता था और हिन्दू-विद्वानों को भी वजीफे दिये जाते थे।[1]

अकबर उदार प्रकृति का सम्राट् था। सत्य की उसे प्रबल जिज्ञासा थी। विभिन्न मतों के आचार्यो के वाद-विवाद सुनकर उसकी यह धारणा बन गयी थी कि सभी धर्मो मे अच्छी-अच्छी बाते है, केवल अपनी धर्मान्धता के कारण मनुष्य इस भेद के मूल मे स्थित अभेदता को देख नहीं पाता। उसने अपने समय मे प्रचलित समस्त धार्मिक भावनाओ का समन्वय करने का प्रयत्न किया, बौद्धिक आधार पर अपनी प्रजा मे धार्मिक एकता पर जोर दिया और कट्टर मुसलमानों द्वारा घोर विरोध किये जाने पर तथा मुल्लाओं द्वारा इसलाम-धर्म से च्युत होने का फतवा पाकर भी वह अपनी नीति पर अटल रहा। अपनी धार्मिक भावनाओं को मूर्तिमान् रूप देने के लिए ही उसने 'दीन-इलाही' धर्म चलाया[2]। राजपूत राजकुमारियों से विवाह करने के पश्चात् उसकी नीति उदार होती चली गयी थी। हिन्दुओं पर से 'तीर्थयात्रा का कर' और जजिया भी उसने उठा लिया था। कभी-कभी वह माथे पर तिलक लगा कर सूर्य की उपासना करता था और कभी-कभी तुलादान भी।[3]

सामाजिक-स्थिति

अकबर से पूर्व अनेक सुल्तानो के शासन मे हिन्दू जनता को मुसलमानों की अपेक्षा राज-नीतिक और धार्मिक अधिकार प्राप्त थे, यह हम ऊपर सकेत कर आये हैं। सामाजिक अधिकारों का भी हिन्दू लोग स्वतन्त्रता से उपयोग नही कर सकते थे। उनकी स्थिति डावाँ-डोल थी फिर भी आत्म-गौरव का उनमे बिलकुल लोप न हो गया था, परन्तु विलासिता का भी अभाव न था। साधारण जनता की आर्थिक स्थिति अच्छी न थी, गरीब लोगो को कठिन परिश्रम करके भी पेटभर अन्न जुटाना दूभर था किन्तु उच्च घराने के लोगो में आभूषण, बनाव-ठनाव और ऐश्वर्य-प्रदर्शन का प्रचलन था। मुखो पर केशर-मिश्रित-अंगराग और शीतलता के लिए शरीर पर केशर मिले उबटन का प्रयोग किया जाता था। हाथों मे कंगन, गले में मोतियों की मालायें, कानो में रत्नजटित बालियाँ और केशों मे पुष्प धारण करने की प्रथा थी।[4] वर्ण-व्यवस्था उतनी सगठित न रह गयी थी। आध्यात्मिक एवं मानसिक शक्ति की प्रतिनिधि ब्राह्मण जाति मे अनेक दुर्गुण आ गये थे, क्षत्रियों मे वश-विभाजन और भेद बढ़ते जा रहे थे। जातीयता की भावना का लोप हो गया था और व्यक्तिगत संकुचित मान-अपमान के प्रश्न पर जूझने की भावना बढ़ती जा रही थी। धोबी, मोची, जुलाहे आदि अस्पृश्य समझे जाते थे। ये लोग गाँव के भीतर नही रह सकते थे, अपितु

---

१ हिस्ट्री आफ मैडीवियल इण्डिया (डा० ईश्वरीप्रसाद)

२ देखिये "अकबर दी ग्रेट मुगल" पृष्ठ १८२

३ डा० ईश्वरीप्रसाद

४ दे० मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था पृ० ४३

बाहर झोपड़े डाल कर रहते थे। हाड़ी, चाण्डाल और डोम जातियों की दशा इससे भी बुरी थी, वे अत्यन्त घृणित समझे जाते थे।[1] हिन्दू लोग रक्षा-बन्धन, दीवाली, होली आदि त्यौहार मनाते थे किन्तु उनके ये पर्व शासक-वर्ग की सहानुभूति न होने के कारण निरापद नही थे। अमीर खुसरो की रचनाओं मे उस काल की सामाजिक प्रवृत्तियों का सुन्दर चित्रण हुआ है, जिससे प्रतीत होता है लोगो मे पारस्परिक ईष्या-द्वेष बढ़ रहा था, दण्ड-विधान कठोर था और अविश्वास के साथ आशका ने हृदय में स्थान बना लिया था।

अकबर के समय मे हिन्दू और मुसलमान जातियों के बीच की खाई को कम करने का प्रयास किया गया। दोनो के अधिकार समान कर दिए गए, हिन्दुओ को भी राज्य में ऊँचे पद और सम्मान प्राप्त हुए। अनुचित करों को हटा देने और राज्य की नौकरियो का द्वार खोल देने से उनकी आर्थिक स्थिति भी सुधरी किन्तु सामाजिक जीवन की शताब्दियों से चली आने वाली शिथिलता का एकबार भी दूर होना कठिन था, फिर भी उसमे पर्याप्त स्फूर्ति का संचरण हुआ। परस्पर भेद-भावना, वैमनस्य आदि चलते रहे। आर्थिक स्थिति में सुधार होने से विलासिता भी बढ़ी। मदिरा, अफीम आदि मादक वस्तुओं का सेवन बढ़ रहा था। अकबर स्वय मदिरा का प्रयोग करता था और उसके दो पुत्र अत्यधिक शराब पीने के कारण मर गये थे। अभिप्राय यह है कि सामाजिक स्थिति मे सुधार होने से लोगों को कुछ राहत मिली और ललित कलाओं की ओर उनकी प्रवृत्ति हुई।

देश की सामाजिक स्थिति का ज्ञान तत्कालीन भक्त कवियों की रचनाओं के अवलोकन से प्राप्त होता है। सन्तों की वाणियो मे यद्यपि निरपेक्षभाव से कहे हुए विरक्तिपरक भावों का ही बाहुल्य है फिर भी उनके पदों में सामाजिक परिस्थितियों से खिन्न अन्तरात्मा की पुकार स्पष्ट लक्षित है। कबीर ने हिन्दू मुसलमान दोनों को ही उनकी आचरण-हीनता के लिए फटकारा है। सन्तों की वाणियों मे उनके आन्तरिक उद्‌गारो का निर्भीकतापूर्वक व्यक्तीकरण हुआ है। गोस्वामी तुलसीदास जी के काव्यों मे तो तत्कालीन दुर्व्यवस्था का ऐसा संश्लिष्ट चित्रण है कि पाठक तल्लीन होकर मानो उनके सम-सामयिक समाज मे शरीर विचरण करने लगता है। यह स्मरणीय बात है कि इन सन्त कवियों का उद्‌देश्य किसी शक्ति अथवा व्यक्ति-विशेष पर कोई आक्षेप करने का नही था, इसलिए ऐतिहासिकता की दृष्टि से इनके काव्य से विशेष सहायता नही मिल सकती। इसके अतिरिक्त इन महात्माओं की रचनाओ की 'स्वान्तः सुखाय' तथा आत्म-परिष्कार-मूलक होने के कारण उनके आधार पर किसी निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है। महाप्रभु वल्लभाचार्य जी सैद्धान्तिक रूप से ब्राह्मवाद अथवा शुद्धाद्वैतवाद की प्रतिष्ठा करने वाले थे किन्तु उन्होंने अपने मत का जो व्यावहारिक रूप रखा था, वह पर्याप्त मात्रा मे तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का प्रतिफल प्रतीत होता है। इस मत के व्यावहारिक रूप पुष्टि-सम्प्रदाय का उद्‌देश्य जहाँ एक ओर भक्त की वासना का समुचित परिष्कार कर उसे कृष्णाभिमुख करना और फिर साधना का ब्रह्म से सम्बन्ध स्थापित करना था, वहाँ दूसरी ओर राजसी ठाट-बाट और विलासिता की सारी सामग्री का केन्द्र कृष्ण को मानकर मानव-मानस की वासना-वीचियो को मोड़ देना भी था। स्वयं वल्लभाचार्य जी ने उत्तरी भारत की राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल को देखा था। अकबर के राज्य की व्यवस्था तथा उसकी उदारता, धार्मिक सहिष्णुता, वदान्यता, साहित्य एवं कला-प्रियता का साक्षात्कार वे नही कर सके थे। यही कारण है कि उनके ग्रन्थों में तत्कालीन शासन की कटु आलोचना मिलती

१ दे० मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था पृ० ४७-४८

है। उनका 'षोडश-ग्रन्थ' उनके हृदय की इस भावना का पूर्णतया परिचायक है। 'कृष्णाश्रय' ग्रन्थ में तत्कालीन परिस्थिति का चित्रण करते हुए वे लिखते है:—

"म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम॥
गगादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह।
तिरोहिताधिदैवेषु, कृष्ण एव गतिर्मम॥
अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु।
तिरोहितार्थवेदेषु कृष्ण एव गतिर्मम॥"[1]

अर्थात् सब प्रदेश प्रधान रूप से पाप मात्र के निवास-स्थान हो गये है, सज्जन कष्टों से संतप्त है, गंगा आदि पवित्र तीर्थ स्थान भी दुष्टों से ही आवृत हैं; अधिष्ठातृदेवता तिरोहित हो गये है और स्वार्थ-सिद्धि एवं प्रलोभन-वश सज्जन भी पाप का अनुसरण कर रहे है। ऐसी स्थिति मे केवल कृष्ण ही मेरा गति है।[1]

वल्लभाचार्य जी के ग्रन्थों का विवेचन हम अगले अध्याय मे करेगे। जिस प्रकार आचार्य वल्लभ ने तत्कालीन परिस्थितियो का निराशापूर्ण चित्र खीचा है, उसी प्रकार अन्य भक्त कवियों ने भी अपनी कृतियों मे हृदय के उद्‌गार प्रकट किये है, श्री 'उमर मुहम्मद अशरफ' द्वारा सम्पादित पुस्तक "Life and conditions of the people of Hindustan" मे लिखा है।

The more important poetic activity was, however, shown in composing devotional religious songs (the Bhakti-songs), which are an extremely valuable source for the study of social conditions. Their tone in general is gloomy and their criticism of social life some what unbalanced, but they disclose a wealth of informations and reveal the deep emotions, which moved the people of that age, there are rich collections of these songs from all parts of Hindustan."[2]

इससे तो हम यही निष्कर्ष निकालते है कि अकबर के समय से पूर्व भारतवर्ष की सामाजिक दशा सन्तोषजनक नही थी परन्तु यह तथ्य भी स्मरणीय है कि हिन्दू-समाज मे व्याप्त यह असन्तोष की भावना केवल विदेशी सत्ता की परुषता के कारण ही नही थी अपितु उसके आन्तरिक संगठन मे भी ऐसी कुरीतियाँ घर कर गई थी कि उसका सारा कलेवर ही जर्जर हो गया था। रोग शारीरिक ही नही, मानसिक भी था, जिसका उपचार सर्वप्रथम अपेक्षणीय था। पारस्परिक वैमनस्य, साम्प्रदायिक कट्टरता, जाति-भेद और छुआ-छूत का भूत हिन्दुओं के सिर पर बुरी तरह खेल रहा था, जिसका सम्बन्ध मुसलमानी शासन सत्ता से औचित्य-अनौचित्य की ओर से आँखे मूँदकर ही जोडा जा सकता है। मध्यकालीन सभी सन्तो और महात्माओ ने इन कुप्रथाओं को दूर से ही संकेत नही, उठा-उठा कर समाज के सामने रखा था। पुष्टि-सम्प्रदाय से दीक्षित होने से पूर्व की सूरदास जी की रचनाओं मे भी इन परम्परागत बातों का उल्लेख मिलता है। नारी-निन्दा तो इन सन्तों को मानो गुरु-मन्त्र के रूप में ही मिली थी, जो स्पष्ट ही संसार के मिथ्यात्व का प्रचार करने वाले

१ आचार्य वल्लभकृत षोडश ग्रन्थान्तर्गत "कृष्णाश्रय" के श्लोक २, ३, ५

२ "Life and Conditions of the people of Hindustan" from the Journal of the "Asiatic Society of Bengal" Letters Vol. I, 1935 issued 20th Dec. 1935, Page 119.

शंकर के दर्शन की देन थी; किन्तु आश्चर्य है कि नारी की निन्दा मे अनेक दोहो और पदों का प्रणयन करने वाले, उसे संसार-सागर-सन्तरण के समय कण्ठ मे बँधी हुई शिला समझने वाले ये साधक स्वयं नारी भावना की अवहेलना नहीं कर सके और प्राय: नारीरूप मे ही भगवान को अपने प्रेम का पुष्पोहार समर्पित करते रहे। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी अपने 'मानस' के बाल-काण्ड में तत्कालीन समाज का चित्र चित्रित किया है। सम्भव है कि मुसलमानी दुर्व्यवस्था और अत्याचारो के कारण ये भावनाएँ और भी दृढ हो गई हों। मुसलमानो का मजहब स्वयं भी निवृत्ति-परक था, इससे सन्तों की वैराग्य-भावना को और भी प्रोत्साहन मिला। कदाचित् इसी कारण से मध्ययुग के मनुष्य मे व्यक्तिवादिता का प्राधान्य रहा। समाज की सास्कृतिक और साहित्यिक प्रगति मे बाधा डालकर इस व्यक्तिवाद ने उसका बहुत अहित किया। मध्ययुग के भक्ति-आन्दोलन को तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के साथ रखकर देखने से हमें बहुत-सी गुत्थियाँ उलझी हुई दीख पडती हैं। शान्तिप्रिय व्यक्ति ऐसे समाज को दूर से ही प्रणाम कर यदि कोलाहल की इस अवनी को त्याग कर क्षितिज के 'उस पार' जाना चाहें तो क्या आश्चर्य ? आँखें मूँद लेने पर भी जब हमारे कवि सूरदास को संसार के कोलाहल ने न छोडा, तो वे ससार को त्याग कर विरक्त हो गये और स्थायी रूप से लीलामय भगवान् कृष्ण के ब्रजधाम में रहकर व्यक्तिगत-साधना में आत्मविभोर हो गये। फिर जीवन-पर्यन्त वे ब्रज से न निकले, निकले तो उस गोलोक की तैयारी करके, जिसकी प्रतिच्छाया स्वयं ब्रज और वृन्दावन है। सूरदास जी ने दार्शनिक सिद्धान्तो और भक्ति का विवेचन करते समय हम सूर के उन विचारों का उल्लेख करेंगे, जो ससार के प्रति उनकी घृणा के स्पष्ट परिचायक है।

साहित्यिक-परिस्थितियाँ

सूर-साहित्य की पृष्ठ-भूमि पर विचार करते समय हमे उन साहित्यिक-परम्पराओं को भी दृष्टि मे रखना चाहिए, जो सूर को अपने से पहले साहित्यकारों से नमूने के रूप मे उपलब्ध हुई थी किन्तु खेद है कि उन साहित्यिक परम्पराओ के विषय में हिन्दी के साहित्यकारों ने बहुत कम छान-बीन की है। सूरदास जी के सूर-सागर के विषय मे आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल लिखते है:—

"भिन्न-भिन्न लीलाओं के प्रसग लेकर इस सच्चे रस-मग्न कवि ने अत्यन्त मधुर और मनोहर पदों की झड़ी-सी बाँध दी है। इन पदों के सम्बन्ध मे ध्यान देने की सबसे पहली बात यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक रचना होने पर भी यह इतनी सुडौल और परिमार्जित है। यह रचना इतनी प्रबल और काव्याङ्गपूर्ण है कि आगे होने वाले कवियो की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ सूर की जूँठी-सी जान पडती हैं। अतः 'सूर-सागर' किसी चली आती हुई गीत परम्परा का, चाहे वह मौखिक ही रहा हो, पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है।"[1] मौखिक गीतों को प्रधानता देते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा है, "देश की काव्यधारा के मूल प्राकृतिक स्वरूप का परिचय हमें चिरकाल से चले आते हुए इन्ही गीतों से मिल सकता है।" आगे चलकर मैथिल कवि विद्यापति की पदावली से सूर के गीतो का सम्बन्ध स्थापित करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है : "सूर के शृंगारिक पदों की रचना बहुत कुछ विद्यापति की पद्धति पर हुई है। यही नही, कुछ पदों के तो भाव भी बिल्कुल मिलते हैं। 'सूरसागर' में जगह-जगह दृष्टिकूट वाले पद मिलते है। यह भी विद्यापति का अनुकरण है।"[2]

गेय पदों वाली यह साहित्यिक-पद्धति अपभ्रंश-काल से ही चली आ रही थी, जो मैथिल कोकिल विद्यापति की पदावली में देशभाषा के रूप में प्रस्फुटित हुई थीं। इधर सन्तों ने भी इस

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास (आ० रामचन्द्र शुक्ल) सख्या २००६ पृ० १६५
२ हिन्दी-साहित्य का इतिहास (आ० रामचन्द्र शुक्ल) सं० २००६ पृ० १३५

परम्परा को अपनाकर अनेक पदों की रचना की। यदि अमीर-खुसरो की रचनाओ को प्रामाणिक मानें—जिसके सम्बन्ध मे अभी सन्देह है—तो भाषा मे इस शैली को अपनाने वाला सर्वप्रथम कवि खुसरो ही माना जायगा। मानव हृदय की मधुरतम भावनाओं की व्यंजना करने मे गीत-शैली सर्वोत्कृष्ट है और ब्रजभाषा अपने माधुर्य एवं कोमलता के लिए प्रसिद्ध है ही। अतएव ब्रजभाषा में यह शैली जितनी फबती है, उतनी खड़ी बोली मे नही। शताब्दियो तक ब्रजभाषा उत्तरी भारत की एकछत्र साहित्यिक-भाषा रही और उसमें असंख्य पदों की रचना हुई जिनका प्रभाव आज भी स्त्रियों में प्रचलित खडी बोली के गीतों में पाया जाता है। यह गीत परम्परा—मौखिक रूप में ही सही—हमारे साहित्यिक जीवन मे बडी महत्वपूर्ण है, क्योकि इसमे समाज के सांस्कृतिक स्तर का पूर्णतया स्पष्ट प्रतिबिम्ब मिलता है। इन घरेलू गीतों के द्वारा हमे भक्ति के सामान्य विकास का परिचय भी सहज ही प्राप्त हो सकता है। हम आगे बतायेंगे कि किस प्रकार 'सहजिया' और 'बाउल' सम्प्रदाय की भक्ति-भावना का सम्बन्ध उस प्रान्त में प्रचलित लोक गीतों से लगाया जा सकता है। सूरदास जी ने भी राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं के जो गीत अपने कोकिल-कण्ठ से गाये, वे इसी परम्परा के आधार पर खड़े है। संगीत के आचार्य 'ध्रुवपद' की उत्पत्ति का अनुसन्धान करते-करते बारहवी शताब्दी तक पहुँच गये है। प्रसिद्ध गायक बैजू बाबरा एक ऐतिहासिक व्यक्ति था, जिसकी ख्याति तानसेन से भी पहले हो चुकी थी, उनके पद आज भी प्रायः गाये जाते है। इन सब बातों से ज्ञात होता है कि गेय-पद-परम्परा भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन है। हम यह पहले कह चुके हैं कि यह परम्परा-अपभ्रंश-काल से ही चली आ रही है। बौद्ध-सिद्धो और नाथों के अनेक गेयपद आज भी उपलब्ध है। महाराष्ट्र मे ज्ञानेश्वर और मुक्ताबाई के भक्ति विषयक पद, जिनकी रचना हिन्दी में हुई थी आज भी गाये जाते है। नामदेव ने तो हिन्दी और मराठी दोनों ही भाषाओं में पद लिखे थे।

इस गेय-पद-शैली के साथ-साथ लीला-गान-परम्परा का भी पर्याप्त प्रचलन पाया जाता है। यह अवश्य ही कहा जा सकता है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुष्टि सम्प्रदाय की स्थापना से इस परम्परा मे नवीन चेतना और स्फूर्ति का स्पन्दन हुआ परन्तु वह माननीय नहीं जँचता कि उनसे पहले लीला-गान की परम्परा प्रचलित ही नही थी। इस विषय पर प्रकाश डालते हुए आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी अपने 'हिन्दी-साहित्य' मे लिखते है :

"बारहवी शताब्दी के कवि जयदेव के संस्कृत पद, बौद्ध साधको के गान और चण्डीदास तथा विद्यापति के पद इस बात के सबूत है कि भगवान के अवतार को लक्ष्य बनाकर लीला-गान करने वाले भक्तों में सूरदास से पहले के तीन भक्तों की चर्चा प्रायः की जाती है—विदिशा के संस्कृत-कवि जयदेव, बंगाल के चण्डीदास और मिथिला के विद्यापति।"[1]

इसमे सन्देह नही कि लीला-गान-परम्परा बहुत प्राचीनकाल से चली आ रही थी। सम्भव है, प्राचीन परम्परा भागवत की लीला-परम्परा से भिन्न हो, जैसा कि डा० हजारीप्रसाद जी ने लिखा है :

"सम्भतः दसवी-ग्यारहवी शताब्दी में भागवत-परम्परा से भिन्न भी कोई लीला-गान की शास्त्रीय परम्परा थी। जयदेव का 'गीत-गोविन्द' पूर्णरूप से भागवत-परम्परा का गीत नही है; उसमें राधा प्रमुख गोपी है, जो भागवत मे अपरिचित है, फिर 'गीत-गोविन्द' का रास 'बसन्त रास' है जबकि भागवत का 'शरद-रास'।"[2] पश्चिमी भारत में लीला-गान का प्रचार बतलाते हुए द्विवेदी जी ने क्षेमेन्द्र के 'दशावतार-चरित' और चन्द के 'दशम' का उलेख किया है।

---

१ हिन्दी-साहित्य (आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी) पृ० ६६

२ वही, पृ० १६७

'सूर-साहित्य' के अध्ययन से हम सहज ही यह अनुमान लगा सकते है कि सूरदास जी के साहित्य पर पूर्व प्रचलित परम्पराओं का कितना प्रभाव पडा। हम पहले बता चुके है कि सूर उच्चकोटि के भक्त थे और एक परिनिष्ठित सम्प्रदाय में दीक्षित थे। सम्प्रदाय मे दीक्षित होने से पहले के पदो मे उन परम्पराओं का कितना प्रभाव लक्षित होता है, उतना उनके साम्प्रदायिक साहित्य पर नही। उनके विनय के पदों मे भी केवल सामाजिक परिस्थितियों की ही झाँकी मिलती है; राजनीतिक उलझनो से सूर का कोई सरोकार प्रतीत नही होता। उनके विनय के पदों में समाज का जो चित्रण हुआ है, उसमे परम्परागत विचारों का ही बाहुल्य है, जो प्राय: सभी सन्त एवं भक्त कवियों की रचनाओं मे समान रूप से उपलब्ध होते है। ऐसा ज्ञात होता है कि समाज की विषम परिस्थितियों से ऊब कर सन्त और भक्त महात्मा उसे आध्यात्मिक मार्ग की ओर उन्मुख करने के लिये दीर्घ-काल से सतत प्रयत्नशील थे। प्रेममार्गी कवियों के अतिरिक्त इस युग के सभी कवियो ने सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियो से असन्तोष ही प्रकट किया है। 'जायसी' ने शेरशाह के राज्य का अवश्य रुचिकर वर्णन संक्षेप मे किया है। यद्यपि शेरशाह के समय मे परिस्थितियाँ बहुत कुछ परिवर्तित हो गई थी तथापि जायसी के वर्णन को पूर्णरूपेण निष्पक्ष नही कहा जा सकता। तत्कालीन मुस्लिम इतिहासकारों के लेखो से भी परिस्थितियो का यथार्थ एवं विशद वर्णन नही मिलता। सूरदास के साहित्य मे धार्मिक अराजकता अथवा अत्याचार का कोई सकेत नही मिलता, केवल सामाजिक दुर्व्यवस्था का ही कुछ विवरण मिलता है। कुछ आलोचकों ने उनके पदों में विशेष परिस्थितियों के चित्रण के अनुमान लगाये हैं, परन्तु वह सब 'दूर की सूझ' ही जान पड़ती हैं। 'सूर का चौपड' वाला पद सामाजिक परिस्थिति का निर्देशक बताया जाता है और सम-सामयिक ऐतिहासिक विवरणों के अनुसार उस काल में यह खेल समाज में खूब प्रचलित भी था किन्तु सूर का उद्देश्य तो चौपड़ के रूपक द्वारा जन-साधारण को सचेत करना ही प्रतीत होता है, सामाजिक चित्रण करना नहीं।

सम्प्रदाय मे दीक्षित होने के पश्चात् का जो सूर का साहित्य है, उसमें सामाजिक अथवा राजनीतिक चित्रण खोजना तो आकाश-पुष्पों के प्रति लालायित होना ही कहा जा सकता है। उस साहित्य मे ब्रजवासियों के आनन्द, उत्सव आदि का जो चित्रण उन्होने किया है, उसे सामाजिक परिस्थितियों का प्रतीक माना जाय तो वह युग सतयुग से भी उत्कृष्ट ठहरेगा परन्तु इस प्रकार की अटकल लगाने से पूर्व यदि पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों पर दृष्टि-प्रक्षेप कर लिया जाय—जिसके अनुसार गोप, राधा, कृष्ण, वृन्दावन आदि सब, इस लोक से नही, गोलोक से सम्बन्ध रखने वाली बातें हैं—तो ज्ञात होगा कि सूर के ये वर्णन इस भौतिक जगत् से सम्बन्ध ही नही रखते। विषय की दृष्टि से सूरदास जी में जहाँ एक ओर पूर्ण मौलिकता है, वहाँ दूसरी ओर वे परम्परा और सम्प्रदाय दोनों से ही प्रभावित भी है। इस विषय में लीला-गान-परम्परा का उल्लेख हम पहले कर ही चुके हैं। उत्सवों, पर्वों आदि का वर्णन भी परम्पराओं और लोकगीतों पर आधारित कहा जा सकता है। पौराणिक कथाओं और प्रसंगों का उल्लेख तथा विवरण भी किसी पुराण के आधार पर नही कहा जा सकता। हम आगे प्रकरण में बतायेंगे कि पुष्टि-सम्प्रदाय में भागवत की मान्यता होने पर भी अन्य पुराण भी आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। सूर ने कवि होने के नाते पुराणो की कथाओं को आवश्यक परिवर्तन और परिवर्धन के साथ ग्रहण किया है, फिर भी उन पर साम्प्रदायिक प्रथाओं का ही विशेष प्रभाव कहा जा सकता है, यह हम आगे बतायेंगे।

सूरदास जी के सम्बन्ध मे यह भी विचारणीय है कि यद्यपि वे पुष्टि-सम्प्रदाय मे दीक्षित थे और जीवन-पर्यन्त सम्प्रदाय की सेवा-प्रणाली में ही लगे रहे, फिर भी यह नही कहा जा सकता कि उनके ऊपर सम-सामयिक अन्य वैष्णव-सम्प्रदायों का प्रभाव बिल्कुल नही पड़ा था । जहाँ एक ओर उनके साहित्य मे हमें 'नाथ' सिद्ध आदि सम्प्रदायों के संकेतो के साथ-साथ सन्तो की वाणियों में प्रचलित पारिभाषिक शाब्दावली तथा दार्शनिक सिद्धान्तो के उल्लेख मिलते हैं, वहाँ दूसरी ओर अन्य वैष्णव सम्प्रदायों का प्रभाव भी स्पष्ट लक्षित होता है। सूर की भक्ति-भावना का विवेचन करते हुए हम देखेगे कि वैष्णव आचार्यो के आगमन के पूर्व ब्रज-भूमि मे शिव-भक्ति का प्रचार था और स्वयं सूरदास भी अपने सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व यदि शैव नही थे तो शिव-भक्ति के प्रभाव से शून्य भी नही थे। अतएव सूर-साहित्य के अध्येता के लिये सूर के समकालीन वैष्णव-सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का थोड़ा-सा ज्ञान आवश्यक है। अगले प्रकरण में वैष्णव-सम्प्रदायों का विवेचन करते हुए हम यह भी बतायेंगे कि दक्षिण का भक्ति आन्दोलन में कहाँ तक योग है ।

———

चतुर्थ अध्याय

भक्ति-आन्दोलन में दक्षिण का योग और वैष्णव-सम्प्रदाय

हर्षवर्धन की मृत्यु से राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं साहित्यिक सभी दृष्टिकोणों से हिन्दुत्व को बडा धक्का लगा। हिन्दू-साम्राज्य छिन्न-भिन्न होकर छोटे-छोटे राज्यों मे विभाजित हो गया जिनमें पारस्परिक द्वेष, कलह और ईर्ष्या की भावना ने जन्म लिया; समाज का स्तर गिरने लगा और धार्मिक-संस्थाओं के लिए कोई आश्रय न रह गया। एक राज्य-भाषा न होने के कारण साहित्य की उन्नति रुक गई; साहित्य, सगीत और कला के लिए प्रोत्साहन का नाम-निशान भी न रहा। उत्तरी भारत, जो अब तक धर्म, कला, साहित्य, नीति, दर्शन आदि का केन्द्र बना हुआ था, अव्यवस्थित राजनीति के कारण छिन्न-भिन्न होने लगा। हम पहले लिख चुके हैं कि गुप्त वंश का युग भारतीय इतिहास में स्वर्ण-युग कहा जाता है और उससे पहले के काल को पाश्चात्य लेखकों ने अन्धकार-युग का नाम दिया है। तीसरी शताब्दी के प्रारम्भ से, जबकि शुङ्ग कण्व, और सातवाहनों का पतन हुआ, राजनीतिक परिस्थितियाँ अव्यवस्थित हो गई थी। इन वंशों के राजाओं के समय में ब्राह्मण-धर्म का पुनरुत्थान हुआ था किन्तु उसके अनन्तर विदेशी आक्रमणों का आरम्भ हुआ। पुराणों मे आभीर, गर्दभिल्ल, शक, यवन, बाल्हीक आदि अनेक राजवंशों के वर्णन मिलते हैं। कदाचित् किसी प्रकार की व्यवस्था न होने के कारण ही पाश्चात्य ऐतिहासिकों ने इस युग का नामकरण 'अन्धकार-युग' किया हो। चौथी शताब्दी के प्रारम्भ में गुप्त-वंशीय राजाओं ने भारतवर्ष में अपनी विजय-पताका फहराई और देश मे सुख-शान्ति की स्थापना कर राष्ट्रीय जीवन को प्रत्येक दृष्टि से विकास की ओर अग्रसर किया। इस युग में बौद्ध एवं जैन धर्म का ह्रास प्रारम्भ हो गया था था और शैव शाक्त, वैष्णव आदि सम्प्रदाय पनपे। महाभारत; रामायण, पुराण आदि धार्मिक ग्रन्थों का पुनः सम्पादन हुआ, षड्दर्शन व्यवस्थित हुए, पाञ्चरात्र शैवागम और तन्त्र-साहित्य का सृजन हुआ, काव्य और कला के क्षेत्र में उन्नति हुई तथा ज्योतिष, ज्ञान, आयुर्वेद आदि वैज्ञानिक विषयो में नूतन अनुसंधान किये गये।

हर्षवर्धन के निधन के पश्चात् पुनः ह्रास का युग आया। राजनीतिक संघर्ष की विभीषिका से त्रस्त धर्म, कला एवं काव्य को फिर एक बार दक्षिण में आश्रय प्राप्त हुआ। पौराणिक कथाओं के आधार पर कहा जाता है कि अगस्त्य ऋषि ने विन्ध्य पर्वत को पार कर दक्षिण मे आर्य-संस्कृति का प्रचार किया। यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती कि द्राविड़ों ने आर्य-संस्कृति और साहित्य के विकास में पर्याप्त योग दिया है। पाण्ड्य, चोल, केरल और पल्लव वंशीय राजाओं ने दूर दक्षिण में, एवं आन्ध्र तथा चालुक्य वंशीय राजाओं ने दक्षिण में भारतीय सभ्यता, संस्कृति और साहित्य की उन्नति मे पूरा-पूरा हाथ बटाया था। अशोक की मृत्यु के पश्चात् दक्षिण का बहुत सा प्रदेश आन्ध्रवंशी राजाओं के हाथ मे आ गया था और उन्होंने

ईसा पूर्व २२५ से सन् २२५ ई० तक के समय में इस दिशा मे जो योग दिया, वह स्मरणीय है। इस वंश के शासकों से पहले सातवाहन शासक भी इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य कर चुके थे। आन्ध्रों के पश्चात् क्रमशः वकाटक और चालुक्य राज-वशों का दक्षिण पर आधिपत्य हुआ। आन्ध्रवंशीय राजा हाल की महाराष्ट्री भाषा मे लिखी हुई सप्तशती अत्यन्त प्रसिद्ध साहित्यिक कृतियों में से है। 'वृहत्कथा' की रचना हाल के ही मन्त्री ने की थी। इस प्रकार जब उत्तर भारत की स्थिति विदेशी आक्रमणों से छिन्न-भिन्न हो रही थी, उस समय भी दक्षिण भारत मे साहित्य और सस्कृति का अभ्युदय हो रहा था। पाणिनि के व्याकरण मे 'चोल' और 'पाण्ड्य' तथा कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' मे 'पाण्ड्य-मुक्ता' का उल्लेख इस तथ्य का सूचक है कि ईसा से शताब्दियों पूर्व दक्षिण के राज्य व्यवस्थित रूप मे सस्कृति और साहित्य मे योग दे रहे थे। अशोक ने दक्षिण मे बौद्ध-धर्म के प्रचार की पूरी-पूरी व्यवस्था की थी किन्तु छटी शताब्दी के आते-आते वह तीव्र गति से ह्रासोन्मुख हो चुका था। जैन-धर्म अवश्य किसी न किसी रूप में प्रचलित रहा किन्तु नवी शताब्दी तक हिन्दू-धर्म की इतनी अभिवृद्धि हुई कि जैन और बौद्ध दोनों ही धर्म पिछड गये।

धार्मिक दृष्टिकोण से हम कह सकते है कि आठवी शताब्दी से लेकर पन्द्रहवी शताब्दी तक दक्षिण ही सुधार का केन्द्र रहा है। वैष्णव और शैव सभी भक्तों ने भक्ति पर बल दिया तथा आचार्यो ने अपने-अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। उत्तरी भारत से राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनो के कारण धर्म की जो धारा दक्षिण में पहुँच गई थी, वह फिर अवसर पाकर उत्तरी भारत मे पहुँची और अनुकूल वातावरण पाकर एक अत्यन्त विशाल और विस्तृत प्रवाह में परिणत हो गई। इसी तथ्य की ओर भागवतकार ने भी संकेत किया है—

"उत्पन्ना द्रविड़े साह वृद्धि कर्णाटके गता।
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता॥
तत्र घोरकलेर्योगात् पाखण्डैः खण्डिताङ्गका।
दुर्बलाहं चिरं याता पुत्राभ्यां सह मन्दताम्॥
वृन्दावन पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी।
जाताह युवती सम्यक् श्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम्॥"[१]

अर्थात् मेरा जन्म द्रविण देश मे हुआ, कर्नाटक मे और कभी-कभी महाराष्ट्र मे पालन-पोषण हुआ, गुजरात मे जीर्णता को प्राप्त हुई, वहाँ परे पाखण्डों ने मुझे विकृतांग बना दिया और मै दुर्बलता को प्राप्त होकर पुत्रो सहित मन्दता को प्राप्त हो वृन्दावन में आई, जहाँ मैंने सुन्दर रूप प्राप्त किया, मैं युवती हुई और अब उत्कृष्ट रूप वाली हो गई।

बात यह है कि दक्षिण मे अभी तक हिन्दुत्व का बोल-बाला था। बौद्ध और जैन-धर्म निराश्रित हो चुके थे। उत्तरी भारत मे जहाँ एक ओर हिन्दू राजाओं की शक्ति छिन्न-भिन्न हो रही थी, वहाँ दूसरी ओर एक अन्य विदेशी धर्म (इस्लाम धर्म) से उसका मुकाबला था। दक्षिण में चोल और विजय-नगर के राजा अभी शक्ति-सम्पन्न थे। ईसा की पहली शताब्दी मे तो शैव, वैष्णव, बौद्ध, जैन आदि सभी मत समानान्तर रूप से चलते रहे परन्तु अब निश्चित रूप से हिन्दू-धर्म का आधिपत्य पुनः स्थापित हो गया था।[२]

---

१ श्रीमद्भागवत महात्म्य अध्याय १ श्लोक ४८, ४६, ५०

२ देखिये The coming of the Brahmanism to the South of India J. R. A. S. 1912 (Govindacharya) तथा 'South Indian History' (S. K. Iyangar),

चौथी शताब्दी मे जब गुप्त-वंश के राजाओं का आधिपत्य उत्तरी भारतवर्ष में हुआ, तो दक्षिण मे भी ब्राह्मण-धर्म को प्रोत्साहन मिला। ब्राह्मण-धर्म के आचार्य केरल राज्य मे जाकर बसे. किन्तु सातवी शताब्दी तक, जैसा कि ह्वेनसाग के लेखों से विदित होता है, बौद्ध और जैन-धर्म अच्छी स्थिति मे थे परन्तु शैव-धर्म जोर पकड रहा था। पल्लव-वंश क राजाओं के द्वारा शैव-धर्म को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। हर्ष-वर्द्धन ने तो हिन्दू और बौद्ध धर्म दोनों ही को समान रूप से प्रोत्साहित किया परन्तु पुलकेशिन् द्वितीय ने अश्वमेघ यज्ञ किया और ब्राह्मण-धर्म के पुनरुत्थान मे पूर्ण योग दिया। इन दिनो दक्षिण मे पल्लववंशीय नरसिंह वर्मा ने पौराणिक धर्म का प्रचार किया। महामल्लपुरम् के मन्दिर इसी काल मे बने। सातवी और आठवी शताब्दियों मे दक्षिण के चालुक्य और पल्लव-वशीय राजाओं ने हिन्दू-धर्म की उन्नति में पूरा-पूरा योग दिया परन्तु पारस्परिक कलह से दोनों वशो की जड़े कमजोर हो गई, जिसके कारण चोल और राष्ट्रकूट-वंशीय राजाओ ने अपना आधिपत्य जमा लिया।[1]

दक्षिण मे आठवी शताब्दी राजनीतिक व धार्मिक उथल-पुथल की शता[illegible] कही जाती है। भक्ति-आन्दोलन का मूल यही से प्रारम्भ होता है। शैव और वैष्णव धर्म के आ[illegible]र्यो ने मिलकर बौद्ध तथा जैन धर्म का कडा विरोध किया। इन नास्तिक धर्मो की तुलना मे उन[illegible]ने भगवान की सत्ता, उदारता और दयार्द्रता का प्रचार किया। वास्तव मे ये प्रचारक आचार्य न होकर सन्त थे और उनके उपदेशों का माध्यम तद्देशीय भाषा थी। इसमे सन्देह नही कि हि[illegible]दू धर्म का जो स्वरूप इस समय स्थिर हुआ, उनका बहुत कुछ श्रेय बौद्ध धर्म और जैन धर्म [illegible]ी है। जैसा कि डा० ताराचन्द ने "Influence of Islam or Indian Culture" मे लिखा है: —

"For they took over from Budhism its devotionalism, its sense of the transitoriness of the world, its conception of human-worthlessness, its suppression of desires and asceticism as also its ritual, the worship of idols and stupas or lingams, temples, pligrimages, fasts and monastic rules and its idea of spiritual equality of all castes; from Jainism they took its ethical tone and its respect for animal life.

The assimilation of these ideas into Pawanic theology and the pervasion of the whole with warm human feelings was the achievement of the saintly hymn-makers of Tamil-land The celebrated 'Adiyars' (The Saiva Saints) and the 'Alwars' (Vaisnava Saints), who flourished between the 7th and the 12th centuries."[2]

कहने की आवश्यकता नही कि सिद्धान्त रूप से तो सभी वैष्णव-सम्प्रदायों ने अपना सम्बन्ध वेदों से लगाया और थोड़े बहुत अन्तर के साथ योग-दर्शन की समान रूप से व्याख्या की परन्तु भक्ति का वह स्वरूप, जो उत्तरी भारत मे प्रचलित विभिन्न सम्प्रदायों मे दीख पडा उसके मूल में इन्ही शैव तथा वैष्णव भक्तों की भक्ति-भावना थी। इन भक्त सन्तो के पद-संग्रह आज भी बहुत उच्च कोटि के माने जाते हैं। शैव-भक्ति-साहित्य को तञ्जौर-निवासी नम्बियानदार ने चोलवंशीय राजा कुलशेखर (९८५-१०१३ A. D) के समय मे ग्यारह भागों में 'तिरुमुरारि' नाम से संकलित किया। इन ग्यारह भागों में से पहले तीन तो 'तिरुज्ञान' नाम से सम्बन्धमूर्तिस्वामी

---

1 "Historical sketches of Daccan" book II and III (K. V. Subrahmanya Aiyer).

2 Influence of Islam on Indian culture by Dr. Tara Chand P. 86-87.

के संग्रह है, दूसरे तीन तिरुनाऊकरसू के और सातवाँ सुन्दर का। ये सात सग्रह 'देवाराम' नाम से प्रचलित है, जिनमे ईश्वर की प्रार्थना की गई है और जो धार्मिक कृत्यों के अवसर पर वेदों के समान पढ़े जाते है। आठवाँ संग्रह "माणिक्कवासहर" का 'तिरुवाचकम्' है जो उपनिषदों के समकक्ष माना जाता है। नवम 'तिरुइसेय्या' नाम से छोटे-छोटे कवियो के पदों का सग्रह है। दसवें भाग मे 'तिरुमूलर' के पद है और ग्यारहवे मे 'नक्किरार' तथा 'नम्बियानदार' आदि के पद सगृहीत हैं। ये ग्यारह संकलन तथा 'प्रिय पुराण' इन शैव भक्तो का धार्मिक-साहित्य है।

शैव-भक्तो की भाँति वैष्णव-भक्तो के भी संग्रह है जिनका संकलन दसवी शताब्दी मे 'नाथमुनि' ने संभवत· 'नम्मालवार' के सम्पादकत्व मे किया। यह संग्रह 'प्रबन्धम्' के नाम से प्रसिद्ध है और वेदवत् ही मान्य है। इन 'आलवार' भक्तो की सख्या बारह मानी जाती है, जिनमे चार पल्लव, तीन चोल, एक चेर और चार पाण्ड्य देश के कहे जाते है। इनके गीतों में उच्च-कोटि की भक्ति-भावना निहित है और इनकी जीवनचर्या से प्रतीत होता है कि ये उच्च-कोटि के साधक भक्त थे, इनमे से कुछ तो अवतार रूप से माने जाते हैं। इनके पदों में वही भाव निहित है, जो आगे चलकर 'पुष्टि-सम्प्रदाय' और 'चैतन्य-सम्प्रदाय' की भक्ति-भावना के प्रेरक हुए। Kings Bury और Phillips ने इन पदो का अँग्रेजी अनुवाद भी किया है। डा० पोप इन गीतो के विषय मे लिखते हैं—

The fact of these songs—full of living faith and devotion—was great and instantaneous. South India needed a 'Personal God', an assurance of immortality and a call to prayer. These it found in Manikk vashar composition.[1]

शैव और वैष्णव संतों के गीतों मे भावो और विचारों का तो कोई अन्तर नही है केवल प्रथक्-प्रथक् शिव और विष्णु को प्राधान्य दिया गया है। एक ओर प्रधान अन्तर यह है कि विष्णु भगवान् तो गीता के इस वचन के अनुकूल :

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम्।।

बार-बार जन्म लेते हैं परन्तु शिव इस प्रकार नही करते। इन वैष्णव-भक्तों ने और ईश्वर का सम्बन्ध स्त्री-पुरुष के मधुर सम्बन्ध के समान माना है। गोविन्दाचार्य ने अपनी "The Devine Wisdom of Dravidian Society" नामक पुस्तक मे इन भक्तों के गीतों का अनुवाद किया है। 'अन्दाल' नामक की भक्तिन एक स्थान पर कहती है—"I shal wed, if at all, none other than the Supreme Lord"—

इन भक्तों के गीतों मे हृदय की रागात्मिका वृत्ति से प्रेरित मानव मात्र के हृदय को स्पर्श करने वाले वे भाव थे, जिनके प्रवाह मे सारा समाज बह गया और बुद्ध तथा जैन-धर्म के लिए जन-साधारण में कोई श्रद्धा न रह गई।

इन भक्त सन्तों के गीत स्वाभाविक और स्वच्छन्द भाव-धारा के प्रतीक मात्र थे। हृदय-मुक्ति की उस चरम सीमा पर पहुँच कर जहाँ उपासक और उपास्य एक हो जाते है, विश्वास संशय पर विजय पा लेता है, भावना बुद्धि के व्यापार को कुण्ठित कर समस्त वृत्तियों को आत्मसात् कर लेती है, इन भक्त कवियों ने प्रेमा भक्ति के वे गीत गाये जिनकी मधुर धारा से तर्क, शास्त्र-ज्ञान, अविश्वास आदि के भाव विलीन हो गये और समस्त प्रदेश रससिक्त हो गया। उसके मानस से

1 Pope op. cit. page 36,

निकले हुए इन निर्मल भाव मौक्तियों को अपने कण्ठ का आभरण बना कर श्रोतागण कृतकृत्य होने लगे और आनन्द का ऐसा पारावार उमडा जिसमे ऐहिक लालसाओ समुद्भूत सताप सन्तोष की सुखद शीतलता मे परिणत हो गया। परन्तु परवर्त्ती विद्वान् आचार्यों ने उन कोमल भावों मे तर्क का पुट लगाकर तथा शास्त्रीय नियमो के साँचे मे ढाल कर सिद्धान्तो की प्रतिष्ठा की और श्रुतिस्मृतियो से उनका सूत्र जोड कर अनेक सम्प्रदायो के रूप मे प्रगति दी। यही कारण है कि हिन्दू-शास्त्रों पर अनेक टीकाये लिखी गई और प्रत्येक टीकाकार ने अपने सम्प्रदाय की मान्यताओं के अनुकूल उनका अर्थ किया। वस्तुत. समस्त वैष्णव-सम्प्रदायों के मूल मे इन सन्तो के गीत की भाव-धारा ही रस उँडेलती दीख पडती है। हम पहले अध्याय मे कह आये है कि इन भक्तों की गीत परम्परा, भाव रूप मे ही सही, मध्यभारत और महाराष्ट्र को अपनी ध्वनि से गुञ्जित करती हुई उत्तरी भारत की ओर प्रवृत्त हुई और आचार्यो ने उन विचारो को व्यवस्थित रूप मे ढालकर प्रचार-कार्य प्रारम्भ किया। सबसे पहले आचार्य शङ्कर हुए।

विभिन्न-वैष्णव सम्प्रदाय

शंकराचार्य

यद्यपि आचार्य शंकर के जीवन एवं सिद्धान्तों से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री अधिगत है तथापि उनके काल के विषय मे अभी तक कोई सर्वमान्य निर्णय नही हो पाया। श्री कृष्ण स्वामी अय्यर ने 'Shanker and His Times' मे भाष्याचार्य ने अपनी पुस्तक 'Age of Shankar' मे तथा आनन्दगिरि ने 'शंकर-विजय' में उनके जीवन तथा समय पर प्रकाश डाला है। उनका जन्म सं० ८४५ तथा निधन सं० ८७७ से माना जाता है; पर तिलक जी इस मत से सहमत न होते हुए उनका समय उक्त तिथि से एक शताब्दी पूर्व मानते है।[1] शकर का जन्म मलाबार प्रदेश मे मलाबार नदी के किनारे कलादि नामक एक छोटे से ग्राम मे हुआ था। इनके पिता का नाम शिवगुरु था, नम्बूद्री ब्राह्मण थे और माता का नाम था आर्याम्बा। ये अभी बालक ही थे कि इनके पिता का देहावसान हो गया और इनकी शिक्षा-दीक्षा का पूरा भार इनकी माता पर ही पडा। शंकर अलौकिक-प्रतिभा-संपन्न बालक थे, ससार की असारता से प्रभावित होकर अल्पायु मे ही ये सन्यासी हो गये और नर्मदा के तट पर विचरण करने वाले गोविन्द योगी के शिष्य बने जो स्वयं आचार्य गौड़पाद के शिष्य थे। उन्होने शकर की विद्या, त्याग-भावना और अपूर्व प्रतिभा से प्रभावित होकर उन्हे परमहंस की उपाधि दी और तत्पश्चात् शंकर ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए देश-यात्रा प्रारम्भ की। उनके जीवन-चरित्र के लेखक आनन्दगिरि ने शंकर की दिग्वजय का पूर्ण विवरण दिया है। दिग्वजय के पश्चात् वे कई बार अपनी जन्मभूमि मे भी आये थे और वहाँ अनेक सुधारों का श्रीगणेश किया था। उन्होंने स्थान-स्थान पर मठों की स्थापना की और स्त्रियों के अतिरिक्त सब जाति के लोगों को संन्यास दिया। वास्तव मे आचार्य शंकर पहले आचार्य थे जिन्होने जाति-पाँति की सकीर्ण परिधि को हटाने का प्रथम प्रयास किया, सामाजिक विषमता दूर की और बौद्ध मत के समर्थक आचार्यो को पराजित किया। उनके मनुष्य-पंचक का अनुवाद करते हुए श्री कृष्णस्वामी अय्यर उनके विचारो को इस प्रकार व्यक्त करते है—

"He, who has learned to look on Phenomena in this light monistic is my true Guru, be he a Chandal or a twice-born. This is my Conviction."

---

१ देखिए तिलक कृत गीत-रहस्य का परिशिष्ट प्रकरण

शकर के इन विचारो का कट्टर ब्राह्मणों ने घोर विरोध किया किन्तु वे लक्ष्य-भ्रष्ट न हुए, भारतीय संस्कृति के इतिहास मे शकर के प्रादुर्भाव को एक चमत्कार ही समझना चाहिए। परम्परागत दोषों को दूर कर समाज को नवीन आलोक दिखाने का सराहनीय कार्य शंकर ने किया और अपनी अपूर्व प्रतिभा के प्रभाव से चतुर्दिक प्रचलित बौद्ध एव जैन मत का खण्डन कर अपने मत की स्थापना की। वैदिक धर्म की रक्षा के लिए स्थान-स्थान पर समस्त भारत मे मठ बनवाये और श्रुति-स्मृति विहित वैदिक धर्म का पुनरुत्थान करके निवृत्ति मार्ग के वैदिक सन्यास-धर्म को कलिकाल मे पुनर्जन्म दिया। उनके विचारों का प्रभाव देश के सभी प्रान्तो और भाषाओ मे बड़े वेग से प्रवाहित हुआ, जिसमे छोटे-मोटे मत-मतान्तर डूबते-उतराते हुए अन्त मे विलीन हो गये। इस विषय में डा० ताराचन्द का कथन उल्लेखनीय है—

"Sankra's career is the great watershed ın the history of Sanskrit Learning. Behınd hım lies the world of ancient ıdeas, half reconciled systems, profound but scattered thoughts, rıval Phılosophies. struggling for ascendancy, the changıng pantheon and theologıes ın a fluıd conditıon, a lıvıng culture almost anarchıc in ıts cxuberance, before hım the medıeval world of set ideas fixed systems, scholastıc ıngenuıty, accretıon not growth, explanatıon not inventıon, commentaries nct Phılosophıes, a stereotyped unıformıty. The living stream of culture abandons the ancıent bed of Sanskrıt and flows through new channels —Tamil, Telugu and Canarese ın the South; Hındı, Bengalı, Marathı and Urdu ın the North but the abandonment is never quite complete, an ıncreasıngly thinnıng wıll contınue to linger in the old beds "[1]

शकर के पश्चात् जितने आचार्य हुए, वे मूलरूप से शकर के ही सिद्धान्तों को लेकर चले या तो उन्होंने शंकर के सिद्धान्तों मे कोई सुधार प्रस्तुत किया अथवा उनसे विरोध प्रकट किया। इसलिए परवर्ती समस्त वैष्णव-सम्प्रदायो पर शंकर का व्यापक प्रभाव कहा जा सकता है। शकर का कथन था कि वास्तव मे श्रुति-कथित सिद्धान्तों मे कोई विरोध नही है, केवल उनकी व्याख्या मे अन्तर हो सकता है। वैदिक धर्म के उन्होने दो स्वाभाविक विभाग 'ज्ञान और आचरण' बताए। पहले विभाग मे तो ब्रह्म का स्वरूप-निर्णय कर उसका सम्बन्ध जीव और प्रकृति से लगाया जाता है और दूसरे अर्थात् आचरण-पक्ष मे इस पर विचार होता है कि ससार मे मनुष्य को किस प्रकार आचरण करना चाहिए। सिद्धान्त रूप से शकराचार्य जी ने अद्वैतवाद की स्थापना की। उसके अनुसार समस्त ससार, जो मनुष्य को चर्मचक्षुओं द्वारा दीख पड़ता है असत्य है, सब मे एक ही शुद्ध और परम ब्रह्म का अस्तित्व है और उसी की माया से भेद की प्रतीति होती है। वस्तुतः जीवात्मा परब्रह्म का ही स्वरूप है। जब तक इस अभेद का अनुभव नही होता तब तक मुक्ति असम्भव है! एक शुद्ध, बुद्ध, नित्य मुक्त परब्रह्म के अतिरिक्त विश्व मे कोई वस्तु स्वतन्त्र नही। माया मानवीय दृष्टि में भ्रम उत्पन्न करती है, जो मिथ्या है। शकर के अद्वैतवाद का महावाक्य "सर्व खल्विदं ब्रह्म" है। उन्होंने ब्रह्म को निर्विशेष माना है। दृश्य का निषेध करके निषेध की सीमा मे जो अनुच्छिष्ट और शिष्ट रहता है, वही अखण्ड चिन्मात्र, एक रस, अद्वितीय ब्रह्म है। उसका निरूपण विधानात्मक शब्दों मे नही हो सकता, वह केवल स्थूल नही है, अणु नही है, दीर्घ नहीं है, शब्द-स्पर्श वाला नही है, अदृश्य है, अलक्ष्य है, अलक्षण है, अग्राह्य है। इन्ही शब्दो के द्वारा

1 Influence of Islam on Hindu culture (Dr. Tara Chand) P.96-97.

उसका सकेत किया जा सकता है । परमार्थ दृष्टि से वे ब्रह्म की सगुणता स्वीकार नही करते और कहते है कि श्रुतियो मे जहाँ सगुण ब्रह्म का वर्णन आया है, वह केवल व्यावहारिक दृष्टि से उपासना की सिद्ध के लिए है । अतः ब्रह्म का वास्तविक रूप निर्गुण ही है ।

शङ्कर सम्प्रदाय का आचरण-सिद्धान्त भी बड़े महत्व का है । उसके अनुसार स्मृति-ग्रन्थो में निरूपित आचार-व्यवहार भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं क्योकि उसके बिना न तो चित्तशुद्धि ही सम्भव है और न ही ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता ही प्राप्त हो सकती है । अत-एव शकराचार्य जी के सिद्धान्त के इस पक्ष (आचारण पक्ष) के अनुसार कर्म करना भी अनिवार्य है किन्तु अन्त मे कर्म को भी त्याग कर सन्यास लेना पड़ेगा क्योकि सब वासनाओं और कर्मो के छूटे बिना ब्रह्म-ज्ञान सम्भव ही नही है । इसी को शकर मत के अनुसार निवृत्ति-मार्ग कहा गया है । इसी को सन्यास-निष्ठा या ज्ञान-निष्ठा भी कहते है । शकराचार्य जी ने अपने मत के दोनो ही पक्षो की संगति उपनिषदो, ब्रह्मसूत्र और गीता से लगाई है और उक्त ग्रन्थो को ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय करने वाला ही बताया है । यद्यपि शङ्कर से पहले भी इन ग्रन्थों पर संन्यास-मार्ग का विवेचन करने वाले भाष्य लिखे गये थे, परन्तु उनकी तिथि निर्णय करना कठिन कार्य है, 'गीता' का 'पैशाच' भाष्य हनुमान जी कृत प्रसिद्ध है । वास्तव मे यह भाष्य भागवत के टीकाकार हनुमान पण्डित का है, पवन-सुत हनुमान का नही । आगे चलकर कुछ आचार्यों ने शङ्कर का ही अनुसरण किया ।

तर्क-सम्मत और समयापेक्षित होते हुए भी शङ्कर के इस मत को पूर्ण नही कहा जा सकता था, क्योकि इसके दोनो पक्षों मे पूर्ण समन्वय का अभाव था । एक ओर तो ब्रह्म की अद्वैतता को उस अमूर्त स्थिति तक पहुँचा दिया था कि सामान्य व्यक्ति उसकी प्रक्रिया से चौधिया जाय (यह आदर्शवाद की सीमा थी) और दूसरी ओर संसार के महत्व को स्वीकार करके भी उसको निःसारता और मिथ्यात्व के प्रतिपादन द्वारा साधारण मानव-धर्म की भी ओर से मनुष्य को बिमुख कर दिया । सन्यास को आवश्यक बता कर समाज-धर्म की भी उपेक्षा की गई । फिर भी इसका बडा गहरा प्रभाव समाज पर पडा । 'अदियार' और 'आलवार' भक्तों की रागात्मिका भक्ति-भावना के ऊपर धर्म का यह बौद्धिक विश्लेषण विजय प्राप्त न कर सका और समय पाकर उस भावना का स्रोत तर्क क इन प्रस्तरों को भेद कर निर्झरिणी के रूप में फूट निकला, जिसको आधार मानकर वैष्णव और शैवाचार्यो ने अपने सम्प्रदायो का प्रचार किया, परन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि भक्तो की परम्परा समाप्त हो गई । अब एक ओर तो भक्त और सन्त अपनी अटपटी बानी मे अपने हृदय के उद्‌गार गीतो मे प्रस्फुटित करते रहे, दूसरी ओर विद्वान् आचार्य अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन करने लगे । हम पहले सकेत कर चुके है कि इन सभी सम्प्रदायों का उद्‌देश्य एक ओर तो बौद्ध मत और जैन मत को नीचा दिखाना था दूसरी ओर अपने-अपने सम्प्रदाय की उपयोगिता सिद्ध कर उसका जनता मे प्रचार करना ।

रामानुजाचार्य

वैष्णवाचार्यो मे सबसे पहले नाथमुनि हुए, जो श्रीरङ्गम् में दशवी शताब्दी में विद्यमान थे । उनके पौत्र और उत्तराधिकारी यामुन-मुनि रामानुजाचार्य के गुरु थे । यामुनाचार्य शकर के मिथ्यात्ववाद को भक्ति का विरोधी समझते थे । इसलिए उन्होंने अपने प्रिय शिष्य रामानुज शङ्कर के सिद्धान्त का खण्डन करने का उपदेश दिया । रामानुजाचार्य का जन्म मद्रास के समीप त्रिपुटी नामक स्थान पर सन् १०१६ मे हुआ और मृत्यु श्रीरङ्गम् मे सन् ११३७ मे । उनके

पिता का नाम केशव और माता का नाम कान्तिमती था । उनके प्रारम्भिक गुरु यादवप्रकाश शांकर मत के अनुयायी थे और काञ्चीवरम् मे रहते थे । अद्वैतवाद के विषय मे उनका अपने गुरु से मत-भेद था, अतएव इन्हे वहाँ से हटना पडा फिर इन्होने 'प्रबन्धम्' के गीतों का यथावत् अध्ययन किया । इसके अनन्तर वे यामुनाचार्य जी के शिष्य हुए और उन्होने श्रीरङ्गम् में अपने सम्प्रदाय की स्थापना की । यामुनाचार्य की मृत्यु के पश्चात् ये उनके उत्तराधिकारी हुए और इन्होंने अपने भक्ति विषयक सिद्धान्तों पर अनेक ग्रन्थो का प्रणयन किया । उत्तरी भारत के तीर्थ-स्थानों की यात्रा करते हुए वे काशी भी गये थे । प्रसिद्ध है कि तत्कालीन चोलराज कुल्लोटुङ्ग प्रथम (१०९५ ई०) ने इन पर पर्याप्त अत्याचार किये क्योंकि वह इनको शैव-धर्म मे दीक्षित करना चाहता था, इसलिए उस राज्य को त्यागकर इन्हे यादव वशीय होयसल राजाओ की शरण मे आना पडा । वहाँ इन्होने तत्कालीन राजा विटठलदेव को अपने सम्प्रदाय मे दीक्षित किया । यह घटना सं० १०९८ ई० की है, रामानुजाचार्य के निम्नलिखित ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं:—

वेदान्तसार, वेदान्त-सग्रह, वेदान्त-दीप तथा ब्रह्म-सूत्र और भागवद्गीता के भाष्य । इस प्रकार अपने सम्प्रदाय को शास्त्र-सम्मत सिद्ध करने के लिये इन्होने 'प्रस्थान-त्रयी' (उपनिषद्, ब्रह्म-सूत्र तथा गीता) पर भाष्य लिखे, उन्होने शङ्कर के माया, मिथ्यात्ववाद दोनों को झूठा सिद्ध किया और बताया कि यद्यपि जीव, जगत और ईश्वर ये तीनो तत्व भिन्न-भिन्न है तथापि जीव (चिद्) और जगत् (अचित्) ये दोनो एक ही ईश्वर के शरीर है अतएव चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर एक ही है और फिर ईश्वर-शरीर के इस सूक्ष्म चित्-अचित् से ही स्थूलचित् और स्थूल अचित् (क्रमश. अनेक जीव और जगत्) की उत्पत्ति हुई । यह मत तत्व-ज्ञान की दृष्टि से तो विशिष्टाद्वैत कहलाया, परन्तु आचरण की दृष्टि से इसमे भक्ति का ही प्राधान्य रहा । इसमे कर्म-निष्ठा को स्वतन्त्र न मानकर ज्ञान-निष्ठा की उत्पादयित्री माना गया है । इस प्रकार रामानुजाचार्य ने शङ्करमत के 'अद्वैत-ज्ञान' के स्थान पर 'विशिष्टाद्वैत' और 'सन्यास' के स्थान पर भक्ति की प्रतिष्ठा कर दोनो मे भेद किया । परन्तु आचार-दृष्टि से भक्ति को ही अन्तिम निष्ठा अगीकार किया, जिससे वर्णाश्रम-विहित सासारिक कर्म भी गौण हो गये । तात्विक रूप से इन्होने चित् और ईश्वर को आधार मानकर अपने मत का प्रतिपादन किया और उसकी पुष्टि उपनिषदो द्वारा की । ईश्वर को इन्होने सर्वोपरि माना; जो सर्वगुण सम्पन्न, अनुपम, अद्वितीय और महान् है; वही सबका स्वामी है; विश्वात्म स्वरूप है; उसको 'पुरुषोत्तम' कहा गया है; वह दोषों और त्रुटियो से रहित है और अपनी इच्छाओ को पूरा करने लिये उसकी अनन्त शक्ति है । उत्पत्ति, पालन और सहार करने की शक्ति उसी मे है; उसकी सृष्टि का अभिप्राय एक स्थिति से दूसरी स्थिति का परिवर्तन है तथा कर्म और क्रिया उसी की चेष्टाएँ है । सर्वप्रथम ईश्वर एकाकी था फिर उसी से प्रकृति और जीव की उत्पत्ति हुई । यद्यपि प्रकृति और जीव दोनों सत्य है, फिर भी उनकी सत्ता उसी पर निर्भर है । प्रत्येक कल्प के अन्त में प्रलय होती है और सब कुछ उसी मे विलीन हो जाता है, केवल तमस अवशिष्ट रहता है । यही ब्रह्म का शरीर है किन्तु यह इतना सूक्ष्म होता है कि इसकी सत्ता अलग कल्पित नही की जा सकती, इसीलिये यह एक है, फिर वह अपने आपको अनेक मे परिवर्तित कर लेता है और इस नामरूपात्मक जगत् की सृष्टि होती है । इस प्रकार सृष्टि का हेतु वही है । किन्तु उस हेतु का विकास ही कार्य रूप-सृष्टि है । उपासना और ध्यान के लिये उसके पाँच रूप माने जाते है :

(१) परब्रह्म—यह परब्रह्म स्वरूप वैकुण्ठ मे रहता है। वैकुण्ठ अनेक प्रकार की विलास-सामग्रियो से सुसज्जित है। 'श्री', 'भू', और 'लीला' नाम की स्वर्गीय स्त्रियाँ उसकी सेवा करती हैं। यह शंख, चक्र, गदा और पद्म से सुशोभित हैं। अनन्त, गरुड, विश्वक्सेन आदि मुक्त आत्माएँ उसके साथ विहार करती हैं।

(२) व्यूह—इस स्वरूप मे परब्रह्म के चार स्वरूप हो जाते हैं—वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न अनिरुद्ध।

(३) विभव—यह स्वरूप भगवान् के मत्स्य, कच्छप आदि दस अवतारों से सम्बन्ध रखता है।

(४) अन्तर्यामी—इस स्वरूप से यह योगिनी के हृदय मे प्रवेश करता है और घट-घट मे वास करने वाला है।

(५) अर्चा—इस स्वरूप में उपासको द्वारा इसकी अनेक मूर्तियो की कल्पना की जाती है। कुछ आचार्यो ने 'व्यूह' मे 'वासुदेव' के अतिरिक्त शेष तीन रूपों की कल्पना की है। शंकर ने तो आत्मा की पृथक् सत्ता स्वीकार नही की है, परन्तु रामानुजाचार्य ने आत्मा का अनेकत्व स्वीकार करके उनको तीन कोटियो मे विभाजित किया है, १—बद्ध, २—मुक्त, ३—नित्य। बद्ध आत्माओं की अनेक कोटियाँ है, जो ब्रह्मदेव से लेकर कृमि-कीटों और वनस्पतियो तक फैली है। मनुष्य जातीय बद्ध-जीवात्माओं के भी दो भेद है :

(१) आनन्द के इच्छुक और (२) मुमुक्षु। आनन्द के इच्छुक प्राणियो मे कुछ तो भौतिक आनन्द को ही अपना लक्ष्य बनाकर उसी की प्राप्ति के हेतु द्रव्यादि-संग्रह मे तत्पर रहते हैं और कुछ दिव्य आनन्द की खोज मे तीर्थ-यात्रा, यज्ञ, पुण्य, जप, व्रत आदि का आश्रय लेते है। मुमुक्षु आत्माओं मे से कुछ 'केवली' कहलाते हैं जो अपनी आत्माओं को सांसारिक दोषो से रहित कर लेते है और कुछ नित्य-आनन्द की खोज मे रहते हैं, वे भी भक्त कहलाते है। भक्ति के लिये कर्म-योग और ज्ञान योग दोनों ही अपेक्षित है। कर्म-योग मे यज्ञ, तपस्या, तीर्थयात्रा आदि वेद-विहित सभी कर्म आ जाते है, आत्मा की शुद्धि हो जाती है और ज्ञानयोग की प्राप्ति होती है, जिसके कारण जीवात्मा अपने आपको प्रकृति से भिन्न समझता है। यही ज्ञान-योग भक्ति का हेतु है। यह नियम आदि अस्टांग योग भी भक्ति-योग मे अपेक्षित हैं। समर्पण भक्ति का सर्वश्रेष्ठ अंग है; इसे प्रपत्ति कहा गया है; प्रपत्ति के अधिकारी शूद्र भी हो सकते है। भक्ति के इन साधनो के अतिरिक्त 'अर्थ पञ्चक' मे 'आचार्याभिमान योग' नामक एक और साधन है जिसके अनुसार शिष्य सब कुछ गुरु को अर्पण कर देता है। भक्ति के अनेक प्रकारों का विधान किया गया है। रामानुजाचार्य ने अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तो में उपनिषद्, ब्रह्म-सूत्र, पुराण आदि सभी का आधार ग्रहण किया और सृष्टि का क्रम सांख्य-शास्त्र के अनुसार स्वीकार किया। वास्तव में उनका यह वैष्णव सम्प्रदाय 'पांचरात्र' के वासुदेव-सम्प्रदाय से मिलता-जुलता है जिसमें नारायण और विष्णु के तत्वों का समावेश हो गया है और नारायण को विशेष महत्व मिला। इस सम्प्रदाय के उपदेशों मे यह ध्यान रखने के योग्य बात है कि न तो कही गोपालकृष्ण का ही नाम आया है और न ही राम को कोई महत्वपूर्ण स्थान मिला है। भगवान् के जिन स्वरूपो का वर्णन भगवद्गीता मे हुआ है, उन्ही का उन्होंने विशेष रूप से उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होने परम्परागत भक्ति को ब्राह्मण धर्म के साँचे मे ढालने का प्रयत्न किया। सबसे बड़े महत्व की बात

यह है कि उन्होंने अपना भक्ति-मार्ग शूद्रो के लिये भी उन्मुक्त कर दिया। आगे चलकर स्वामी रामानन्द, नामदेव और तुकाराम ने इस पक्ष पर विशेष बल दिया। जहाँ तक प्रपत्ति का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में यह भी अनुमान लगाया जाता है कि यह ईसाइयत की देन है, परन्तु यह बहुत दूर की सूझ ही प्रतीत होती है। 'रामानुज' के सम्प्रदाय का नाम 'श्री सम्प्रदाय है। 'श्री सम्प्रदाय' मे निश्चित दिनों मे शूद्रों को भी मन्दिर प्रवेश का अधिकार दे दिया गया है और कुछ शूद्र इस सम्प्रदाय मे दीक्षित भी थे।

रामानुजाचार्य के सिद्धान्तो के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि भक्तिमार्ग के परिनिष्ठित स्वरूप की स्थापना सबसे पहले रामानुजाचार्य ने ही की और भक्ति के इस स्वरूप ने उत्तर-भारत के भक्ति-आन्दोलन को पूर्णतया प्रभावित किया। रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायियो की सख्या उत्तरी भारत में इतनी नही है जितनी दक्षिण भारत मे। आगे वैष्णव-मत ने जितने भी प्रचारक हुए सभी शंकर के 'मायामिथ्यात्व' के सिद्धान्त का खण्डन कर भक्ति की स्थापना की; परन्तु सिद्धान्त रूप से रामानुजाचार्य का मत एक प्रकार से शंकर के मत से समझौता ही था, क्योंकि अन्ततोगत्वा कर्म-आचरण से चित्त-शुद्धि होने के पश्चात् ज्ञान की प्राप्ति होने पर संन्यास ग्रहण कर ब्रह्म-चिन्तन में लगा रहना (शकर) या प्रेम-पूर्वक वासुदेव-भक्ति मे तत्पर रहना और ईश्वर के प्रति सर्वस्व समर्पण करना (रामानुज) दोनों ही बातें कर्म-योग की दृष्टि से एक है, और ये दोनो ही मार्ग निवृत्ति-विषयक कहे जा सकते हैं। इसलिये आगे के आचार्यो ने विशिष्टाद्वैत को भी अद्वैत का ही एक सुधार समझा।

मध्वाचार्य

माया को किसी रूप मे मिथ्या मानकर चलने वाले सम्प्रदायों का खण्डन कर भगवद्-भक्ति को ही सच्चा मोक्ष-साधन बतलाने वाले इस रामानुज-सम्प्रदाय के पश्चात् एक तीसरा सम्प्रदाय निकला, जिसको 'द्वैत-सम्प्रदाय' कहते है। इसके प्रवर्तक मध्वाचार्य थे। आचार्य मध्व का जीवन-चरित 'माधव-विजय' मे, जिसका सम्पादन त्रिविक्रम के पुत्र नारायण द्वारा हुआ था, विस्तार से लिखा है। इसके अनुसार राजपीठ नामक नगर मे मध्यगेह भट्ट के यहाँ इनका जन्म हुआ। इनका जन्म-नाम वासुदेव था और ये अच्युतप्रकाशचार्य के शिष्य थे। दीक्षित होने के पश्चात् ये बदरिकाश्रम मे गये और वहाँ से राम तथा वेदव्यास की मूर्तियाँ लाये। सन्यास ग्रहण करने पर इनका नाम 'अनन्दतीर्थ' हुआ। सम्प्रदाय के अनुसार इनका समय संवत् १०४० से ११११९ तक माना जाता है परन्तु भण्डारकर सम्प्रदाय के इस कथन को नही मानते; उनके अनुसार मध्वाचार्य का समय वि० सं० १२५४ से १३३३ तक था।[1] अपने इस कथन की संगति उन्होने आचार्य मध्व के 'महाभारत-तात्पर्य' से भी लगाई है और शिला-लेखों के भी प्रमाण दिये है। मध्वाचार्य ने शंकर के अद्वैत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत के विरोध मे अपने मत की स्थापना की और भागवत पुराण को अपने मत का आधार बनाया। उन्होंने ईश्वर, जीव और प्रकृति के पाँच-पाँच भेदों पर विशेष रूप से विचार किया—(१) ब्रह्म और जीवात्मा, (२) ब्रह्म और जड-जगत्, (३) जीवात्मा और जड-जगत्, (४) एक जीवात्मा और दूसरी जीवात्मा, (५) एक जड-पदार्थ और दूसरा जड़-पदार्थ। सृष्टि की रचना के विषय में उन्होने वैशेषिक शास्त्र को आधार माना। ब्रह्म को उन्होने असख्य गुणो का आधार माना है और उसके कार्य-विधान को आठ श्रेणियों मे विभाजित किया है:—उत्पत्ति, पालन, लय, नियन्त्रण, आवरण, बोन्धन, बन्धन तथा मोक्ष। ब्रह्म

1 Vaishnavism and Shavism (R. G. Bhandarkar) 1929. P. 82, 83.

को उन्होंने पूर्णतया स्वतन्त्र तथा जीवात्मा और प्रकृति से भिन्न माना है। वह विभिन्न अवतार धारण करता है, जिनमे उनके सभी गुणो का आवरण होता है। लक्ष्मी उससे भिन्न है किन्तु उसकी आश्रिता है और उसी के इंगित पर उसके कार्य, विधान का सम्पादन करती है। इसी लक्ष्मी के अनेक रूप है, जैसे श्री, भू, ह्री, दक्षिणा, सीता, सत्या रुक्मिणी आदि। ये प्रवृत्तियों को चेतन और अचेतन दो प्रकार की मानते हैं। जीवों की संख्या उन्होंने अनन्त मानी है, जो तीन वर्गो मे विभाजित है '

१—मुक्ति-योग, २—नित्य-संसारी, ३—तमो-योग। जब जीव मुक्त भी हो जाता है तो भी जीव-जीव मे तथा ईश्वर और जीव मे पार्थक्य बना ही रहता है। इन्होंने मुक्ति के चार भेद माने हैं— १—कर्म-क्षय, २—उत्क्रान्ति का लय, ३—अर्चिरादि-मार्ग तथा ४—भोग। मुक्ति-योग को वे चार प्रकार का मानते है— १—सालोक्य, सामीप्य, ३—सारूप्य तथा ४—सायुज्य। कर्म-क्षय नाम की मुक्ति मे संचित पाप-पुण्य का तो क्षय हो जाता है परन्तु प्रारब्ध कर्म बने ही रहते है। जब प्रारब्ध कर्म का भी क्षय हो जाता है तो जीव ब्रह्म-नाडी का सुषुम्ना के सहारे उत्क्रमण करता है और उसे पार करने पर अपने जीवन को भूल जाता है। उसके हृदय का द्वार खुल जाता है और हृदय-स्थित भगवान् ब्रह्म-द्वार से निकल कर उसे और ऊपर ले जाते है। तब वैकुण्ठ लोक मे पहुँचकर जीव को भगवान् के 'तुर्य' रूप का साक्षात्कार होता है। वही उत्क्रमण-लय मोक्ष की अवस्था है। 'अर्चिरादि मार्ग मुक्ति' उन ज्ञानी भक्तों के लिए है, जिनके प्रारब्ध-कर्म का क्षय नही हुआ हो और जो सुषुम्ना की पास की नाडी के द्वारा ऊर्ध्व-गमन करते है तथा अर्चिरादि लोकों मे पहुँचते हैं, फिर वहाँ से वायु-लोक होते हुए ब्रह्म-लोक मे पहुँच जाते है। भोग-मुक्ति मे जब ज्ञानी-भक्त के प्रारब्ध-कर्मो का क्षय हो जाता है तो वे श्वेतद्वीप मे पहुँच जाते है, जहाँ उन्हे नारायण का दर्शन होता है, जिनकी आज्ञा से वे फिर पृथ्वी पर आकर परमानन्द का उपभोग करते है।

इस जगत् को उन्होंने प्रपंच माना है क्योंकि यह पाँच प्रकार के भेदो से युक्त है। परमात्मा के समान ही जगत् को भी वे सत्य मानते है और उसके पाँचो भेदों को भी। मुक्ति-प्राप्ति के लिए जीव को उन पाँचों का ज्ञान प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है। पदार्थो की संख्या उन्होंने दस मानी है— द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशिष्ट, विशेष, अशी, शक्ति, सादृश्य तथा अभाव। द्रव्य पदार्थ बीस माने है—परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत्तत्व, अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, तन्मात्रा, भूत, ब्रह्माणु, अविद्या, वर्ण, अन्धकार वासना, काल और प्रतिबिम्ब। अन्य पदार्थो का भी विस्तृत, विवेचन करते हुए उन्होने शक्ति-पदार्थ पर विशेष बल दिया है और उसके चार भेद किये है—(१) अचिन्त्य-शक्ति, (२) आधेय शक्ति, (३) सहज शक्ति, (४) पद-शक्ति। इनमे अचिन्त्य शक्ति विशेष महत्व रखती है क्योंकि इसकी पूर्णता ईश्वर मे है। भगवान् की इस अचिन्त्य-शक्ति का नाम ही ऐश्वर्य है और ईश्वर मे विरुद्ध-धर्मत्व का भी यही कारण है। आधेय शक्ति आरोपित शक्ति का नाम है। जब किसी मूर्ति में देव-शक्ति का आह्वान किया जाता है और उसमें प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है, वह आधेय-शक्ति कहलाती है। सहज-शक्ति पदार्थो के स्वभाव और प्रकृति के अनुसार नित्य और अनित्य दो प्रकार की होती है। पद और पदार्थ के सम्बन्ध को पृथक् करने वाली शक्ति पद-शक्ति होती है।

इस मत के मानने वाले अधिकतर कनाड़ी जिलो, बम्बई प्रांत, मैसूर और पश्चिमी घाट मे पाये जाते है। उत्तरी भारत मे उनकी संख्या अधिक नही हैं। भारत मे इस मत के ग्यारह मठ है, जिनमे से ८ दक्षिण मे है और ३ शेष भारत मे।

आनन्दतीर्थ ने ३७ ग्रन्थो का प्रणयन किया। उन्होंने अपने मत की पुष्टि मे पाचरात्र-सहिताओं का आधार भी ग्रहण किया है। इस सम्प्रदाय की उल्लेखनीय बात यह है कि इसमे व्यूह तथा वासदेव आदि का स्थान नही है। परमात्मा को विष्णु नाम से अभिहित किया गया है। राम और कृष्ण की उपासना भी विहित है, परन्तु गोपालकृष्ण, गोप अथवा राधा का कही उल्लेख नही है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि पुराने वासदेव धर्म और भागवत धर्म के स्थान पर इन्होंने नवीन वैष्णव-धर्म को जन्म दिया और पाँचरात्र को भी अधिक महत्व नही दिया। चैतन्य तथा मध्व उपदेशो के समाज मे भक्ति भावना का प्रचार हुआ और उत्तरी भारत मे भी इसकी लहर फैली। अब तक व्यवस्थित रूप से इस भक्ति-सम्प्रदाय का प्रचार उत्तरी भारत मे नही हुआ था क्योंकि रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य ने दक्षिण को ही अपने प्रचार का केन्द्र बनाया था। उत्तर-भारत मे भक्ति का प्रचार करने वाले आचार्यों को दो श्रेणियो मे रखा जा सकता है—१—सस्कृत के माध्यम से प्रचार करने वाले और २—देश-भाषा के माध्यम से प्रचार करने वाले। सस्कृत के माध्यम से प्रचार करने वालों मे सर्वप्रथम नाम निम्बार्काचार्य का है।

निम्बार्काचार्य

निम्बार्काचार्य के समय का भी अभी तक कोई निश्चय नही हो सका है। भण्डारकर ने हस्तलिखित पुस्तकों के आधार पर इनके समय का निर्धारण किया है और उनका निधन सन् ११६२ मे माना है।[1] परन्तु आगे चलकर इस तिथि के विषय मे भी सदेह प्रकट किया है। यदि उन्हे उक्त समय में ही प्रादुर्भूत माना जाय तो वे 'रामानुजाचार्य' के लगभग समकालीन ठहरते है, वे जाति के तैलङ्ग ब्राह्मण थे और इनका जन्म वैल्लरी जिले मे निम्ब अथवा निम्बपुर ग्राम मे हुआ था। इनका जन्म वैसाख शुक्ला तृतीया को माना जाता है। इनके पिता का नाम जगन्नाथ और माता का नाम सरस्वती था। इनके मतावलम्बी इन्हे विष्णु के सुदर्शन-चक्र का अवतार मानते है। इसकी पुष्टि मे एक कथा भी प्रचलित है कि उन्होंने नीम वृक्ष पर सुदर्शन-चक्र का आह्वान किया था, जिससे उसे सूर्य समझ कर उन साधकों ने भी जो सूर्यास्त होने पर भोजन नही करते थे भोजन कर लिया। कहा जाता है कि तभी से इनका नाम निम्बार्क या निम्बादित्य हुआ। इससे पहले इनका नाम नियमानन्द था। इन्होंने जिस मत का प्रचार किया, उसे भेदाभेद अथवा द्वैताद्वैत कहते है। कुछ विद्वानो का कथन है कि भेदाभेदवादी श्री भास्कराचार्य दोनों एक ही व्यक्ति थे किन्तु जैसा कि गोपीनाथ कविराज ने लिखा है, ये दोनो आचार्य पृथक्-पृथक् व्यक्ति थे,[2] निम्बार्क के प्रपत्ति के सिद्धान्त पर विशेष बल दिया। इनके सम्प्रदाय को सनक सम्प्रदाय भी कहते है। यद्यपि ये दक्षिणात्य थे तथापि अधिकतर वृन्दावन मे ही रहे। जैसा कि हम पहले कह आये है; कि ये सर्वप्रथम आचार्य थे, जिन्होने उत्तरी भारत मे राधाकृष्ण की भक्ति को महत्व दिया। इनके अनुयायियो की सख्या उत्तरी भारत मे—विशेषकर बगाल और ब्रज मे—अधिक है। इनके अनुयायी दो श्रेणियो मे विभक्त हो गये—संन्यासी और गृहस्थी। इनके दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—(१) वेदान्त-पारिजात-सौरभ और (२) दशश्लोकी। एक २५ श्लोको का स्तोत्र भी, जिसका नाम 'सविशेष निर्विशेष श्री कृष्ण स्तवराज' है, निम्बार्क द्वारा रचित बताया जाता है। 'वेदान्त-पारिजात सौरभ' ब्रह्म-सूत्रों की सक्षिप्त व्याख्या है। इस सम्प्रदाय का साहित्य बहुत अधिक नही है। निम्बार्क के उत्तराधिकारी श्रीनिवास ने 'वेदान्त-पारिजात' पर भाष्य लिखा और निम्बार्क से ३२वे आचार्य

1 Vaishnavism and Shavism (R. G. Bhandarkar) Page 88.

२ 'उत्तरा' अगहन, बगाली स० १३३२ (गोपीनाथ कविराज)

हरिव्यासदेव ने 'दश श्लोकी' पर। इस सम्प्रदाय के १३ वे आचार्य देवाचार्य ने 'सिद्धान्त जाह्नवी' नामक ग्रथ लिखा, जिस पर उनके शिष्य सुन्दर भट्ट ने एक टीका लिखी। इस सम्प्रदाय के ३०वे गुरु केशव काश्मीरी ने 'ब्रह्म-सूत्र' पर भाष्य लिखा।

निम्बार्काचार्य की 'दशश्लोकी' मे उनके सिद्धान्तों का विवेचन हुआ और जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, हरिव्यासदेव ने उस पर टीका लिखी है तथा सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन किया है। इन दस श्लोकों का सारांश निम्नलिखित है :

१—जीवात्मा ज्ञान-स्वरूप है परन्तु हरि पर आश्रित है। वह अणुरूप है, विभिन्न शरीरों मे पृथक्-पृथक् है, अनन्यविशिष्ट और ज्ञानी है।

२—यह जीवात्मा अनादि माया से बद्ध रहता है और तीन गुणो से सयुक्त रहता है। ईश्वर की कृपा से ही उसे अपनी प्रकृति का ज्ञान होता है।

३—अचेतन पदार्थ तीन प्रकार के माने है—अप्राकृत, प्राकृत तथा काल। प्रकृति से उत्पन्न पदार्थों के प्राय: तीन रग— रक्त, श्वेत तथा कृष्ण होते है।

४—मै कृष्ण का ध्यान करता हूँ, जो व्यूह अवयवो वाला है और सर्वश्रेष्ठ है। सब दोषों से रहित कल्याणकारी और सर्व-गुण-सम्पन्न है।

५—मै वृषभानु की कन्या राधिका का ध्यान करता हूँ, जो कृष्ण के वामाङ्ग मे सुशोभित है, हजारों सखियों से परिसेवित है और सब कामनाओं को पूर्ण करने वाली है।

६—अज्ञानान्धकार से मुक्ति पाने के लिए प्राणियो को निरन्तर परब्रह्म की उपासना करनी चाहिये। नारद सच्चे ज्ञानी और सत्य के अन्वेषक थे। उन्हें यह ज्ञान सदानन्द आदि ने दिया था।

७—श्रुति-स्मृतियों के अनुसार सब आत्माओ का मूल स्रोत ब्रह्म है, अतएव ब्रह्म सत्य है। जो वेदो को जानते है, उनका भी यही सिद्धान्त है। स्मृति और सूत्रो के अनुकूल जो उसके तीन रूप बताए गए है, वे भी सत्य हैं।

८—कृष्ण के चरणारविन्दों को छोड़कर और कोई गति नहीं है। ब्रह्म, शिव आदि भी उनकी वन्दना करते है। भक्तों की इच्छा से वे कृष्ण भक्तों के ध्यान के योग्य के स्वरूप धारण करते हैं। उनकी शक्ति अचिन्त्य और अप्रमेय है।

९—उसकी कृपा का बडा महत्व है। दैन्य आदि भाव उसकी कृपा से ही उत्पन्न होते है और उसी से प्रेम रूप भक्ति की प्राप्ति होती है। भक्त द्वारा की गई अनन्य भक्ति द्वारा ही उसकी कृपा प्राप्त हो सकती है। यह भक्ति दो प्रकार की होती है। १—परा, जो श्रेष्ठ है; २—साधना रूपा।

१०—भक्तों के लिए पाँच पदार्थ जानने आवश्यक है, उपास्य का रूप; उपासक का रूप, कृपाफल, भक्ति-फल तथा फल-प्राप्ति के विरोधी।

निम्बार्क-सम्प्रदाय का यही सार है, इसमे ब्रह्म, जीव तथा प्रकृति का विवेचन हुआ है। इन्हीं सार-सिद्धान्तो की व्याख्या हरि व्यास देव जी ने की है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन सिद्धान्तो का मूल आधार रामानुज के ही सिद्धान्त है क्योकि इनमे शरणागति अर्थात् प्रपत्ति को विशेष महत्व दिया गया है। इसकी विशेषता यह है कि प्रपत्ति के साथ-साथ परमात्मा की कृपा तथा उसके प्रति प्रेम का प्राधान्य है। निम्बार्क की साधना-भक्ति मे रामानुज सम्प्रदाय के सभी योग आ जाते है; अन्तर केवल इतना है कि रामानुजाचार्य ने तो भक्ति को उपनिषदो मे विहित उपासना की कोटि मे रखा है और उसके मौलिक रूप को बदल दिया है, जबकि 'निम्बार्क' ने भक्ति की मूल भावना को सुरक्षित रखा है। रामानुजाचार्य के सिद्धान्तों से निम्बार्काचार्य के मत

में सबसे महान् अन्तर यह है कि रामानुजाचार्य ने तो अपनी भक्ति को नारायण, लक्ष्मी, भू और लीला तक ही सीमित रखा, जबकि निम्बार्क ने कृष्ण और सखियों द्वारा परिवेष्टित राधा को ही प्रधान्ता दी। इस प्रकार उत्तरी भारत मे राधा-कृष्ण की भक्ति का शास्त्रीय ढग से प्रतिपादन निम्बार्क ने किया। बंगाल और ब्रजभूमि में इसका विशेष प्रचार हुआ।

विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय

पूर्वोक्त चार दाक्षिणात्य आचार्यों के अतिरिक्त विष्णुस्वामी का नाम भी उल्लेलनीय है। इनके सम्प्रदाय का नाम, शुद्धाद्वैत' बताया जाता है, जिसे 'रुद्र-सम्प्रदाय' भी कहते है। इस सम्प्रदाय का कोई ऐतिहासिक विवरण नहीं मिलता। विष्णुस्वामी नाम के भी कई आचार्य हुए है। 'पद्म-पुराण' और 'भविष्य-पुराण' मे रुद्र-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक विष्णुस्वामी का उल्लेख है।[१] 'सम्प्रदाय प्रदीप' मे लिखा है कि वल्लभाचार्य के समय तक विष्णु-सम्प्रदाय के ७०० आचार्य हो चुके थे। यदि इस कथन को सत्य माना जाय तो विष्णुस्वामी का समय बहुत प्राचीन ठहरता है; परन्तु अन्य पुष्ट प्रमाणों के अभाव मे यह कथन मान्य नही हो सकता। श्रीधर स्वामी ने 'श्रीमद्-भागवत' की टीका मे विष्णुस्वामी का उल्लेख किया है। श्रीधर स्वामी का कथन १४वीं शताब्दी निश्चित है। इसलिये विष्णुस्वामी का समय १४वी शताब्दी से पहले ही मानना चाहिये। भण्डारकर ने इस विषय मे नाभा जी के 'भक्तमाल' का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार विष्णुस्वामी के उत्तराधिकारी, ज्ञानदेव, नामदेव, त्रिलोचन और वल्लभ हुए है। इस उल्लेख के आधार पर विष्णुस्वामी का समय १३वी शताब्दी के मध्य मे ठहरता है। 'गौडीय दशम खण्ड' के लेख में एक अन्य विष्णु स्वामी का उल्लेख है, जिनका जन्म सन् ८३० लिखा है और जो काञ्चीनगर में रहते थे।[२] डा० दीनदयालु गुप्त ने एक लेख के आधार पर लिखा है।

"रायबहादुर श्री अमरनाथ राय जी का इस विषय पर 'भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट-एनल्स' मे एक लेख है, जिसमें कहा गया है कि माधवाचार्य और श्री सायणाचार्य के गुरु श्री विद्याशंकर थे और विद्याशंकर का ही दूसरा नाम 'विष्णुस्वामी' था।"[३]

इस प्रकार विष्णुस्वामी के विषय में कुछ कहना कठिन है। 'वल्लभ-सम्प्रदाय' की मान्यता के अनुसार वल्लभाचार्य विष्णुस्वामी की परम्परा में ही थे और विष्णुस्वामी ने जिस भक्ति-मार्ग का प्रचार किया था, उसमें मुक्ति की अपेक्षा भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। इस सम्प्रदाय के आचार्य बिल्वमगल के समय में भक्ति का विशेष प्रचार हुआ, जिन के मार्ग के आधार पर वल्लभाचार्य जी ने अपने मत को प्रतिष्ठित किया। इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त के विषय में भण्डारकर लिखते हैं :

"The Vedantic theory of Vishnusuamin, which is the same as that of Vallabh, is as follows The one primeval soul was not joyful, because he was alone (BU. I. 4, 3) and desiring to be many, he himself became the inanimate world, the individual soul, and the inward controlling soul. These sprang from him like sparks from a burning fire and are his parts (MU. II. I.). By his own inscrutable power he rendered the properties of intelligence and joy, imperceptible in the first, and his joy alone in the second, while the third has all the attributes, perceptible in it."[४]

१ वैष्णव धर्म "सक्षिप्त इतिहास पृ० २३५

२ 'गौडीय दशम खण्ड' पृ० ६२४—२६

३ अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय भाग १ पृ० ४२

४ Vaishnavism and Shavism (R. G. Bhandarkar Page 110.

अर्थात् सब प्रथम एक ही ब्रह्म था, उसकी इच्छा हुई 'एकोऽहं बहुस्याम्' और वह अचेतन जगत् मे परिवर्तित हो गया, जिसका नियन्ता वह स्वय था। जगत के सब जीव उससे इस प्रकार उत्पन्न हुए, जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से स्फुलिंग। अपनी अनन्त शक्ति के द्वारा उसने अदृश्य बुद्धि और आनन्द को उत्पन्न किया और फिर केवल आनन्द को और अन्त मे उसके सब गुण प्रकट हुए। ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप मे दृश्य आनन्द व्याप्त है।

वल्लभाचार्य

राधा और कृष्ण को आधार मानकर भक्ति का प्रचार करने वाले निम्बार्क आचार्य का उल्लेख पहले हो चुका है। उत्तरी भारत मे राधाकृष्ण की भक्ति का प्रचार करने वाले दो आचार्य हुए—वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु। वास्तव में भक्ति-आन्दोलन को इन्ही दो आचार्यों से विशेष शक्ति प्राप्त हुई। ये दोनो ही आचार्य निम्बार्क की भक्ति-परम्परा के अन्तर्गत आते है। इन्होंने भी प्रायः संस्कृति के माध्यम से ही अपने मत का प्रचार किया था। देशी भाषाओं मे जिन सम्प्रदायो ने उत्तरी भारत में अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया, उनका उल्लेख हम आगे करेंगे। वल्लभाचार्य का जीवन चरित 'वल्लभदिग्विजय' मे दिया हुआ है। इनका जन्म गोदावरी-तट पर काकरवाड ग्राम मे लक्ष्मण भट्ट नामक एक तैलंग ब्राह्मण के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम इल्लमागारू था। वल्लभ के जन्म के विषय मे एक कथा प्रसिद्ध है। लक्ष्मण भट्ट अपनी पत्नी सहित काशी में रहने लगे थे, वही पर उनकी पत्नी ने गर्भ धारण किया। राजनीतिक परि-स्थितियों के कारण जब काशी मे कुछ अराजकता फैली, तब लक्ष्मण भट्ट अपनी पत्नी और कुछ साथियों के साथ वहाँ से चल दिए। जब वे मध्यप्रदेश के रायपुर जिले मे चम्पारण्य नामक वन मे होकर जा रहे थे, तब उनकी पत्नी को प्रसव-पीड़ा हुई। वे वही रुक गये और उनके साथी आगे बढ गये। उनकी पत्नी ने एक शमी वृक्ष के नीचे सात मास के शिशु को जन्म दिया, जो जन्म के के समय संज्ञाहीन था। मृतक समझकर वे उसे पत्तों से ढककर आगे चल दिये, परन्तु 'चौडा' नगर में पहुँच कर उन्हें ज्ञात हुआ कि काशी की स्थिति अब ठीक है, अतएव वे लौट पडे और लौटते समय बच्चे को जीवित पाया। 'वल्लभदिग्विजय मे वल्लभ का जन्म वैसाख कृष्णा एकादशी, रविवार सं० १५३५ और तिरोधान ज्येष्ठ १०, सं० १५८७ में माना है।

कहा जाता है कि वल्लभाचार्य जी ने १० वर्ष की आयु मे ही वेद, वेदांग, दर्शन, पुराणों का अध्ययन कर लिया था। सं० १५४५ मे अपने पिता के निधन के पश्चात् उन्होंने अपनी यात्रायें आरम्भ की और अपनी माता को उनके पितृ-गृह 'विद्यानगर' पहुँचा दिया। 'वल्लभ-दिग्विजय' मे उनकी यात्राओं का विस्तृत वर्णन है। सर्वप्रथम यात्रा उन्होंने केवल १२ वर्ष की आयु मे, सम्वत् १५४६ मे की। इस यात्रा में वे दक्षिण भी गये और वैष्णव आचार्यो के सिद्धान्तों का सम्यक् अध्ययन किया। विद्यानगर का शास्त्रार्थ भी इसी यात्रा में हुआ और ब्रज की यात्रा भी उन्होंने की जहाँ संवत् १५५० श्रावण शुक्ला एकादशी को गोकुल के ठकुरानी घाट पर श्रीमद्‌भागवत् का साप्ताहिक परायण भी उन्होंने किया था। उनकी दूसरी यात्रा स० १५५४ मे प्रारम्भ होकर सं० १५५८ मे पूरी हुई। इस यात्रा में वे गोवर्द्धन भी गये और सम्वत् १५५६ मे जब श्रीनाथ जी के स्वरूप का प्राकट्य हुआ; तो उनके मन्दिर की स्थापना की। इस यात्रा से लौटकर सं० १५५८ की आषाढ़ कृष्णा पंचमी को उन्होंने मधुमंगल नामक ब्राह्मण की कन्या महालक्ष्मी से अपना विवाह किया। उनकी तीसरी यात्रा सम्वत् १५५८ से १५६६ तक चली। इसी यात्रा में उनकी प्रेरणा से गोवर्द्धन पर्वत पर पूरनमल खत्री ने श्रीनाथ जी का मन्दिर बनवाया और वे सम्वत् १५६५ में विद्यानगर के प्रसिद्ध शास्त्रार्थ में विजयी हुए, जिसके उपलक्ष में राजा कृष्णदेवराय ने इनका

कनकाभिषेक किया। इस यात्रा के पश्चात् ही उन्होंने अपना द्विरागमन किया और प्रयाग के दूसरी ओर यमुना के किनारे पर अडैल नामक गाम मे रहने लगे। इनके दो पुत्र हुए—गोपीनाथ जी और विट्ठलनाथ जी।

अपनी तीन यात्राओ मे उन्होंने अपने मत का प्रचार किया। उनका दार्शनिक सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैत' कहलाता है और उनके मत का आचरण-पत्र 'पुष्टि-सम्प्रदाय'। हमारे चरितनायक सूरदास इसी सम्प्रदाय में दीक्षित थे। इनके सिद्धान्तों का पूर्ण विवेचन यथा स्थान आगे किया जायेगा।

वल्लभाचार्य ने अपनी भक्ति में प्रपत्ति को विशेष स्थान दिया और गोपालकृष्ण की लीलाओं को अलौकिकता प्रदान की। लीला को वल्लभ ने बहुत उच्च स्थान दिया तथा बतलाया कि लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भगवान् राधिका के साथ जिस लोक मे विहार करते हैं, वह विष्णु और नारायण के वैकुण्ठ से भी ऊँचा है और उसे गोलोक कहते है। भगवान् की लीलाओ मे भाग लेना ही जीवन का सबसे बडा उद्देश्य है। इसका विस्तृत विवेचन हम आगे करेंगे।

चैतन्य-सम्प्रदाय

वल्लभाचार्य के भक्ति-मार्ग से राधा और कृष्ण के युगल रूप का इतना महत्व नही है, जितना चैतन्य-सम्प्रदाय मे है। वल्लभाचार्य ने तो भक्ति के विधि-विधान और ब्राह्मण पर विशेष बल दिया, जब कि चैतन्य का भाव-पक्ष प्रबल रहा। वे राधा-कृष्ण का कीर्तन करते-करते मूर्च्छित हो जाते थे। भावात्मक कीर्तन के द्वारा ही वे जनता के हृदय को आकृष्ट करने मे समर्थ हुए। चैतन्य महाप्रभु वल्लभाचार्य के ही समकालीन थे। 'Cultural Heritage of India' के अनुसार उनका जन्म सन् १४८५ मे बगाल के नवद्वीप स्थान में फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा को हुआ था। इनका जन्म का नाम विश्वम्भर था, इनके पिता का नाम जगन्नाथ मिश्र और माता का शचीदेवी था। जगन्नाथ मिश्र पूर्वी बंगाल में सिलहट मे रहते थे और बाद को नदिया चले गये थे। इनके दो पुत्र थे। पहले विष्णुरूप, जो चैतन्य के इतिहास में नित्यानन्द के नाम से प्रसिद्ध हैं और दूसरे विश्वम्भर। विश्वम्भर को ही लोग बाद में कृष्ण चैतन्य कहने लगे थे। उनके अनुयायी उन्हें कृष्ण का अवतार मानते हैं। वे गौरांग और गौरचन्द के नाम से भी प्रसिद्ध है। चैतन्य महाप्रभु का जीवनवृत्त कई ग्रन्थों मे कुछ भेद के साथ उपलब्ध होता है। भण्डारकर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "Vaishnavism and Shaivism" मे चैतन्य का जीवन-वृत्त इस प्रकार दिया है :

"२२ वर्ष की अवस्था मे उन्होंने लक्ष्मीदेवी से विवाह किया और गृहस्थी जीवन व्यतीत करने लगे। कुछ समय बाद पूर्वी बगाल में पर्यटन करने के लिए निकल पड़े। माँगना और गाना ही उनका व्यवसाय था, जिससे उन्होंने पर्याप्त धन एकत्र कर लिया। उनकी अनुपस्थिति में उनकी पत्नी का देहान्त हो गया और घर लौट कर उन्होने दूसरा विवाह कर लिया। २३ वर्ष की अवस्था मे वे पिण्डदान के लिए गया गये। वहाँ से लौट कर उन्होने अपना कार्य प्रारम्भ किया। धार्मिक रीति-रिवाजो और कर्म-काण्ड के आडम्बर के विरोध में हरि के प्रति प्रेम और विश्वास का उपदेश दिया। जाति-पाँति का इन्होंने भी खण्डन किया। कहा जाता है कि उनसे पहले अद्वैताचार्य ने भी इस प्रकार की भक्ति का प्रचार किया था। चैतन्य के भाई नित्यानन्द ने भी उन्हे भक्ति के प्रचार मे योग दिया। शनैः शनैः उनके मत का प्रचार बढ़ता चला गया। उस समय बंगाल मे शाक्तों का बडा जोर था और लोग काली तथा मनसा देवी की उपासना करते थे। वे चैतन्य के बड़े विरोधी थे और उनका उपहास भी किया करते थे और उन्हे तंग भी, किन्तु धीरे-धीरे उनके कीर्तन का प्रचार बढ़ता गया। सन् १५१० मे चैतन्य संन्यासी हुए और

उन्होंने 'केशव भारती' से दीक्षा ली। संन्यासी होने के अनन्तर वे जगन्नाथ जी गये और फिर ६ वर्ष तक देश का भ्रमण किया। इसी यात्रा में उन्होने कुछ शास्त्रार्थ भी किये फिर पुरी में आकर रहने लगे, जहाँ सन् १५३३ मे उनकी मृत्यु हुई।''

चैतन्य के विषय मे लक्ष्य करने की बात यह है कि अन्य आचार्यों की भाँति अपने सम्प्रदाय को व्यवस्थिति रूप देने का प्रयास उन्होने नही किया और न 'प्रस्थानत्रयी' पर कोई भाष्य ही लिखा। वे उच्च कोटि के भावुक भक्त थे। उनके जीवन की घटनाओं का उल्लेख 'चैतन्य-चरितामृत' मे मिलता है। श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी ने 'श्री चैतन्य-चरितावली' पाँच खण्डो में लिखी है, जो गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित हुई है। इसमें चैतन्य के जीवन पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

भगवान के प्रेम-महोदधि में निमग्न रहने के कारण किसी ग्रन्थ आदि की रचना के लिए महाप्रभु के पास समय ही नही था। कृष्ण की भक्ति और कीर्तन के महत्व के प्रतिपादन उनके निम्नलिखित ८ श्लोक मिलते है:—

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणम्,
श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरण विद्या-वधू-जीवनम्।
आनन्दाम्बुधि-वर्द्धनं प्रतिपद पूर्णमृतास्वादनं,
सर्वात्मस्नपन परं विजयते श्रीकृष्ण संकीर्तनम्॥ १॥

जो चित्तरूपी दर्पण के मैल को मार्जन करने वाला है, संसाररूपी महादावाग्नि को शान्त करने वाला है, प्राणियों को मङ्गलदायिनी कैरवचद्रिका का वितरण करने वाला है, जो विद्यारूपी बधू का जीवन स्वरूप है और जो आनन्द-समुद्र को प्रतिदिन बढ़ाने वाला है, उस श्रीकृष्ण संकीर्तन की जय हो।

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति—
स्तत्रार्पितानियमितः स्मरणेन कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवान् ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः॥२॥

नाथ, तुम्हारी कृपा में कोई कसर नही और मेरे दुर्भाग्य मे कुछ संदेह नही। तुमने अपने समस्त नामो मे पूर्ण शक्ति भरदी है, काल-पत्र आदि का कोई नियम अथवा प्रतिबन्ध नही। यह तो मेरा ही दुर्भाग्य है कि तुम्हारे इन मधुर नामों से मेरे हृदय मे अनुराग उत्पन्न नही होता।

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कार्तनीयः सदा हरिः॥३॥

अर्थात् भागवत बनने वाले को चाहिये कि तृण से भी अधिक नम्र और वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु बन कर स्वयं मान की इच्छा न कर दूसरों का मान करता हुआ हरि का कीर्तन करे।

न धनं न जन न सुन्दरी
कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे
भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥४॥

हे प्रभो, धन, जन, सुन्दरी, कविता कुछ नही चाहता, बस प्रत्येक जन्म मे मेरी तुम मे निष्काम भक्ति रहे।

अयि नंदतनूज किंकरं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।
कृपया तव पादपकजस्थितधूलीसदृशं विचिंतय॥५॥

हे नन्दसुत, विषम संसार मे पडे हुए मुझ सेवक को कृपा करके अपने चरण कमलो पर पड़ी हुई धूलि के समान समझो ।

नयनं गलदश्रु धारया वदनं गद्-गद् रुद्धया गिरा ।
पुलकैर्निचित वपुः कदा तव नाम गहणे भविष्यति ॥६॥

हे प्रभो, तुम्हारे नाम का कीर्तन करते समय मै किस शुभ क्षण मे इस स्थिति को प्राप्त करूँगा कि मेरे नयन अश्रुधारा से, मुख गद्-गद् वाणी से तथा शरीर पुलक से व्याप्त होगा ।

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रवृषायितम् ।
शून्यायितं जगत् सर्वं गोविन्दविरहेण मे ॥७॥

प्रभु के विरह मे मेरे पल युगो के समान, आँखे वर्षा के समान तथा विश्व शून्यवत् हो गया है ।

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मा—
मदर्शनान्मर्महाता करोतु वा ।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः ॥८॥

हे सखि, वह धोखेबाज कृष्ण उनके चरणों में रत रहने वाली मुझ (दासी) को हृदय से लगाएँ या चाहे विरह से मर्माहत कर दें, जो कुछ जी में आये करें, मेरे प्राणनाथ तो वही है और कोई नही ।[1]

महाप्रभु के शिष्यों ने उनके सम्प्रदाय का यथावत् प्रचार किया । श्री नित्यानन्द अद्वैताचार्य ने बंगाल में तथा उनके अन्य ६ शिष्यों ने वृन्दावन में महाप्रभु के सिद्धान्तों की धूम मचा दी । महाप्रभु के इन ६ शिष्यों में रूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी और जीव गोस्वामी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । नाभादास ने अपने 'भक्तमाल' मे इन तीनों का वर्णन इस प्रकार किया है—

बेला भजन सुपक्व कषायन कबहूँ लागी ।
वृन्दावन दृढ वास जुगल चरननि अनुरागी ॥
पोथी लेखन पान अघट अक्षर चित दीनौ ॥
सद्ग्रन्थन कौ सार सवै हस्तामलक कीनौ ॥
सन्देह-ग्रन्थ-छेदन समर्थ, रस-रास-उपासक पद्म-धीर ।
श्री रूप सनातन भक्ति-जल श्रीजीव गुसाई सर गंभीर ॥[2]

इन गोस्वामियों ने कई महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की । रूप गोस्वामी के 'भक्ति-रसामृतसिंधु', 'उज्ज्वल नीलमणि' तथा 'लघुभागवतामृत'; सनातन गोस्वामी के 'श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध की टीका' तथा 'वृहद् भागवतामृत' और जीव गोस्वामी जी के 'दशम भागवत की टीका', 'षट्-सन्दर्भ' तथा 'गोपाल-चम्पू' ग्रन्थ प्रसिद्ध है । चैतन्य-सम्प्रदाय के साहित्य का प्रचार सन् १६०० के लगभग श्रीनिवासाचार्य जी द्वारा हुआ । १८ वी शताब्दी मे इस सम्प्रदाय के आचार्य बलदेव विद्याभूषण ने ब्रह्म-सूत्र पर 'गोविन्द भाष्य' लिखा । तभी से इस सम्प्रदाय की गणना अन्य परिनिष्ठित वैष्णव सम्प्रदायों मे होने लगी ।

---

१ श्री चैतन्य-चरितावली भाग ५ पृष्ठ २५७, २६५

२ भक्त-माल, भक्ति-सुधा-स्वाद-तिलक, रूपकला छन्द ९३ पृ० ६१६

इस सम्प्रदाय के मतानुसार कृष्ण ही परम तत्व हैं, जो अनन्त शक्ति से युक्त और अनादि है। उपासना-भेद से उसके अलग-अलग नाम हो गये है, उसकी शक्ति अचिन्त्य है। उसकी शक्ति का प्राकट्य होने पर उसे भगवान् कहते हैं अन्यथा वह ब्रह्म कहलाता है। जब उसकी कुछ शक्ति प्रकट और कुछ अप्रकट होती है तब वह परमात्मा कहलाता है। इस परम तत्व का भगवान् स्वरूप ही भक्ति का आलम्बन है। 'लघुभागवतामृत' में परब्रह्म के रूप का विस्तार से विवेचन है परन्तु उसका आधार श्रीमद्भागवत है, जैसा कि अगले अध्याय मे प्रकट होगा। 'लघुभागवतामृत' मे परब्रह्म के तीन रूप माने हैं: (१) स्वय रूप, (२) तदेकात्म-रूप तथा (३) आवेशरूप। इन तीनो रूपो मे कृष्ण ही स्वय रूप हैं। उनके भी तीन रूप है—(१) द्वारका रूप, (२) मथुरा रूप, (३) ब्रज-लीला-रूप। ये तीनो रूप उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है। तदेकात्मकरूप मे वह अपनी अभिव्यक्ति दो रूप मे कराता है—(१) विलास रूप मे और (२) स्वांश रूप मे। लीला विशेष के लिए उनकी जो अभिव्यक्ति होती है, वही विलास रूप है, परन्तु जब वे अपना अंश किसी रूप मे प्रकट करते है वही 'स्वाश' रूप कहलाता है और जब वे कुछ कलाओ के साथ विशिष्ट जीवो में प्रकट होते है, तब उनका 'आवेश रूप' कहलाता है। भगवान् के अवतार भी तीन प्रकार के माने गये है, पुरुषावतार, गुणावतार और लीलावतार। परम श्रीकृष्ण का आदि पुरुषावतार वासुदेव कहलाता है, जो तीन प्रकार का माना गया है— संकर्षण, अनिरुद्ध और प्रद्युम्न। ये पुरुषावतार ही सृष्टि के कारण है। गुणावतार रूप मे वह विष्णु, ब्रह्म और रुद्र का रूप धारण करता है। लीलावतार मे परब्रह्म का तदेकात्मरूप और आवेशरूप प्रकट होता है।

भगवान् की तीन शक्तियाँ मानी गई हैं, अन्तरग-शक्ति, बहिरग और तटस्थ-शक्ति। भगवान् की अन्तरंग-शक्ति ही स्वरूप-शक्ति है, जिसे एन्धिनी-शक्ति भी कहते हैं। सत्-चित्-आनन्द इसी का सामूहिक रूप है। वहिरंग शक्ति माया कहलाती है, जिससे जड़ प्रकृति का उद्भव होता है। यह माया भी दो प्रकार की होती है—१—द्रव्य माया और २—गुण-माया। द्रव्य-माया जगत् का उपादान कारण होती है और गुण-माया निमित्त कारण। इस बहिरंग शक्ति और अन्तरग-शक्ति के मध्य की एक तटस्थ-शक्ति है, जो जीवो की उत्पत्ति का हेतु है। चैतन्य महाप्रभु के सम्प्रदाय मे जीव को अणुरूप कौर नित्य माना है। भगवान् का पूर्णतम स्वरूप गोलोक में रहता है, जिसको चैतन्य-सम्प्रदाय मे वृन्दावन-धाम और गोकुल कहते है।

जीव जड़ माया से मुक्त रहता है और उससे छुटकारा पाने पर भी उसे सायुज्य कैवल्य मुक्ति की प्राप्ति होती है। यह मुक्ति भक्ति के द्वारा ही सम्भव है। वह भक्ति दो प्रकार की है—वैधी और रागानुगा। भक्ति का विस्तृत विवेचन हम आगे करेगे।

चैतन्य-सम्प्रदाय में कृष्ण-चैतन्य, नित्यानन्द और अद्वैतानन्द तीन प्रभु माने है। नित्यानन्द के अनुगामी नदिया मे और अद्वैतानन्द के शान्तिपुर मे निवास करते है। चैतन्य-सम्प्रदाय के मंदिर मथुरा, वृन्दावन तथा बंगाल मे; नदिया, अम्बिका और अग्रद्वीप मे हैं। अन्य स्थानो पर भी इनके मन्दिर मिलते हैं। आगे चलकर इस सम्प्रदाय के और भी कई सम्प्रदाय हुए।

सूर के सम-सामयिक अन्य सम्प्रदाय

जैसा कि हम पहले कह चुके है। दक्षिण के आचार्यो के प्रभाव से राधा-कृष्ण की भक्ति को आधार मानकर कुछ ऐसे सम्प्रदायों का भी जन्म हुआ, जो केवल रागात्मिका भक्ति से प्रेरित

होकर अपनी भावना का प्रचार जनता मे कर रहे थे। इनमें से कुछ तो युगल रूप की उपासना को प्रधानता देते थे और कुछ केवल राधा की भक्ति-भावना से अनुप्राणित थे। बंगाल में तो शक्ति की उपासना का पहले से ही प्रचार था और सहजिया-सम्प्रदाय मे शक्ति की उपासना का विकृत रूप भी हो चला था। हम पहले प्रकरण में बतला चुके है कि इस विकृत उपासना के मूल कारणों में बौद्ध धर्म का प्रभाव भी एक कारण था। इसका वर्णन हम आगे भी करेंगे। यहाँ तो केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उपासना का वह विकृत रूप ब्रज-भूमि मे भी प्रचलित हो गया था। डा० भण्डारकर ने अपने 'वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म' ग्रन्थ मे राधा-विषयक उपासना के इस विकृत रूप की ओर संकेत किया है। वे लिखते हैं :—

The worship of Radha, more prominently even than that of Krisna, has given rise to a sect, the members of which assume the garb of women with all their ordinary manners and affect to be subject even to their monthly sickness. Their appearance and acts are so disgusting that they do not show themselves very much in public, and their number is small. Their goal is the realisation of the position of female companions and attendants of Radha, and hence probably they assume the name of Sakhibhavas (Literally, the condition of companions). They deserve notice here only to show that, when the female element is idolised and made the object of special worship, such disgusting corruptions must ensue. The worship of Durga in the form of Tripura-Sundari has led to the same result.[1]

इन सम्प्रदायो मे हरिदासी-सम्प्रदाय, जिसे सखी-सम्प्रदाय भी कहते है, तथा राधा-वल्लभी-सम्प्रदाय विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सखी-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक स्वामी हरिदास जी और राधावल्लभी-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक स्वामी हितहरिवंश जी थे।

सखी-सम्प्रदाय :

स्वामी हरिदास जी ने सखी-भाव से राधाकृष्ण की 'युगल-उपासना' का प्रचार किया। 'भक्तमाल' में 'हरिदास' जी का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

आसधीर उद्योतकर रसिक छाप 'हरिदास' की।
जुगल नाम सों नेम जपत नित कुञ्ज बिहारी॥
अवलोकत रहे केलि सखी सुख को अधिकारी॥
गान-कला गन्धर्व स्याम स्यामा को तोषै।
उत्तम भोग लगाय मोर मरकट तिमि पोषै॥
तपति द्वार ठाढ़े रहें दर्शन आसा जासु की।
आसधीर उद्योत कर, रसिक छाप हरिदास की॥[२]

इस पद से यह ज्ञात होता है कि स्वामी हरिदास जी की छाप 'रसिक' थी। उन्होंने आसधीर का नाम प्रकाशित किया। ये सखी-भाव से राधा-कृष्ण की उपासना किया करते थे, गान-विद्या-निष्णात थे और उनकी पर्याप्त प्रसिद्धि भी थी। अकबर के दरबार का प्रसिद्ध गायक तानसेन

1 Vaishnavism and Shaivism Page 122-23.

२ भक्तमाल, भक्ति सुधा स्वाद पृष्ठ ६०७

इन्ही का शिष्य था। तानसेन से सम्बद्ध इनकी अनेक कथायें आजकल भी प्रचलित हैं। हरिदास जी ने व्यवस्थित रूप से किसी सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की। पाश्चात्य विद्वानों ने हरिदास जी के विषय मे जो लिखा है, वह प्रामाणिक नही माना जा सकता, क्योंकि इस नाम के कई महात्मा हो चुके है और उन्होंने किसी हरिदास का सम्बन्ध सखी-सम्प्रदाय के स्वामी हरिदास से जोड़ दिया है। इस विषय मे प्रो० विल्सन के Essays on the Religions of Hindustan, तथा ग्राउज का Muttra Memoir विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्राय: लेखकों ने 'भक्तमाल' के उक्त पद के आधार पर 'आसधीर को स्वामी हरिदास जी का पिता माना है, परन्तु सहचारी शरण ने, जो १८ वी शताब्दी के अन्तिम चरण मे विद्यमान थे, इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की व्याख्या और आचार्यों के जीवनवृत्त का वर्णन करते हुए हरिदास को आसधीर की ही शिष्य-परम्परा मे माना है। हरिदास जी ने ही सखी-सम्प्रदाय को पोषित किया था। सहचरी शरण की 'सरस-मंजावली' और 'ललित प्रकाश' दो पुस्तके प्राप्त है। स्वामी हरिदास जी के पद 'हरिदास जी की बानी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। सैद्धान्तिक रूप से यह मत निम्बार्क-मत के अन्तर्गत ही आता है। हरिदास जी के अन्य दो ग्रन्थ भी प्रसिद्ध है—(१) साधारण सिद्धान्त और (२) रास के पद। इस सम्प्रदाय की विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि इसमे भक्ति भावना पर ही विशेष बल दिया गया है। स्वामी हरिदास जी उच्च कोटि के गायक थे। उन्हे सरस्वती का वरद हस्त प्राप्त था। उनकी प्रतिभा अपूर्व थी। ऐसे भावुक भक्त के लिए सिद्धान्तों का प्रतिपादन दुरूह कार्य था। सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है कि स्वामी हरिदास जी अलीगढ़ जिले के हरिदासपुर ग्राम के रहने वाले थे। आज भी इनकी गद्दी ब्रज मे चली आ रही है। वृन्दावन मे श्री बाँकेबिहारी जी का मन्दिर हरिदास जी के समय का ही बना हुआ है।

राधावल्लभी-सम्प्रदाय

युगल-उपासना का दूसरा उल्लेखनीय सम्प्रदाय राधावल्लभी-सम्प्रदाय कहा जा सकता है, जिसके प्रवर्त्तक गोस्वामी हितहरिवंश थे। इनके जन्म-सवत् के विषय में मत-भेद है। 'मिश्र-बन्धुओं' ने इनका जन्म-संवत् १५३० (सन् १४७३) मे माना है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इनके जन्म-काल की मान्यताओ के विषय मे विचार करते हुए लिखा है—

"इस सम्प्रदाय के भक्त प० गोपाल प्रसाद शर्मा ने इनका जन्म-संवत् १५३० मे माना है, परन्तु ओरछा-नरेश महाराज मधुकरशाह के राजगुरु हरिराम जी व्यास ने संवत् १६२२ (अर्थात् सन् १५६५ ई०) के लगभग उनसे दीक्षा ली थी। इस बात को ध्यान में रखकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनका जन्म इसके पश्चात् समझा है। शुक्ल जी के अनुसार यह समय संवत् १५५९ अर्थात् सन् १५०२ ई० मे होना चाहिये।"[1]

इस सम्वत् की पुष्टि भगवन्मुदित नामक भक्त द्वारा लिखित 'हितहरिवंश चरित'' से भी हो जाती है। उसमें हितहरिवंश जी के जन्म-सम्वत् का उल्लेख इस प्रकार है—

"पन्द्रह सौ उनसठ सम्वत्सर वैशाखी सुदि ग्यार सोमवार।
तहँ प्रगटे हरिवंश हित, रसिक-मुकुट-मणि भाल॥"[2]

हित-हरिवंश जी का जन्म सहारनपुर जिले के देवबन्द ग्राम में हुआ था; इनके पिता का नाम श्री व्यास था। किम्बदन्ती है कि पहले ये मध्व-सम्प्रदाय के अनुयायी थे परन्तु जब राधा ने

---

१ हिन्दी साहित्य : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पृष्ठ १६५-१६६

२ हित हरिवश-चरित (भगवन्तमुदित भक्त मालवीय पुस्तकालय, अलीगढ़)

इन्हें स्वप्न मे दर्शन दिये तो उनके उपासक हो गये और उन्होने वृन्दावन मे एक मन्दिर का निर्माण कराया। नाभादास जी के 'भक्तमाल' मे इनका उल्लेख है, जिससे हितहरिवंश के सिद्धान्तों पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। भक्तमाल का पद इस प्रकार है :

"श्री हरिवश गुमाई भजन की रीति सकृत को जानि है ?
श्री राधाचरण प्रधान हृदय अति सुदृढ उपासी।
कुञ्ज केलि दम्पति तहाँ की करत खवासी।
सर्वसु महाप्रसाद प्रसिद्धता के अधिकारी।
विधि-निषेध नहि दास अनन्य उत्कट-व्रतधारी।
श्री 'व्यास' सुवन पथ अनुसरै सोई भलै पहिचानि है।
श्री हरिवंश-गुमाई भजन की रीति सकृत को जानि है ?"

श्री प्रियादास जी का पद यह है :

"श्री हितु जू की रति कोऊ लाखनि मे एक जाने।
राधाई प्रधान माने पाछे कृष्ण ध्याइये।
निपट विकट भाव, होतन स्वभाव ऐसो।
उनकी ही कृपा दृष्टि नैकु क्यों हूँ पाइये।
विधि औ' निषेध छेद और, प्रान-प्यारे हिये।
जिये निजदास निम-दिन वहै गाइये।
सुखद चरित सब रमिक विचित्र नीके।
जानत प्रसिद्ध कहा कहिके सुनाइये।"[1]

इन दोनों पदों मे हित-हरिवश जी की विचारधारा का पता चलता है। उन्होने कृष्ण की अपेक्षा राधा की भक्ति को विशेष महत्व दिया है, पर राधा को उन्होंने उस रूप मे नही माना है, जिसमे बङ्गाल के कुछ वैष्णव-सम्प्रदायो ने अङ्गीकार किया है। नाभादास जी ने अपने पद मे स्पष्ट किया है कि दम्पति-कुञ्ज-केलि-महत्व साधारण व्यक्ति की बुद्धि से परे है, क्योंकि जब तक हमारी बुद्धि विधि-निषेध-परक होगी, लौकिक वासनाओ से ऊपर नही उठ सकती। यह लीला तो अनन्य भक्ति द्वारा ही हृदयगम हो सकती है। हित-हरिवंश ने अपने सम्प्रदाय में दूषित मानसिक वृत्तियों के परिष्कार का ही योग बताया है। इस योग की प्राप्ति 'श्रीमद्भगवद्गीता' के शब्दो मे अभ्यास अथवा वैराग्य से ही सम्भव है। 'भक्तमाल' के पद में 'खवासी' शब्द का प्रयोग विशेष महत्वपूर्ण है। इस सम्प्रदाय मे राधा कृष्ण-प्रेम के संयोग पक्ष को ही लिया है और युगल-मूर्ति की कुञ्ज-लीलाओं के आनन्द को 'परम-रस-माधुरी-भाव' कहा है। यों तो इस मधुर भाव की उपासना का चैतन्य-सम्प्रदाय तथा वल्लभ-सम्प्रदाय में पूर्ण-विवेचन हुआ है, फिर भी राधावल्लभी सम्प्रदाय की भावना मे एक मधुर आकर्षण है। इस सम्प्रदाय की भक्ति-पद्धति से प्रतीत होता है कि यह भक्ति-भावना अन्य वैष्णव-सम्प्रदायों की भक्ति-भावना से स्वतन्त्र है। इस सम्प्रदाय का अनन्य दास भाव, कुञ्ज-केलि, सम्पत्ति का खवासी अर्थात् दासीभाव, विधि निषेध का त्याग तथा राधिका जी को इष्ट-देवी के रूप मे मानना ही विशेषताएँ है। श्रीकृष्ण इस सम्प्रदाय के इष्टदेव नहीं है, केवल राधिका के अनुषंग के कारण उपास्य है। स्वय उनके लिए राधा की सखियाँ और दासियाँ भी अनुनय विनय के पात्र हैं। इस सम्प्रदाय से 'स्वकीया' अथवा 'परकीया' को कोई स्थान नही मिला

१ भक्तमाल-भक्ति सुधा-स्वाद तिलक रूपकला पृष्ठ ६०५।

है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी अपने 'हिन्दी-साहित्य' मे इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तो के विषय मे लिखते हैं :

'निगमागम से अगोचर, सच्चिदानन्द, घन-विग्रह श्री राधाकृष्ण नित्य-किशोर युगलरूप से 'श्री वृन्दावन' मे ऐसी प्रेम-क्रीड़ा किया करते है, जो स्वकीया और परकीया भाव से असप्रज्ञात है; और यथासमय स्वेच्छा से ये युगल 'ब्रजेन्द्रनन्दन' और 'श्री वृषभानुनन्दिनी' नाम से ब्रज मे प्रकट होकर अपनी रहस्य लीला से निज-रसिक-जनो को आनन्द प्लावित किया करते है। तब श्रीकृष्ण जी विषय और राधिका सहित सब गोपियाँ आश्रय होती है। इसी श्रुति-गोचर ब्रजलीला की उपासना तथा गान अन्य समस्त रसिको ने किया।"[1]

वैष्णव सम्प्रदायो के इस विवेचन मे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि इनमे भक्ति की भावना उत्तरोत्तर बढ़ती गई, भक्ति के रागात्मक पक्ष को विशेष बल मिलता गया और शास्त्रीय पक्ष का ह्रास होता गया। प्रपत्ति अर्थात् शरणागति और समर्पण की भावना को विशेष महत्व मिला, परन्तु भक्ति-आन्दोलन की पृष्ठ भूमि के लिए केवल इन वैष्णव सम्प्रदायों का ज्ञान अपर्याप्त ही समझना चाहिये। हम पहले कह आये हैं कि दक्षिण मे वैष्णव और शैव दोनो प्रकार के भक्तो की परम्परा समानान्तर-सी चल रही थी। जिस प्रकार विष्णु-विषयक भक्ति-भावना को लेकर अनेक वैष्णव आचार्य उठ खड़े हुए, उसी प्रकार शैव-भक्ति-भावना को लेकर अनेक शैव सम्प्रदाय चले, जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इन शैव-सम्प्रदायों मे पाशुपत-सम्प्रदाय विशेष महत्वपूर्ण है। इस सम्प्रदाय के मूल मे तीन सिद्धान्त है—(१) पति अर्थात् स्वामी, (२) पशु अर्थात् जीवात्मा तथा (३) पाश अर्थात् बन्धन। इस सम्प्रदाय के चार पाद स्वीकार किये गये हैं—विद्या, क्रिया, योग और चर्चा। इस पाशुपत सम्प्रदाय के पश्चात् शैव सम्प्रदाय का विकास हुआ, जिसके सिद्धान्त पाशुपत-सम्प्रदाय के सिद्धान्तो से सरल थे। इस सम्प्रदाय के पोषको में सम्भुदेव और श्री कण्ठशिवाचार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। शैव-सम्प्रदायों के अन्तर्गत ही कपाल और कालामुख सम्प्रदाय आते है, जिनमे ऐसी अमानवीय क्रियाओ का समावेश हुआ कि जन-साधारण मे शिव-भक्ति के प्रति उदासीनता के भाव जगने लगे। जिस समय दक्षिण मे ये सम्प्रदाय पनप रहे थे, उसी समय उत्तर मे काश्मीरी शैव सम्प्रदाय का आगमन हुआ। यह सम्प्रदाय घृणित क्रियाओं का आश्रय लेकर नही चला था, इसलिए यह श्रेष्ठ और तर्क-सम्मत कहा जा सकता है। इस सम्प्रदाय के मूल प्रवर्त्तक तो असुगुप्त माने जाते है, किन्तु आगे चलकर यह दो भागों मे विभाजित हो गया—(१) स्पन्द शास्त्र, जिसकी स्थापना कल्लट ने की और (२) प्रत्यभिज्ञा-मत, जिसका प्रणयन सोमानन्द ने किया। शङ्कर के अद्वैत-वाद के समानान्तर इन्होंने ईश्वरद्वयवाद प्रचार किया और मुक्ति के लिए ज्ञान एवं भक्ति दोनो का उचित सामंजस्य आवश्यक बताया।

शिव-भक्ति को आधार मानकर अन्य कई सम्प्रदाय प्रचलित हुए। इनमे लिङ्गायत शाक्त और गाणपत्य सम्प्रदाय इसी भक्ति की ही देन है। गाणपत्य सम्प्रदाय के छः वर्ग माने जाते है।

प्राचीन धार्मिक सम्प्रदायो मे 'स्कन्द' और 'सौर' सम्प्रदाय भी उल्लेखनीय है। स्कन्द अथवा कार्तिकेय शिव के ही पुत्र माने जाते है। पतंजलि के समय से स्कन्द की पूजा का विधान मिलता है। पतंजलि ने स्वयं स्कन्द, शिव और विशाख मूर्तियों का उल्लेख किया है। इसी प्रकार प्राचीन समय में सूर्य की भी देवरूप मे उपासना की जाती थी और आज भी उसे वैदिक देवता स्वीकार किया जाता है। वेद मे सूर्योपासना के मन्त्र भी प्राप्त होते है। प्राचीन शिलालेखों और

१ हिन्दी-साहित्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृष्ठ १९८।

ऐतिहासिक विवरणो से भी सूर्य की उपासना के प्रचार की पुष्टि होती है। तीसरी शताब्दी मे सूर्योपासना एक दूसरे ही रूप मे भारत मे प्रविष्ट हुई, जो ईरान से आई थी। इस सम्प्रदाय का विस्तृत विवेचन भण्डारकर ने अपने Vaishnavism and Shaivism में किया है[1]।

इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदाय भी प्रचलित थे। हम पहले लिख चुके हैं कि बौद्धमत सहजयान के रूप मे अपने स्वरूप को बिल्कुल बदल चुका था, जिसकी बहुत-सी बातें वैष्णवों ने भी अपना ली थी। वैष्णवो के एक ऐसे ही सम्प्रदाय का नाम 'सहजिया सम्प्रदाय' था जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे।

इन सम्प्रदायो के अतिरिक्त उत्तरी भारत मे बौद्धों, जैनो और नाथो की अनेक शाखाये थी, जो समयानुसार अपने स्वरूप मे परिवर्तन करती हुई जनता में अपने मत का प्रचार कर रही थी। इन साम्प्रदायिक मत-मतान्तरों के प्रचारको के अतिरिक्त देश मे एक ऐसा भी वर्ग था, जो मनुष्य की सामान्य भाव-भूमि के आधार पर जाति-पाँति के भेद-भाव से परे, साम्प्रदायिकता के आवरण को दूर फेक कर एक ईश्वर की निष्ठा का प्रतिपादन कर रहा था। ऐसे सन्त महात्मा देश के प्रत्येक भाग मे वर्तमान थे। उत्तरी भारत मे कबीर, नानक, दादू और दक्षिणी भारत के नामदेव, तुकाराम, एकनाथ आदि इसी परम्परा के अन्तर्गत आते है। यद्यपि इन महात्माओ के सिद्धान्त स्वतन्त्र थे और सामाजिक-विषमताजन्य थे, फिर भी समाज मे प्रचार के लिए प्रथा के अनुसार किसी शास्त्रीय पण्डित को गुरु बनाना उन्हे आवश्यक था। इनकी भक्ति-भावना मे बाह्य आडम्बर के लिए स्थान नही था और न ये जाति-पाँति मे विश्वास ही रखते थे। हृदय की शुद्धि, आचरण की उच्चता और ईश्वरीय-प्रेम विह्वलता को ही प्रधानता देने वाले ये मस्त-मौला सन्त जनता की भाषा मे ही अपने सिद्धान्तो का प्रचार करते थे। इन्होने अपने-अपने पन्थो में तत्कालीन प्रचलित धार्मिक भावनाओ का समन्वय किया। हेय का त्याग और आदेय का आदान इनकी सरल प्रकृति का प्रमाण है। कबीर-पथ मे हमको तत्कालीन प्रचलित सभी धाराओं का परिष्कृत और समन्वित रूप मिलता है। इसी प्रकार नामदेव और तुकाराम ने भी भक्ति का एक समन्वित रूप जनता के समक्ष प्रस्तुत किया। नामदेव ने पंढरपुर के आस-पास अपने मत का प्रचार किया। पढरपुर मे बिठोवा जी का मन्दिर है। बिठोवा और पढरपुर दोनों का ही नाम शिव और विष्णु की भक्ति का समन्वयात्मक रूप उपस्थित करते है। कहा जाता है कि संस्कृत नाम विष्णु कन्नडी भाषा मे बिट्ठु हो जाता है। इसी प्रकार भण्डारकर ने यह भी सिद्ध किया है कि पढरपुर का यह नाम इसलिए पड़ा कि इसे पाण्डुरम ने बसाया था और सम्भवत. इसका पहला नाम पाण्डुरगपुर था। हेमचन्द्र के अनुसार पाण्डुरम् रुद्र अथवा शिव को कहते है। पण्ढरपुर मे आज भी एक शिव का मन्दिर है और यात्री बिठोवा जी के दर्शन से पूर्व शिव के ही दर्शन करते हैं।

नामदेव ने अपनी भक्ति का प्रचार छोटी जाति के लोगो में विशेष रूप से किया। उनके विषय में अनेक कहानियाँ प्रचलित है। नामदेव के गुरु खेचर मूर्ति-पूजा के घोर विरोधी थे। नामदेव ने कहा है कि व्रत, उपवास, तपस्या आदि व्यर्थ है, तीर्थ-यात्रा भी बेकार है; केवल हृदय को शुद्ध रखना और हरि का नाम जपना ही श्रेयष्कर है। योग, यज्ञ, वैराग्य आदि हरि के चरणों की प्रीति के सम्मुख निरर्थक हैं। नामदेव ने सब जाति और वर्ग के लोगों को शिक्षा दी, यहाँ तक कि मुसलमान भी उनके शिष्य थे। नामदेव की जन्म-तिथि के विषय मे मतभेद है। भण्डारकर ने उनका जन्म सन् १२७० मे माना है।[२]

---

1 See, 'Vaishnavism and Shaivisn' by R. G. Bhandarkar, Pages 215—221.

२ "देखिये वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म" पृष्ठ १२७

महाराष्ट्र की इसी परम्परा मे तुकाराम हुए, जो शिवाजी के समकालीन थे। भण्डारकर ने तुकाराम का जन्म सन् १६०८ मे माना है। तुकाराम ने लगभग ५००० से ८००० तक अभग लिखे, जिनमे धर्म की विभिन्न समस्याओ पर विचार किया गया है। उनकी विचार-परम्परा कबीर की विचारधारा से मेल खाती है। तुकाराम निराकार परमात्मा के उपासक थे। उन्होंने कबीर की भाँति हिन्दू और मुसलमान दोनो मे एकता की भावना उत्पन्न करने के लिये प्रयत्न किया।

हम पहले कह आये हैं कि ये सन्त गुरु मे विश्वास रखते थे और सौभाग्यवश इन्हे गुरु भी समन्वयवादी ही मिले। इस प्रकार के आचार्यो मे स्वामी रामानन्द जी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। एक ओर तो वे रामानुजाचार्य आदि की आचार्य-परम्परा में आते है और दूसरी ओर कबीर आदि सन्तों की परम्परा मे। उत्तर और दक्षिण की भक्ति-पद्धति का समन्वय रामानन्द का महान् कार्य है जैसा कि डा० ताराचन्द ने लिखा है :—

"Rama Nand was the bridge between the Bhakti-movements of south and the north."

रामानन्द जी की जन्म-तिथि का प्रश्न भी विवादास्पद है। भण्डारकर और ग्रियर्सन ने उनका जन्म सन् १२९९ में माना है और ये दोनो ही महानुभाव उन्हे रामानुजाचार्य से चतुर्थ आचार्य मानते हैं। डा० ताराचन्द ने रामानन्द को रामानुज की परम्परा मे २२ वाँ आचार्य मानकर इनकी उत्पत्ति १४ वी शताब्दी के अन्त में मानी है। उनके मृत्यु-सम्वत् के विषय मे भी इसी प्रकार मतभेद है। भण्डारकर ने इनका देहावसान सन् १४११ में लिखा है। स्वामी रामानन्द को रामभक्ति का सर्वप्रथम आचार्य माना जाता है। उनके शिष्य दो कोटि के थे—एक तो सुधारवादी और दूसरे प्राचीन भक्ति-परम्परा के भक्त। सुधारवादियो मे कबीर का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

हम पहले संकेत कर चुके हैं कि यह भक्ति-आन्दोलन केवल भारतीय धर्म-विश्वासो तक ही सीमित नही था; विदेशी धर्म—विशेषकर ईसाई और मुसलमान धर्म—भी इसमे योग दे रहे थे। रामानुजाचार्य ने भक्ति पर विशेष बल दिया और प्रपत्ति को स्वीकार करके शरणागति के महत्व को समाज के सम्मुख रखा। इन्होने शूद्रो को प्रपन्न सज्ञा देकर भक्ति का अधिकारी घोषित किया। वैष्णव-भक्ति मे जिन नवीन तत्त्रो का समावेश हुआ, उन्हे पाश्चात्य विद्वान् ईसाइयत की देन मानते हैं किन्तु उन्ही के कुछ भाई उनके इस कथन के विरुद्ध मत प्रकट करते है। कुछ विदेशी महानुभाव उन्हें इसलाम के प्रभाव का फल बताते है। इस विषय मे डा० ताराचन्द लिखते है :[१]

Burnell[2], Weber[3], Logan[4], Caldwell[5], Hopkins[6] and Bhandarkar[7], along with Pope and Grierson ascribed these changes to the influence of Christian communities in the south. Barnett[8], Macnicall[9], Estlin Carpenter[10], hold more or less explicity that development was due to internal

1 Influence of Islam on Indian Culture (Dr. Tarachand) P. 106-107.
2 Indian Antiquary Vol. III P. 308, Vol. IV Page 183.
3 Do Vol. III P. 21, 47.
4 See Malabar (Logem).
5 ,, A Comparative Grammar of the Dravidian Languages.
6 ,, India Old and New.
7 ,, Vaishnavism and Shaivism.
8 Heart of India.
9 Indian theism.
10 Theism in Medieval India.

causes only, because the historical conditions necessary for Cristian contact in the south were wanting. Fawcett, however, in his notes on 'some of the people of Malabar', suggested that Islam was probably the needed factor.

स्वयं डा० ताराचन्द भी भारतीय भक्ति-भावना में इसलामी प्रभाव को मानते हैं। अपनी पुस्तक "Influence of Islam on Indian Culture" मे उन्होंने इस विषय पर विस्तारपूर्वक लिखा है। वैष्णव और शैव दोनों ही सम्प्रदायो के विकास का वर्णन करते हुए वे अपना निष्कर्ष इस प्रकार देते है :

"In short, the progress of religious thought in the south reveals a growing absorption of Muslim Ideas, into Hindu systems. The philosophies of Sankar, of Ramanuja and others had their roots in the systems of the past, their presentation was original, but in the case of the latter it appears probable that they did not grow up utterly regardless of the new currents of thought, which then flowed in the country. But if in their case it is only possible to give a judgment which must be largely conjectural, the evidence leaves almost no doubt that the Vir Saivas and the Siddhas were largely influenced by Islam."[1]

हमारे दृष्टिकोण से यह भक्ति-भावना न तो इसाई धर्म से ही इतनी प्रभावित हुई और न मूसाई धर्म से ही, जितनी कि बौद्ध और जैन धर्म से। यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि ८ वी शताब्दी मे ही कुछ ईसाई और मुसलमान भारत मे आकर बस गये थे, तो उससे यह कल्पना भी नही की जा सकती कि उन्होने हिन्दू-धर्म को प्रभावित किया होगा, क्योंकि कुछ इने-गिने विदेशी धर्म-सुधारक सारे भारतवर्ष मे व्याप्त उस धर्म को कैसे प्रभावित कर सकते थे ? हाँ, मुसलमानी राज्य-सत्ता स्थापित होने पर १५-१६ वीं शताब्दी मे सूफी-मत का प्रभाव उत्तरी भारत के भक्ति-आन्दोलन पर अवश्य पड़ा। विदेशी प्रभाव को स्वीकार करने वाले विद्वानो ने यह तर्क उपस्थित किया है कि भारतीय धर्म-परम्परा मे प्रपत्ति, शरणागति, प्रेम-भाव तथा विश्वजनीनता का अभाव था, परन्तु भागवत धर्म और भारतीय भक्ति-परम्परा से परिचित विद्वान् इस भ्रमात्मक विचार को स्वीकार नही कर सकेंगे; इस विषय का उल्लेख हम आगे करेंगे। वास्तविक सत्य तो यह है कि जिन तत्वों को उक्त विद्वान् पाश्चात्य अथवा इसलामी प्रभाव के कारण समाविष्ट बताते हैं वे जैन तथा बौद्ध-धर्म के आधारभूत रहे है और राजनीतिक, सामाजिक आदि क्षेत्रो में हिन्दू-धर्म की सीधी टक्कर इन दोनों धर्मो से ही हुई थी।

हमारे चरित-नायक भक्त-प्रवर सूरदास इस भक्ति-आन्दोलन के अपार पारावार मे डूबती-उतराती जन-साधारण की नौका के कर्णधार कहे जा सकते है, जिन्होने मत-मतान्तरो के झञ्झावात से डगमगाती हुई उस साधना-तरणि को प्रेमा-भक्ति के पतवारो से ब्रजलोक के सुरम्य तट पर लाकर खड़ा कर दिया। संसार के संकीर्ण वातावरण में तड़पते हुए मानव को उन्होने उस उच्च-भाव-भूमि पर लाकर बिठा दिया, जहाँ एक ओर तो वह ऐहिकता की कलुषित दुर्गन्ध से मुक्त होकर ईर्ष्या-द्वेष, छल-कपट आदि से रहित उन्मुक्त वायु मे साँस ले सका और दूसरी ओर सासारिक संताप से तप्त मनुष्य की दशा पर आँसू बहाता हुआ हाथ बढ़ाकर उसे ऊपर उठने मे सहारा दे सका। जनता की कुत्सित मनोवृत्तियों का परिष्कार कर उन्हें ब्रह्ममय कृष्ण की ओर उन्मुख करके सूर ने लोक-कल्याण का बड़ा भारी कार्य किया।

---

1 "Influence of Islam on Indian Culture" (Dr. Tarachand) Page 128-129.

पञ्चम अध्याय

पुराण-साहित्य और कृष्ण का विकास

महाकवि सूरदास ने अपने साहित्य का आधार यद्यपि श्रीमद्भागवत को ही रखा है किन्तु अन्य पुराणो की कृष्ण-विषयक कथाओं का आश्रय लेने के लोभ को वे संवरण नही कर सके हैं। अतएव सूर के विद्यार्थी के लिये यह जानना आवश्यक हो जाता है कि लीला पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के जीवन का विकास किस प्रकार हुआ और किन-किन पुराणों मे उनका चरित दिया हुआ है ? यहाँ हम इसी पर विचार करेगे।

भारतीय-वाङ्मय की तिथि और क्रम के निर्धारण के विषय मे अनेक भारतीय और अभारतीय मत प्रचलित हैं। वेदों को प्राय. सभी ने संसार का सर्वप्राचीन साहित्य स्वीकार किया है, किन्तु उनकी उत्पत्ति कब और कैसे हुई, इस प्रश्न का एक निश्चित उत्तर नही मिल सका। पाश्चात्य विद्वान् वेदों की उत्पत्ति ईसा से सात-आठ सहस्र वर्ष पूर्व से पहले नही मानते परन्तु वेदों के अन्त.साक्ष्य के अनुसार वेदों की उत्पत्ति सृष्टि के साथ ही सिद्ध होती है; जैसा कि ऋग्वेद में लिखा है :

"तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि यज्ञिरे।
छंदांसि यज्ञिरे तस्माद्यजुः तस्मादजायत ॥

(ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ६०)

इसी प्रकार यजुर्वेद और अथर्ववेद मे भी ऐसे मंत्र है, जिनसे सिद्ध होता है कि चारो वेद परमपुरुष यज्ञ भगवान् से सृष्टि के साथ ही उत्पन्न हुए। ज्योतिष् के अनुसार यह गणना विक्रमीय सम्वत् के सौर वर्ष १९९२ की समाप्ति तक १,९५,५८,८५,०१७ (एक अरब, पिचानवे करोड़, अट्ठावन लाख, पिचासी हजार, सत्रह) सौरवर्ष और ५६ दिन होती है। पाश्चात्य विद्वान् तो उपलब्ध भौतिक पदार्थों के आधार पर ही अनुमान लगाते हैं। वेदो के अतिरिक्त उपवेद, वेदाङ्ग, स्मृति, दर्शन, इतिहास, पुराण, तन्त्र आदि के विषय मे भी अनेक कल्पनाये है। इस भौतिक युग के जड़वादी पुरुष के लिये आप्त-प्रमाण तो कल्पना ही है। केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वाला जड़वादी व्यक्ति 'अनुमान' और 'उपमान' तक भी अपनी बुद्धि-व्यापार को नही ले जा सकता। इतना हम अवश्य मानते हैं कि इस वैदिक-साहित्य का संकलन और विभाजन कई बार हुआ है और यही कारण है कि उसके बहुत से संस्करण और पाठान्तर आज हमे मिलते है; पुराणो से यह बात स्पष्ट हो जाती है। मत्स्य-पुराण के अनुशीलन से पता चलता है कि द्वापर युग के अन्त में वेदव्यास जी ने वेदों का संकलन किया। महाभारत के शल्य-पर्व मे एक कथा है, जिसका साराश है कि एक बार जब वृष्टि न होने से ऋषि लोग बारह वर्ष तक बाहर घूमते रहे तो वे वेदों को भूल गये, तब दधीचि और सरस्वती के पुत्र सारस्वत ने वेदों को पढाया। दत्तात्रेय द्वारा वेदों के उद्धरण की कथा तो प्रचलित है ही।

हमारे पाश्चात्य अभिभावक जब वेदों को ईसा से ७-८ हजार वर्ष पूर्व से अधिक पहले के मानने के लिये प्रस्तुत नही है, तो यदि वे पुराणों को १६-१७ वी शताब्दी की रचना करा दें

तो आश्चर्य ही क्या ? हमारा तो यह अनुमान है कि पुराणों की स्थिति, चाहे किसी रूप मे ही क्यों न रही हो, वैदिक काल में भी थी। इसके प्रमाण हमे वैदिक-साहित्य मे मिलते भी हैं। अथर्ववेद मे लिखा है।

"ऋच. सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह [अथर्ववेद ७१।७।२४] शतपथ ब्राह्मण में भी लिखा है कि अध्वर्यु पुराणों का कीर्तन करते रहते हैं।[१] वृहदारण्यक मे तो स्पष्ट ही उल्लेख है कि जिस प्रकार गीली लकडी से धुआँ निकलता रहता है, उसी प्रकार महत्तत्व से निश्वास के रूप में वेद, पुराण आदि निःसृत होते है।[२] इन उक्तियो से इतना तो अवश्य ही सिद्ध हो जाता है कि पुराण इतने अर्वाचीन नही है, जितना उनको बताया जाता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि जिस रूप में हमे पुराण आज उपलब्ध होते है, उस रूप मे प्राचीन काल मे न रहे होगे। पुराणों का विषय प्रायः सृष्टि-प्रकरण ही रहता था। इतिहास और पुराणों का भेद हमारे वाङ्मय मे प्रसिद्ध ही है। स्वयं पुराणों मे ही पुराण के ये पाँच लक्षण बताये है:— (१) सर्ग अर्थात् सृष्टि का विज्ञान (२) प्रतिसर्ग, अर्थात् सृष्टि का विस्तार-लय और फिर से सृष्टि, (३) सृष्टि की आदि वंशावली, (४) मन्वन्तर, (५) वशानुचरित। पुराणो के प्रायः ये ही पाँच विषय रहे भी है, हाँ श्रीमद्भागवत में अवश्य दस विषयों का वर्णन है :

सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय।[३] इनका विवेचन तो हम यथाप्रसंग करेंगे, यहाँ तो केवल पुराण के सामान्य विषय की बात है। प्राचीन पुराण किस रूप मे रहे होगे, इसका आज कुछ पता नही चलता और न उनके प्रणेता की ओर ही कोई संकेत है। हो सकता है कि पुराण भी ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों की भाँति ऋषि-प्रोक्त रहे हो। मनु-संहिता, आश्वलायन गृह्य-सूत्र और महाभारत सभी से यह पता चलता है कि पुराण संख्या मे कई रहे होगे। वेदव्यास जी ने जब वेदों के चार विभाग किये तो उन्होंने पाँचवें वेद पुराण का भी संग्रह किया। प्रायः पुराणो की संख्या १८ गिनाई गई है। इन १८ पुराणों के अतिरिक्त कुछ उपपुराण भी प्रसिद्ध है। आगे चलकर तो यह निश्चय करना भी कठिन हो गया कि कौन महापुराण और कौन उपपुराण है ? पुराणो के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सब पुराणों मे प्रायः एक ही विषय की पुनरावृत्ति की गई है और किन्ही पुराणो के तो श्लोक भी ज्यों के त्यों मिल जाते है, किन्तु प्रत्येक पुराण का उद्देश्य पृथक् प्रतीत होता है क्योकि प्रत्येक मे कोई न कोई प्रसंग विशेष रूप से कहा गया है। पुराणो का मुख्य विषय सम्प्रदाय-प्रचार ही प्रतीत होता है, जैसा कि उनके विविध नामो से ही प्रकट होता है। सम्प्रदाय-साहित्य होने के कारण यह हो सकता है कि उनमे परिवर्तन और परिवर्द्धन बराबर होते रहे हो। हिन्दू-पुराणों के आधार पर अनेक जैन और बौद्ध-पुराणों की भी रचना हुई। जैन लोग अपने पुराणों का अस्तित्व हिन्दू-पुराणों से पहले मानते हैं, परन्तु यह धारणा असंगत है, क्योंकि बौद्ध और जैन पुराणों मे शिव, ब्रह्मा आदि के उल्लेख हुए हैं। जैनो के २४ पुराण और बौद्धों के ६ पुराण प्रसिद्ध है।

जैसा कि हम आगे भक्ति-प्रकरण मे बतायेंगे, वेदों के सभी भाष्यकार इस बात को मानते है कि चारो वेदो मे मुख्य रूप से तीन ही विषयों का प्रतिपादन हुआ है—कर्म-काण्ड, ज्ञान-काण्ड और उपासना-काण्ड। भारतीय भक्ति-पद्धति और उपासना ब्रह्म के निराकार रूप से किस प्रकार

१ शतपथ-ब्राह्मण १०।४-३११२

२ वृहदारण्यक २।४।१०

३ श्रीमद्भागवत दि० स्क० अध्याय १० श्लोक १, २

उसके साकार रूप तक पहुँची, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके है। पुराणो मे ब्रह्म के सगुण रूप का ही विशद् विवेचन हुआ है। यही कारण है कि अवतारवाद पुराणों का एक अंग बन गया है। ब्राह्म, शैव, वैष्णव, शाक्त, भागवत आदि सभी पुराणो मे ब्रह्म के नाना रूपों की कल्पना करके उनके अवतारो की चर्चा की गई है। उन्ही की कथाओ और माहात्म्य से पुराण भरे पड़े है। पुराणो मे जितने भी तत्व दीख पडते है उन सभी के स्रोत किसी न किसी रूप मे वैदिक-साहित्य मे मिल जाते है। इन स्रोतों को वैदिक-साहित्य मे सरलता से ढूँढा जा सकता है, परन्तु यह एक विस्तृत विषय है, इसलिए इसका संक्षेप मे ही उल्लेख करेगे। श्री रामदास गौड़ ने अपने 'हिन्दुत्व' ग्रन्थ मे एक उल्लेख इस प्रकार दिया है. "वैदिक ग्रन्थो मे देवतत्व का जिस प्रकार आभास है, वही पुराणो मे विकृत होकर बड़े पैमाने मे दिखायी पडता है। पहले के देवताविशेष अनेकानेक उपाख्यानों मे रूपान्तरित और परिवर्तित हो गये है। जैसे 'विष्णु' शब्द सूर्य के अर्थ मे वेदो मे आया है। परन्तु पुराणो मे सूर्य से भिन्न अलग देवता का नाम है, जिसका माहात्म्य पुराणों मे भर दिया गया है और जिसके अवतारों की कथा का विकास कर दिया गया है। भक्त जनों ने दूसरों के सुशोभन अलंकारों का अपहरण करके अपने-अपने इष्टदेव का मनमाना शृंगार किया है। इस तरह ऊधो की पगड़ी माधो के सिर पहनाकर हिन्दू-धर्म का एक नया रूप गढ लिया है। इस प्रकार हिन्दू-शास्त्र क्रमशः परिवर्तित और विपर्यस्त हो गया है।"[1]

हम गौड़ जी के इस मत से सहमत नही है। पुराणों मे विशेष रूप से अवतारों ही का वर्णन है। भागवत धर्म के विकास पर दृष्टि-पात करने से पता चलता है कि किस प्रकार वैदिक काल मे ही किसी एक देवता का महत्व और दूसरे का अपकर्ष होता गया। अवतारो का उल्लेख तो—अवतार रूप मे न सही—अनेक स्थलों पर हुआ है। ऋक्सहिता मे अनेक सूक्तों मे विष्णु-सम्बन्धी मन्त्र है। शिवजी का नाम उसमे 'रुद्र' आया है और यजुर्वेद मे तो रुद्र की पूर्ण स्तुति ही है। वाजसनेयी संहिता की शतरुद्री मे शिवजी के अनेक नाम गिनाये है—जैसे शिव, गिरीश, पशुपति, नीलग्रीव, शितिकण्ठ आदि। इसी सहिता मे 'शिवा' और 'अम्बिका' का भी उल्लेख हुआ है।[2] ब्राह्मण-ग्रन्थो मे तो अवतार का उल्लेख और भी स्पष्ट है, जैसे शतपथ ब्राह्मण मे मत्स्यावतार, कूर्मावतार, वाराह-अवतार और वामनावतार का स्पष्ट उल्लेख है।[3] तैत्तिरीय आरण्यक (१।२३।१) मे कूर्मावतार का तैत्तिरीय-सहिता (७।१।५।१) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।१।३।५) मे वाराहावतार का तथा तैत्तिरीय आरण्यक (१०।१।६) में वासुदेव श्रीकृष्ण का वर्णन है। उपनिषदों मे भी अवतारविषयक उल्लेख मिलते है। छान्दोग्योपनिषद ३।१७ मे देवकीपुत्र श्रीकृष्ण का उल्लेख है। ऋग्वेद अष्टम-मण्डल ७४ वे मन्त्र के द्रष्टा ऋषि कृष्ण बतलाये गये हैं और इसी मण्डल के ८५, ८६, ८७ तथा दशम मण्डल के ४२, ४३, ४४ वे सूक्तों के ऋषि का नाम भी श्रीकृष्ण है। 'कौशीतकी' ब्राह्मण मे भी आंगिरस ऋषि और कृष्ण का उल्लेख हुआ है। ब्राह्मण-ग्रन्थों मे तो कही-कही पुराणों की कथाओं का भी संक्षिप्त वर्णन है। इस प्रकार वैदिक-साहित्य मे भी हमे इन्द्र, शिव, विष्णु, सूर्य, शक्ति, गणेश, कृष्ण आदि का उल्लेख मिलता है। वास्तव मे बात यह है कि पुराणों की कथाएँ अधिकतर रूपक है और श्रुति-परम्परा से पुराणो मे संग्रहीत की गई हैं; इसलिए पौराणिक कथाओ मे कल्पना का योग स्वाभाविक है। पुराणों मे कही-कही पर 'पुराण-सहिता' शब्द आया है, जिससे यह प्रतीत

---

१ हिन्दुत्व (रामदास गौड) पृष्ठ १६५

२ वाजसनेयी-सहिता ३।५७ और १६।१

३ देखिये शतपथ ब्राह्मण १।८।१।२–१०, १ ४।३ ५, १४।१।२।११ तथा १ २ ५।१-७

होता है कि सब पुराणो का संकलन एक पुराण-सहिता में रहा होगा। विष्णु-पुराण के एक उदाहरण से, जिसका उल्लेख श्री रामदास गौड ने भी किया है, यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है : "इसके बाद पुराण-तत्वज्ञ भगवान् वेदव्यास ने आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्पशुद्धि के साथ-साथ पुराण-संहिता की रचना की। लोमहर्षण नाम का व्यास का एक सूतजातीय शिष्य था, जिसे महामुनि 'व्यास' ने पुराण-सहिता दी। लोमहर्षण के ६ शिष्य हुए—सुमति, अग्निवर्चा, मित्रयु, शांस्यायन, अकृतव्रर्ण और मार्वणि। इनमे से कश्यपवर्णीय, अकृतवर्ण, सार्दणि और शांस्यायन ने लोमहर्षण से पढकर मूल-संहिता के आधार पर एक-एक पुराण-सहिता की रचना की; उन्ही चार संहिताओं का सार लेकर यह पुराण-सहिता रची गयी है। पुराणो मे ब्रह्मपुराण सबसे प्राचीन बताया जाता है। पुराणविदो ने पुराणो की सख्या १८ निर्दिष्ट की है।"

ब्रह्म-पुराण के अतिरिक्त प्राय: सब पुराणो की नामावली दी गई है, परन्तु पुराण और महापुराण के विवाद से पुराणों की संख्या १८ से भी अधिक हो जाती है। यदि इन विवादग्रस्त पुराणो को भी महापुराण माना जाय तो उनकी संख्या २० हो जाती है और महाभारत के खिल या परिशिष्ट पर्व को, जिसमें भगवान् कृष्ण के वंश का वर्णन है और जो 'हरिवश' के नाम से प्रचलित है, अलग महापुराण मानने पर तो यह संख्या २१ हो जाती है परन्तु 'हरिवंश-पुराण' की गणना विद्वानों ने उपपुराणों में ही की है।

पुराणों के विषय

हम पहले कह चुके है कि सभी पुराण प्राय: एक ही विषय को लेकर चले है, केवल उद्देश्य के भेद से ही उनमे भेद हो गया है। पुराणों के विषय ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश, शक्ति आदि देवताओं के गुणों का कीर्तन है। 'स्कन्द-पुराण' के अनुसार दस पुराण शैव है, चार ब्राह्म, दो शाक्त और दो वैष्णव माने गये है।[1] इनकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—शैव, भविष्य, मार्कण्डेय, लैङ्ग-पुराण, वाराह, स्कन्द, कौर्म, वामन और ब्रह्माण्ड ये दस पुराण शैव है, वैष्णव, नारदीय, गरुण और भागवत ये चार पुराण वैष्णव है, ब्राह्म और पद्म-पुराण ये दो पुराण ब्रह्मा के हैं तथा अग्नि पुराण अग्नि का ब्रह्म-वैवर्त पुराण सूर्य का पुराण है।[2] इन पुराणों के सूक्ष्म विवेचन और अध्ययन से पता चलता है कि पहले शिव की उपासना का ही विशेष महत्व रहा है। धीरे-धीरे विष्णु और शिव मे साम्य स्थापित हुआ और फिर विष्णु को महत्व प्रदान किया गया। चारों वैष्णव पुराणो मे विष्णु के साथ-साथ महादेव की भी विशेषता बताई गई है। इन पुराणों मे लक्ष्य करने की एक और बात यह है कि 'शैवपुराण' शिव को, 'विष्णु-पुराण' विष्णु को, 'शाक्त-पुराण' शक्ति को तथा 'सौर पुराण' सूर्य को अन्य देवताओं का स्रष्टा मानते है। ब्रह्मा मे अतिरिक्त अन्य पाँच देवताओ—विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश, शक्ति—का महत्व प्राचीन परम्परा से चला आया है और आज भी धार्मिक गीतों मे हमे उनका उल्लेख साथ-साथ मिलता है।

भारतीय इतिहास, सभ्यता और सस्कृति की दृष्टि से पुराणो का बड़ा महत्व है, क्योंकि इनका संकलन विभिन्न कालो मे हुआ है। इनमे भिन्न-भिन्न कल्पो की कथाएँ है, जिनमे सैद्धान्तिक साम्य होते हुए भी विवरण मे भेद है। ऐतिहासिक दृष्टि से ये पुराण अमूल्य निधि है, क्योंकि इन मे तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों का पूरा-पूरा चित्रण हुआ है। सारा ही वैदिक-साहित्य किसी न किसी रूप मे इन पुराणो मे आ गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि पुराणों के आकार में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई, यही कारण है कि अनेक पाश्चात्य विद्वान् पुराणो को

---

१ स्कन्द-पुराण प्रथम अध्याय 'केदारखण्ड'

२ वही . सम्भव काण्ड ९—३०—३९

अधिक पुरानी रचनाएँ मानने के लिये प्रस्तुत नही है। पुराणो की श्लोक-संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होने की पुष्टि इस बात से भी होती है कि विविध पुराणों मे अन्य पुराणों के श्लोकों की जो संख्या दी गई है, वह सर्वत्र एक सी नही है। पुराणो की जो प्रतियाँ आज उपलब्ध है, उनमे भी यही बात स्पष्ट होती है।

यों तो पुराणों के नाम से ही उनके विषय विशेष का आभास मिल जाता है परन्तु फिर भी हम यहाँ कतिपय विशिष्ट पुराणों की विशेषताओ का सक्षेप मे उल्लेख करेंगे। ऊपर जिन २० पुराणों का उल्लेख हुआ है वे ये है—ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, श्रीमद्भागवत, वायु, नारदीय, अग्नि, ब्रह्म-वैवर्त, वाराह, स्कन्द, मार्कण्डेय, वामन, कूर्म, वत्स, गरुड, ब्रह्माण्ड, देवी भागवत, लिंग और भविष्य। इनमे महापुराण और उपपुराण विषयक झगड़ा वायुपुराण और शिवपुराण के के बीच, श्रीमद्भागवत और देवी भागवत के बीच तथा चारों भविष्य पुराणो के बीच है।

ब्रह्म-पुराण

ब्रह्म-पुराण मे कृष्ण की कथा विस्तारपूर्वक दी गई है; शिव और राम की कथाएँ भी है। चौथे और तेतीसवे अध्याय मे ब्रह्म का विशेष रूप से उल्लेख है, परन्तु सारे जगत् की उत्पत्ति सूर्य के द्वारा ही बताई गई है और उसे ही सब देवताओ से अधिक महत्व दिया गया है। अन्तिम अध्याय के २० वे श्लोक मे इस पुराण को वैष्णव-पुराण माना गया है। इसमे वैष्णव अवतारों की विशेषता का प्रतिपादन किया भी गया है और जगन्नाथ जी के माहात्म्य का कथन भी है। इसकी श्लोक-संख्या किसी पुराण में १० हजार और किसी मे १३ हजार लिखी है।

पद्म-पुराण

इस पुराण मे पाँच खण्ड है—सृष्टि-खण्ड, भूमि-खण्ड, स्वर्ग-खण्ड, पाताल-खण्ड और उत्तर-खण्ड। पाताल-खण्ड मे श्रीकृष्ण-चरित दिया हुआ है और उत्तर-खण्ड मे अवतारों के वर्णन अनेक माहात्म्य और फिर कृष्ण-चरित दिया गया है। इस पुराण मे ५५ हजार श्लोक है, सृष्टि की उत्पत्ति हिरण्मय-पद्म से बतलाई है। इसमें वैष्णव-सम्प्रदाय की विशेषताओ का भी उल्लेख हैं। इसके दो मुख्य संस्करण मिलते हैं—(१) गौडीय और (२) दाक्षिणात्य—जिनके विषय-क्रम मे कुछ अन्तर है। शैव, पाशुवत, बौद्ध और जैन मतों की निंदा की गई है और अठारह पुराणों का तामस, राजस, सात्विक रूप से विभाजन किया गया है।

विष्णु-पुराण

इस में ६ अश है और उनके पश्चात् धर्मोत्तरखण्ड है। चौथे अश के १५ वें अध्याय में श्रीकृष्ण के जन्म का उल्लेख है और पाँचवें में श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन। इसकी श्लोक संख्या २३००० है

शिव-पुराण

शिव-पुराण सात संहिताओं में विभाजित है। इस में प्रायः शिव के उपाख्यानों का संग्रह है। रुद्र-संहिता के ५४ वें अध्याय, शतरुद्र-संहिता के २६, ३७ और ४१ वें अध्याय मे तथा उमा-संहिता के प्रथम तीन अध्यायों में साधारण रूप से कृष्ण का उल्लेख है, जो प्रायः शिव-भक्ति के प्रसग मे ही आ गया है। वायवी-संहिता में भी इसी प्रकार पुत्र-प्राप्ति की कामना से शिव के पास कृष्ण के जाने का उल्लेख किया गया है। इसमें २४००० श्लोक है और इसका प्रतिस्पर्धी वायु पुराण है।

श्रीमद्भागवत-महापुराण

इसमे १८ हजार श्लोक है, पाद्म-कल्प की कथा कही गई है। इसका प्रतिस्पर्धी पुराण 'देवी भागवत' पुराण है। इसका विशेष विवेचन हम आगे करेंगे।

वायु-पुराण

वायु-पुराण में ११२ अध्याय और १०९९१ श्लोक है। इस मे देश-देशान्तर और अनेक द्वीपों का वर्णन है। बहुत से राजवंशों का वर्णन इसमे किया गया है। ९६ वें और ९७ वें अध्याय में श्रीकृष्ण के वश का वर्णन है। अन्त के अध्यायों में गया का माहात्म्य वर्णित है।

अग्नि-पुराण

इस पुराण मे प्रायः सभी विषयों पर लिखा गया, अतएव यह एक महत्वपूर्ण पुराण है। धनुर्वेद, गान्धर्व वेद, आयुर्वेद, अर्थशास्त्र, वेदान्त तथा १८ विद्याओं का इसमे वर्णन किया गया है। रामायण, महाभारत, हरिवंश और इतिहास के विषयो का सार भी दिया है। 'कौमार व्याकरण' के नाम से एक व्याकरण, एकाक्षर कोष, लिङ्गानुशासन तथा अन्त मे काव्यांग-वर्णन इसमे प्राप्त होते है। हिन्दू-साहित्य, सस्कृति और सभ्यता के दृष्टिकोण से यह पुराण बहुत ही महत्व का है। इस पुराण मे ३८३ अध्याय हैं और १५ हजार से अधिक श्लोक हैं। १२ वें अध्याय मे कृष्णावतार की कथा दी गई है।

ब्रह्म-वैवर्त-पुराण

इस पुराण के भी दाक्षिणात्य और गौडीय दो पाठ मिलते है। कुछ पुराणों में इसे सौर-पुराण कहा गया है किन्तु विषय की दृष्टि से तो यह वैष्णव-पुराण ही प्रतीत होता है। मत्स्य, शिव और नारदीय पुराणो मे इस पुराण के विषयों का जो क्रम दिया गया है, वह इसके क्रम से मेल नही खाता। ऐसा ज्ञात होता है कि उत्तरोत्तर परिवर्तन और परिवर्धन के कारण इस पुराण का स्वरूप ही बदल गया। इसके लगभग आधे भाग मे ब्रह्म-खण्ड, प्रकृति-खण्ड तथा गणपति-खण्ड नाम के तीन खण्ड हैं तथा आधे से कुछ अधिक भाग में श्रीकृष्णजन्म-खण्ड का पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध हैं। ब्रह्म-खण्ड मे श्रीकृष्ण को परमात्मा और सारे जगत् का कारण माना है; फिर कृष्ण-जन्म-खण्ड मे कृष्ण की लीलाओ का वर्णन है।

स्कन्द-पुराण

महापुराणों में यह सबसे बड़ा पुराण है; इसमें ८१ हजार १ सौ श्लोक बताये जाते हैं। इसकी अनुक्रमणिका 'नारदीय पुराण' मे मिलती है; इसमे कई संहिताएँ सम्मिलित है तथा इसके कई विभाग है। प्राचीन भारतवर्ष का बड़ा ही सुन्दर वर्णन इसमे मिलता है जो इसे भौगोलिक दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रमाणित करता है। इसमे असख्य तीर्थों का वर्णन दिया हुआ है। नारदीयादि पुराणों के अनुसार यद्यपि यह शैव-पुराण है, तथापि इसमे अन्य सम्प्रदाय वालों का भी योग है। इस पुराण मे अनेक माहात्म्य भी सम्मिलित हैं। स्कन्द-पुराण का दक्षिण मे बड़ा प्रचार है, जहाँ स्कन्द भगवान् 'सुब्रह्मण्य' के नाम से पूजे जाते है। प्रसिद्ध सत्य-नारायण-कथा-माहात्म्य इसी पुराण के रेवाखण्ड मे दिया हुआ है।

मार्कण्डेय-पुराण

इस पुराण के ९००० श्लोक बताये जाते है किन्तु उपलब्ध प्रतियों मे ६९०० से अधिक नही मिल सके है। 'नारदीय पुराण' मे जो इसकी विषय-सूची दी गई है, उसके अनुसार ३१ वें

अध्याय के अनन्तर इक्ष्वाकु-चरित, तुलसी-चरित, राम-कथा, कुश-वंश, सोम-वश, पुरुरवा, नहुष और ययाति का वर्णन, यदुवंश, श्रीकृष्ण की लीलाएँ, द्वारिका-चरित और मार्कण्डेय-चरित होने चाहिये, परन्तु प्राप्त पोथियों में इनका अभाव है। इस पुराण की विशेषता यह है कि यह साम्प्रदायिक प्रभावो से मुक्त है। इस पुराण का मुख्य अंश 'दुर्गा-सप्तशती' है, जिसकी मान्यता हिन्दू-धर्म मे बहुत अधिक है।

वामन-पुराण

इस पुराण में ९५ अध्याय और १० सहस्र श्लोक है। 'मत्स्य-पुराण' के अनुसार इस पुराण मे शिव-कल्प का वर्णन और त्रिविक्रम वामन के उपाख्यानों का संग्रह है। इसमे विशेषकर दुर्गा, पार्वती और शिव के उपाख्यान हैं।

गरुड़-पुराण

गरुड़-पुराण भी एक लोक-प्रिय पुराण है। किसी व्यक्ति की मृत्यु के अवसर पर इसका पाठ किया जाता है और इसका सुनना श्राद्ध-कर्म का ही एक अग माना जाता है। इसकी श्लोक-संख्या १८ या २० हजार होनी चाहिये किन्तु आजकल इसकी प्रामाणिक प्रतियाँ भी अप्राप्य हैं। इस पुराण में प्रेत-कर्म. प्रेत-योनि, प्रेत-श्राद्ध, यम-यातना, नरक आदि का वर्णन है।

ब्रह्माण्ड-पुराण

इसका महत्व रामायणी कथा के कारण है। विश्वकोषकार ने लिखा है कि इस पुराण की रामायणी कथा ही अध्यात्म-रामायण के नाम से अलग कर ली ही गई है। मत्स्य-पुराण के अनुसार इसकी श्लोक संख्या १२ हजार दो सौ और अन्य पुराणों के अनुसार १२००० है। इसमें १०९ अध्याय हैं और २० वें अध्याय में कृष्ण के आविर्भाव का वर्णन है।

देवी-भागवत

इस पुराण में भागवत के ही समान १२ स्कन्द तथा १८००० श्लोक हैं। पुराणों के साक्ष्य पर तो देवी-भागवत उपपुराण ही ठहरता है, परन्तु शाक्त और तन्त्र-ग्रन्थों मे देवी-भागवत को महापुराण बताया गया है। इस पुराण मे परमात्मा की पराशक्ति का उत्कर्ष प्रतिपादित किया है, जबकि 'श्रीमद्‌भागवत' मे वैष्णव-भक्ति का प्रतिपादन किया गया है। इस पुराण के चौथे स्कन्ध में कृष्ण की कथा आई है।

भविष्य-पुराण

'भविष्य-पुराण' भी महत्वपूर्ण पुराणों में से है। 'विश्वकोष' में चार भविष्य-पुराणों का जिक्र है। नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से मुद्रित 'भविष्य-पुराण' में पहले और चौथे 'भविष्य-पुराण' का संग्रह है, 'नारद-पुराण' मे इसकी श्लोक-संख्या १४००० बतलाई है और अन्य पुराणों में १४५००। इस पुराण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें शाकद्वीपी मग-ब्राह्मणों का वर्णन है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह पुराण बड़े महत्व का है। मग-ब्राह्मणो का रहन-सहन और रीति-रिवाज फारसी साहित्य के पीरेमुगां से मिलता-जुलता है। तीसरे 'भविष्य-पुराण' मे उद्‌भिज्ज विद्या का वृत्तान्त है। इस पुराण में अनेक माहात्म्य और अनेक प्रकार के दान का विधान है।

हरिवंश-पुराण

हरिवंश-पुराण महाभारत का परिशिष्ट है। आधुनिक आलोचक इसे महाभारत के बाद की रचना मामते हैं। इस पुराण में कृष्णावतार की कथा और विष्णु भगवान् का चरित है।

इसमें हरिवंश-पर्व, विष्णु-पर्व और भविष्य-पर्व नामक तीन पर्व हैं। हरिवंश-पर्व के ३४ वें अध्याय मे वृष्णि-वंश का वर्णन है और ३५ वें मे फिर कृष्ण-जन्म-वर्णन हुआ है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इनकी गणना उप-पुराणों मे ही है।

इस विवेचन से हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं :

पुराणो का सम्बन्ध वैदिक साहित्य से है। वेदों मे यद्यपि पुराणो का नामोल्लेख नही है तथापि पौराणिक कथाओं का सूत्र विद्यमान है। ब्राह्मण-ग्रन्थो मे तो ये कथाएँ और भी विस्तार से दी गई है और कई स्थलों पर अवतारों की चर्चा भी मिलती है। उपनिषद् ज्ञानपरक होने के कारण पौराणिक कथाओ के लिये उपयुक्त नही समझे जा सकते थे। हाँ, यत्र-तत्र पौराणिक पात्रो के संकेत फिर भी उनमे मिलते है। हमे तो ऐसा प्रतीत होता है कि पौराणिक-साहित्य का प्रणयन किसी न किसी रूप मे वैदिक काल मे ही हो गया होगा; परन्तु उस समय पुराणों का न तो इतना विस्तार हुआ होगा और न ही वे साम्प्रदायिकता से इतने प्रभावित हुए होगे। वैदिक-साहित्य में जो कथाएँ सूत्र रूप से दी गई थी, उनका विस्तार आवश्यक था और इसी आवश्यकता की पूर्ति के प्रयास मे संभवतः पुराणो की रचना हुई।

जैसे-जैसे हमारे वाङ्मय का सकलन और सम्पादन होता गया, वैसे-वैसे ही पुराण-साहित्य विस्तृत होता गया और उसमें नई-नई कथाओं का समावेश, वंशों का वर्णन और सिद्धान्तों का संकलन होता गया। आगे चलकर जब कई धार्मिक सम्प्रदायो का जन्म हुआ तो उन्होंने पुराणों को अपने प्रचार का साधन बनाया। जिस रूप मे पुराण आज हमे उपलब्ध है, उनमे अनेक मौलिक रूप का अनुसन्धान असम्भव है। महाभारत के पश्चात् पुराण-लेखन-प्रवृत्ति ने और भी बल पकडा और इसमे सन्देह नही कि यह प्रवृत्ति मध्ययुग के अन्तकाल तक चलती रही। रूपक की प्रवृत्ति ने वास्तविकता को और भी अन्धकार मे धकेल दिया और वह आलंकारिकता के नीचे दबकर साधारण मनुष्यों की दृष्टि से ओझल हो गई।

यह सब कुछ होते हुए भी पुराणों के महत्व को कम नही किया जा सकता, क्योकि पुराणों मे भारतीय सभ्यता, संस्कृति, धर्म और इतिहास का वर्णन तो है ही साथ ही काव्य-शास्त्र, कला-साहित्य आदि के भी दर्शन होते है। सामाजिक परिस्थितियों के सर्वांगीण चित्र पुराणो मे स्थान-स्थान पर उपलब्ध होते हैं। धार्मिक-विकास की दृष्टि से तो पुराणो का स्थान अद्वितीय है, किन्तु खेद है कि इन पुराणों का तिथि-निर्णय अत्यन्त दुस्तर कार्य है। अन्त.साक्ष्य के आधार पर यदि इसका कुछ प्रयत्न किया भी जाय तो अन्य पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में वह निष्फल ही रहेगा।

पुराणों के अध्ययन से यह स्पष्ट झलक जाता है कि भारतवर्ष में उत्तरोत्तर विष्णु की भक्ति का विकास और महत्व बढता गया और वासुदेव, नारायण, कृष्ण आदि विष्णु के ही अवतार स्वीकार किये गये। आगे चलकर "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" हुए और १४वी-१५वीं शताब्दी तक आते-आते प्रायः राम और कृष्ण ही इष्टदेवों के रूप में समाज मे प्रतिष्ठित हो गये। आगे के पृष्ठों मे हम कृष्ण के विकास पर विचार करेंगे।

कृष्ण का विकास

वैदिक काल से लेकर आज तक कृष्ण-काव्य विकसित होता चला आ रहा है और तब से लेकर अब तक के काव्य मे किसी न किसी रूप मे कृष्ण का चरित अवश्य पाया जाता है। कृष्ण में अनेक भारतीय तथा अभारतीय भावनाओं का समावेश है। इस चरित्र के सर्वव्यापी विकास को

देखकर आधुनिक आलोचकों को उसकी ऐतिहासिकता मे सन्देह होने लगता है और बहुत से पाश्चात्य विद्वानों ने तो कृष्ण को केवल भाव-पात्र ही माना है। आंग्ल-भाषा-विशारद अनेक भारतीय विद्वान् भी उन्ही के पद-चिन्हों पर चलने में अपना सौभाग्य समझते है और बहुत-सी भारतीय वस्तुओं को अभारतीय कहने मे नही हिचकते। प्रामाणिक तिथियों के अभाव में हमारा वाङ्मय ही अन्धकार के गर्त मे है और जब कभी भूगर्भ से ऐसे पदार्थ निकल पडते है, जिनकी प्राचीनता पाश्चात्य विद्वान् भी प्रमाणित कर देते हैं, तो हम अपनी ऐतिहासिक तिथियो को उन्ही के अनुसार घटा-बढ़ा लेते है। इसमे तो कोई सन्देह नही कि उत्तरोत्तर कृष्ण को देवत्व प्राप्त होता गया है किन्तु केवल इसी बात के आधार पर उन्हें ऐतिहासिक न मानने से कोई तुक प्रतीत नहीं होती। कौन जानता है कि आगे की शताब्दियों मे आज के राष्ट्र-पिता महात्मा गाँधी भी देवत्व को प्राप्त करले और उनकी भी ऐतिहासिकता मे जडवादियों को सन्देह होने लगे। यही बात कृष्ण के सम्बन्ध मे भी लागू हो सकती है।

वैदिक साहित्य मे जिस रूप मे कृष्ण का उल्लेख मिलता है, उसमे उन्हें न तो हम अवतार की ही संज्ञा दे सकते हैं और न देवता की ही। महाभारत मे भी कृष्ण का अवतार रूप से अधिक वर्णन नहीं हुआ है। जिन स्थलों पर उनका अवतार रूप से उल्लेख है उन्हें आधुनिक विद्वान् प्रक्षिप्त मानते हैं, परन्तु महाभारत के अनन्तर तो कृष्ण का रूप ही बदल गया और उनकी गणना पूर्ण-अवतारों मे होने लगी। 'गोपाल' रूप मे उनकी उपासना पौराणिक काल की ही देन है, परन्तु सभी कृष्ण-विषयक पुराणो मे न तो उनके गोपाल रूप की कल्पना है और न ही उनकी लीलाओं का विशद वर्णन है। कुछ ही पुराण ऐसे है, जिनमे उनके इस रूप का वर्णन हुआ है। श्रीकृष्ण 'भागवत धर्म' के इष्टदेव के रूप में हमारे सामने आये है और 'भागवत-धर्म' का सर्वप्रथम वर्णन महाभारत के नारायणीय उपाख्यान मे हुआ है, इसलिये अपने विषय की दृष्टि से महाभारत को हम बहुत महत्वपूर्ण समझते हैं। श्री बंकिमचन्द्र चटर्जी ने अपने 'कृष्ण-चरित' नामक ग्रन्थ मे 'कृष्ण' की एतिहासिकता पर पर्याप्त प्रकाश डाला है और उनकी ऐतिहासिकता मे सन्देह करने वालों को मुँहतोड़ उत्तर दिया है।

भागवत धर्म का व्यवस्थित रूप से विवेचन भागवत और श्रीमद्भगवद्गीता मे हुआ है। श्रीमद्भगवद्गीता का प्रयोजन तो इस धर्म को व्यवस्थित रूप देना ही था। हम पहले कह चुके हैं कि वैदिक काल में ही विष्णु की प्रधानता स्थापित हो चुकी थी। ब्राह्मण-काल के अन्त तक विष्णु के नारायण रूप को परमदैवत माना जाने लगा। इस काल की उपासना मे मनुष्य को अखिल व्यापक परोक्ष शक्ति के स्वरूप का अधिक परिचय मिला और उपासना पद्धति मे व्यक्तित्व का तथा हृदय का संयोग हुआ। नारायण को नर-प्रकृतिस्थ सगुण ब्रह्म के रूप मे स्वीकार किया जाने लगा और नारायण एवं विष्णु की एकता की स्थापना हो गई। आगे चलकर भगवान् का जो स्वरूप नर नारयण के रूप में प्रकटित हुआ वह दूसरे कल्प मे वासुदेव कृष्ण के रूप में प्रकट हुआ। इस प्रकार विष्णु, नारायण और वासुदेव कृष्ण एक ही शक्ति के, युग विशेषों मे, अलग-अलग नाम हुए। निश्चित प्रमाणो के अभाव में यह नहीं कहा जा सकता कि यह विकास किस काल में हुआ, किन्तु बौद्धकालीन ग्रन्थों मे इस विषय में जो संकेत मिलते हैं, उनके आधार पर कम से कम इतना मानना तो तर्क संगत ही है कि ईसा से ६०० वर्ष पहले वासुदेव-कृष्ण की उपासना परब्रह्म के रूप में होने लगी थी। बौद्ध-धर्म के पाली-ग्रन्थ 'निद्देश' के उल्लेखो से पता चलता है कि ईसा पूर्व चौथी शताब्दी मे वासुदेव, बलदेव, मणिभद्द, अग्गी, सूर्य, इन्द्र, ब्रह्म, देव, दिशा आदि के उपासक थे।

पातञ्जल महाभाष्य मे पतञ्जलि ने स्पष्ट लिखा है कि पाणिनि के सूत्र मे उल्लिखित 'वासुदेव' केवल क्षत्रिय वंशीय राजा ही नही, उच्चकोटि के उपास्य भी है। 'वासुदेव' के साथ 'अर्जुन' शब्द इस बात की पुष्टि करता है कि वासुदेव कृष्ण का ही नाम है।[१] डा० बाबूराम सक्सेना पाणिनि मुनि के समय के विषय मे लिखते है :

"अंग्रेज विद्वान् उनका काल ईसवी पूर्व चौथी शताब्दी मे और जर्मन तथा भारतीय मनीषी ई० पू० ५०० से पूर्व छठी या सातवी शताब्दी मे मानते हैं।"[२]

आर० जी० भण्डारकर ने अपने 'वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म' मे कुछ शिलालेखो का उल्लेख किया है जिनमे वासुदेव का उल्लेख है। उनका विवरण हम नीचे देते हैं :

"राजपूताने मे घोसुण्डी नामक स्थान मे जीर्ण-शीर्ण दशा मे एक शिला लेख प्राप्त हुआ है। इस शिलालेख की ब्राह्मी लिपि से पता चलता है कि यह कम से कम ईसा से २०० वर्ष पूर्व लिखा गया होगा। इसमें संकर्षण और वासुदेव के पूजागृह के आसपास एक दीवार बनाने का उल्लेख है।

एक दूसरे शिलालेख में; जो बेसनगर से प्राप्त हुआ है, इस बात का उल्लेख है कि 'हैलिया दौरा' ने 'सर्वेश्वर वासुदेव' भगवान् के मन्दिर पर गरुडध्वज-स्तम्भ का निर्माण कराया है। 'हैलियो दौरा' ने अपने आपको भागवत लिखा है और तक्षशिला निवासी 'दिया' का पुत्र बतलाया है। हैलियो दौरा यवनों का राजदूत था और अन्तालिका से पूर्वी मालवा के राजा मालभद्र के यहाँ आया था। इस लेख से प्रतीत होता है कि यह ईसा से २०० वर्ष पूर्व का है। उस समय वासुदेव की पूजा 'सर्वेश्वर' के रूप मे होती थी और उसके उपासक 'भागवत' कहे जाते थे।

नानाघाट के प्रथम शिलालेख में 'सकर्षण' और 'वासदेव' का नाम 'द्वन्द्व' समास मे प्रयुक्त हुआ है। यह शिलालेख ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का प्रतीत होता है।"[३]

इन प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे 'भागवत-धर्म' का पूर्ण प्रचार था और ई० पू० पहली दूसरी शताब्दी मे तो उसकी महत्ता इस कोटि तक पहुँच चुकी थी कि विदेशी भी उसे स्वीकार करने मे अपना गौरव समझते थे। खेद है कि हमें इस काल से पूर्व के लिखित प्रमाण प्राप्त नही होते, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भागवत धर्म उससे पहले प्रचलित था ही नही। हम आगे यह देखेगे कि 'भागवत धर्म' के उपास्य श्रीकृष्ण किस प्रकार विभिन्न रूपों में होते हुए इस रूप तक आये।

वैदिक साहित्य में कृष्ण

हम पहले लिख चुके है कि ऋग्वेद के कई मन्त्रों में कृष्ण का ऋषि रूप मे उल्लेख है। इस विषय में ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के ८५, ८६ और ८७ तथा दशम मण्डल के ४२, ४३ और ४४वें सूक्त उल्लेखनीय हैं।

छान्दोग्योपनिषद् में कृष्ण को 'घोर आङ्गिरस' ऋषि का शिष्य और देवकी का पुत्र कहा गया है 'तद्धयेतत् घोर-आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्राय उक्त्वा उवाच। अपिपास एवं स बभूव। सोऽन्तवेलायाम् एतत् त्रयं प्रतिपद्येत, अक्षितमसि, अच्युतमसि, प्राणसंशितमसि।"[४]

---

१ वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् ४।३।९८
२ सामान्य भाषा विज्ञान पृ० १४८
३ वैष्णविज्म, शैविज्म, 'भण्डारकर' पृ० ४५
४ छान्दोग्य० ३-१७-६।

कौशीतकी ब्राह्मण में भी आंगिरस ऋषि के शिष्य कृष्ण का उल्लेख है—

"कृष्णो ह तदाङ्गिरसो ब्राह्मणान् छन्दसीय तृतीयं सवनं ददर्श।"[1]

वैदिक वाङ्मय के इन उल्लेखों से पता चलता है कि कृष्ण देवकी के पुत्र थे और घोर आंगिरस ऋषि के शिष्य थे, जिनसे उन्होने ब्रह्म-विद्या की दीक्षा ली थी और वे मन्त्र-द्रष्टा ऋषि के रूप मे स्वीकार किये गये थे

महाभारत

महाभारत-काल में भागवत धर्म का पुनरुद्धार हुआ। महाभारत के अध्ययन से पता चलता है कि महाभारत काल में सांख्य योग, पांचरात्र, वेद और पाशुपत चार सम्प्रदाय प्रचलित थे।

साख्यं, योगः, पांचरात्रं, वेदाः पाशुपत तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे, विद्धि नानामतानि वै॥[2]

सांख्य और योग की चर्चा गीता मे भी आई है और दोनो को एक बताया गया है, यद्यपि सांख्य अनीश्वरवादी और योग ईश्वरवादी था। आजकल जो साख्य और योग प्रचलित हैं वे वास्तव में प्राचीन सांख्य योग मतों से भिन्न है। इन प्राचीन मतों का आज पता नही चलता है। वेदमत वह मत था जिसके तत्व-ज्ञान के आधार तो उपनिषद् और आरण्यक थे, पर क्रियाओं के आधार वेद थे। 'वेदवाद' शब्द से संहिताओं मे वर्णित यज्ञादि भाव का बोध होता है। सम्भवतः इसी वेदवाद की निन्दा गीता के दूसरे अध्याय मे की गई है।[3]

गीता में इसके तत्वज्ञान-पक्ष को ग्रहण किया गया है और ब्रह्म-विद्या को महत्व दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस मत के तत्वज्ञान-पक्ष को 'भागवत धर्म' ने आत्मसात् कर लिया था। गीता मे अध्याय-समाप्ति-सूचक पुष्पिका इसी तथ्य की ओर सकेत करती है:

"इति श्रीमद्भागवद्गीतायामुपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे"......।

गीता में उपनिषदों मे दिये हुए सिद्धान्तों का विस्तार किया है। इस तत्व-ज्ञान का प्रथम आचार्य अपान्तरतम था। महाभारत में सांख्य, योग और वेदान्त इन तीनो ही मतों का पूर्ण प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है। शान्ति पर्व के कई आख्यानों मे इनकी चर्चा आती है।

पाशुपत-भक्ति का उल्लेख हम पहले अध्याय मे कर चुके है। यह शैव-सम्प्रदाय का मत था। महाभारत मे विष्णु और रुद्र दोनो का समन्वय स्थापित करके विष्णु को प्रधानता दी है। भगवद्गीता में 'रुद्राणा शकरश्चास्मि' वाले वचन मे यही समन्वय की ध्वनि है। पाशुपत तत्व-ज्ञान शान्ति पर्व के ३४९ वें अध्याय मे वर्णित है। २८० और २८४ अध्यायों में भी शकर की स्तुतियों के रूप में शिव का महत्व प्रदर्शित किया गया है। अनुशासन पर्व में उपमन्यु के आख्यान में इस मत का विकास दिखाया गया है। परन्तु महाभारत मे पाशुपत मत का पूर्ण विवेचन नही हुआ है।

---

१ साखायन ब्राह्मण अध्याय ३० आनन्दाश्रम, पूना।

२ महाभारत, शान्ति पर्व अध्याय ३४९।

३ यामिमां पुष्पिता वाच प्रवदन्त्यविपश्चित।
वेदवादरताः पार्थ! नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगैश्वर्यप्रसक्ताना तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धि: समाधौ न विधीयते॥

श्रीमद्भगवद्गीता अ० २; श्लोक ४२, ४३, ४४।

महाभारत मे जिस मत का पूर्ण विवरण है, उसे पाचरात्र कहते हैं : जिस भागवत धर्म की परम्परा वैदिक युग से चली आ रही थी, उसे महाभारत काल मे पांचरात्र नाम मिला। इस मत की विशेषता श्रीकृष्ण की भक्ति है। वास्तव मे इस मत का पूर्ण पोषण श्रीमद्भगवद्गीता में ही हुआ है। महाभारत के नारायणीय उपाख्यान के सूक्ष्म अध्ययन से तो यह झलकता है कि महाभारत के समय मे भगवद्भक्ति वाले भागवत कहलाते थे, जो विष्णु और श्रीकृष्ण को परमेश्वर स्वरूप मानकर उनकी भक्ति करते थे। पाचरात्र मत इससे कुछ भिन्न है। शान्ति पर्व के नारायणीय उपाख्यान मे इसकी पूर्ण व्याख्या की गई है।

इस उपाख्यान मे कई कथाएँ है। इनमे पहली कथा मे क्षीरसमुद्र के उत्तर की ओर श्वेत द्वीप का वर्णन है, जहाँ पाञ्चरात्र धर्म के अनुयायी नारायण की पूजा करने वाले निवास करते है। वे अतीन्द्रिय, निराहारी और अनिमेष लोग है जिनकी अनन्य भक्ति से नारायण का प्राकट्य होता है। आगे के अध्यायों में बताया है कि नारद जी जब बद्रिकाश्रम मे नर और नारायण का प्रदर्शन करने के लिए जाते है, उस समय नारायण पूजा में सलग्न है। नारद ने उनसे प्रश्न किया कि सर्वेश्वर होते हुए आप किसकी पूजा करते हैं ? इसके उत्तर मे नारायण ने वतलाया कि वे आदि प्रकृति की उपामना करते है जो सबका मूल कारण है। नारद यह सुनकर मूल प्रकृति को देखने के लिए आकाश की ओर जाते है और सुमेरु के शृङ्ग पर पहुँच कर उन्हे विचित्र व्यक्तियो के दर्शन होते है। इस स्थल पर श्रोता युधिष्ठिर, भीष्म से पूछते है कि वे कौन व्यक्ति थे ? इस प्रश्न के उत्तर मे भीष्म विस्तार से उनका वर्णन करते है और वसुउपरिचर की कथा बतलाते है। इसी सम्बन्ध मे पाञ्चरात्र सम्प्रदाय का नाम आया है, जिसमे वसुउपरिचर दीक्षित था और जो सात्वत-विधि से नारायण की उपासना करता था। इसके अनन्तर भीष्म चित्र-शिखण्डियों का उल्लेख करते है, जो पाचरात्र धर्म के पहले अनुयायी थे और जिन्होंने मेरु पर्वत पर उसका प्रचार किया था। ये चित्रशिखण्डी संख्या मे सात थे—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरस, पुलस्त्य, पुलः, क्रतु और वशिष्ठ। आठवे स्वयंभू थे। इन सप्त ऋषियों ने तथा स्वयंभू ने वेदो का निष्कर्ष निकाल कर पाञ्चरात्र नामक शास्त्र तैयार किया, जिसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों का विवेचन है। यह ग्रन्थ एक लाख श्लोकों का था। जब नारायण के सम्मुख यह शास्त्र प्रस्तुत हुआ तो नारायण ने कहा, "हे ऋषियो ! तुमने जो यह शास्त्र बनाया है, इसमे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के आधार पर प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनो ही मार्गो का प्रतिपादन किया है। यह शास्त्र परम्परा से वृहस्पति तक पहुँचेगा। वृहस्पति से इस ग्रन्थ को राजा वसुउपरिचर सीखेगा किन्तु उसके पश्चात् यह ग्रन्थ नष्ट हो जायेगा।" यह कहकर नारायण तो अर्न्तहित हो गये और चित्रशिखण्डियों ने इसका प्रचार किया। आगे वसुउपरिचर का विस्तार से वर्णन है, फिर नारद की कथा का प्रारम्भ होता है। नारद नारायण की स्तुति करते है और नारायण प्रसन्न होकर उन्हे अपना विश्वरूप दिखलाते है और फिर उन्हें पाञ्चरात्र-मत के सिद्धान्तों का उपदेश देते है, जिनका सारांश यह है।

"जो नित्य अजन्मा और शाश्वत है, जिसे त्रिगुणों का स्पर्श नही जो आत्मा प्राणिमात्र मे साक्षी रूप से रहता है; जो चौबीस तत्वों से परे पच्चीसवां पुरुष है, जो निस्पृह होकर ज्ञान से ही जाना जा सकता है, उस सनातन परमेश्वर को वासुदेव कहते है। वह सर्वव्यापक है। प्रलयकाल में पृथ्वी जल में लीन होती है, जल अग्नि में, तेज वायु मे, वायु आकाश मे और आकाश अव्यक्त प्रकृति मे और अव्यक्त प्रकृति पुरुष मे लीन होती है। फिर उस वासुदेव के सिवा कुछ भी नहीं रहता। पंच महाभूतों का शरीर बनता है और उसमे अदृश्य वासुदेव सूक्ष्म रूप से तुरन्त प्रवेश

करता है। यह देहवर्ती जीव महासमर्थ है और शेष तथा संकर्षण उसके नाम है। इस सकर्षण से मन उत्पन्न होकर सनत्कुमारत्व अर्थात् जीवन्मुक्तता पा सकता है।

उस मन को प्रद्युम्न कहते है। इस मन से कर्त्ता, कारण और कार्य की उत्पत्ति होती है और चराचर जगत् का निर्माण होता है, इसी को अनिरुद्ध कहते है और ईशान भी कहलाता है। सब कामों मे व्यक्त होने वाला अहङ्कार यही है। निर्गुणात्मक क्षेत्रज्ञ भगवान वासुदेव जीव रूप मे जो अवतार लेता है, वह संकर्षण है। संकर्षण से जो मन रूप मे अवतार होता है, वह प्रद्युम्न है और प्रद्युम्न से जो उत्पन्न होता है, वह अनिरुद्ध है और वही अहकार और ईश्वर है।"

जब वासुदेव कृष्ण के रूप में वासुदेव का अवतार माना गया तो प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और संकर्षण अर्थात् बलराम क्रम से मन, अहंकार और जीव के अवतार के रूप मे समझे गये। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि 'श्रीमद्भगवद्गीता' मे 'वासुदेव' अवश्य परमात्मा के लिये आया है परन्तु उसमे चतुर्व्यूह सिद्धान्त का वर्णन कही नही है। एक दूसरी बात विचारणीय यह भी है कि 'श्रीकृष्ण' के साथ सकर्षण अर्थात् 'बलदेव' का सम्बन्ध तो और भी कई स्थलों पर है और बलदेव को श्रीकृष्ण के ही समान विष्णु का अवतार भी माना गया है,[1] परन्तु प्रद्युम्न और अनिरुद्ध का कृष्ण से सम्बन्ध केवल पाञ्चरात्र-मत मे ही दिखाया है। इस चतुर्व्यूह की कल्पना वेदान्त, सांख्य और योग मतों से भी भिन्न है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कल्पना सात्वत-सम्प्रदाय की ही थी। 'सात्वत' लोग श्रीकृष्ण के ही वंश के थे और सम्भवतः यह मत श्रीकृष्ण के समय मे ही सात्वत लोगों मे फैला, इसी से इस मत को 'सात्वत' कहते है। इस मत का उल्लेख विशेष रूप से भीष्म-स्तव मे हुआ है। शान्तिपर्व के ३३९ वे अध्याय मे इस चतुर्व्यूह के अवतारों की चर्चा है और आगे हंस, कूर्म, मत्स्य, वाराह, नृसिह, वामन, राम, दाशरथि राम, सात्वत और कल्कि अवतारो की चर्चा है और फिर ३४० वें अध्याय मे साख्य और वेदान्त के तत्वों के मूल से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। ३४१ और ३४२ वे अध्याय मे नारायण के नामो की उत्पत्ति लिखी है। पहले श्रीकृष्ण ने शिव और विष्णु के अभेद का वर्णन किया है फिर आगे बताया है कि :

"रुद्र नारायण स्वरूप ही है, अखिल विश्व का आत्मा मैं हूँ और मेरा आत्मा रुद्र है। मैं पहले रुद्र की पूजा करता हूँ, आप अर्थात् शरीर को ही नारा कहते है, सब प्राणियों का शरीर मेरा 'अयन' अर्थात् निवास-स्थान है, इसलिये मुझे नारायण कहते है। सारे विश्व को मैं व्याप लेता हूँ और सारा विश्व मुझ मे स्थित है इसी मे मुझे वासुदेव कहते है। मैंने सारा विश्व व्याप लिया है, अतएव मुझे विष्णु कहते है। पृथ्वी और स्वर्ग भी मै हूँ और अन्तरिक्ष भी मै हूँ, इसी से मुझे दामोदर कहते हैं। चन्द्र, सूर्य, अग्नि की किरणे मेरे बाल है; इसलिये मुझे केशव कहते हैं। गो अर्थात् पृथ्वी को मै ऊपर ले गया, इसी से मुझे गोविन्द कहते है। यज्ञ का हविर्भाग मैं हरण करता हूँ इसी से मुझे हरि कहते हैं; सत्वगुणी लोगों मे मेरी गणना होती है इसी से मुझे सात्वत कहते हैं। लोहे का काला फाल होकर मै जमीन जोतता हूँ और मेरा रग काला है, इसी से मुझे कृष्ण कहते है।"

३४२ और ३४३ वे अध्यायों मे श्वेतद्वीप से लौट आने पर नर और नारायण का जो संवाद हुआ, उसका वर्णन है। इसमें वेदो का महत्व प्रतिपादित किया गया है और मुक्ति की प्रक्रिया बताई है। आगे के अध्यायो मे श्राद्ध इत्यादि कई प्रकार की धार्मिक क्रियाओं का विवेचन है। फिर सात्वत धर्म का वर्णन आया है। इस धर्म को निष्काम भक्ति का पथ बतलाते हुए उसे ऐकान्तिक विधि कहा है, फिर अन्त मे भागवत धर्म की परम्परा का वर्णन है जिसका सारांश है

१ महाभारत आदि पर्व अध्याय १९७।

कि त्रेता युग मे विवस्वान् मनु और इक्ष्वाकु की परम्परा से यह धर्म चला।[1] इस परम्परा का उल्लेख श्रीमद्भगवद्गीता मे भी इसी प्रकार से हुआ है :

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् । गीता ४।१

इन अन्तिम अध्यायों में सात्वत और ऐकान्तिक धर्म समानार्थक कर दिये हैं और सांख्य, योग और वेदान्त के तत्वज्ञान का अभेद बताया है। ३४६ वे अध्याय मे अपान्तरतमा के पूर्व-काल का वृतान्त है और फिर अन्त मे पाञ्चरात्र मत के सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए परमात्मा के समन्वित रूप की व्याख्या की है :

जो जीव शान्त वृत्ति से अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, सकर्षण और वासुदेव के अधिदेव चतुष्टय का अथवा विराट्, सूत्रात्मा, अन्तर्यामी और शुद्ध ब्रह्म के अध्यात्म चतुष्टय का अथवा विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय के अवस्था चतुष्टय का क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म मे लय करता है, वह कल्याण पुरुष को पहुँचता है। योगमार्गी उसे परमात्मा कहते हैं, साख्य वाले उसे एकात्मा कहते है और ज्ञानमार्गी उसे केवलात्मा कहते है।

वसु उपरिचर के कथानक मे विशेष रूप से उल्लेखनीय बात यह है कि उन्होने यज्ञो मे पशु-बलि का निषेध किया और भक्ति-भावना पर विशेष बल दिया। यह धार्मिक सुधार का श्रीगणेश कहा जा सकता है। नारद और नारायणीय संवाद से भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि भगवान् भक्ति से प्राप्य है। नारद की भक्ति से प्रसन्न होकर नारायण ने प्रकट होकर पाञ्चरात्र धर्म का तत्व नारद को समझाया और अपने अवतारो का विस्तार से वर्णन किया। वसु उपरिचर के कथानक मे हरि का विशेष महत्व प्रतीत होता है और नारद-सवाद मे चतुर्व्यूह भगवान् का। यह भक्ति का सिद्धान्त गीता मे विशेष रूप से प्रतिपादित हुआ है और जब कृष्ण के साथ उसके भाई सकर्षण, पुत्र प्रद्युम्न और पौत्र अनिरुद्ध का सम्बन्ध स्थापित हुआ तब भक्ति-भावना का विशेष रूप से प्रचार सात्वतों मे हुआ।

इस प्रकार नारायणीय उपाख्यान के आधार पर कृष्ण का सम्बन्ध सात्वत, वासुदेव, नारायण और विष्णु से स्थापित किया जा सकता है। महाभारत के आदि पर्व मे वासुदेव को सात्वत कहा गया है।[2] द्रोण-पर्व ६७-३६ मे सात्यकि और उद्योग पर्व ७०-७ मे जनार्दन कहा गया है। भीष्म-पर्व मे लिखा है कि यह रहस्यात्मक नित्य-स्वरूप भगवान् वासुदेव ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रो के द्वारा विभिन्न विधियों से पूजा जाता है। द्वापर के अन्त और कलियुग के आरम्भ मे इसकी पूजा सात्वत विधि से होती है।

विष्णु-पुराण मे यादवों और वृष्णियो के वश का वर्णन करते हुए लिखा है कि सत्वत 'अंश' का पुत्र था और उसकी संतान सात्वत कहलाई। 'श्रीमद्भागवत' (१-१४-२५) तथा (३-१-२६) में सात्वतों का वर्णन यादववंशीय अन्धकों और वृष्णियो के साथ किया है और (६-६-४६) मे उनको उच्च कोटि का भागवत ब्राह्मण और वासुदेव बतलाया है तथा (१०-५८-४२ और ११-२७-५) मे वासुदेव को सात्वतर्षभ कहा है।

---

१ त्रेता युगादौ च ततो विवस्वान् मनवे ददौ।
मनुश्च लोकभृत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ।
इक्ष्वाकुना च कथितो व्याप्य लोकानवस्थित।
महाभारत शान्ति पर्व ३४८, ३५१, ३५२।

२ आदिपर्व अध्याय २१८ श्लोक १२

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पतञ्जलि ने वासुदेव और बलदेव को वृष्णिवंशीय लिखा है। मेगस्थनीज ने, जो चन्द्रगुप्त 'मौर्य' के दरबार मे मकदूनिया का राजदूत था, सात्वतों और वासुदेव कृष्ण का स्पष्ट उल्लेख किया है।

भण्डारकर ने अपनी पुस्तक 'वैष्णविज्म ऐण्ड शैविज्म' मे वासुदेव कृष्ण और वृष्णिवंश पर विशेष रूप से विचार किया है और उन्होंने महाभाष्य और बौद्ध ग्रन्थों से उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि वैदिक काल के विष्णु देवता ही पौराणिक काल मे कृष्ण रूप मे स्वीकार किये जाने लगे थे। अब प्रश्न यह है कि वासुदेव शब्द के साथ कृष्ण का सम्बन्ध कैसे हुआ? वासुदेव वृष्णिवशीय माने गये है। 'महाभाष्य' मे पतञ्जलि ने भी वासुदेव को वृष्णिवश का ही माना है और 'वासुदेव' शब्द का चार बार उल्लेख किया है, जब कि कृष्ण शब्द का प्रयोग केवल एक बार किया है। बौद्धो के 'घटजातक' मे 'उपसागर' और 'देवगब्भा' के पुत्रों का नाम वासुदेव और बलदेव लिखा है। काण्हा और केशव नाम भी बीच-बीच मे गद्य-भाग मे उपलब्ध होते है। इन शब्दों की टीका मे काण्हा को काण्हायन गोत्र का बताया गया है तथा 'महाभाग' जातक की व्याख्या में काण्हा और वासुदेव शब्दो से इसकी पुष्टि भी की गई है। इससे प्रतीत होता है कि वासुदेव काण्हायन अथवा कृष्णायन गोत्र के थे। महाभारत मे वासुदेव की व्याख्या वासुदेव का पुत्र ही की गई है, वसुदेव का पुत्र नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि जब वासुदेव को उपास्य रूप मे ग्रहण किया गया तो वैदिक पात्र कृष्ण—जिसका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं—के सब गुणो का आरोप वासुदेव मे हो गया। काण्हायन गोत्र वाली बात इस बात से भी सिद्ध होती है कि पाणिनि ने ४। १। ९६ और ४। १। ९९ सूत्रों के अनुसार 'कृष्णायन' को कृष्णगोत्रोत्पन्न स्वीकार किया है। यह एक ब्राह्मण गोत्र था, जो वशिष्ट के वर्ग का था। मत्स्य-पुराण, अध्याय २०० मे कृष्णायन गोत्र को पाराशर वर्ग का भी बताया है। ब्राह्मण और पाराशर वर्ग से सम्बन्ध रखते हुए हम उसे क्षत्रिय गोत्र मान सकते है, क्योंकि आश्वलायन गृह्य सूत्र १२। १५ के अनुसार क्षत्रियों के गोत्र भी ब्राह्मण-गोत्रो के अनुसार होते थे। कृष्ण, कृष्णायन गोत्रोत्पन्न होने के कारण ही कृष्ण कहलाये और फिर छान्दोग्योपनिषद् में उल्लिखित घोर आङ्गिरस ऋषि के शिष्य और देवकी के पुत्र कृष्ण से उसका सम्बन्ध जोड़ दिया गया। सभा-पर्व मे भीष्म कृष्ण के विषय मे कहते है कि कृष्ण को सबसे अधिक आदर इसीलिये दिया गया है कि वे वेद और वेदागों के ज्ञाता है और ऋत्विग् भी है।[१]

वासुदेव और नारायण के सम्मिश्रण के सम्बन्ध मे भी भण्डारकर ने निर्देश किया है। हम पहले कह चुके है कि महाभारत का नारायणीय उपाख्यान नारायण और विष्णु में एकता स्थापित करने का अच्छा प्रयत्न है। नारायण शब्द की व्याख्या भी इस उपाख्यान में की गई है। 'नार' जल को भी कहते है। ऋग्वेद मे इस बात का सकेत है कि सृष्टि से पहले सब जगह जल ही जल था; फिर नारायण की नाभि से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई, जिसने सृष्टि की रचना की।[२] शतपथ ब्राह्मण में भी नारायण का उल्लेख हुआ है।[३] ऋग्वेद में पांचरात्र-सत्र का प्रयोजक पुरुष 'नारायण' को ही तथा पुरुष-सूक्त का कर्त्ता भी उसे ही बताया गया है।[४] तैत्तिरीयारण्यक १०।११ में भी नारायण को सर्व-गुण-सम्पन्न कहा गया है। महाभारत के नारायणीय उपाख्यान के अनन्तर तो

१ महाभारत सभापर्व ३८

२ ऋग्वेद १०।८२।५ तथा १०।८२।६

३ शतपथ ब्राह्मण १३।३।४

४ ऋग्वेद १२।६।१ तथा १२।१०।९०

नारायण सर्वेश्वर के रूप मे प्रस्तुत हुए। महाभारत के वन-पर्व अध्याय १८८; १८९ मे वर्णित प्रलय के प्रसग मे लिखा है कि जब प्रलय होने पर चारों ओर जल ही जल था, तो एक न्यग्रोध वृक्ष की शाखा पर शंख पर बैठा हुआ एक बालक ही अवशिष्ट रहा। उसने अपना मुख खोला और मार्कण्डेय उसके मुख मे चले गये। वे वर्षो तक वही भ्रमण करते रहे और जब बालक ने उन्हे मुख से बाहर निकाला तो उन्होने आश्चर्य-चकित होकर बालक से पूछा कि आप कौन है ? तब नारायण ने अपना स्वरूप उन्हे बताया। मार्कण्डेय ने महाभारत मे युधिष्ठिर को यह कथा सुनाई और कहा कि तुम्हारे सम्बन्धी जनार्दन ही स्वयम् नारायण हैं। नारायण की कथा पुराणों मे भी आती है और 'नारायण' नाम की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है। महाभारत मे कई स्थलों पर वासुदेव और अर्जुन को नर और नारायण बताया गया है।[१] इस प्रकार महाभारत काल मे ही नारायण का सम्बन्ध वासुदेव से हो गया था।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि वैदिक काल में विष्णु को प्रधानता मिलने लगी थी। ऐतेरेय ब्राह्मण मे तो विष्णु को सर्वोपरि देव माना है।[२] शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीयारण्यक मे भी विष्णु के वैशिष्ट्य की कथाएँ आती है।[३] मेत्रेय उपनिषद् और कठोपनिषद् ३।९ में विष्णु की महत्ता स्पष्टतः प्रकट की गई है तथा विष्णु के स्थान को 'परमं पद्म' कहा है किन्तु विष्णु का वासुदेव से सम्बन्ध महाभारत-काल में ही जोड़ा हुआ प्रतीत होता है; भीष्म-पर्व के ६५-६६ वें अध्याय के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। आश्वमेधिक पर्व मे एक कथा आती है जो इस प्रकार है :

महाभारत युद्ध के पश्चात् जब कृष्ण द्वारका से लौट रहे थे तो मार्ग मे भृगुवशीय उट्टंक नाम के मुनि मिले। उट्टकं ऋषि ने कृष्ण से पूछा कि क्या आपने कौरवों और पाण्डवो में शान्ति स्थापित कर उनमें मेल करा दिया है। कृष्ण ने उत्तर दिया कि कौरवों का नाश हो गया है और पाण्डवो का एकच्छत्र राज्य। इस पर ऋषि बड़े क्रुद्ध हुए और कृष्ण से बोले कि यदि तुम अध्यात्म-दर्शन की ठीक-ठीक व्याख्या न कर सकोगे तो मै तुम्हे शाप दे दूंगा। कृष्ण ने उन्हें अध्यात्म-दर्शन समझाकर अपना विराट् रूप दिखाया। यहाँ इस रूप को वैष्णव-रूप कहा गया है।[४] शान्ति-पर्व मे भी कृष्ण को विष्णु का रूप बताया गया है।[५]

महाभारत के सूक्ष्म अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाभारत काल मे कृष्ण का वासुदेव नारायण और विष्णु के रूप मे स्वीकरण सर्वसाधारण न था। कुछ स्थलों को छोड़कर महाभारत मे कृष्ण एक उच्चकोटि के राजनीतिज्ञ क्षत्रिय योद्धा के रूप में चित्रित किये गये हैं और यदि हम उन स्थलो को पाश्चात्य विद्वानों की उक्ति के अनुसार प्रक्षिप्त मानलें तो महाभारत में कृष्ण को भगवान् मान लेने की आधार शिला ही गिर जाती है; परन्तु महाभारत के अन्त.साक्ष्य और बाह्यःसाक्ष्य के आधार पर इस बात को स्वीकार नही किया जा सकता। विण्टरनिट्ज ने अपने संस्कृत-साहित्य के इतिहास मे महाभारत के तीन संस्करण माने है। पहले सस्करण में ८८०० के लगभग श्लोक, दूसरे में २४००० और तीसरे में एक लाख हैं। हरिवश पुराण को वे महाभारत से अलग ही स्वीकार करते है। महाभारत के कुछ अंशों को प्रक्षिप्त मानकर यदि यह

---

१ वनपर्व १९।४७ तथा उद्योग पर्व ४९।१
२ ऐतेरेय ब्राह्मण १।१
३ शतपथ १।२।५ और १४।१।१
४ आश्वमेधिक पर्व अध्याय ५३-५४
५ शान्त पर्व अध्याय ४८

कल्पना कर भी ली जाय कि महाभारत काल मे कृष्ण को साधारण राज-पुत्र के रूप में ही स्वीकार किया गया है तो श्रीमद्भगवद्गीता के आधार पर—जो अन्त: और बाह्य-साक्ष्य के आधार पर महाभारत काल की ही रचना ठहरती है और जिसमे अधिक अंश प्रक्षिप्त नही है—यह मानना पड़ेगा कि महाभारत काल मे ही कृष्ण मे अवतारत्व का आरोप होने लगा था। महाभारत के विषय मे एक बात और भी उल्लेखनीय है। वह यह कि इस 'भागवत' ऐकान्तिक अथवा 'पांचरात्र धर्म का विशेष प्रचार सात्वों' के द्वारा हुआ जो योग्य और वीर क्षत्रिय योद्धा थे। यही कारण है कि उनके समय तक इस धर्म मे क्षात्र बल का प्राधान्य रहा; परन्तु पौराणिक युग मे विष्णु, नारायण और वासुदेव की त्रिवेणी सम्मिलित होकर बहने लगी, जिसका प्रवाह भक्ति-सलिल से परिपूर्ण था। आगे चलकर यह प्रवाह वैष्णव-भक्ति की विशाल सरिता मे परिणत हो गया, जिसकी अनेक शाखा-प्रशाखाओ ने जनता को जीवन प्रदान किया और वह आनन्द-रस मे निमग्न हो गया।

कृष्ण के जिन स्वरूपों का हमने अब तक विवेचन किया है, उनका हमारे भक्तिकालीन साहित्य से साक्षात् सम्बन्ध नही है क्योकि हिन्दी के कृष्ण-भक्ति-साहित्य के चरित-नायक ब्रजबिहारी लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण है, जिनका लीलाधाम ब्रज है और गोप-गोपियो से सीधा सम्बन्ध है। प्रेमी-भक्ति के आलम्बन, गोप-गोपियों के सर्वस्व, राधावल्लभ, नटनागर, गोपाल-कृष्ण का समावेश हमारे वाङ्मय मे कब से हुआ, यह एक दुस्तर समस्या है। पौराणिक-साहित्य का विवेचन हम पहले कर चुके हैं। कई पुराण तो ऐसे है जिनमे कृष्ण-चरित सक्षेप मे दिया गया है किन्तु कुछ पुराणो मे कृष्ण की लीलाओं का विस्तार से वर्णन है कृष्ण-चरित्र-सम्बन्धी पुराण ये है :

पद्म-पुराण, वायु-पुराण, वामन-पुराण, कूर्म-पुराण, ब्रह्म-वैवर्त पुराण और हरिवश पुराण। इनका उल्लेख हम आगे करेगे। यहाँ तो हम यही देखने का प्रयास करेंगे कि गोपाल कृष्ण की कथा के अन्य कौन से सूत्र है ? जिन शिला-लेखों का पहले उल्लेख हुआ है, उनमें गोपाल कृष्ण का कोई सकेत नही मिलता। 'नारायणीय उपाख्यान' मे वासुदेव अवतार का वर्णन करते हुए यह लिखा है कि वासुदेव ने कंस के वध के लिए अवतार लिया। 'सभा-पर्व' मे शिशुपाल ने व्यग्य मे कृष्ण को गोकुल मे पूतना आदि का संहारक बताया है और भीष्म द्वारा की गई कृष्ण की प्रशंसा को झूठी प्रशंसा कहा है। ३८ वे अध्याय मे जहाँ भीष्म ने कृष्ण की प्रशसा की है, वहाँ यह उल्लेख नही है, इसलिए भण्डारकर ने इस पद को प्रक्षिप्त मानते हुए लिखा है :

"The southern recension of the Mahabharat contains many interpolations... ...Thus attempts have always been made to bring by means of interpolations, the stories told in the Mahabharat to the form, which they subsequently assume."[1]

महाभारत के इस संस्करण में कृष्ण की गोकुल वाली कथाओं का समावेश है। उत्तरी भारत मे पाई जाने वाली महाभारत की प्रतिलिपियों में इस प्रकार के श्लोक नही है। कृष्ण के गोविन्द नाम का सम्बन्ध 'गोपाल कृष्ण' से जोड़ा जाता है। 'गोविन्द' एक पुराना नाम है और इसका उल्लेख 'श्रीमद्भागवत' और 'महाभारत' दोनों में हुआ है, परन्तु महाभारत मे 'गोविन्द' शब्द का सम्बन्ध 'गोपाल कृष्ण' से नही लगाया गया है। आदि पर्व मे गोविन्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है कि भगवान् का नाम 'गोविन्द' इसलिए है कि उन्होंने 'वाराहावतार' मे 'गो' अर्थात् पृथ्वी की रक्षा की थी।[२] शान्ति-पर्व मे भी इसी प्रकार व्याख्या की गई है।[३] भण्डारकर ने

1 Vaishnavism and Shaivism (Page 50 foot note)
२ आदि-पर्व (महाभारत) २१-१२
३ शान्ति-हर्व ३४२-७०

गोविन्द की उत्पत्ति गोविद् से बतलाई है, जो ऋग्वेद में इन्द्र के विशेषण के रूप मे प्रयुक्त हुआ है और 'केशिनिसूदन' के विषय मे भी उन्होंने यही लिखा है कि यह भी इन्द्र का विशेषण था और बाद मे ये दोनो विशेषण कृष्ण के साथ जोड दिये गये ।[1] ऋग्वेद मे हमे ऐसे मन्त्र अवश्य मिलते है, जिनमे गो, वृष्णि, राधा, व्रज, गोप, रोहिणी और अर्जुन आदि नाम आये है उनमे से कुछ मन्त्र निम्नलिखित है :

१—ता वा वास्तून्युष्मसि गमध्यै । यत्र गावो भूरिश्रृंगा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि ।।[2]

२—स्तोत्रं राधानां पते ऋ० १ । ३० । २६

३—गवामयव्रजं वृधि ऋ० १ । १० । ७

४—दासपत्नी अहिगोपा अतिष्ठत । ऋ० १ । ३२ । ११

५—त्व नृचक्षा वृषभानुपूर्वी कृष्णास्वाग्ने अरुणो विभाहि । अथर्व० ३ । १५ । ३

६—तमेतदाधार यः कृष्णासु रोहिणीषु । ऋ० ८ । ६३ । १३

७—कृष्णरूपाणि अर्जुना विवो मदे । ऋ० १० । २१ । ३

इन मन्त्रों मे जो नाम आये है, उनका यद्यपि गोपाल कृष्ण से कोई सम्बन्ध नही है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार वैदिक कृष्ण का सम्बन्ध महाभारत के कृष्ण से जोड दिया गया, उसी प्रकार इन सभी नामो का उपयोग पौराणिक युग मे कृष्ण से सम्बद्ध कर लिया हो ।

हम पहले बता आये हैं कि 'घटजातक' में वासुदेव और बलदेव का उल्लेख है, वह कथा इस प्रकार है :

"वासुदेव और उसके भाई देवगब्भा और उपसागर के पुत्र थे । उन्हे देवगब्भा ने अपनी सेविका नन्द गोपा और उसके पति अन्धक को वेणु के सुपुर्द कर दिया था ।" इस कथा से पता चलता है कि इस जातक की रचना के समय गोपाल कृष्ण वाली कथा प्रचलित थी; किन्तु अतर्क्य प्रमाणों के अभाव में इस जातक का समय-निर्धारण अत्यन्त कठिन समस्या है ।

पुराण और कृष्ण-चरित

गोपाल कृष्ण सम्बन्धी सबसे अधिक कथाएँ हरिवंश पुराण में है । इस पुराण मे कृष्ण के चरित को गोपियो के साथ सम्बद्ध कर लिया है । 'विष्णु पर्व' के १२८ अध्याओ में कृष्ण-जीवन की पूरी कथा दी गई है और कृष्ण के सौन्दर्य का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है; पूतना-वध, शकट-वध, यमलार्जुन-पतन, माखन-चोरी, कालिय-दमन, धेनुक-वध, प्रलम्ब-वध, गोवर्द्धन-धारण आदि सभी लीलाओं का इसमे विशद वर्णन है; बीच-बीच मे प्रकृति का भी बड़ा ही सुन्दर चित्रण है । पाश्चात्य विद्वानों ने हरिवश-पुराण का रचना-काल ईसा की पहली शताब्दी के लगभग माना है और अपने कथन की पुष्टि मे हरिवंश पुराण में आये हुए 'दीनार' शब्द को रखा है । हरिवश पुराण मे ३८०८ श्लोक है । श्रीकृष्ण इन्द्र की पूजा का निषेध कर नन्द को गोवर्द्धन की पूजा का विधान बताते है और गउओं को ही अपना सर्वस्व कहते है । ३५२२ संख्या वाले श्लोक मे 'घोष' का उल्लेख है और यह बतलाया है कि गोप ब्रज को छोड़कर वृन्दावन चले आये । 'घोष' का दूसरा नाम 'आभीरपल्ली' बताया है । हरिवंश-पुराण में आभीरों का विस्तार मथुरा के निकट महावन से लेकर द्वारका के पास अनूप और आनर्त देश तक बताया गया है ।[3]

---

1 Vaishnavism and Shaivism (Bhandarker) Page 51

२ ऋग्वेद १ । १५४ । ६

३ हरिवशपुराण ५१६१-५१६३ श्लोक

महाभारत के 'मौशल-पर्व' अध्याय ७ में आभीरों के सम्बन्ध से एक कथा आती है, जिनके अनुसार अर्जुन वृष्णिवंश के समाप्त हो जाने पर उस वंश की स्त्रियों को जब द्वारका से कुरुक्षेत्र ले जा रहे थे, तो आभीरो ने उनके ऊपर आक्रमण कर दिया। आभीर लुटेरे और म्लेच्छ बताये गये है, जो पंचनद-प्रदेश में रहते थे। विष्णु-पुराण मे आभीरों को कोंकण और सौराष्ट्र के निवासी बताया गया है। पहले तो आभीर चरवाहे थे, फिर वे पजाब से मथुरा, सौराष्ट्र और काठियावाड़ तक फैल गये। आजकल 'अहीर' शब्द आभीर का ही बिगड़ा हुआ रूप है। ऐतिहासिक प्रमाणो से ज्ञात होता है कि आभीरों ने मराठा देश के उत्तर मे अपना राज्य भी स्थापित किया था। नासिक मे एक शिलालेख भी मिला है, जिसमे आभीर शिवदत्त के पुत्र ईश्वरसेन के राज्य के नवम वर्ष का उल्लेख है। इस शिलालेख से पता चलता है कि यही तीसरी शताब्दी का लिखा हुआ है। वायु-पुराण मे अमीरो के एक राज्यवंश का वर्णन है, जिसमे १० राजाओ का वर्णन हुआ है।[१] काठियावाड के एक अन्य उत्कीर्ण लेख (Inscription) मे, जो गुण्डा स्थान मे मिला है, रुद्रभूति के दान का वर्णन है। रुद्रभूति आभीर था। यह शिलालेख रुद्रसिंह नामक क्षत्रप ने लिखवाया था, जिसका समय ई० सन् १८० के आसपास था।

आभीरों के इस इतिहास से आधुनिक विद्वानो ने अनुमान लगाया है कि 'गोपाल कृष्ण' तथा 'बालकृष्ण' वाली कथाओ का समावेश 'वासुदेव' के साथ इन आभीरों द्वारा किया गया। आभीरों मे 'बालदेवी' और 'बालदेवता' की उपासना प्रचलित है। 'बालदेवता' के विषय में यह भी कहा जाता है कि उसका जन्म नीच घराने मे हुआ और पालन-पोषण एक दूसरे कल्पित पिता के यहाँ हुआ, जिसे यह ज्ञान था कि वह उसका अपना बच्चा नही है और उसके बहुत से निरीह भाइयो की हत्या हो चुकी है। धेनुक-वध आदि की कथाएँ भो इन्ही आभीरो के द्वारा कृष्ण-कथा में स्थान पा गईं।[२] भण्डारकर ने इसी मत की पुष्टि करते हुए निर्णय किया है :

"The alliance of Krisna with cowherdesses, which introduced an element in consistent with the advance of moraliy into the 'Vasudeva' religion, was also an after-growth, consequent upon the freer intercourse between the wandering Abhiras and their more civilised Aryan neighbours took advantage of its looseness. Besides, the Abhiran women must have been fair and handsome as those of the Ahir Gavaliyas or cowherds of the present day are."

इस विषय मे 'इण्डियन एण्टिक्वैरी' के लेख तथा "एन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एण्ड एथिक्स" के लेख विचारणीय है। कैनेडी ने अपने लेख में जाट गूजरों को आभीरो की ही सन्तान माना है। वेबर और ग्रियर्सन भी ईसा के पश्चात् ही आभीरों के देवता बालकृष्ण का होना सिद्ध करना चाहते है। ऐसा सिद्ध करने से उनका अभिप्राय यह है कि बालकृष्ण की कथाये ईसा की कथाओं का रूपान्तर है। ग्रियर्सन ने लिखा है कि ईसा की दूसरी शताब्दी में ईसाइयों का एक दल सीरिया से आकर मद्रास के दक्षिण में आबाद हो गया था। इन ईसाइयो की भक्ति-भावना का पूरा-पूरा प्रभाव हिन्दुओं पर पड़ा और क्राइस्ट से क्रिष्टो तथा फिर कृष्ण उनका उपास्य बन गया।

---

१ वायु-पुराण, खण्ड २ अध्याय ३७

2 Journal of the Royal Asiatic Society for 1907 Page 981.

वैष्णवों की दास्य-भक्ति, प्रसाद, पूतना-स्तन्य-पान आदि की ग्रियर्सन ईसाइयत की ही देन बताते है। उनका कथन है कि पूतना बाइबिल की 'वर्जिन' है, प्रसाद 'लवफीस्ट' और दास्य-भक्ति पाप-पीड़ित-मानवता का करुण क्रन्दन है। इन लेखों के आधार पर ईसा के पश्चात् ही बालकृष्ण की कथाओं का समावेश सिद्ध होता है किन्तु यह बात वायुविकारजन्य प्रलाप से अधिक महत्व नही रखती। कीथ, मैकडोनल आदि विद्वानो ने इस मत का खण्डन किया है। अन्य प्रमाण भी उक्त कल्पना के विरोध मे उपस्थित किये जा सकते है। हम बता आये है कि ईसा से बहुत दिन पहले ही बालकृष्ण की कथायें प्रचलित थी और आभारी जाति कही बाहर से नही आई थी। संक्षेप मे हम निम्नलिखित युक्तियाँ इस विषय मे उपस्थित कर सकते है :

१—महाभारत, वायुपुराण और हरिवंश पुराण मे आभीरो का उल्लेख है।

२—काठियावाढ़ मे पाये जाये वाले शिलालेख के अनुसार आभीरों का राज्य-काल ईसा से पहले ठहरता है।

३—आभीरो का द्रविड-शब्द से सम्बन्ध, जिसका विवेचन राय चौधरी ने 'Early History of Vaishnavism' में किया है। द्रविण-भाषा मे आभीर का अर्थ 'गोपाल' है।

४—महाकवि भास के 'बाल चरित', 'दूत वाक्य' और 'दूत घटोत्कच' नाटकों में वर्णित कृष्ण का चरित।

५—गाथा-सप्तशती मे राधा-कृष्ण की लीलाओं का उल्लेख।

६—बालकृष्ण की ईसा-निरपेक्ष बहुत-सी कथाओं का अस्तित्व।

श्री कृष्ण चरित का पूर्ण विवेचन करने वाला दूसरा पुराण 'ब्रह्म-वैवर्त पुराण' है, जिसके कृष्ण-जन्म-खण्ड मे कृष्ण विषयक सामग्री दी हुई है। पहले अध्यायों मे कृष्ण-जन्म का कारण, चौथे मे गोलोक का और पाँचवें मे राधा के मन्दिर का वर्णन है। छठे अध्याय मे अंशावतारों का वर्णन करते हुए राधा और कृष्ण के सम्बन्ध को स्पष्ट किया है। फिर सातवें अध्याय में श्रीकृष्ण-जन्माख्यान, आठवे अध्याय मे श्रीकृष्ण जन्माष्टमी-व्रत का वर्णन है। नवें अध्याय मे बलदेव का जन्म और नन्द के पुत्रोत्सव का वर्णन है। आगे कृष्ण की लीलाओं का वर्णन हुआ है। बीच-बीच मे और भी बहुत से उपाख्यान आये हैं। फिर उत्तरार्द्ध मे, जो ५५ वे अध्याय से प्रारम्भ होता है, श्रीकृष्ण-प्रभाव-वर्णन तथा अन्य उपाख्यानों के अनन्तर कंस की कथा और श्रीकृष्ण का मथुरा-गमन दिया हुआ है। अध्याय ८१ मे कृष्ण उद्धव को ब्रज मे जाने की आज्ञा देते है और उद्धव वहाँ जाकर राधा और गोपियो से वार्तालाप करते है। ९८ वे अध्याय में उद्धव मथुरा वापस आते हैं। आगे राधा-कृष्ण सम्बन्धी अनेक वृत्तान्त है, साथ-साथ में और भी बहुत से आख्यान है। ब्रह्मवैवर्त में बहुत-सी स्तुतियाँ दी गई है और अनेक स्थलों पर उच्चकोटि के श्रृंगारिक वर्णन है। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी के कवियों ने बहुत कुछ सामग्री ब्रह्म-वैवर्त पुराण से ली है। ब्रह्म-वैवर्त मे राधा का जो वर्णन है, उसका उल्लेख हम आगे करेंगे। इस पुराण में कृष्ण की लीलाओ का वर्णन हरिवंश पुराण के वर्णनो की अपेक्षा अधिक श्रृंगारिक और विस्तृत है।

पद्म पुराण

इस पुराण के पाताल-खण्ड में कृष्ण-चरित का विवेचन है। अध्याय ६९ से ७२ तक तो श्रीकृष्ण के माहात्म्य का वर्णन है और ७३ से ८३ तक वृन्दावन आदि का माहात्म्य और श्रीकृष्ण की लीला का विवेचन है। गोपियों के अध्यात्म-पक्ष और उनकी उत्पत्ति के विषय मे भी विस्तार

से वर्णन किया गया है, जिसका विवेचन हम आगे करेंगे। इस पुराण में वृन्दावन, द्वारका, गोकुल, मथुरा आदि का वडा सुन्दर वर्णन हुआ है और द्वादश वनो का भी उल्लेख है।[1] श्लोक ८८ से १०२ तक श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन है। सूर-साहित्य पर इस पुराण का पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। पुष्टि-सम्प्रदाय मे पद्म-पुराण की बहुत-सी बाते ज्यों की त्यों अपनाई गई है।

वायु-पुराण

वायु पुराण के द्वितीय-खण्ड अध्याय ३४ मे विस्तार पूर्वक स्यमन्तक मणि की कथा लिखी है और फिर श्रीकृष्ण के जन्म का वर्णन है। इसके अनन्तर कृष्ण की १६ सहस्र पत्नियों और उनके पुत्रों आदि का वर्णन है। इस पुराण के विषय मे विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें कृष्ण की गोप-लीलाओ और राधा की केलि का वर्णन नही है। अध्याय ४२ मे कुछ श्लोकों में गोलोकवासी भगवान् कृष्ण का उल्लेख करते हुए राधा और गोप-लीलाओं का उल्लेखमात्र है।

वामन-पुराण

इनमें केवल केशी, मुर और काल-नेमि के वध की कथा है।

कूर्म-पुराण

इसमे भी केवल यदुवंश का वर्णन, श्रीकृष्ण द्वारा महादेव की आराधना और श्रीकृष्ण के पुत्रो की कथा है।

गरुड़-पुराण

गरुड़-पुराण मे कृष्ण की लीलाओं का उल्लेख है, जो अध्याय १४४ में हुआ है। इसमे पूतना वध, यमलार्जुनोद्धार, गोवर्द्धन-धारण, केशी-चाणूर इत्यादि का वध, कालियदमन और शकटासुर-वध का उल्लेख है। कृष्ण का सान्दीपनि गुरु से शिक्षा प्राप्त करने का भी उल्लेख है। कृष्ण की रुक्मिणी, सत्यभामा आदि ८ पत्नियों का तथा गोपियों का उल्लेख तो है, परन्तु राधा का नाम नहीं है। यह गरुड-पुराण के आचार काण्ड मे है। ब्रह्म-काण्ड मे हव्यवाह की कन्या नीला, भद्रा, मित्रविन्दा, कालिन्दी, जाम्बवन्ती, सोम-पुत्री आदि की तपस्या का वर्णन है।

विष्णु-पुराण

इस पुराण के चौथे अंश के १५ वें अध्याय में शिशुपाल की मुक्ति का कारण बतलाते हुए श्रीकृष्ण-जन्म का उल्लेख हुआ है। पाँचवें अंश में कृष्ण का चरित्र विशेष रूप से दिया हुआ है तथा कृष्ण की लीलाओ के साथ रास का भी वर्णन है। वास्तव मे इसी अश मे कृष्ण के चरित्र का विस्तृत अङ्कन है।

कृष्ण-विषयक पुराणों के विषय और भाषा पर दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ये पुराण विभिन्न कालों की रचनाएँ है और बराबर इनके संस्करण होते रहे हैं। आज भी हमे इनके कई-कई संस्करण उपलब्ध होते है। हो सकता है कि साम्प्रदायिक आचार्यो ने अपनी-अपनी परम्पराओं के अनुकूल इन पुराणों मे घटा-बढी कर ली हो। मध्यकालीन भक्ति-साहित्य पर सभी पुराणो का प्रभाव पड़ा है और कृष्ण के रूप ने अनेक प्रकार की विचार-धाराओं को पार कर वर्तमान स्वरूप को धारण किया है। हम डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के इस मत से पूर्णतया सहमत है :

---

१ पद्म--पुराण, पाताल खण्ड अध्याय ६९

"कृष्ण का वर्तमान रूप नाना वैदिक, अवैदिक, आर्य, अनार्य धाराओ के मिश्रण से बना है। परन्तु फिर भी हम यह नही कह सकते कि कृष्ण ऐतिहासिक व्यक्ति नही है। अवतारत्व का आरोप हो जाने पर बहुत-सी अतिमानवीय घटनाओं से अवतार का जीवन घुल-मिल जाता है।"

कृष्ण के विकास का जो विवेचन हमने ऊपर किया है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है :

१—महाभारत में जिस कृष्ण का वर्णन हुआ है, वह वासुदेव का ही रूपान्तर है और वह पूर्णतया ऐतिहासिक व्यक्ति है। महाभारत काल में ही श्रीकृष्ण मे ईश्वरत्व का आरोप हो चुका था और इनसे वैदिक कालीन श्रीकृष्ण का सम्बन्ध भी स्थापित किया जा चुका था। महाभारतीय कृष्ण का सम्बन्ध मथुरा और द्वारका दोनो से था एवं शिशुपाल की बातो से यह भी आभास मिलता है कि ब्रज से भी कृष्ण का कुछ सम्बन्ध रहा होगा। कृष्ण—कृष्ण गोलोत्पन्न थे।

२—कृष्ण-कथा मे बाल लीलाओं का समावेश अवश्य ही आभीर जाति के कारण हुआ। ईसाइयत से उसका कोई सम्बन्ध नही, क्योंकि वह ईसा से बहुत पहले हो चुका था।

३—पुराणों मे साम्प्रदायिकता की छाप स्पष्ट दीख पड़ती है और उनकी भाषा और विषय से परिवर्तन एवं परिवर्द्धन के चिन्ह भी उनमे खोजे जा सकते है। अतः यह भी निश्चित है कि पुराणों की रचना किसी एक काल की नही है, विभिन्न सम्प्रदायो के आचार्यो ने उनमे अदल-बदल अवश्य की है।

भागवत के श्रीकृष्ण

श्रीकृष्ण के चरित के सम्बन्ध में अब तक हमने श्रीमद्भागवत का उल्लेख नहीं किया है। यद्यपि श्रीमद्भागवत मे राधा का उल्लेख नही है, तथापि कृष्ण-भक्ति का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ श्रीमद्-भागवत ही कहा जा सकता है। महाभारत से लेकर पौराणिक युग तक जितना भी कृष्ण का विवेचन हुआ है, वह सब समन्वित रूप मे श्रीमद्भागवत मे मिल जाता है। भागवतकार ने अवतारों का वर्णन करते हुए, "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" कहा है। महाभारत मे कृष्ण के जिस नारायण रूप का उल्लेख हुआ है, उसको भागवतकार ने इस प्रकार लिखा है कि नारायण के कृष्ण और शुक्ल-स्वरूप असुर-मर्दित पृथ्वी का भार उतारने के लिए कृष्ण और बलराम के रूप मे आविर्भूत हुए।[1]

श्रीमद्भागवत मे नारायण को पुरुषावतार या आदि अवतार कहा है। "भगवान् ने आदि में लोक-सृष्टि की इच्छा से महत्तत्वादि सम्भूत षोडशकलात्मक पुरुषावतार धारण किया।"[2] "भगवान् ने ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन पाँच भूतों की अपने आपसे अपने आप मे सृष्टि की है। इन तत्वो के द्वारा जब वे विराट् शरीर ब्रह्माण्ड का निर्माण करके उसमे लीला से अपने अश अन्तर्यामी रूप से प्रवेश करते हैं तब उन आदि देवनारायण को 'पुरुष' नाम से कहते हैं। यही उनका प्रथम अवतार है।"[3] भागवत के अन्तर्गत ब्रह्म-स्तुति मे कहा गया है "हे अधीश, क्या आप नारायण नही है? आप अवश्य ही नारायण हैं क्योकि आप ही सब जीव-समूहों के आत्मा और अखिल साक्षी है।"[4] इसी प्रकार अन्य पुराणों में भी 'नारायण' और 'वासुदेव कृष्ण' की संगति लगाई गई है, यह हम पहले कह चुके है। वैकुण्ठवासी चतुर्भुज नारायण (महाविष्णु, श्वेत-

---

१ श्रीमद्भागवत २ । ७ । २६

२ वही १ । ३ । १

३ वही ११ । ४ । ३

४ वही १० । १० । १४

द्वीप-पति विष्णु) नारायण ऋषि तथा वासुदेवनन्दन श्रीकृष्ण तथा वृन्दावनविहारी नन्दनन्दन एक ही भगवान् के विभिन्न रूप बताये गये है । श्री जीवगोस्वामी ने 'लघुभागवतामृत' के पूर्व-पटल मे इसका सामञ्जस्य स्थापित किया है और कहा है कि "पुराणो मे कोई श्रीकृण को नारायण ऋषि, कोई वामन, कोई क्षीरोपशायी, कोई सहस्र शीर्षा और कोई वैकुण्ठनाथ नारायण कहते है ।" ब्रह्माण्ड पुराण मे भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है:—"जो वैकुण्ठ मे चतुर्भुज नारायण, जो श्वेत-द्वीप-पति नर-नारायण ऋषि हैं, वे ही वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण हैं"

ऊपर के विवेचन से ज्ञात होता है कि श्रीमद्भागवतकार ने कृष्ण के व्यापक रूप को लिया है। सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि महाभारत, गीता और श्रीमद्भागवत में कृष्ण के रूप का उत्तरोत्तर विकास होता गया है । महाभारत एक ऐतिहासिक ग्रन्थ है; इसके आख्यानो मे ही भगवत्तत्व-निरूपण हुआ है । यदि उन आख्यानो को पृथक् कर दिया जाय तो श्रीकृष्ण का मानवीय रूप ही हमारे सामने आता है; यही कारण है कि पाश्चात्य विद्वानों ने महाभारत मे बहुत से अंश प्रक्षिप्त माने हैं, किन्तु उन आख्यानों मे भागवत-धर्म और उसके तत्व का निरूपण बड़ा महत्वपूर्ण है । उसी तत्व का वैज्ञानिक समन्वय श्रमद्भगवद्गीता में हुआ है । भागवत मे भक्ति की दृढ़ता के लिये उस तत्व की व्याख्या की गयी है । इसके अन्तर्गत पृथु, प्रियव्रत, प्रह्लाद आदि भक्तों की कथाएँ तथा निष्काम कर्म के वर्णनों से यह बात भली-भाँति प्रकट हो जाती है कि महाभारत का 'नारायणीय-धर्म' और श्रीमद्भागवत का 'भागवत-धर्म' आदि में एक ही है। पर दोनों ग्रन्थों मे प्रधानता भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों की है । उसमे श्रीकृष्ण का रूप लोक-रक्षक भी है और लोक-रंजक भी, फिर श्रीमद्भगवद्गीता मे महाभारत के सिद्धान्तों की ही व्याख्या की है । गीता महाभारत का ही एक भाग है, दोनों ग्रन्थों को आद्योपान्त पढने से यह विदित हो जाता है । निष्काम कर्म-युक्त प्रवृत्ति-तत्व का ही दोनों मे विवेचन हुआ है । सम्भवतः भागवत की रचना इसीलिए हुई और यह सिद्ध किया गया कि भक्त के बिना निष्काम कर्म सम्भव नही है । भागवत का मुख्य उद्देश्य भक्ति का प्रतिपादन ही है ।

भगवद्गीता मे भगवान् को प्रकृति और पुरुष से भी परे एक सर्व-व्यापक, अव्यक्त और अमृत तत्व माना गया है और परम पुरुष कहा गया है, जिसके स्वरूप है—व्यक्त और अव्यक्त । अव्यक्त के भी 'सगुण', सगुण-निर्गुण और निर्गुण तोन भेद किये है । कृष्ण उस परम पुरुष के मूर्तिमान् अवतार है, यही कारण है कि गीता में भगवान् कृष्ण ने अपने विषय मे पुरुष का निर्देश अनेक स्थानों पर किया है ।[१] गीता मे भगवान् ने अपना विश्वरूप अर्जुन को दिखाया है और यही उपदेश दिया है कि अव्यक्त से व्यक्त रूप की उपासना करना अधिक सहज है । इसी प्रकार विश्व-रूप का वर्णन महाभारत मे नारद-प्रसंग मे भी आया है ।[२] इससे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि सिद्धान्त रूप से महाभारत, गीता और भागवत में परब्रह्म को एक ही रूप दिया गया है, परन्तु इतना अन्तर है कि महाभारत मे कृष्ण का परब्रह्म से वैसा व्यापक तादात्म्य स्थापित नही किया गया, जैसा भागवत और गीता मे । महाभारत मे पाण्डव अवश्य ही उन्हें विष्णु का अवतार मानते हैं, परन्तु यह बात सामान्य रूप से स्वीकृत न हो पाई थी । भागवत मे भी कृष्ण का वह स्वरूप नही है, जो गीता मे है । गीता में ज्ञान, कर्म और उपासना का सामञ्जस्य स्थापित किया गया है और साथ ही साथ पिण्ड-ब्रह्माण्ड के ज्ञान सहित आत्म-विद्या के गूढ़ और पवित्र तत्वों को

१ देखिये गीता, ८।८, १५।१७, १०।२०, १०।४१, ८।३४

२ महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय ३३९ श्लोक २१-२८

भी समझाया गया है, किन्तु श्रीमद्भागवत मे इन सबका निरूपण विशेष रूप से करके भक्ति को सर्वोपरि ठहराया गया है। भागवत में अनेक अवतारों का वर्णन है, परन्तु अन्य अवतारों को ब्रह्म का अंशरूप मानकर कृष्ण को ही पूर्ण ब्रह्म माना है।[१] पुराणो मे अवतारो की विस्तृत व्याख्या की गई है और तीन प्रकार के अवतार माने गये है—१—पुरुषावतार, २—गुणावतार और ३—लीलावतार। भगवान् के चार व्यूह माने गये है, श्री वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। गुणावतारों में विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र माने है तथा लीलावतार २५ माने है। इसके अतिरिक्त १४ मन्वन्तरावतार होते है, जो स्वायम्भुव आदि १४ मन्वन्तरों मे प्रकट होते है। श्रीमद्भागवत मे श्रीकृष्ण को अवतार ही माना है। देवकी श्रीकृष्ण की स्तुति करती हुई कहती है :

"हे आद्य, जिसके अश (पुरुषावतार) का अंश प्रकृति है, उसके अंश (सत्वादि गुण) के भाग (परमाणु आदि) द्वारा इस विश्व की सृष्टि, स्थिति और प्रलय हुआ करती है। मै आपकी शरण हूँ।"[२] गीता में कई स्थलों पर इस प्रकार के वाक्यों को दुहराया गया है।[३] इस प्रकार गीता और भागवत दोनों में भगवान् श्रीकृष्ण को ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज इन ६ गुणों से विशिष्ट माना है। श्रीमद्भागवत मे कुन्ती द्वारा की गई कृष्ण की स्तुति में कृष्ण का स्वरूप एवं भगवान् के अवतार का प्रयोजन बताया गया है। अन्त मे कुन्ती कहती है, "हे भगवन्, कोई लोग कहते हैं कि आपने पुण्य श्लोक राजा युधिष्ठिर का यश बढ़ाने के लिये ही यदुवंश में जन्म लिया...... । जो लोग आपकी प्रेम तथा भक्ति-भावना से भरी हुई अद्भुत लीलाओ को वक्ताओं से सुनते है, श्रोताओं को सुनाते है तथा स्वयं गाकर और स्मरण करके आनंदित होते हैं, वे शीघ्र ही इस जन्म-मरण-रूपी सासारिक प्रबल प्रवाह को शान्त करने वाले आपके श्रीचरणकमलों का दर्शन प्राप्त करते है।"[४]

भागवत मे कृष्ण के सभी रूप आ गये है, जैसे (१) अद्भुतकर्मा असुरसंहारक कृष्ण, (२) बालकृष्ण, (३) गोपीविहारी श्रीकृष्ण, (४) राजनीतिवेत्ता, कूटनीति-विशारद श्रीकृष्ण, (५) योगेश्वर श्रीकृष्ण, (६) परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण। मुख्य रूप से हम कृष्ण के तीन रूप देखते हैं, (१) महाभारत के कृष्ण, (२) गीता के कृष्ण तथा (३) भागवत के कृष्ण। भगवान् के वीरत्व-विधायक स्वरूप के दर्शन महाभारत मे, परब्रह्म स्वरूप के गीता में और रसिकेश्वर के भागवत में होते हैं। वैसे तो भागवत मे कृष्ण के प्रायः सभी रूपों का विवेचन हुआ है, परन्तु प्राधान्य रसिकेश्वर-स्वरूप का ही है। भगवान् के असुरसंहारक राजनीतिवेत्ता तथा कूटनीतज्ञ स्वरूप का वर्णन भागवत के दशम स्कन्ध के उत्तरार्द्ध मे हुआ है। दशम-स्कन्ध के पूर्वार्द्ध मे निबद्ध कृष्ण के बाल्यकाल की असुरों के वध से सम्बद्ध कथाएँ भगवान् के बालरूप की कहानियाँ होने के कारण उनके अलौकिक चरित्र में आती हैं। कंस-वध तक की लीलाएँ बाल लीलाएँ हैं, इनमें किशोरावस्था की भी क्रियाएं आती है। उनके राजा पद की प्रतिष्ठा जरासन्ध के युद्ध के अनन्तर द्वारका-दुर्ग-निर्माण-काल से होती है और यही से गीता की "परित्राणाय साधूनाम" वाली युक्ति की चरितार्थता प्रारम्भ होती है। इस स्कन्ध मे कृष्ण के पराक्रम की निदर्शिका वीर-रस-मयी अनेक रोमाञ्चकारिणी घटनाएँ हैं किन्तु बीच-बीच में अलौकिकता का भी समावेश है। बाल-

१ एते चाशकला: पुस कृष्णास्तु भगवान् स्वयम्। श्रीमद्भागवत १।३।२८

२ श्रीमद्भागवत १०।८५।२१

३ यथा विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकाशेन स्थितो जगत्, गीता १०।४२
तथा मन्त. परतह नान्यत् निञ्जिदस्ति धनञ्जय ७।७

४ भागवत १।८।३२।३५

लीलाओं को छोड़कर कृष्ण के शेष जीवन-चरित की दृष्टि से भागवत को चार भागों मे विभाजित किया जाता है—(१) घटनात्मक, (२) उपदेशात्मक, (३) स्तुत्यात्मक तथा (४) गीतात्मक।

(१) घटनात्मक

श्रीमद्भागवत के वे स्थल घटना-प्रधान स्थल है, जो ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन करते हैं, परन्तु जैसे गोस्वामी तुलसीदास जी मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी के चरित्र को चित्रित करते हुए 'राम चरित मानस' मे ग्रन्थ के प्रधान सूत्र भक्ति को नहीं छोड़ते और उसी भावना से अभिभूत होकर अनजाने मे ही राम के चरित्र मे अलौकिकता का समावेश कर जाते है, उसी प्रकार व्यास जी का लक्ष्य भी भागवत तत्व-निरूपण द्वारा भक्ति-रस का परिपाक करना है। अतएव भागवतकार ने घटनात्मक स्थलो पर भी भगवान् के दिव्य मंगल स्वरूप की कई बार स्तुति कराई है—जैसे भौमासुर-वध के समय, वाणासुर-संग्राम के समय तथा वेद-स्तुति आदि। इन घटनाओं मे अलौकिक घटनाओं का भी सम्मिश्रण है, जैसे स्वर्ग से कल्प-वृक्ष लाना, देवकी के मृतक पुत्रों को लाना आदि। ऐसे स्थलो पर कवि की प्रतिभा सजग हो उठती है और वह भगवान् के स्वरूप में इतना तन्मय हो जाता है कि अन्य सब भाव अभिभूत हो जाते है तथा हृदयानुभूति रागात्मिका वृत्ति के साथ उन स्तुतियों और स्तोत्रों के रूप मे साक्षात् रूप धारण कर लेती है। श्रीमद्भागवत में जहां-जहाँ भी इन घटनाओं का उल्लेख है, वहीं-वहीं कवि की इस अनुभूति का परिचय मिलता है। इस घटनात्मक भाग मे भागवताकार का उद्‌देश्य भी भक्ति की दृढ़ता ही है—

(२) उपदेशात्मक

भागवत के उपदेशात्मक भाग में हमें श्रीकृष्ण योगेश्वर, उपदेष्टा तथा विज्ञानी के रूप मे मिलते हैं। श्रीमद्भागवत में दो प्रकार के उपदेश हैं—साधारण तथा विशेष। साधारण उपदेश वे उपदेश हैं, जो साधु, महात्माओं, गुरुजनों या मित्रों ने दिये हैं। इन उपदेशों का अभिप्राय कर्तव्यकर्म का अनुष्ठान करते हुए भगवद्भक्ति करना है। विशेष उपदेशों के रूप में वे स्थल आते हैं, जहां उपदेश किसी व्यक्ति विशेष को विशेष रूप से दिये गये हैं, जैसे—उद्धव के प्रति भगवान् के उपदेश, ध्रुव को नारद का उपदेश, चतुःश्लोकी भागवत तथा कपिलगीता आदि। ये उपदेश बड़े महत्वपूर्ण हैं क्योकि इनमें दो बातों की व्याख्या हुई है—१—परमतत्व की और २—ज्ञान-भक्ति-कर्म की।

(३) स्तुत्यात्मक

भागवत का स्तुत्यात्मक भाग भी बड़ा महत्वपूर्ण है क्योंकि इसके द्वारा भी कृष्ण के वास्तविक रूप की व्याख्या की गई है। ये स्तुतियाँ दो प्रकार की है—सकाम और निष्काम। सकाम स्तुतियाँ वे हैं, जो किसी कामना से प्रेरित होकर की गई है; कारागार से मुक्त होने के लिए किसी आपत्ति या दैहिक, दैविक, भौतिक तापों की निवृत्ति के लिए की गई है। निष्काम स्तुतियाँ दो प्रकार की होती है—एक तो वे, जिनमें तत्व ज्ञान की प्रधानता है—और दूसरी वे, जिनमें साधन की प्रधानता है। वेद-स्तुति-तत्व-ज्ञान-प्रधान स्तुति कही जायगी, क्योंकि इसमें सब तत्वों का पर्यवसान एक ही तत्व में दिखाया गया है। प्रह्लाद, अम्बरीष, ब्रह्मा, ध्रुव आदि की स्तुतियाँ साधन-प्रधान कही जायेंगी क्योंकि इनमे भक्त मुक्ति का इच्छुक न होकर केवल भगवान् के रूप तथा लीला के स्मरण-कीर्तन में आनन्द लेता है। गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित, 'भागवत-स्तुति' में इस प्रकार की स्तुतियों का संग्रह है।

(४) गीतात्मक

श्रीमद्भागवत का चौथा भाग गीतात्मक है। इन गीतो में ग्रन्थकार का हृदय साक्षात् रूप से द्रवित होता हुआ प्रतीत होता है। उसकी अन्तरात्मा इन गीतों मे पूर्णरूपेण प्रस्फुटित है। ये हृदय के वे स्वत: प्रवाही स्रोत है, जिनका अवरोध कवि के वश की बात नही थी। उसकी आत्मा की व्यथा एवं अन्तर्वेदना के ये गीत साकार प्रतिबिम्ब हैं। प्रेम और विरह की भावना से ओत-प्रोत इन गीतों की संख्या अधिक नही है। पाँच गीत गोपियों के तथा एक द्वारिका की कृष्ण-पत्नियों का है। ये छ: गीत दशम स्कन्ध मे आये हैं। एकादश स्कन्ध में भी दो गीत आये हैं— एक पिंगला का और दूसरा एक भिक्षुक ब्राह्मण का। पिंगला का गीत निर्वेद-गीत है, जो संसार के कटु अनुभवों से उत्पन्न अन्तर्वेदना का अभिव्यंजन करता है। सात्विक और सदाचारी होने पर भी दुनिया के हाथों अपमानित होने वाले ब्राह्मण भिक्षुक के गीत मे भी वेदना की झलक है। कृष्ण की पत्नियो का गीत दशम स्कन्ध के ९०वें अध्याय मे है। उनका मन भगवान् की लीला में इतना तन्मय हो जाता है कि वे अपने को भूल जाती है। सांसारिक अनुभवों का ज्ञान लुप्त हो जाता है और आत्म-विभोरेता की अनिर्वचनीय दशा में उनके हृदय-ह्रद से अनायास ही भावधारा बह निकलती है। समस्त प्रकृति उन्हें कृष्णमयी लगती है और वे प्रकृति के सब पदार्थों को सम्बोधन करके उनका कृष्ण से सम्बन्ध स्थापित करती हैं। वे यहाँ तक भूल जाती हैं कि कृष्ण उनके समीप है।

गोपी-गीतों का वर्णन तो वर्णनातीत है। उनके पाँचों गीतों में अनुपम प्रेम की झलक है। प्रतीत होता है हृदय वाणी के साथ लिपटा हुआ चला आया है। गोपियों के गीत में जो रस है, वह अनुवाद में कभी नहीं आ सकता। उसकी अनुभूति सहृदय व्यक्ति मूल पाठ में ही यथार्थ रूप में कर सकते हैं।

श्रीमद्भागवत में "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" तथा "जन्म कर्म च मे दिव्यम्" आदि की चरितार्थता पूर्णतया हुई है। इस विषय को लेकर पण्डितों ने बड़े विश्लेषण और विवेचन किये है तथा गीता एवं भागवत के कृष्ण में अभेद स्थापित किया है। विभिन्न पुराणों में श्रीकृष्ण का पूर्ण अवतारत्व सिद्ध होता है और भगवान् शब्द के लक्षणों की संगति पूर्णरूपेण घटित हुई है। कृष्ण शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है—

> कृषिर्भूवाचक: शब्दो णश्च निर्वृतिवाचक:।
> विष्णुस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति सात्वत:॥

श्रीमद्भागवत पुराण में, महाभारत, गीता तथा कृष्ण-सम्बन्धी अन्य सभी ग्रन्थों में दिये हुए भावों का समन्वय कर लिया है। श्रीमद्भागवत के कृष्ण पाण्डवों के सखा हैं, जो कुरुक्षेत्र महायुद्ध में नियामक थे और जिनका वीर रूप महाभारत में यत्र-तत्र बिखरा हुआ है। वे गीता के उपदेष्टा श्रीकृष्ण है, जो साधुओं के परित्राण, पापियों के विनाश और धर्म की स्थापना के लिए प्रत्येक युग में प्रकट होते हैं और जो गीता में भक्ति, ज्ञान और कर्म का सामञ्जस्य स्थापित कर निष्काम कर्मयोगी के रूप में उपस्थित हुए है। वे मथुरा और द्वारका के महावीर, महायोद्धा, राजराजेश्वर कृष्ण भी हैं और गोकुल, ब्रज और वृन्दावन में विहार करने वाले नन्द-नन्दन रसिक शिरोमणि गोपाल कृष्ण भी है।

हमने पीछे श्रीकृष्ण के 'योगेश्वर' विशेषण का उल्लेख किया है। गीता में तो इस शब्द की आवृत्ति अनेक बार हुई है किन्तु श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण का योगेश्वर रूप पूर्णतया चित्रित भी हुआ है। महाभारत के द्रोण-पर्व में संजय के प्रति धृतराष्ट्र की जो उक्ति है, उसे पढ़ने से

भागवन और महाभारत के कृष्ण की एकता स्थापित होती है परन्तु वह स्थल अधिकांश विद्वानों ने प्रक्षिप्त माना है। जहाँ तक योगेश्वर शब्द का सम्बन्ध है, उस पर किसी की ननु-नच करने की गुन्जाइश नहीं है क्योंकि हम श्रीकृष्ण के योगेश्वरत्व का सम्बन्ध उनके परब्रह्मत्व से स्थापित करते है। श्रीमद्भागवत में 'योगेश्वर' शब्द की आवृत्ति कई बार हुई है। भगवान् की रासलीला को कामलीला न मानकर पवित्र योगमयी लीला ही माना गया है। महारास के प्रारम्भ मे ही लिखा है कि "सम्पूर्ण योगियों के स्वामी श्रीकृष्ण दो-दो गोपियों के बीच मे प्रकट हो गये तथा उनके गले मे अपनी भुजा डाल दी।[1] यह उनकी योगमाया का ही फल था कि ब्रज के गोप यह समझते रहे कि हमारी पत्नियाँ हमारे पास ही है और श्रीकृष्ण ने अपने योगबल से हजारों स्थूल और हजारों सूक्ष्म शरीर बना लिए। योगदर्शन, उपनिषदो एवं अन्य योगपरक ग्रन्थो में इस प्रकार की योग-शक्तियों का वर्णन है कि स्वरूपस्थ जीवन्मुक्तयोगी यदि अपने प्रारब्ध कर्म को शीघ्र भोगकर समाप्त करना चाहे तो अनेक स्थूल और अनेक सूक्ष्म शरीर धारण करके भोग सकता है। श्रीमद्भागवत मे भी राजा परीक्षित ने शुकदेव जी से रासलीला के प्रसंग में यही प्रश्न किया है, हे ब्रह्मन्, श्रीकृष्ण धर्म-मर्यादा के बनाने वाले और उपदेशक थे, फिर उन्होंने धर्म के विपरीत पर-स्त्रियो का स्पर्श कैसे किया ?" श्री शुकदेव जी ने परीक्षित को यही उत्तर दिया है कि भगवान् कृष्ण अपने भक्तो की इच्छा से अपना चिन्मय श्रीविग्रह प्रकट करते है। उनमे कर्म-बन्धन की कल्पना नही की जा सकती।[2] श्वेताश्वतर उपनिषद् में ब्रह्म का निरूपण इसी प्रकार से किया गया है कि तुम स्त्री हो, पुरुष हो, कुमार हो या कुमारी हो अर्थात् तुम्हारे विभिन्न स्वरूप हैं। भगवान् कृष्ण के योगेश्वर रूप के दर्शन हमे उस स्थल भी होते हैं, जब उन्होंने स्वयं अपने वंश को पाप से आवृत देखकर नाश करा दिया। योगेश्वर मोह से आच्छन्न नहीं होता, उसकी तो मानसी सृष्टि होती है।[3] भगवान् कृष्ण भागवत के अनुकूल अनन्तकर्म, अनन्तचेष्टा तथा अनन्त लीलाओ के भीतर भी श्री भगवान् पूर्ण निश्चित, पूर्ण निर्लिप्त रहे और वही उनका योगेश्वरेश्वर पूर्ण स्वरूप है, जिसको जानकर मुमुक्षुगण संसार-सिन्धु-सन्तरण कर सकते हैं।

महाभारत मे भगवान् कृष्ण के राजनीतिज्ञ स्वरूप का विशेष विवेचन किया गया है, परन्तु श्रीकृष्ण की राजनीति दूसरे प्रकार की थी। उनकी राजनीति धर्म का स्वरूप था अर्थात् जो पापी है, नराधम है, नृशंस है वह दण्ड का पात्र है, फिर चाहे वह अपना भाई ही क्यों न हो। महात्मा गान्धी ने भी एक बार कहा था, "यदि आवश्यकता पड़े तो मै अपने लोगो से भी असहयोग करूँगा।" वास्तव मे जो पुरुष प्रकृति के मार्ग मे रोडे अटकाता हो, जो व्यक्ति मानव-कल्याण का घातक हो, उसे दूर रखना ही श्रेयष्कर है। श्रीकृष्ण ने राजनीति का उपयोग राजधर्म को निबाहने के लिये किया। वह राजधर्म न्याय और सत्य का पोषक था। यही कारण था कि उन्होंने अपने कुटुम्बियो का भी घोर विरोध किया। श्रीमद्भागवत मे श्रीकृष्ण के चरित्र को इस प्रकार तो चित्रित नही किया गया, जैसे महाभारत मे किया गया है परन्तु भक्ति का पुट देकर और कृष्ण को सर्वेश्वर तथा योगेश्वर मानकर राजनीति के विषयों का उल्लेख किया गया है।

श्रीमद्भागवत मे वर्णित कृष्ण के जिन स्वरूपो का वर्णन हमने ऊपर किया है, उनमे सूरदास जी का मन नही रमा है। उन्होंने तो भगवान् कृष्ण की बाल तथा किशोर लीलाओं को

१ श्रीमद्भागवत स्कन्ध १०, अध्याय ३३

२ श्रीमद्भागवत स्कन्ध १०, अध्याय ३३

३ मनसा प्रजा असृजन्त

ही लिया है। भागवत के द्वितीय स्कन्ध के सप्तम अध्याय मे भगवान् के लीलाअवतारों की कथा है तथा २६ वें श्लोक से कृष्ण और बलराम के अवतारो की ओर संकेत किया गया है। भगवान् की बाल-लीलाओं की सूची तृतीय स्कन्ध के द्वितीय अध्याय में तथा अन्य लीलाओं का वर्णन तृतीय अध्याय मे किया है। इस प्रकार सूक्ष्म रूप से दी हुई लीलाओं का विषद वर्णन दशम स्कन्ध मे है, विशेषकर दशम स्कन्ध-पूर्वार्द्ध श्रीकृष्ण के बाल-चरित्र, गोपी-विहार का स्थल माना जाता है। श्रीमद्भागवत का बालकृष्ण सब कलाओ मे पूर्ण है। वेदान्त सुनाता हुआ भी असुरों का संहारक है; क्षात्र-तेज धारण करता हुआ भी मोहन है; गम्भीरता का समुद्र होते हुए भी मुरली बजाता, नाचता, गाता, हँसाता है। न जाने कितने भक्त उसकी इस अनोखी बाल-छवि पर मुग्ध है और उसके एक-एक स्वरूप की झाँकी पर अपना सब कुछ समर्पित किये हुए है? उनके भक्तों को उनका मथुरा वाला किशोर रूप उतना प्रिय नही, जितना ब्रज का बाल पौगण्ड रूप। इसी रूप मे उनको परम आसक्ति है। वास्तव मे बात यह है कि भक्त—ब्रह्मानन्द से भी ऊँची कक्षा का आनन्द—परमानन्द चाहता है। ससार मे सबसे निकृष्ट आनन्द विषयानन्द है, उससे ऊपर विद्यानन्द है और उससे अधिक महान् आत्मानन्द है। आत्मरति, आत्मकाम, आत्मतृप्त, यतिराट् जिस अखण्ड सच्चिदानन्द को अहर्निश प्राप्त करता है, वह ब्रह्मानन्द है। यही पराकाष्ठा, परागति और मुक्ति मानी गई है किन्तु भगवान् के निष्काम उपासक अनन्य-प्रेमी-भक्त भगवदानन्द की खोज करते है, जो केवल आत्मा से ही नही, बल्कि बुद्धि, मन, तन और रोम-रोम से अनुभूति मे आता है; और इसीलिये परमदयालु प्रेमबन्धन, परब्रह्म परमात्मा सगुण साकार होकर अवतार धारण करता है, जिसके साक्षात्कार से ब्रह्म-सुख सर्वांगीण होकर प्राप्त होता है। इसीलिये यह आनन्द परमानन्द है, और ब्रह्मानन्द से भी विलक्षण है। भागवत का बालकृष्ण ही परमानन्द है; या यह कहिये कि ब्रज का ब्रह्म ही परमानन्द है। जैसे जगत् की चौरासी लाख योनियों मे ब्रह्म व्यापक है, वैसे ही चौरासी कोस युग में वेदान्त का परम सिद्धान्त ब्रह्मानन्द नाच रहा है, जिसकी ओर भागवत मे कई स्थलों पर सकेत हुआ है। इस परमानन्द की प्राप्ति भक्त को प्रभु से पृथक् रहकर सबके रूप से ही होती है। इसी से वह कैवल्य-मुक्ति स्वीकार न करके भजनानन्दी ही बना रहता है। भागवत मे वर्णित भगवान् कृष्ण की लीला मे आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक—सभी भाव भरे है, परन्तु मुख्य रूप से भगवान् के प्रेम-विह्वल भक्तों की परमानन्दता ही है।

सूरदास जी पर भागवत का पूरा प्रभाव है। परन्तु जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, उन्होंने अन्य पुराणों से भी कथाओं के सूत्र लिये हैं। अगले प्रकरण मे कथावस्तु की दृष्टि से हम सूरसागर और भागवत की तुलना करेंगे।

———

षष्ठ अध्याय

श्रीमद्भागवत और सूरदास

सूर के आधुनिक आलोचको ने उनकी विवेचना करते हुए इस विषय पर विचार किया है, परन्तु वह विचार साधारण रूप से कथावस्तु की दृष्टि से हुआ है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने अपने लेख 'सूरसागर और श्रीमद्भागवत' में कई पक्षो पर प्रकाश डाला है। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा ने अपने प्रबन्ध 'सूरदास' में भी इस पर विचार किया है। सूर-विषयक अन्य ग्रन्थों में भी इस पर प्रकाश डाला गया है किन्तु वह तुलनात्मक विवेचन सर्वाङ्गीण नहीं कहा जा सकता। किन्हीं दो ग्रन्थों अथवा लेखकों की तुलना करने के लिए यह आवश्यक है कि उनके विषय के अतिरिक्त काल, सिद्धान्त आदि पर भी विचार होना चाहिए। सूरसागर की द्वादश-स्कन्धात्मक प्रतियों में आये हुए "व्यास कहे सुकदेव सों द्वादश स्कन्ध बनाय, सूरदास सोई कहे पदभाषा करि गाय" आदि पद इस धारणा को जन्म देते रहे कि सूरसागर भागवत का अनुवाद है। इस बात को निश्चित करने के लिए दोनों का गहन अध्ययन आवश्यक है। श्रीमद्भागवत एक महापुराण है और "विद्यावतां भागवते परीक्षा" वाली उक्ति के अनुसार प्रकाण्ड पण्डितों के लिए भी यह विषय बड़ा गूढ़ है। भारतीय साहित्य मे निर्माण-तिथि देने की परिपाटी न होने के कारण साहित्य का बहुत-सा अंश आज भी अन्धकार के गर्त में पड़ा हुआ है। श्रीमद्भागवत की रचना-तिथि के विषय में निश्चय-पूर्वक तो कुछ नही कहा जा सकता, परन्तु अन्तः एवं बाह्य-साक्ष्यों के आधार पर यह हम अवश्य कह सकते हैं कि श्रीमद्भागवत का वर्तमान संस्करण दक्षिण में हुआ और दाक्षिणात्य पण्डितों के द्वारा ही इसका प्रचार आरम्भ हुआ। यह तो हम पहले ही बता आये हैं कि पुराणों के कई संस्करण सम्भावित हैं और उनमें प्रक्षिप्त अंशो की भी भरमार है, परन्तु श्रीमद्भागवत हमें आज जिस रूप मे उपलब्ध होता है उसे देखकर यह अवश्य कहा जा सकता है कि यह किसी एक व्यक्ति द्वारा ही किया गया संस्करण है। अन्य पुराणों मे श्रीमद्भागवत का उल्लेख मिलता है परन्तु देवी-भागवत से इस ग्रन्थ की स्पर्धा किस प्रकार के निश्चय में और भी बाधा उत्पन्न करती है। अब हम श्रीमद्भागवत के स्वरूप-निर्धारण और प्राचीनता के विषय में संक्षेप में विचार करेंगे।

स्वरूप-निर्धारण

आज श्रीमद्भागवत हमें जिस रूप में उपलब्ध होता है, उसमें १२ स्कन्ध, ३३५ अध्याय और १४६१५ श्लोक हैं। श्रीमद्भागवत का उल्लेख तथा विवरण विशेष रूप से श्री नारदीय पुराण, पद्म-पुराण, स्कन्द पुराण, कौशिक संहिता, गौरी तंत्र, सात्वत तन्त्र तथा पाञ्चरात्र निबन्ध आदि-आदि ग्रन्थों में है। प्रायः सभी ग्रन्थों में भागवत के १२ स्कन्ध, ३३५ अध्याय और १८००० श्लोक-संख्या मानी है। मत्स्य पुराण में श्रीमद्भागवत का जो उल्लेख है उसके अनुसार भागवत में शारद्वत कल्प की कथा का वर्णन है परन्तु प्रचलित श्रीमद्भागवत में शारद्वत कल्प का प्रसंग नहीं मिलता किन्तु उसी के प्रमाण से पाद्म-कल्प की कथा का वर्णन है।

इस उल्लेख से तीन प्रकार के अनुमान सम्भव है—(१) मत्स्य-पुराण में शारद्वत-कल्प की कथा प्रक्षिप्त है (२) शारद्वत और पाद्म एक ही कल्प के दो नाम हैं (३) मत्स्य-पुराण में वर्णित

भागवत प्रचलित श्रीमद्भागवत नहीं है। यह एक गम्भीर विषय है और इस पर स्वतन्त्र विचार की आवश्यकता है। पद्म-पुराण मे श्रीमद्भागवत के १२ स्कन्धों का भगवान् के १२ अङ्गों के रूप में वर्णन किया गया है और फिर उसी का विवेचन करते हुए लिखा है :

"द्वात्रिंशत्त्रिशतं च यस्य विलसच्छाखाः।[1]

अर्थात् भागवत पुराण की ३३२ शाखाएँ सुशोभित हैं। भागवत के प्राचीन टीकाकार चित्सुखाचार्य ने भी अपनी टीका के अन्त मे लिखा है—

"द्वात्रिंशत्त्रिशतं पूर्णमध्यायाः।"

अर्थात् श्रीमद्भागवत के ३३२ अध्याय पूरे हुए। सम्भवतः इसी आधार पर श्रीवल्लभाचार्य आदि ने भागवत के तीन अध्याय प्रक्षिप्त माने है परन्तु श्री जीव गोस्वामी 'श्रीभागवतषद्-संदर्भ में लिखते हैं, "जो इन अध्यायों को प्रक्षिप्त माने है, उनके वैसा मानने का कोई कारण नहीं है क्योंकि सब देशों में वे प्रचलित है और वासना भाष्य, सम्बन्धोक्ति, विद्वत्कामधेनु, शुक-मनोहरा परमहंसप्रिया आदि प्राचीन एवं आधुनिक टीकाओं मे इनकी व्याख्या की गई है। यदि अपने सम्प्रदाय में अस्वीकृत होने के कारण ही वे उन्हें अप्रामाणिक मानते है तो दूसरे सम्प्रदायों मे स्वीकृत होने के कारण प्रामाणिक ही क्यो नही मानते ?"[२] 'द्वात्रिंशत्त्रिशतं च' का द्वन्द्वैक्य स्वीकार करके पण्डितों ने ३३५ अध्यायों की संगति लगाई है अर्थात् 'द्वात्रिंशत् च त्रिशतं च त्रयञ्च शतानि च' इस व्याख्या से ३३५ अर्थ हो जाता है। श्लोक-संख्या का समाधान पण्डितों ने इस प्रकार किया है कि श्रीमद्भागवत एक मन्त्रात्मक ग्रन्थ है और इसके एक-एक श्लोक, एक-एक पद और एक-एक शब्द का मन्त्र की भाँति पाठ किया जाता है। इसलिए मन्त्र-ग्रन्थ होने के कारण प्रत्येक 'उवाच' को एक श्लोक एवं अध्याय की पुष्पिका को डेड़ श्लोक मानने पर श्लोक संख्या पूरी हो जाती है। दुर्गासप्तशती की भाँति भागवत के पाठ में 'इति' 'अथ' आदि को जोड़ा नही जाता। भागवत की 'अन्वितार्थ प्रकाशिका' टीका के रचयिता गङ्गासहाय जी 'जरठ' महोदय लिखते है :

"मैंने तीन बार 'श्रीमद्भागवत' का अक्षर-अक्षर गिना है। उसमें सत्रह हजार नौ सौ साढ़े अट्ठानवे श्लोक गिने हैं। इस प्रकार जो डेढ़ श्लोक की कमी बैठती है, वह उवाच आदि के पाठ-भेद के कारण हो सकती है।"

श्रीमद्भागवत की प्राचीनता के विषय मे भी मत-भेद है। इसे प्रायः विभिन्न कालों की रचना बतलाया जाता है। 'रासलीला' के आधार पर तो पाश्चात्य विद्वान् इसे १६ वीं शताब्दी की रचना बताने मे भी नही हिचकते। उन्होंने अपने इस अनुमान का आधार बोपदेव के 'हरिलीलामृत' ग्रन्थ को माना है, जो आजकल अप्राप्य है, परन्तु हम इस अनुमान से सहमत नही है। बोपदेव हेमाद्रि के समकालीन थे और कहा जाता है कि उन्ही की प्रसन्नता के लिए बोपदेव ने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया था। भारतीय इतिहासों के आधार पर हेमाद्रि देवगिर के यादव राजा रामचन्द्र के मन्त्री बताए जाते हैं, जिनका राज्य-काल सन् १२७१ ई० से १३०९ ई० तक माना गया है। इस प्रकार बोपदेव का काल १३ वी शताब्दी ठहरता है परन्तु तेरहवी शताब्दी से पहले श्रीमद्भागवत-विषयक अनेक उल्लेख हैं, इसलिए बोपदेव से श्रीमद्भागवत का सम्बन्ध लगाना भागवत के प्रति अन्याय करना ही नही, ऐतिहासिक प्रमाणों की भी अवहेलना करना है। द्वैतवाद के प्रसिद्ध आचार्य श्री मध्वाचार्य का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। श्री मध्वाचार्य १२ वीं शताब्दी मे विद्यमान थे और उन्होंने श्रीमद्भागवत पर 'भागवत-तात्पय-निर्णय' नामक

१ पद्म-पुराण उत्तर-खण्ड, अध्याय १८६

२ श्री भागवत षद् सन्दर्भ अध्याय १२

टीका लिखी। विशिष्टाद्वैत एवं श्री-सम्प्रदाय के आचार्य श्री रामानुज की भागवत पर कोई टीका तो उपलब्ध नही है किन्तु उनके सिद्धान्त बहुत कुछ भागवत पर आधारित है। 'वेदार्थ-संग्रह' नामक निबन्ध में भागवत की गणना सात्विक पुराणो मे की गई है। श्रीमद्भागवत के प्रसिद्ध टीकाकार श्री श्रीधर स्वामी का उल्लेख हेमाद्रि ने किया है और श्रीधर जी ने अपनी टीका मे हनूमान और श्री चित्सुख आचार्यो का भागवत के पहले टीकाकारों के रूप मे उल्लेख किया है परन्तु खेद है कि ये टीकाऐं अब उपलब्ध नही है। चित्सुखाचार्य अद्वैत-सम्प्रदाय मे शंकर से तीसरे आचार्य माने जाते है। बनारस के 'सरस्वती-भवन' पुस्तकालय मे श्रीमद्भागवत की एक हस्तलिखित प्रति सुरक्षित है, जिसमे उसका लेखन-काल १२ वी शताब्दी लिखा है, इसलिए इसमे कोई सन्देह नही कि श्रीमद्भागवत की रचना इस रूप मे भी बोपदेव से बहुत पहले हो चुकी थी। हमारा अनुमान है कि भागवत के रचना-काल को नवी शताब्दी से आगे नही खीचा जा सकता। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि श्रीमद्भागवत नाम का पुराण प्रचीन काल से ही अस्तित्व मे रहा है परन्तु जिस रूप मे आज उपलब्ध है, वह अवश्य ही बाद का संस्करण है।

श्रीमद्भागवत मे राधा का अभाव अनेक प्रकार के सन्देहों को जन्म देता है। राधा के विकास में हम इस पर विशेष प्रकाश डालेगे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, राधा का समावेश 'भागवत-धर्म' मे आभीरों के संसर्ग से हुआ जान पडता है, जो ईसा से बहुत पूर्व हो चुका था। इस युक्ति के आधार पर यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि श्रीमद्भागवत की रचना राधा के समावेश से पहले हो चुकी थी परन्तु श्रीमद्भागवत मे श्रीकृष्ण की बाल-लीलाये इस अनुमान मे बाधा उपस्थित करती हैं। दाक्षिणात्य आचार्यो ने वृन्दावन को भक्ति के प्रचार का केन्द्र नवीं शताब्दी के अनन्तर ही बनाया था। शंकराचार्य जी ने श्रीमद्भागवत का उल्लेख अपने किसी भी ग्रन्थ में नही किया है किन्तु उनकी गुरु-परम्परा मे श्री गौड़पादाचार्य द्वारा साधारण रूप में भागवत का उल्लेख हुआ है। हम उस उल्लेख को किसी प्राचीन संस्करण वाले भागवत के अस्तित्व का साधक मान सकते है, वर्तमान भागवत के अस्तित्व का नही। क्योकि भागवत जैसे उच्च कोटि के ग्रन्थ के होते हुए यह सम्भव नही था कि उसका विशिष्ट रूप मे उल्लेख न हो। हो सकता है कि भागवत के प्राचीन सस्करण के पर्याप्त अश वर्तमान सस्करण में ले लिये गये हो क्योकि कई प्राचीन ग्रन्थों में श्रीमद्भागवत के श्लोक ज्यो के त्यो मिलते है। 'सांख्य-कारिका' पर माठराचार्य की जो टीका है, उसका अनुवाद परमार्थ नामक बौद्ध पण्डित ने सन् ५५७ और ५५६ ई० के मध्य किया था, उसमें भागवत के पहले स्कन्ध के छठे अध्याय का पैतीसवाँ श्लोक और आठवें अध्याय का ५२ वाँ श्लोक ज्यों का त्यो दिया हुआ है।

श्रीमद्भागवत के वास्तविक रचयिता का पता लगाना दुस्तर कार्य है क्योकि सारे भारतीय वाङ्मय में व्यास जी का एक ऐसा व्यापक नाम है कि किसी भी ग्रन्थ के रचयिता के रूप में उनका नाम लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त परम्परा के अनुसार 'व्यास' नाम 'गद्दी' से चलता है। आज के कथावाचक भी व्यास कहलाते है। पौराणिक-गाथा के अनुसार प्रत्येक द्वापर युग के अन्त में भागवान् विष्णु व्यास रूप में अवतीर्ण होते है और जन-साधारण के हितार्थ वेदों के चार भाग कर देते हैं। इस प्रकार प्रत्येक मन्वन्तर और प्रत्येक द्वापर में भिन्न-भिन्न व्यास होते हैं। वैवस्वत मन्वन्तर के २८ वें द्वापर में महर्षि पाराशर के पुत्र कृष्णद्वैपायन ही व्यास हुए है।[१]

यदि श्रीमद्भागवत पुराण को हम नवी शताब्दी की रचना मानें और उसको दक्षिण देश में लिखा हुआ स्वीकार करें तो उस समय की धार्मिक परिस्थितियों के ठीक मेल में श्रीमद्भागवत

१ विष्णु पुराण ३-३

का विषय उतरता है। श्री शकराचार्य जी का अद्वैत-मत प्राचीन भागवत-धर्म का पोषक था। भक्ति-पद्धित मे जिन नवीन तत्वो का समावेश आलवार और अडियार भक्तों के सम्पर्क से बढ रहा था, उनको शकराचार्य जी ने अपने मत मे कोई स्थान नही दिया और न ही उन्होने भक्ति को सर्वोपरि माना। श्रीमद्भागवत पुराण में इसके विरोध मे ही भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। श्रीमद्भागवत पुराण मे इस बात का उल्लेख है कि कलियुग मे नारायण के भक्त कही-कही होगे, परन्तु द्रविण देश मे, जहाँ कि,ताम्रपर्णी, कृतमाला, कावेरी और महानदी बहती है, विशेष रूप से होगे। इन नदियों के जल का पान करने वालों के हृदय शुद्ध होगे।[१] इससे पता चलता है कि भागवत-पुराण की रचना के समय तामिल देश मे कृष्ण-भक्ति का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। श्रीमद्भागवत मे अवतारो का विषय भी अन्य पुराणों से भिन्न है। हरिवंश-पुराण मे ६ अवतार, वायु-पुराण में दस अवतार, वाराह-पुराण मे दस अवतार तथा अग्नि-पुराण मे भी दस अवतार माने गये है। भागवत पुराण मे तीन स्थलों पर अवतारो की सख्या गिनाई है:—प्रथम स्कन्ध के तीसरे अध्याय में २२, द्वितीय स्कन्ध के सातवे अध्याय मे २३ और ग्यारहवे स्कन्ध के चौथे अध्याय मे १६। इस विषय मे उल्लेखनीय बात यह है कि भागवतकार ने 'सनत्कुमार', 'नारद', 'कपिल', 'दत्तात्रेय', 'ऋषभ' और 'धन्वन्तरि' को भी अवतार माना है। इससे पता चलता है कि भागवतकार ने सभी सम्प्रदायों का सामञ्जस्य अपने भक्ति-सिद्धान्त मे करने की चेष्टा की है। यह भक्ति-स्रोत, जिसका उद्गम श्रीमद्भागवत कहा जा सकता है, सूरदास जी के समय तक आते-आते विपुलप्रवाह मे परिवर्तित हुआ। भागवत एक महापुराण है, जिसके आदि एवं अन्त में वैराग्योत्पादक आख्यान है। भगवान् की बाल-लीलाओ की कथाओं के अमृत से संत और देवताओं को आनन्द देने वाला है। समस्त वेदान्तों का सार ब्रह्म और आत्मा की एकता रूपी अद्वितीय वस्तु इसका प्रतिपाद्य है। कैवल्य मुक्ति ही इसके निर्माण का प्रयोजन है।[२] इस प्रकार भागवत श्रौत-अर्थ का प्रतिपादक एक पूर्ण ग्रन्थ है। इसे वेदरूप कल्पवृक्ष का सुस्वादु रस रूप फल बतलाया है। श्रुतियो के अनुसार श्रीमद्भागवत के तीन अर्थ किये गये है:—यज्ञ, दैवत और अध्यात्म। यही कारण है कि वैष्णव-सम्प्रदायों के आचार्यों ने अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुकूल भागवत की टीकाएँ की हैं।

पुष्टि-सम्प्रदाय मे भागवत की विशेष मान्यता है और उन्होने इसे चौथा ब्रस्थान माना है। सूरदास जी इसी सम्प्रदाय मे दीक्षित थे और वार्त्ता साहित्य से यह पता भी चलता है कि बल्लभाचार्य जी ने 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' को सुनाकर सूरदास जी के हृदय मे श्री भागवत की लीला का स्फुरण कराया था। "ता पाछे श्री आचार्य जी ने सूरदास कूं पुरुसोत्तम सहस्रनाम सुनायो, तब सगरे श्रीभागवत की लीला सूरदास के हृदय मे स्फुरी, सो सूरदास मे प्रथम स्कन्ध श्रीभागवत सो द्वादश स्कन्ध पर्यन्त कीर्तन वर्णन किये। तामे अनेक दानलीला मान-लीला आदि वर्णन किये हैं।"[३]

सूर-साहित्य के विषय का विवेचन हम पहले कर चुके है। अब हम सूरसागर के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर यह देखेंगे कि इसमे भागवत के अनुसरण वाली युक्ति कहाँ तक चरितार्थ होती है। सूरसागर की संग्रहात्मक प्रतियों में तो भागवत के अनुसरण का उल्लेख नही है, हाँ द्वादश स्कन्धात्मक प्रतियों मे इस प्रकार की उक्तियाँ है। इसलिए अन्तःसाक्ष्य के लिए हम द्वादश स्कन्धात्मक

---

१ श्रीमद्भागवत ११।५।३८-३९-४०

२ भागवत, स्कन्ध १२ अध्याय १३ श्लोक ११-१२

३ सूरदास की वार्ता अग्रवाल प्रेस, मथुरा, प्रसग १ पृष्ठ १०

प्रति का अनुसरण करेंगे। नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित सूरसागर ही द्वादश-स्कन्धात्मक की मान्य प्रति है। उसमें जहाँ-जहाँ श्रीमद्भागवत का उल्लेख हुआ है, वे स्थल इस प्रकार हैं—

श्री मुख चारि, श्लोक दए ब्रह्मा को समझाइ
ब्रह्मा नारद सो कहे, नारद व्यास सुनाइ।
व्यास कहे सुकदेव सौ, द्वादश-स्कन्ध बनाइ
सूरदास सोई कहे, पद-भाषा करि गाइ।[१]

× × ×

व्यास देव जब सुकहिं पढ़ायौ सुनि कै सुक सो हृदय बसायौ।
सूक सौ नृपति परीक्षित सुन्यौ तिनि पुनि भली भाँति करि गुन्यौ।
सूत सौनकादि सौ पुनि कह्यौ विदुर सों मैत्रेय पुनि लह्यौ।
स्तुति भागवत सवन सुख पायो सूरदास सो बरन सुनायौ।[२]

× × ×

कहौ सुकथा सुनौ चित धारि, सूर कहै भागवत विचारि।[३]

× × ×

कहौ सुकथा सुनौ चित धारि सूर कह्यौ भागवत अनुसारि।[४]

× × ×

'सूर' कहौ क्यों कहि सकै, जन्म-कर्म-अवतार।
कहै कछुक गुरु कृपा ते श्री भागवत अनुसार॥[५]
सुकदेव कह्यो जाहि परकार सूर कह्यो ताही अनुसार।[६]

× × ×

तिन हित जो जो दिये अवतार, कहौ सूर भागवत अनुसार।[७]

× × ×

तहँ कियो जज्ञ पुरुष अवतार सूर कह्यौ भागवत अनुसार।[८]

× × ×

पारवती-विवाह व्यवहार सूर कह्यौ भागवत अनुसार॥[९]

× × ×

कहौ सो कथा सुनौ चित धारि सूर कह्यौ भागवतऽनुसार।[१०]

× × ×

यों भयो ध्रुववर देवनऽवतार सूर कह्यौ भागवतऽनुसार।[११]

× × ×

सुक ज्यों राजा को समझायो सूरदास त्यों ही कहि गायौ।[१२]

× × ×

---

१ सूरसागर १। २२५
२ वही १। २२७
३ वही १। २६०
४ वही १। २८५
५ वही २। ३७९
६ वही ३। ३८७
७ सूरसागर ३। ३९०
८ वही ४। ३९८
९ वही ४। ४०१
१० वही ४। ४०२
११ वही ४। ४०३
१२ वही ५। ४०६

बरन्यौ रिषभ-देव अवतार सूर कह्यौ भागवतऽनुसार।[1]

× × ×

ज्यों सुक नृप कौं कहि समुझायौ, 'सूरदास' त्यों ही कहि गायौ।[2]

× × ×

सुकदेव ज्यों दियौ नृपहि सुनाइ, सूरदास कह्यौ ताही गाइ।[3]

× × ×

ज्यों सुक नृप सों कहि समुझायौ, सूरदास त्यों ही कहि गायौ।[4]

× × ×

सुक ज्यों नृप कौ कहि समुझायौ, सूरदास-जन त्यों ही गायौ।[5]

× × ×

सुक नृपति पाहि जिहि बिधि सुनाई, सूरजन हूँ तिहि भाँति गाई।[6]

× × ×

सुक जैसे नृप कौ समुझायौ, सूरदास त्यों ही कहि गायौ।[7]

× × ×

जैसे सुक नृप कौ समुझायौ, सूरदास त्यों ही कहि गायौ।[8]

× × ×

सुक जैसे वेद अस्तुति गायौ, तैसे ही मैं कहि समुझायौ।[9]

× × ×

पुनि भयौ नारायण अवतार, सूर कह्यौ भागवतऽनुसार।[10]

× × ×

या विधि भयो बुद्ध अवतार, सूर कह्यौ भागवतऽनुसार।[11]

× × ×

सुक नृप सों कह्यौ जा परकार, सूर कह्यौ ताही अनुसार।[12]

× × ×

सूत शौनकनि कहि समुझायौ, 'सूरदास' त्यों ही कहि गायौ।[13]

इस प्रसंग में निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

१—प्रत्येक स्कन्ध मे एकाधिक बार भागवत के अनुसार कथा-वर्णन करने की बात को दुहराया गया है। यह आवृत्ति प्रथम, चतुर्थ तथा नवम स्कन्धों में सबसे अधिक हुई है। दशम स्कन्ध में तो यह आवृत्ति सात बार हुई है परन्तु दशम-स्कन्ध-पूर्वार्द्ध में यह प्रतिज्ञा केवल एक आध बार ही दुहराई गई है।

२—इस आवृत्ति में कहीं अनुवाद की बात नहीं कही गई है। केवल भागवत-अनुसार को बार-बार कहा गया है।

---

१ सूरसागर ५-४०६
२ वही ५-४१०
३ वही ५-४११
४ वही ६-४१६; ४१८, ४१६
५ वही ७-४२६
६ वही ८-४३८
७ वही ६-४४६, ४४७, ४५२, ४५३, ४५६, ६१७, ६१८
८ सूरसागर स्कन्ध १० पूर्वार्द्ध, पद ६२०
६ ,, ,, १० उत्तरार्द्ध पृष्ठ ५६४ पद १३८
१० ,, ,, ११ पृष्ठ ५६८, पद ५
११ ,, ,, १२ पृष्ठ ५६६ पद २
१२ ,, ,, १२ पृष्ठ ६०० पद ३
१३ ,, ,, १२ पृष्ठ ६०० पद ५

३—भागवत के अनुसरण की प्रतिज्ञा कर बनाये हुए ये पद स्कन्ध-परक नही हैं अपितु कथा-परक हैं अर्थात् किसी कथा-विशेष का वर्णन करता हुआ कवि उसके आधार का परिचय-मात्र देता है।

इसलिये अन्तः और बाह्य साक्ष्य के बल पर यह तो हमे मानना ही पड़ेगा कि सूरदास जी ने अवश्य अपने पदों की रचना मे श्रीमद्भागवत का आधार बनाया होगा किन्तु यह मान्यता कि उन्होंने भागवत का अनुवाद किया था, पर्याप्त प्रामाणिक सामग्री के अभाव मे विवाद-ग्रस्त ही है। आकार-विस्तार एवं विषय की दृष्टि से यदि हम इन दोनो ग्रन्थो की तुलना करते है तो अनुवाद वाली बात असगत ही प्रतीत होती है। दोनो ग्रन्थो का आकार-विस्तार इस प्रकार है—

भागवत			सूर-सागर	
स्कध .	अध्याय	श्लोक सं०	स्कध	पद-संख्या
१	१६	१६६२	१	३४३ (विनय के पदों सं०)
२	१०	३६२	२	३८
३	३३	१५०२	३	१३
४	३१	१४०७	४	१३
५	२६	६६६	५	४
६	१६	८५१	६	८
७	१५	७५०	७	८
८	२४	६३१	८	१७
९	२४	९६३	९	१७४
१० पूर्वार्द्ध	४९	१९३५	१० पूर्वार्द्ध	४१६०
१० उत्तरार्द्ध	४१	१५१६	१० उत्तरार्द्ध	१४९
११	३१	१३७४	११	४
१२	१३	५६६	१२	५
१२	३३५	१४६१५	१२	४९३६

इस तालिका से विदित होता है कि सूरसागर के अन्य सारे स्कन्ध मिलकर दशम-स्कन्ध पूर्वार्द्ध की पद-सख्या के लगभग आठवे अंश के बराबर हैं और यदि पद-संख्या को दृष्टि में न रखकर पृष्ठ-संख्या के अनुसार विचार किया जाय तो पाँचवें भाग के बराबर ठहरते है, कारण यह है कि अन्य स्कन्धों मे लम्बे पदों की संख्या छोटे पदो की संख्या से अधिक है। यदि विनय के पदों को निकाल दिया जाय तो नवम स्कन्ध के पदों की संख्या सबसे अधिक बैठती है। श्रीमद्भागवत में भी दशम-स्कन्ध पूर्वार्द्ध अन्य स्कन्धों की अपेक्षा आकार मे बड़ा है और सब स्कन्धो का यह छठा भाग है, परन्तु भागवत के स्कन्धों की श्लोक-संख्या का अनुपात इतना विषम नही है, जितना सूरसागर के पदों का है। श्रीमद्भागवत के अन्य स्कन्धों की श्लोक-सख्या तथा सूरसागर के स्कन्धों की पद-संख्या देखते हुए यह बात कि सूरसागर भागवत का अनुवाद है या उसमें भागवत के अनुसार सब विषयों का वर्णन है, बड़ी असंगत-सी लगती है। हाँ, केवल दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध के विषय में यदि यह बात कही जाय तो आकार-विस्तार को देखकर यह विचारणीय हो सकती है।

यह तो हुई आकार-विस्तार की बात, अब हम विषय की दृष्टि से दोनों ग्रन्थों पर विचार करेंगे। दोनों ग्रन्थों की सूची से यद्यपि कुछ आभास हो जाता है परन्तु हमे तो यह देखना है कि कौन सी घटनाएँ तथा विषय दोनों ग्रन्थो में एक है तथा उनमे कौन-कौन विषय है। दोनो ग्रन्थो की सूची का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि श्रीमद्भागवत मे विषय-क्रम से रखे है तथा सूरसागर में उनका कोई क्रम नही है। उनमे बराबर क्रम-परिवर्तन तथा हेर-फेर होता रहा है।

प्रथम स्कन्ध

नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित सूरसागर में विनय के पद प्रथम-स्कन्ध मे ही लिये हैं; किन्तु भागवत से तुलना करते हुए हमें उन्हें पृथक् करना पडेगा और इस प्रकार इस स्कन्ध के पदों की संख्या १२० रह जावेगी। इस स्कन्ध मे भागवत के सब प्रसंगों का समावेश नहीं हुआ है तथा कुछ प्रसग ऐसे भी आ गये हैं, जो भागवत मे नही मिलते, जैसे शुकदेव-जन्म की कथा, विदुर और द्रौपदी की कथाएँ : खट्वाङ्ग राजा का प्रसंग भी श्रीमद्भागवत में इस स्कन्ध मे नही है। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत के बहुत से प्रसंग तथा कथाएँ इस स्कन्ध में नही है। अवतारो की गणना भागवत धर्म का विस्तार आदि भागवत के विषय भी छोड़ दिये गये हैं। बीच-बीच में सूर के जो भक्ति-विषयक पद है, वे तो कवि की अनुभूति के विषय है। कवि ऐसे स्थलो पर अन्तर्मुखी हो जाता है तथा भागवत आदि कोई विषय कवि की दृष्टि मे नही रहता। इस स्कन्ध को हम भागवत के स्कन्ध पर आधारित मान सकते है परन्तु अनेक स्थलों को या तो कवि छोड़ता चला है अथवा वे पद अब अप्राप्य हैं।

द्वितीय स्कन्ध

सूरसागर के इस स्कन्ध में केवल ३८ पद हैं, जिनमे अधिकतर भक्ति-माहात्म्य, नाम-महिमा, हरि-विमुख-निन्दा, भक्ति-साधना आदि विषय हैं। इस स्कन्ध का प्रारम्भ तो भागवत के अनुसार ही किया गया है, परन्तु इसके पश्चात् केवल मुख्य-मुख्य प्रसंगो का ही उल्लेखमात्र कवि ने किया है; जैसे, भगवान् के विराट् स्वरूप का वर्णन केवल एक पद में हुआ है।

तृतीय स्कन्ध

सूरसागर मे यह स्कन्ध भी बहुत संक्षिप्त है, इसमें केवल १३ पद है। भागवत के बहुत प्रसंग, जैसे कृष्ण की ब्रज और द्वारका से सम्बन्धित कथाएँ सूरसागर में नही हैं। भागवत का यह स्कन्ध उद्धव और विदुर की भेट से प्रारम्भ होता है, परन्तु सूरसागर मे उद्धव के पश्चात्ताप से इसका प्रारम्भ किया गया है। सूरसागर मे दी हुई विदुर-जन्म की कथा श्रीमद्भागवत मे नही है। भागवत के बहुत से प्रसंग सूरसागर मे छोड दिये गये हैं। सृष्टि की कथा बहुत ही संक्षेप में दी गई है और इसी प्रकार हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष की कथाएँ भी बहुत सक्षिप्त है। हिरण्याक्ष द्वारा पृथ्वी को जल में छुपाने का प्रसग भागवत मे नहीं है। श्रीमद्भागवत के और भी बहुत से महत्वपूर्ण प्रसङ्ग सूरसागर मे छूट गये हैं, जैसे, 'देवहूति और कपिल प्रसङ्ग', जिसमे भक्ति-योग की महिमा का वर्णन, महदादि विभिन्न तत्वों की उत्पत्ति, प्रकृति-पुरुष-विवेक, अष्टाग-योग-विधि, भक्ति का मर्म, जीव की गति आदि बहुत से विषय आ गये हैं। सूर ने इस स्कध में चतुर्विध-भक्ति का वर्णन हरि-विमुख-निन्दा और भक्ति-महिमा से स्कन्ध की समाप्ति की है।

चतुर्थ स्कन्ध

इस स्कन्ध में केवल १३ पद हैं। श्रीमद्भागवत में यह स्कन्ध बड़ा महत्वपूर्ण है; क्योंकि इसमें बड़ी लम्बी-लम्बी वंशावली, लम्बे-लम्बे स्तोत्र, लाक्षणिक और आध्यात्मिक संकेतों के साथ कथाओं के विवरण, तथा तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियाँ, ब्राह्मणो की दीन अवस्था, शैवों का पतन आदि के चित्र दिये हुए है। सूरसागर में इन विषयों का स्पर्श भी नही किया गया है। यज्ञ-पुरुष के अवतार के प्रसंग मे शिव-पार्वती का प्रसग सूरसागर मे स्वतन्त्र रूप से वर्णित है। 'पुरञ्जन' की कथा 'सूरसागर' में बहुत ही संक्षिप्त है। उसके अन्तर्गत जो इन्द्रिय-निग्रह-विषयक रूपक है, वह भी स्पष्ट नही है।

पंचम स्कन्ध

चतुर्थ स्कन्ध की भाँति भागवत का पञ्चम स्कन्ध भी अनेक ऐतिहासिक कथाओं, सामाजिक सकेतों, धार्मिक उपदेशों तथा नाना-द्वीपों और लोको के वर्णनों से परिपूर्ण है; जो सूरसागर में छोड दिये गये हैं। सूरसागर मे तो केवल ऋषभदेव और जड़भरत की दो कथाएँ है और वे भी वर्णनात्मक शैली में हैं। भागवत का यह स्कन्ध भौगोलिक और ऐतिहासिक दोनों ही दृष्टियों से वड़ा महत्वपूर्ण है। इसके वर्णन अत्यन्त रोचक, भाव-पूर्ण एवं कवित्वमय हैं।

षष्ठ स्कन्ध

अन्य स्कन्धों की भाँति सूरसागर के इस स्कन्ध मे भी भागवत की कथाओं के विवरण, स्तोत्र, देवताओ की वंशावली तथा ऐतिहासिक विवरण छोड़ दिये गये हैं। इस स्कन्ध में दो पदों में गुरु के प्रति भक्ति-भाव दिखाया गया है। अजामिल उद्धार से प्रारम्भ करके सूरसागर में सुरगुरु वृहस्पति, विश्वरूप और वृत्रासुर की कथाएँ संक्षेप में दी है।

सप्तम स्कन्ध

सूरसागर के इस स्कन्ध में संक्षेप में केवल तीन कथाएं दी गई हैं—नृसिंह-अवतार, त्रिपुर-वध तथा नारद उत्पत्ति। ये तीनों कथाएँ बहुत संक्षिप्त और एक-दूसरी से स्वतंत्र है। भागवत में ये कथाएँ दृष्टान्त रूप से आई हैं; तभी वहाँ कथाओं के विवरण के साथ-साथ भक्ति की व्यापकता भागवत-धर्म की महत्ता, शिव की अपेक्षा विष्णु-महिमा का वैशिष्ट्य तथा मानव-धर्म, वर्ण-धर्म, स्त्री-धर्म आदि का विस्तृत विवेचन है। सूरसागर के इस स्कन्ध में राम-नाम की महिमा विशेष रूप से गाई गई है।

अष्टम स्कन्ध

सूरसागर के इस स्कन्ध में कथाएँ संक्षिप्त तो हैं ही, उनमें कुछ हेर-फेर भी है, जैसे सुन्द-उपसुन्द की कथा का निर्देश श्रीमद्भागवत के इस स्कन्ध में नहीं है। मत्स्य अवतार का कारण भी भागवत से भिन्न कल्पित किया गया है, राजा सत्यव्रत का नाम न देकर उसे केवल नृपति शब्द से निर्दिष्ट किया है। हयग्रीव के स्थान पर शंखासुर नाम आया है। वामन-अवतार की कथा अत्यन्त संक्षिप्त है तथा अनेक ऐतिहासिक विवरण, तत्व-चिन्तन, धर्मोपदेश आदि सूरसागर में छोड़ दिये गये हैं।

नवम स्कन्ध

इस स्कन्ध में १२२४ पद हैं। इसमें श्रीमद्भागवत के बहुत से प्रसंग छोड़ दिये, गये हैं। सूरसागर की पहली पाँच कथाएँ भागवत के आधार पर ही संक्षेप से दी गई हैं। ये पाँच कथाएँ

ये हैं—(१) पुरुरवा की कथा, (२) च्यवन ऋषि की कथा, (३) हलधर विवाह की कथा, (४) अम्बरीष की कथा और (५) सौभरि ऋषि की कथा। भागवत मे वर्णित हरिश्चन्द्र की कथा सूरसागर में नही है। गंगा-आगमन और परशुराम-अवतार की कथाओं के पश्चात् सूरसागर में राम-कथा का वर्णन है, जो भागवत की राम-कथा की अपेक्षा अधिक भावपूर्ण और विस्तृत है। अन्य कथाओं की भाँति यह कथा वर्णनात्मक नही है, अपितु भावात्मक शैली में वर्णित है। मंगलाचरण के अतिरिक्त समस्त पद गेय हैं। कथा का क्रम व्यवस्थित तो नही है फिर भी मार्मिक स्थल सभी आ गये है, जिनसे कवि की अनुभूति का परिचय मिलता है। अपनी दिव्य-प्रतिभा के बल पर कवि ने सारी कथा को एक गति-काव्य का रूप दे दिया है। कवित्व की दृष्टि से यह स्थल बहुत ही उच्च कोटि का है। कच और देवयानी की कथा भी सूरसागर में कुछ भेद के साथ दी गई है और भागवत की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र एवं विस्तृत रूप मे कही गई है। अन्य स्कन्धों की भाँति इस स्कन्ध में भी भागवत के सामाजिक, ऐतिहासिक और आध्यात्मिक पक्ष को छोड़ दिया है।

नवम स्कन्ध के पश्चात् हम सूरसागर के एकादश एव द्वादश स्कन्ध पर विचार करेंगे, क्योंकि ये दोनों स्कन्ध भी अत्यन्त सक्षिप्त है और तुलनात्मक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण भी नहीं हैं। केवल दशम स्कन्ध ऐसा है, जिसका विशेष विवरण अपेक्षित है। उसे हम अन्त में लेंगे।

एकादश स्कन्ध

सूरसागर के इस स्कन्ध मे केवल चार पद हैं। भक्ति-भाव का प्रदर्शन करने के पश्चात् 'नारायण' और 'हस' अवतारों का वर्णन अस्पष्टता और शैथिल्य के साथ हुआ है। अन्त मे आध्यात्मिक विचार प्रकट किये गये हैं। श्रीमद्भागवत का यह स्कन्ध बड़ा ही महत्वपूर्ण है क्योकि इसमें कर्म-ज्ञान और भक्ति का विस्तृत विवेचन करके भक्ति का महत्व प्रदर्शित किया गया है तथा योग और सांख्य की व्याख्या की गई है इसमे वर्णाश्रम धर्म का भी निरूपण हुआ है। दार्शनिक दृष्टिकोण से भागवत का एकादश स्कन्ध उच्च कोटि का है।

द्वादश स्कन्ध

सूरसागर का यह स्कन्ध भी अत्यन्त संक्षिप्त है, इसमें केवल पाँच पद है। बहुत ही संक्षेप से बुद्धावतार, कल्कि-अवतार, राजा परीक्षित की हरि पद-प्राप्ति तथा जनमेजय के यज्ञ का उल्लेख है। श्रीमद्भागवत का भी यह स्कन्ध छोटा है, परन्तु सूरसागर का स्कन्ध तो उसकी छायामात्र भी नही कहा जा सकता। ऐतिहासिक तथा धार्मिक कथाओं के अतिरिक्त इसमें सम्पूर्ण भागवत की एक रूपक की भाँति व्याख्या की है।

दशम स्कन्ध (पूर्वार्द्ध)

सूरदास जी का उद्देश्य कृष्ण की लीलाओं का ही गान करना था, यह बात हमे उनकी रचनाओं से भी झलकती है। वार्त्ता-साहित्य के अनुसार श्रीवल्लभाचार्य जी का भी यही आदेश था। हम पीछे नित्य कीर्तन और वर्षोत्सव का क्रम दे आये है, जो भगवान् कृष्ण की जीवनचर्या से सम्बद्ध है और जिसमें उनकी अनेक लीलाओं का समावेश है। वल्लभ-सम्प्रदाय में भगवान् का स्वरूप संयोग-वियोगात्मक शृङ्गार रसरूप माना है और वही ब्रह्म श्रीनन्द-यशोदोत्संगलालित रूप मे महा-अलौकिक रमण-स्थली श्री ब्रजभूमि में नाना प्रकार की अद्भुत लीलाएँ करने के लिए अवतीर्ण हुआ। उनकी लीलाओं का गान ही भक्त का चरम उद्देश्य है। श्रीमद्भागवत का दशम स्कन्ध ही इस प्रकार की लीलाओं का प्रधान-स्थल है; अतएव पुष्टि-मार्ग में दशम स्कन्ध का बहुत महत्व है। श्री वल्लभाचार्य जी ने अपनी सुबोधिनी मे दशम स्कन्ध की व्याख्या में विशेष

रुचि दिखाई है। बहुत सम्भव है कि श्री वल्लभाचार्य जी ने दशम स्कन्ध की लीलाओं का गान करने के लिए ही सूर को आदेश दिया हो। सूर ने भागवत की समाधि-भाषा का आश्रय लेकर भगवान् की लीलाओं का विस्तार किया है। उन्होने सम्भवतः भागवत के ऐतिहासिक वर्णन, वंशानुक्रम, धार्मिक तथा आध्यात्मिक विषयों को अनावश्यक समझा। भागवत तो एक महापुराण है, जिसमें महापुराण के सभी लक्षण वर्तमान है परन्तु सूर ने भगवान् के लीला-परक लोकरजक रूप को ही लिया है और भक्ति को दृढ करने के लिए उसमे अलौकिकत्व का समावेश किया है। इसका विस्तृत विवेचन हम आगे करेगे। हमे तो ऐसा प्रतीत होता है कि परिभू, स्वयंभू रूप महाकवि सूरदास जी का हृदय विभिन्न अनुभूतियो का विशद क्षेत्र था, जो संस्कार के आवरण से कुछ धूमिल था। श्री वल्लभाचार्य जी के सम्पर्क से वह आवरण उच्छिन्न हो गया और वे सारी अनुभूतियाँ प्रकाश मे आ गयी।

कर्मयोग पुनि ज्ञान-उपासन सब ही भ्रम भरमायौ।
श्री वल्लभ-गुरु तत्व सुनायौ लीला भेद बतायौ॥
ता दिन ते हरि-लीला गाई एक लक्ष पद-बन्द।
ताको सार सूर-सारावलि गावत अति आनन्द॥

—सूरसागर, वेंकटेश्वर प्रेस।

भारतीय कथाओं के सूक्ष्म सूत्रों से रससिद्ध कवि सूर ने न जाने कितने नयनाभिराम स्वरूपों का विस्तार किया है? सूरसागर की सूची में हमने उन स्वरूपों और विषयों की ओर संकेत किया है। भगवान् के जन्मोत्सव, हर्षोद्रेक आदि का गीति-शैली में जैसा भावपूर्ण विशद और अनुभूतिमय वर्णन सूर ने किया है और जो नवीन उद्भावनाएँ की हैं, उनमें उनकी प्रतिभा की मौलिकता और दिल की ताजगी सर्वत्र देखी जा सकती है। भागवत में इन प्रसंगों की ओर संकेत भी नही किया गया है। श्रीमद्भागवत की भाँति सूरसागर मे भी श्रीकृष्ण-चरित के दो स्वरूप मिलते हैं। एक तो उनके ब्रज के क्रीड़ामय जीवन से सम्बद्ध और दूसरा उनकी अलौकिक लीलाओं से, जिसके अन्तर्गत कस द्वारा प्रेषित असुरों का संहार तथा अन्य अलौकिक कर्म करते हैं। सूर के काव्य मे यह वैशेष्य है कि उन्होने कृष्ण की अलौकिक क्रीड़ाओं की पृष्ठ-भूमि समुचित कारणों पर आधारित रखी है। उदाहरणार्थ कृष्ण के गोकुल मे पोषित होने की आशंका से कंस को इतना त्रस्त चित्रित किया है कि उसे कर्तव्य-विवेक ही नही रहता। पूतना-वध के पश्चात् श्रीधर-अंग-भग की घटना श्रीमद्भागवत मे नही है। तृणावर्त्त, शकटासुर और कागासुर की कथाएँ भागवत मे संक्षिप्त है, परन्तु सूर ने गेय-शैली मे इनका वर्णन किया है। कृष्ण के सस्कारों का वर्णन भी सूर ने अपने ढग से किया है। श्रीमद्भागवत मे साधारण रूप से उनका विवेचन हुआ है, कही-कहीं अलौकिक रूप भी दे दिया है—परन्तु सूर के वातावरण में महान् अन्तर है। उन्होंने इन सस्कारो के विशेष वातावरण ही उत्पन्न नही किये, बल्कि अनेक स्वतन्त्र कल्पनाएँ भी की है; जैसे—अन्न-प्राशन, वर्ष-गाँठ, कर्ण-छेदन आदि प्रसंग सूर की मौलिक कल्पना के प्रतीक हैं। हो सकता है यह विस्तार साम्प्रदायिक तथा सामयिक प्रभावों का फल हो। सूर की बाल-लीला का तो संसार के साहित्य में कोई जोड़ है ही नहीं। मौलिकता और विस्तार दोनों की दृष्टि से सूर की बाल-लीला अपने समान आप ही है। महराने पाँडे की घटना को सूर ने मौलिक रूप दिया है, परन्तु कुछ कथाएँ सूरसागर में बड़े ही संक्षिप्त रूप में है; जैसे—वत्सासुर, अघासुर और बकासुर की कथाएँ। यमलार्जुन-उद्धार की कथा भी सूरसागर मे बड़े गौण रूप से दी है।

वास्तव में तथ्य तो यह है कि सूरसागर में भगवान् की लीलाओं का क्रम नित्य-कीर्तन वाला क्रम है और उस क्रम की संगति मे अलौकिक घटनाएँ इतनी नही आती, जितनी भगवान् की बाल-चरित लीलाएँ। कृष्ण के सोने, जागने, खाने, रूठने, गायें चराने आदि के अनेक भावात्मक विवरण सूरसागर के मौलिक चित्रण हैं। एक बात यह भी है कि सूर का उद्देश्य श्रीमद्भागवत की भाँति अलौकिकता तथा भक्ति से पुष्ट आध्यात्मिकता का प्रदर्शन नही है; उनकी भक्ति में तो सख्य-भाव और वात्सल्य-भाव की प्रधानता है। गोपालकृष्ण के गोपरूप का चित्रण तथा सखाओ के स्वाभाविक निर्मल प्रेम का अभिव्यंजन ही सूर का प्रमुख विषय था; उदाहरणार्थ—बाल-वत्स-हरण की लीला भागवत मे ब्रह्मा के मोहनाश के लिए दी गई है, परन्तु सूर ने सखाओं के पारस्परिक स्नेह-संवर्धन के लिए ही इस कथा को विशेष रूप से रखा है और तीन बार इसकी आवृत्ति की है। इसमें घटना-वैचित्र्य, नाटकीयता, स्वाभाविकता और सखाओं के सरस-स्नेह की भाव-संवलित व्यंजना कवि की प्रतिभा की उपज है।

सूर ने राधा के प्रथम मिलने का जो चित्रण किया है वह तो सर्वथा भागवत-निरपेक्ष, मौलिक है। इस प्रसग से सम्बद्ध अनेक मौलिक उद्भावनाएँ सूर ने की है, जो एक ओर तो राधा और कृष्ण के प्रेम को स्वाभाविक विकास का अभिव्यंजन करती है और दूसरी ओर नन्द-यशोदा और वृषभानु एवं उसकी पत्नी के वात्सल्य का चित्रण करती है। इसके पश्चात् गोचारण का प्रसंग है, जिसमें सूरदास का मन बहुत रमा है। इस स्थल पर सहृदय सूर ने मानवीय तथा बाह्य प्रकृति का इतना सुन्दर समन्वय किया है कि आश्चर्य होता है। पशु-प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण और उनकी चेष्टाओं का यथार्थ वर्णन कर सूर ने अनेक मौलिक चित्र सूरसागर में प्रस्तुत किये हैं। धेनुक-वध, कालीय-मर्दन आदि का वर्णन सूर ने भागवत के आधार पर ही संक्षेप में किया है, परन्तु वृन्दावन-प्रवेश का वर्णन बडा ही सजीव है। सूरसागर का अध्ययन करते समय हमें इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि कृष्ण की नैत्यिक दिन-चर्या का वर्णन ही कवि का प्रमुख उद्देश्य है; यही कारण है कि तत्सम्बन्धी पदों की इस स्कन्ध मे बार-बार आवृत्ति होती है। 'गोपाल' नाम की सार्थकता के उद्देश्य से कवि को गोचारण का विषय भी अत्यधिक प्रिय रहा है। यही कारण है कि भागवतीय लीलाओं के चित्रण में कवि बीच-बीच में गोचारण-चित्र की स्पष्ट रेखाएँ सूरसागर में उभारता हुआ चलता है और उनमे अपनी कल्पना का ऐसा रंग भरता है कि चित्र लगते हैं—मानों अब बोले। इस प्रकार भागवतीय लीला-चित्रों मे यत्र-तत्र पर्याप्त व्यवधान सूरसागर में परिलक्षित होता है। श्रीमद्भागवत मे कालिय-दमन का प्रसंग कालिय-दह-जलपान से सम्बद्ध है, पर सूरसागर में इन दोनों प्रसंगों मे यथेष्ट व्यवधान है। सूर ने प्रायः ऐसी घटनाओं को लेकर उन्हें एक स्वतन्त्र खण्ड-काव्य का रूप दे दिया है और ऐसे कथानको का सूर ने इसी रूप से वर्णन किया भी है। तदनन्तर दावानल-पान एवं प्रलम्ब-बध-वर्णन भागवतानुसार ही है, केवल थोड़ा-सा अन्तर है। हम पहले कह चुके है, सूर की रुचि इन वर्णनों की अपेक्षा गोचारण की विविध क्रीड़ाओं, कृष्ण के मनोहर सौन्दर्य, उनकी चेष्टाओं और क्रिया-कलाप आदि के सजीव चित्र प्रस्तुत करने मे पर्याप्त रूप से रमी है। भागवतकार ने लीलाओं में कृष्ण के देवत्वविशिष्ट रूप पर अधिक बल दिया है, पर सूर ने नरत्व में ही देवत्व की प्रतिष्ठा की है। गोचारण और कृष्ण की दैनिक-चर्चा से मुरली का नित्य सम्बन्ध है, अतएव मुरली-स्तवन सूर का प्रमुख विषय है। यद्यपि श्रीमद्भागवत के 'वेणुगीत' का भी बड़ा भारी महत्व है, परन्तु उसका महत्व आध्यात्मिक होने के कारण जन-साधारण का विषय नही है। सूर की रागिनी मे जब हम कृष्ण

की चर-अचर-सम्मोहिनी मुरली की तान सुनते है, तो निर्वेद और हर्ष का, स्वर्ग और धरा का, श्रेय और प्रेय का ऐसा समन्वय देखते है कि आत्म-विस्मृत हो जाते है। ऐसी न जाने कितनी रागिनियाँ सूर ने गाई हैं, न जाने कितने पदों की रचना की है ? मुरली-वादन का प्रभाव और उसकी मनोहारिता सूर की अपनी मौलिकता है, जिसमे उनकी कवित्व शक्ति और भक्ति भावना का भी अच्छा प्रस्फुटन हुआ है। दूसरी बार राधा-कृष्ण-मिलन का वर्णन है, जिसमे पूर्व-परिचय और साहचर्य के कारण प्रेम की प्रगाढता ही नही, अनन्यता भी स्पष्ट रूप से भासित होती है। प्रेम के घात-प्रतिघातो का इसमे मनोवैज्ञानिक वर्णन है। भागवत जैसे दार्शनिक ग्रन्थों मे इतनी सरलता भला कहाँ सम्भव है ? इसके पश्चात् चीर-हरण की प्रसिद्ध लीला है। यद्यपि इस लीला का सूत्र श्रीमद्भागवत ही है, तथापि दोनो मे महान् अन्तर है। भागवतकार ने इस लीला का वर्णन करते हुए वर्षा और शरद् का सुन्दर वर्णन किया है और प्रकृति के अनेक सुरम्य चित्र उपस्थित किये हैं, परन्तु सूर ने इस लीला का उद्देश्य प्रेम का मनोवैज्ञानिक विकास रखा है। आत्माभिव्यंजक तथा अनुभूत्यात्मक होने के कारण इस लीला मे कई विवरणात्मक भेद भी आ गये हैं। श्रीमद्भागवत में नग्न-स्नान के औचित्य-अनौचित्य की विवेचना के साथ सयम और मर्यादा से वर्णन किया गया है, किन्तु व्यक्तिगत-साधना-रत सूर औचित्य-अनौचित्य आदि के प्रश्न से दूर थे। भागवत की गोपियाँ भद्रकाली, कात्यायनी देवी का पूजन एक मास तक करती है और सूर की गोपियाँ ब्रजवल्लभ, श्यामसुन्दर पति की कामना से नित्य-नियम से यमुना स्नान और रवि एवं शिव की एक वर्ष तक उपासना करती है। यही कारण है कि यमुना स्नान के समय कृष्ण जल के भीतर प्रकट होकर नग्न गोपियो की कटि मीजते और उन्हे सुख देते है। इस प्रकार सूर ने भक्ति-साधना-समन्वित गोपियों की साधना-पूर्ति कर भगवान् कृष्ण के सान्निध्य का लाभ कराया है, जिसके होने पर कुलकानि, मर्यादा, लाज और संकोच आदि व्यवधान उत्पन्न कर ही नही सकते। वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई की प्रति मे इसके पश्चात् पनघट-लीला है, जो नागरी-प्रचारिणी-सभा वाली प्रति में रासलीला के पश्चात् आती है। यह लीला श्रीमद्भागवत से स्वतन्त्र है। प्रेम के विकास में इसका बड़ा महत्व है और उस विकास-क्रम मे इसे हम तीसरी कोटि मे समझते हैं। इसमें राधा का भी उल्लेख है, जो गोपियों मे प्रमुख दिखाई गई है। वह खुल्लम-खुल्ला छेड़-छाड की लीला है और अब गोपियाँ कृष्ण से खुलकर प्रेम करने का निश्चय करती है। माधुर्य भाव की पुष्टि इसी लीला से विशेष रूप से होती है। इससे आगे जो यज्ञ-पत्नी-लीला है, वह भी भागवत के आधार पर ही है, परन्तु सूर का दृष्टिकोण व्यास के दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न था। इस लीला के द्वारा भी भक्त ने उस मधुरा भक्ति का पोषण किया है, जहाँ कुल-मर्यादा तथा लौकिक धर्मों की अवहेलना स्वतः ही हो जाती है। सूर की गोवर्द्धन लीला भी एक स्वतन्त्र खण्ड-काव्य कही जा सकती है। श्रीमद्भागवत की गोवर्द्धन-लीला तथा सूर की लीला में कई मौलिक अन्तर हैं—जैसे, १—श्रीमद्भागवत की लीला का वातावरण धार्मिक तथा दार्शनिक है। यहाँ कृष्ण के द्वारा कर्म-मार्ग का, विस्तृत उपदेश दिखाया गया है, परन्तु सूर ने जो वातावरण उपस्थित किया है, वह, अत्यन्त सरल, स्वाभाविक तथा मनोहर है और उसमें दार्शनिकता की गन्ध भी नहीं है। २—श्रीमद्भागवत के कृष्ण दार्शनिक तर्को के आधार पर ब्रजवासियों को इन्द्र-पूजा से विरत करते हैं, परन्तु सूर के कृष्ण ऐसा नही करते वे तो सीधे-साधे अहीरों को अपने सपने का हाल सुनाते हैं, जिसमें किसी चतुर्भुज अवतारी पुरुष ने उन्हें गोवर्द्धन की पूजा के लिए कहा था। ३—श्रीमद्भागवत मे श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व और योगेश्वरत्व पर विशेष बल दिया

है, परन्तु सूर ने कृष्ण का मानव रूप ही चित्रित किया है। ४—गोवर्द्धन-पूजा का आकार-प्रकार श्रीमद्भागवत से भिन्न है। इसका कारण तत्कालीन प्रचलित प्रथाएँ भी हो सकती है। ५—सूरसागर का इन्द्रकोप बड़ा भावात्मक और चित्रात्मक है, उसमे जल-वर्षण के सुन्दर चित्र उपस्थित किये गये है, किन्तु भागवत मे साधारण वर्णनात्मक ढग से इस विषय का वर्णन किया गया है। ६—इन सबसे मौलिक तथा भागवत निरपेक्ष बात जो हमे 'सूरसागर' में मिलती है, वह है ललिता, चन्द्रावली, राधा तथा वृषभानु की सेविका 'बदरौला' का उल्लेख। राधा और कृष्ण की तो रस-केलि का भी सकेत किया गया है। गोवर्द्धन-धारण का भी बड़ा सुन्दर वर्णन सूर ने किया है। यद्यपि यह वर्णन वर्णनात्मक ही है, तथापि बीच-बीच मे गेय पदों का समावेश भी हुआ है। इसी प्रसंग मे अग्नि-स्तुति तथा कृष्णाभिषेक भी है।

नन्द-हरण का प्रसंग यद्यपि भागवत के ही आधार पर है, तथापि उसमे कुछ परिवर्तन भी लक्षित होता है; जैसे—इस प्रसग मे सूर ने गंगा के द्वारा नन्द को कृष्ण के ब्रह्मत्व की सूचना दिलाई हैं। श्रीमद्भागवत मे यह बात गोवर्द्धन-लीला मे ही आ गई है। दूसरे, भागवत मे श्रीकृष्ण ने ब्रजवासियो को अपने सगुण और निर्गुण रूप को दिखाया है, परन्तु सूरसागर मे इसका उल्लेख नहीं।

श्रीमद्भागवत में नन्द-हरण के पश्चात् रास-लीला का आरम्भ होता है। 'सभा' के सूरसागर में भी यही क्रम रखा गया है, परन्तु वेंकटेश्वर वाली प्रति में नन्द-हरण के पश्चात् दान-लीला का प्रसंग है। 'सभा' वाली प्रति में पनघट-लीला और दान-लीला के प्रसंग व्योमासुर के पश्चात् दिये है। परन्तु यह क्रम ठीक प्रतीत नही होता। वास्तव में पनघट-लीला और दान-लीला रास से पहले ही आनी चाहिए, क्योंकि रास तो भक्ति-साधना का चरमोत्कर्ष है और पनघट-लीला तथा दान-लीला उस मधुरा भक्ति की विभिन्न कोटियाँ है, जिनको पार करता हुआ भक्त भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करता है।

पनघट-लीला की भाँति दान-लीला भी सूर की मौलिक उद्भावना है। इस लीला में सूर की वृत्ति इतनी रमी है तथा उन्होंने इसका इतने विस्तार के साथ वर्णन किया है कि यह प्रसंग भी एक पृथक खण्ड-काव्य का रूप धारण कर लेता है। घटना बड़ी साधारण-सी है, परन्तु इसमे सूर का वाग्वैदग्घ्य पूर्णतया प्रतिफलित हुआ है। मथुरा को दधि बेचने के लिए जाने वाली गोपियों से दधि-दान की माँग ही इस घटना का विषय है, परन्तु इसी के वर्णन मे सूर ने अपनी प्रबन्धात्मकता, भावप्रवणता तथा अनुपम व्यंग्य शैली का पूर्ण परिचय दिया है। कवित्व एवं भक्ति-भाव दोनो की दृष्टि से यह प्रसग बड़ा ही आकर्षक है। इसमे भौतिकता एव आध्यात्मिकता का अपूर्व समन्वय है। पुष्टि-सम्प्रदाय की दृष्टि से तो यह और भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसमे भगवान् को भक्ति-भावमय रूप देकर भक्ति-भावापन्न भक्तों के साथ उसका सम्बन्ध कराया गया है और गीता की "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" उक्ति को पूर्णरूपेण चरितार्थ किया गया है। यह प्रेमोन्माद की दशा का चित्रण है। कृष्ण के प्रति गोपियो का प्रेम प्रगाढ़तम हो जाता है, परन्तु इसे वासनामय प्रेम के रूप मे देखना भूल होगी। यह तो मधुरा-भक्ति के क्रमिक-विकास की लीला है। कृष्ण और राधा का अभेदात्मक युगलत्व यही से प्रारम्भ हो जाता है। सभी गोपियों मे राधा का प्रेम चरमोत्कर्ष पर पहुँचा प्रतीत होता है। सूर ने राधा-कृष्ण के चिर-संयोग के अनेक पद गाये और युगल-स्वरूप को भक्ति का आश्रय घोषित कर दिया। राधा के रूप-चित्रण-प्रेम की प्रायः सब दशाएँ इस वर्णन मे आ गई हैं। राधा-कृष्ण-विहार का यह पहला स्थल है, जहाँ वे युगल रूप में भक्त के सम्मुख उपस्थित होते है।

वेंकटेश्वर प्रेस की प्रति मे राधा-कृष्ण के इसी विहार के साथ-साथ ग्रीष्म-लीला, अनुराग-समय, नैनन-समय तथा अँखियान-समय के पद दिये है, जिनमे राधा और कृष्ण की रूप माधुरी का बड़ा प्रभावोत्पादक सूक्ष्म तथा विस्तृत वर्णन हुआ है। वस्तुतः इन अंशों को पृथक-पृथक खण्ड-काव्य का रूप दिया जा सकता है और इस रूप मे पद प्राप्त होते भी है। 'सभा' की प्रति में पनघट-लीला के पश्चात् अक्रूर-व्रज-आगमन तक इन सब घटनाओं का क्रम रखा गया है।

श्रीमद्भागवत मे नन्द-अपहरण के पश्चात् रास का वर्णन प्रारम्भ होता है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि भागवतकार ने नन्द-अपहरण के प्रसंग मे गोपियो को निर्गुण और सगुण रूप के दर्शन कराकर रास की पृष्ठ-भूमि प्रस्तुत की है। 'रास-पञ्चाध्यायी' भागवत का एक महत्वपूर्ण प्रकरण है और इसी के आधार पर रास-विषयक अनेक पुस्तकों की रचना हुई है, किन्तु सूरदास की 'रास पञ्चाध्यायी' मे भागवत की अपेक्षा कई मौलिक उद्भावनाएँ है, जैसे—१—गोपियों मे राधा का उल्लेख, कृष्ण के साथ उनका विवाह तथा राधा और कृष्ण के विहार का चित्रण। भागवत के अनुसार कृष्ण पहले किसी गोपिका के साथ अन्तर्हित हो जाते है और फिर उसका गर्व नष्ट करने की इच्छा से उसे भी अकेली छोड़ देते है। सूरसागर मे गोपियों के प्रेम का स्पष्ट उल्लेख नही है और उस विशिष्ट गोपी को, जिसे कृष्ण अपने साथ लेकर अन्तर्हित हो गये थे, स्पष्ट रूप से राधा नाम दिया गया है। इसी प्रकार राधा-विषयक अन्य घटनाएँ भी भागवत मे नहीं हैं। २—भागवत के कृष्ण अन्तर्धान होने के पश्चात् जब लौटते है, तो गोपियो के समक्ष दार्शनिकता से ओत-प्रोत एक लम्बी-चौडी वक्तृता झाड देते है और आत्माराम, आप्तकाम, कृतघ्न आदि भावों की व्याख्या करके उन्हें समझाते हैं। सूरसागर मे ये बातें नही है। वहाँ तो प्राकृत-मानव के समान ही आचरण करते हुए वे पुनः रास प्रारम्भ कर देते है। ३—श्रीमद्भागवत मे गोपियों की रति-क्रीड़ा और रमण का वर्णन करने के पश्चात् उसकी व्याख्या की है, किन्तु सूर ने उस व्याख्या अथवा स्पष्टीकरण की आवश्यकता ही नही समझी। ४—श्रीमद्भागवत मे रास के अन्तर्गत उसी शरद्-रात्रि को यमुना में जल-विहार का भी सक्षिप्त वर्णन है, परन्तु सूरसागर मे जल-विहार दूसरे दिन प्रातःकाल कराया गया है। ५—सूरसागर मे रास के अन्त मे गोपियो के विषय मे वामन-पुराण का उल्लेख है। सूर ने ब्रह्मा और भृगु के सम्वाद के रूप मे बताया है कि गोपियाँ वास्तव में श्रुतियाँ थी, जो कृष्ण के सगुण रूप मे उनके सयोग का आनन्द लेने के लिये व्रजबालाओं के रूप मे प्रादुर्भूत हुई थी। वास्तव में श्री वल्लभाचार्य जी ने लीला का क्रम तथा स्वरूप वामन-पुराण के अनुसार ही लिया है। इस प्रसंग के पश्चात् सूरसागर मे राधा-कृष्ण के संयोग और रति-सम्बन्धी वर्णन है, जिनके पश्चात् केवल दो पदो मे शाप-मोचन का उल्लेख करके फिर राधा-कृष्ण के वृन्दावन-विहार के दृश्य सम्मुख आते है। भागवतानुसार शखचूड़ दैत्य का उल्लेख एक ही पद मे कर दिया गया है और तदनन्तर सूर अपने भागवत-निरपेक्ष स्वतन्त्र विषयों को लेकर चल दिये हैं, जैसे—कृष्ण को जगाना, कलेऊ, भोजन के नाना व्यञ्जन, सखाओं के साथ गोचर तथा वंशीवादन आदि। मुरली का विषय भी सूर का एक स्वतन्त्र विषय है, जिसको लक्ष्य करके न जाने कितने नवीन-नवीन भावों की मनोवैज्ञानिक उद्भावनाएँ सूर ने की है? मुरली के विषय मे भी उनका एक पृथक् ही काव्य बन सकता है। श्रीमद्भागवत के पैंतीसवें अध्याय में इस बात का उल्लेख है कि जब कृष्ण गो-चारण करने के लिये समस्त दिन वन मे रहते थे तो गोपियाँ उनके विरह में किस प्रकार व्यथित रहती थी और उनके रूप-सौन्दर्य, मुरली-वादन आदि की चर्चा से अपना दिन बिताती थीं। इसको भागवतकार ने युगल-गीत का नाम दिया है। इस युगल-गीत मे तन्मनस्क गोपियो का बड़ा ही सुन्दर चित्रण हुआ है। सूरसागर में यह विषय

अधिक विस्तार और भावपूर्ण ढंग से कहा गया है तथा कृष्ण के ब्रज आने की शोभा का बड़ा सुन्दर वर्णन कवि ने किया है। भागवत मे आये हुए वृषभ, केशी और व्योम नामक राक्षस के वध का वर्णन सूर ने बहुत सक्षेप मे किया है।

श्रीमद्भागवत में अरिष्ट-वध के पश्चात् ही नारद-सम्मति से कस अक्रूर को भेजने का निश्चय करता है, परन्तु सूरसागर मे प्रसंग बहुत पीछे है। हम पहले कह चुके हैं कि वेंकटेश्वर प्रेस की प्रति तथा 'सभा' की प्रति के क्रम मे कुछ अन्तर है। 'सभा' की प्रति में व्योमासुर-वध के पश्चात् उन लीलाओं को लिया गया है, जो सूर की मौलिक तथा भागवत-निरपेक्ष लीलाएं कही जा सकती हैं। पनघट-लीला, दान-लीला, ग्रीष्म-लीला, मान-लीला, नैनन-समय, अँखियान-समय, खण्डिता-प्रकरण राधा का मान तथा खण्डिता नायिकाओ का विशद वर्णन है। इसी खण्डिता-प्रकरण मे ललिता, चन्द्रावली, सुषमा, राधा, वृन्दा, प्रमदा आदि के साथ कृष्ण की प्रेम-क्रीडाओं का विशद वर्णन है। राधा की मान-लीलाओं का वर्णन करके कवि ने उसके चरित्र का पूर्ण चित्रण किया है तथा जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास की राधा से अपनी राधा का पृथक् व्यक्तित्व रखा है। इस प्रकरण में राधा के भाव की स्थापना तथा एवं राधा कृष्ण के चिर संयोग का प्रतिपादन किया गया है।

इसके पश्चात् सूरसागर में झूलने और वसन्त-लीला के प्रकरण हैं। झूलने का प्रकरण वेंकटेश्वर प्रेस की प्रति मे विद्याधर-शाप-मोचन से पहले दिया है, परन्तु 'सभा' की प्रति में राधा की मान-लीला के पश्चात् झूलना और वसन्त, दोनो प्रकरण दिये है। ये दोनों ही प्रकरण भागवत-निरपेक्ष एवं वर्षोत्सव-क्रम मे आये हुए महत्वपूर्ण विषय हैं। वस्तुतः पुष्टि-सम्प्रदाय में गाये जाने वाले पदों का विषय नित्य-कीर्तन और वर्षोत्सव ही है। जब वर्षोत्सव के पद अधिक भारी होने लगे तो उनके दो भाग कर दिये गये। होली और धमार नाम से एक भाग अलग कर लिया गया और शेष पद दूसरी प्रति से अलग रखे गये। सम्प्रदाय मे इन दो भागों के होने का एक यह भी कारण बताया जाता है कि वसन्तोत्सव के समय सारी पुस्तक को पाठ के लिए रखना उसके बिगड़ने के भय से खाली नही था, क्योंकि इस उत्सव में रंगरेलियाँ और मस्ती ही मुख्य विषय रहता है। ब्रज की होरी और झूला बहुत प्रसिद्ध है और दीर्घकाल से उत्साह पूर्वक मनाये जाते रहे हैं। पुष्टि-सम्प्रदाय मे इन उत्सवों का बड़ा महत्व है। सूरसागर में तो होरी को लेकर बडा सुन्दर रूपक बाँधा गया है। नित्य-वृन्दावन का मनोहर चित्रण करके कवि ने कृष्ण और गोप-गोपियों की सम्मिलित आनन्द क्रीड़ा का होरी के रूप मे वर्णन किया है जिसमें किसी प्रकार का संकोच नहीं रहता और सारा ब्रज अनुराग एवं हर्ष के रंग मे डूब जाता है।

कृष्ण को गोकुल से मथुरा लाने के लिये कंस द्वारा अक्रूर को भेजने का प्रसंग सूर ने भागवत के आधार पर ही दिया है, किन्तु कुछ परिवर्तन के साथ। सूरसागर मे नारद स्वयं कृष्ण की सम्मति से कंस को कृष्ण और बलराम के बुलाने का परामर्श देने जाते है। सूरसागर मे कंस के दु:स्वप्नों का जो वर्णन है, वह भागवत मे नही हुआ है। अक्रूर के मथुरा से ब्रज पहुँचने पर सूर ने ब्रज का जो करुण-दृश्य चित्रित किया है वह निःसन्देह बेजोड है। ब्रजवासियों, गोपियों तथा यशोदा की विरह-वेदना के काले मेघ उमड-उमड़ कर ब्रज पर छाये हुए हैं। उनको देखकर ब्रजवासी जन गिरिधर की याद में और भी अधिक सुध-बुध खो बैठते हैं; उनके मूक-क्रन्दन की करुण-रागिनी मिलनयाम के समय प्रणय-पूर्ण वार्तालाप से मुखरित, मुरली की मधुर-स्वर-धारा से सिक्त और ब्रज-वल्लभ एवं उनकी वल्लभाओं की स्मित-प्रभा से आलोकित कुजो में सन्नाटा

भर रही है। कालिन्दी का कौतुकमय कूल, ब्रज की एक-एक सरणि, वृन्दा-विपिन की विस्तृत बीथिकाएँ वियोग की वह्नि मे झुलस गई है। ब्रज-जनो की दशा को देखकर "अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्", के अनुसार शिला भी रोने लगती है और पत्थर का भी हृदय फटने लगता है तो फिर अक्रूर तो रक्त-माँस-निर्मित सहृदय व्यक्ति ठहरे। वे कैसे बच सकते थे ? वे बहक जाते है: इसीलिए कृष्ण अपने ब्रह्मत्व का आभास देकर उनका अज्ञान दूर करते हैं। फिर सूरदास ने मथुरा पहुँचने पर मथुरा के नागरिकों तथा कंस पर उनके द्विविध प्रभाव का वर्णन किया। इस प्रसंग मे श्रीमद्भागवत मे बहुत-सी कथाओं का उल्लेख है। सूर ने उनमे से कुछ कथाएँ सक्षेप से कही हैं। जैसे—रजक-वध, दर्जी, माली, कुब्जा का उल्लेख, धनुर्भंग, कुवलयापीड हाथी, मुष्टि और चाणूर मल्लो का वध। मल्ल-युद्ध का वर्णन सूरसागर मे नही है। कंस-वध की कथा सूरदास ने वर्णनात्मक ढंग से न देकर स्तुति के रूप मे दी है तथा उसके सहयोगियों के वध का उल्लेख-मात्र किया है। भागवत के ४५ वें अध्याय मे श्रीकृष्ण और बलराम के यज्ञोपवीत और गुरुकुल प्रवेश का वर्णन है। श्रीकृष्ण अपनी योगमाया से अपने माता-पिता के स्व-ब्रह्म विषयक ज्ञान को आवृत कर लेते हैं। सूर ने भी कस-वध के पश्चात् वसुदेव-देवकी की मुक्ति, उनके हर्षोल्लास, उग्रसेन का राज्याभिषेक और कुब्जा को पटरानी बनाने का उल्लेख किया है। इसके पश्चात् नन्द आदि गोपों को ब्रज के लिये विदा करने का वर्णन है। जिसमे कवि की प्रतिभा और भावुकता पुनः सजग, सचेष्ट हो उठती है और तन्मयता के साथ ऐसे चित्र उपस्थित करती है, जो विरह-जन्य करुणा और वात्सल्य के चित्र कहे जा सकते है। अनेक छोटे-छोटे संदर्भों की कल्पना की गई है। ब्रज लौटने पर नन्द और यशोदा का वार्तालाप होता है, वहाँ कवि की भावुकता पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। इस स्थल पर सूर के कोमल हृदय से जो उद्गार निकले है, उनमे मातृत्व का इतना स्पष्ट चित्र उतरा है, जितना विश्व-साहित्य में कदाचित् ही कही मिल सके। ग्वालों का करुण-क्रन्दन, ब्रज की दयनीय दशा आदि का वास्तव मे सूर ने ऐसा चित्रण किया है, जिससे भवभूति के "एकोरसः करुण एव" वाले कथन मे कोई भी अत्युक्ति या असंगति नही दीख पड़ती। सूरदास के ये सब वर्णन पूर्णरूपेण मौलिक है।

उद्धव की ब्रज-यात्रा मे सूर ने फिर भागवत का अनुसरण किया है; परन्तु जहाँ भागवत मे उद्धव को ब्रज भेजने का उद्देश्य केवल नन्द-यशोदा को सन्देश देकर सुखी करना और गोपियों को सान्त्वना देना बतलाया गया है, वहाँ सूर ने उद्धव के पाण्डित्य एवं ज्ञान-गर्व को खण्डित कर उन्हे प्रेमाभक्ति मे दीक्षित करना ही उद्देश्य माना है। इसके अतिरिक्त सूर ने और कई कल्पनाएँ की है, जो सर्वथा मौलिक और भागवत से स्वतन्त्र है, जैसे—कृष्ण का अपने माता, पिता और गोपियों को पत्र लिखना, कुब्जा का राजा को सदेश, तथा उद्धव और ब्रजवासियों की भेंट। उद्धव के ब्रज आने पर तो मानो सूर की कल्पना पख लगाकर उडने लगी। श्रीमद्भागवत में ४७वें अध्याय में उद्धव और गोपियों की बातचीत और भ्रमर-गीत का वर्णन है। भ्रमर-गीत का प्रसंग सूर ने भी रखा है। सूर का भ्रमर-गीत सगुण-भक्ति का पोषक एक अकाट्य शास्त्र है, जिसमे भक्ति और ज्ञान का सन्तुलन करके भक्ति को सर्वोपरि बतलाया है और योग तथा कर्म-काण्ड का व्यंग्यात्मक रूप से खंडन किया है। यद्यपि श्रीमद्भागवत में भी भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है, किन्तु दूसरे ढंग से। वहाँ सुलभता और प्रेयता के कारण भक्ति को श्रेष्ठ बतलाया गया है। वहाँ उद्धव का ज्ञानोपदेश सुनकर गोपियों पर विरुद्ध प्रतिक्रिया नही होती, किन्तु यहाँ का तो दृश्य ही भिन्न है। इसलिये भक्ति की श्रेष्ठता के प्रतिपादन में भागवत के भ्रमर-गीत की अपेक्षा सूर के भ्रमर-गीत का अधिक महत्व है। कवि की सहृदयता और वाग्वि-

दग्धता का सुन्दर सामंजस्य इस प्रसंग मे लक्षित होता है। उसके कवित्व का चर्मोत्कर्ष इस स्थल पर दीख पड़ता है। परिपाटी के अनुसार सूर ने भ्रमर-गीत की पुनरावृत्ति भी की है—उनके उद्धव गोपियों के भक्ति-प्रवाह मे ज्ञान की 'गुरु गठरी' गँवाकर मथुरा लौट आते हैं। इसके पश्चात् एक ही पद में कृष्ण का अक्रूर के घर जाने का उल्लेख है।

दशम स्कन्ध (उत्तरार्द्ध)

श्रीमद्भागवत के इस स्कन्ध मे ४१ अध्याय है, जिनमे बहुत-सी कथाएँ पूरे-पूरे अध्यायों मे दी हुई है। कथा-विवरणो के साथ-साथ ऐतिहासिक, धार्मिक और दार्शनिक सामग्री भी पर्याप्त माला में है, परन्तु सूरसागर मे ये कथाएँ बहुत संक्षेप मे दी गई हैं। रुक्मिणी का पत्र-लेखन, भक्ति-भाव और विवाह का वर्णन भागवत की अपेक्षा सूरसागर में अधिक भावात्मक है। बलभद्र के ब्रज-आगमन का वर्णन भी सूर ने विशेष रुचि से किया है, कालिन्दी और वारुणी को जिन्होंने व्यक्तियों की भाँति चित्रित किया है और इस प्रकार थोडा-थोड़ा सा अन्तर कर दिया है। पौण्ड्रक राजा का नाम सूर ने पुण्डरीक लिखा है। सुदामा और कृष्ण की कथा श्रीमद्भागवत के इसी स्कन्ध मे ८०वें और ८१वें अध्याय मे आई है। सूरदास ने इस कथा को लेकर भगवद्भक्ति विषयक अनेक पदों की रचना की है। उनका हृदय मानो ब्रज के वियोग में तडप रहा है, इसलिए वे इस प्रसग के पश्चात् पुनः ब्रज लौटने को मौलिक कल्पना करते हैं। सूर ने यहाँ एक सन्देश-वाहक की मौलिक कल्पना की है, जिसके द्वारा ब्रज नारियाँ श्याम के पास सन्देश भेजती है; जिसके मिलते ही कृष्ण की स्मृति हरी हो जाती है और वे रुक्मिणी से राधा और गोपियो के प्रेम की चर्चा चलाते है। इस स्थल पर कवि का ब्रज-विषयक प्रेम शत-शत धाराओं मे फूट निकला है।

इसी प्रकार कुरुक्षेत्र मे कृष्ण और ब्रजवासियों की भेट का वर्णन भी सूरदास जी ने विशिष्टता के साथ किया है। सूर का वर्णन सर्वथा मनोवैज्ञानिक तथा आत्मीयता से परिपूर्ण है। कृष्ण के दूत के पहुँचने से पहले ही गोपियो को शुभ शकुन होते हैं, जो उनके भग्न हृदयो का आधार बन कर उन्हे आश्वासन देते हैं। फिर कृष्ण-दूत पहुँचने पर भ्रमर-गीत जैसे वातावरण की आशंका होने लगती है।

कुरुक्षेत्र मे कृष्ण, यशोदा और गोपियो का मिलन भी एक अलौकिक घटना है, जिसका वर्णन सूर ने बडी ही गम्भीरता और भावात्मकता के साथ किया है। राधा-कृष्ण की अन्तिम भेंट मे उन्होंने बड़ी तन्मयता दिखाई है और ऐसा प्रतीत होता है कि इस मधुर-मिलन की मादकता मे ही वे कुरुक्षेत्र-यज्ञ को भी भूल गये। इस स्कन्ध की शेष कथाएँ सूर ने केवल खानापूरी करने के लिये रखी है।

द्वादश-स्कन्धात्मक सूरसागर से 'श्रीमद्भागवत' की तुलना करने पर हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

१—दशम-स्कन्ध को छोड़कर अन्य स्कन्धों मे भागवतानुसरण की बात-मात्र ही दुहराई है, अनुसरण नहीं किया गया है। अन्य स्कन्धों में केवल वे ही स्थल आये है, जहाँ भगवान् के यश का वर्णन, हरि-भक्ति की महिमा अथवा भक्त-गुण-गान है। भागवतानुसरण वाली बात वर्णनात्मक प्रसंगों तक ही सीमित है। गेय पदों मे उसका अनुसरण नही मिलता।

२—पौराणिक तथा ऐतिहासिक आख्यानों की पूर्ण उपेक्षा की गई है और कथाओं मे पारस्परिक सम्बन्ध भी नहीं है। पद भरती के से प्रतीत होते है।

३—भागवत के दार्शनिक पक्ष को भी 'सूरसागर' मे प्रश्रय नही दिया गया है। स्तोत्रों और प्रवचनों के रूप में भागवत मे दार्शनिक सिद्धान्तों की जैसी विस्तृत व्याख्या मिलती है, उसका लेश भी सूरसागर मे नही है।

४—सूरसागर मे वर्णनात्मक तथा गेय-पद-शैली, ये दो प्रकार की शैलियाँ दीख पड़ती हैं। ऐतिहासिक उपाख्यान अथवा पौराणिक कथाओ के उल्लेख में कवि ने वर्णनात्मक-शैली को और हरि-लीला-गान मे गेय-पद-शैली को अपनाया है।

५—जिस स्थल पर 'सूरसागर' में भागवत के वर्णन को ज्यों का त्यों अपनाने का प्रयास किया है, वहाँ उसमे शिथिलता आ गई है और वर्णन मे अस्वाभाविकता-सी प्रतीत होती है। ऐसे प्रसंगो मे कवि का कथन नीरस और केवल कथा-पूर्ति हेतु किया हुआ प्रतीत होता है। ऐसे स्थानों में कही तो वर्णनात्मक शैली के दर्शन होते हैं और कही ऐसी अस्पष्ट समास-शैली मिलती है कि ज्ञात होता है मानो कवि को कथाओं का भार ढोना पड़ रहा है। अनुवाद की तो बात दूर रही, कथाओं का सार भी पदों मे नही आ पाया।

६—सूरसागर मे चार प्रकार की हरि-लीलाओं का गान हुआ है—

(अ) वे लीलाएँ, जिनका आधार पूर्णतया श्रीमद्भागवत है। ऐसी लीलाएँ केवल दशम स्कन्ध मे हैं, किन्तु उनका क्रम भागवत से भिन्न है।

(ब) वे लीलाएँ, जिनका सूत्र तो कवि का भागवत से ही प्राप्त हुआ, किन्तु 'सागर' मे कवि ने उनकी विस्तृत व्याख्या की है। उन प्रसगो के वर्णन मे सूर की दृष्टि भागवत पर नही जमती, अपितु भावना के विस्तृत प्रांगण मे चौकड़ी भरती हुई दीख पड़ती है। ऐसे स्थलों पर कवि भागवत के कथा-स्रोतों को केवल मोड ही नही दे देता, अपितु एक बाँध-बाँधकर स्वतः-प्रवाहिनी कल्लोलिनी की ओर उन्मुख कर देता है। ऐसे स्थलों पर कवि की गाम्भीर्य-पूर्ण-तन्मयता एवं परिपक्व शैली के दर्शन होते है। ये रचनाएँ खण्ड-काव्य की कोटि तक पहुँच जाती हैं।

(स) सूरसागर मे कुछ ऐसी लीलाएँ भी हैं, जिन्हे हम पूर्णतया मौलिक, स्वतन्त्र और भागवत निरपेक्ष कह सकते हैं; जैसे—राधा-कृष्ण-मिलन, पनघट-प्रस्ताव, दान-लीला आदि।

(द) सूरसागर मे कुछ ऐसी लीलाएँ भी है; जिनका स्रोत भागवत पुराण न होकर अन्य पुराण हैं।

उक्त विवेचन से हम सहज ही इस प्रश्न का उत्तर खोज सकते हैं कि सूरसागर कहाँ तक श्रीमद्भागवत का अनुवाद है, और कहाँ तक उसमे भागवत का अनुसरण किया गया है? इस विषय पर हिन्दी के कुछ विद्वानों ने विचार भी किया है। डा० ब्रजेश्वर वर्मा का मत है—

"अनुमान तो यह होता है कि भागवत की कथा को सुनकर कवि ने दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध के अतिरिक्त अन्य स्कन्धो पर अपने भाव के अनुकूल कभी प्रबन्धात्मक और कभी स्फुट-रीति में पद रचना की। इस पद-रचना को स्कन्धों के कथा-क्रम से संग्रह करके देखने से जहाँ कथा-सूत्र छूटे हुए पाये गये वहीं वे पूर्तिमात्र के विचार से वर्णनात्मक शैली में रख दिये गये। यह भी सन्देह हो सकता है कि ये वर्णनात्मक अंश स्वयं हमारे कवि सूरदास जी की रचना भी हैं या अन्य किसी ने सूरसागर को भागवत का वाह्य रूप दे दिया।"[1]

---

१ ब्रजेश्वर वर्मा 'सूरदास' पृष्ठ ८०

डाक्टर वर्मा के अनुसार सूर ने भागवत के दशम स्कन्ध (पूर्वार्द्ध) पर पूर्णतया नियमित रूप से तथा अन्य स्कन्धों पर कभी-कभी रचना की और फिर कथा-सूत्र जोड़ने के लिए सूर ने अथवा और किसी कवि ने कुछ पदों की रचना की। श्री द्वारकादास परीख और प्रभुदयाल मीतल ने इस विषय में लिखा है :

"उपलब्ध मुद्रित एवं हस्तलिखित प्रतियों के अध्ययन से यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि यह श्रीमद्भागवत का न तो अनुवाद है और न इसमें उनकी प्रथम स्कन्ध से द्वादश स्कन्ध की कथाओं का पूर्ण समावेश ही हुआ है। फिर भी हमे इस विषय पर सूरसागर मे सूरदास का निम्न कथन मिलता है :

व्यास कहे सुकदेव सो द्वादश स्कन्ध बनाइ।
सूरदास सोई कहै पद भाषा करि गाइ॥
—सूरसागर, स्कं० १ पद २२५

इस उल्लेख से जान पडता है कि सूरदास ने द्वादश-स्कन्ध-पर्यन्त की कथाओ को, जो व्यास जी द्वारा कथित हैं, गाया है।"[1]

"इन दोनों विरुद्ध कथनों का एक अविरुद्ध निष्कर्ष यह हो सकता है कि श्री वल्लभाचार्य जी ने व्यास जी की 'समाधि' भाषा को प्रमाण रूप माना है और उसी का गायन किया है। श्री वल्लभाचार्य जी के अनुसार श्रीमद्भागवत मे तीन प्रकार की भाषा है—लौकिकी, परमत और समाधि। लौकिकी भाषा उसे कहते हैं, जो ऐतिहासिक-चरित्र-रूप मे सूत जी द्वारा कही गई थी। परमत भाषा उसे कहते है, जो अन्य ऋषि-मुनियों के विभिन्न मतो के रूप मे उपस्थित की गई है और समाधि-भाषा उसे कहते है, जो स्वयं व्यास जी को समाधि में जो कुछ प्रत्यक्ष अनुभव हुआ था उसका वर्णन करती है और व्यास-शुकदेव द्वारा कही हुई है। इसी समाधि-भाषा को महाप्रभु ने 'प्रमाण-चतुष्टय' में स्वीकार किया है। यह भाषा भक्ति-मार्ग का मूल है। इसी के आधार पर चारों भक्ति-सम्प्रदायों की विविध भावनाओ का विस्तार हुआ है। सम्भव है सूरदास ने अन्य भाषाओं की अनावश्यक कथाओं आदि पर ध्यान न दिया हो और इसी प्रकार परमत-स्वरूप कर्म-ज्ञान वाले वर्णनों की भी उपेक्षा की गई हो। भक्ति मे आवश्यक ऐसे कर्म-ज्ञान का तो सूरदास जी ने वर्णन किया ही है, जिनके फलस्वरूप ईश्वर में प्रेम बढ़ाने वाले कर्म और ब्रह्म के माहात्म्य-सूचक अनेक प्रसंग और वर्णन प्राप्त होते हैं। सूरदास का उद्देश्य श्रीमद्भागवत वर्णन से भगवान् की भक्ति और उनकी अनेक लीलाओं का कथन करना ही था। ऐसा ज्ञात होता है कि इसीलिये सूरसागर की कथाओं मे स्कन्धानुक्रम होते हुए भी प्रत्येक प्रसङ्ग या अन्य वर्णनों का भागवत-क्रम पूर्णतः अपेक्षणीय नही समझा गया।"[2]

"दूसरा विकल्प यह भी हो सकता है कि जब सूरसागर के प्रारम्भ मे सूरदास जी स्पष्ट कहते हैं कि—

व्यास कहे सुकदेव सों द्वादश स्कन्ध बनाइ।
सूरदास सोई कहे पद भाषा करि गाइ॥

तब सम्भव है उन्होंने समस्त भागवत का ही अनुवाद किया हो और उनके सहस्रावधि पद होने के कारण आद्योपान्त प्रतिलिपि न हो सकने से, मुख्य-मुख्य अंशों को किसी ने संग्रहीत कर लिया हो और उसी से फिर अनेक प्रतिलिपियाँ होती रही हों, जो आजकल उपलब्ध हैं।"[3]

१ 'सूर-निर्णय' प्रथम-सं० स० २००६, (अग्रवाल प्रेस, मथुरा) पृष्ठ १६१
२ सूर-निर्णय (सस्करण सम्वत् २००६) पृष्ठ १६१
३ वही ,, ,, पृष्ठ १६२

जो भी हो, 'सूर-सारावली' वाले उल्लेख से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते है कि—

१—सूरदास ने अपने गुरु श्री वल्लभाचार्य से श्रीमद्भागवत-तत्व का उपदेश प्राप्त कर उसकी अनेक-विध हरि-लीलाओ को गाया था, जिनके आधार श्रीमद्भागवत और उसके अनुकूल अन्य पुराण, महाभारत, रामायण, पाञ्चरात्र और सहितादि रहे है। ये लीलाएँ कथात्मक शैली में हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि इनको उन्होने अपने सेवकों के लिये उपदेशार्थ गाया था।

२—"सम्प्रदाय की नित्य तथा वर्षोत्सव की लीलाओ की प्रति वर्ष नवीन भाव, छन्द और वर्णन के भेद की दृष्टि से सूरदास ने श्रीनाथ जी के सम्मुख गाया होगा। सम्भव है कि ये दोनों संग्रह प्रारम्भ में भिन्न रूप मे लिखे जाते हो और पीछे किसी ने उन्हें एक कर दिया हो, जो आज द्वादशस्कन्धात्मक और दशम पूर्वार्द्ध के रूप मे उपलब्ध होते है।"[१]

ये दोनो लेखक न तो सूरसागर को श्रीमद्भागवत का अनुवाद मानते हैं और न सर्वांश में श्रीमद्भागवत को सूरसागर का आधार ही मानते है, परन्तु 'श्रीमद्भागवत-तत्व' को अवश्य आधार मानते है तथा यह भी सम्भावना करते है कि नित्य-कीर्तन और वर्षोत्सवो के पदों मे से ही पीछे से किसी ने सूरसागर के दो रूप दे दिये हों।

डा० मुन्शीराम शर्मा का मत भी यहाँ उल्लेखनीय है। वे लिखते है :—

"इन कथनो के होते हुए भी सूरसागर को भागवत का अविकल अनुवाद नही कहा जा सकता। वह एक स्वतन्त्र रचना है। बालिका राधा, बालक कृष्ण के संग खेलने के प्रसंग और 'भ्रमर-गीत' की व्यग्यमयी उक्तियाँ भागवत मे ढूंढने पर भी नही मिलेंगी। भागवत मे उद्धव की कथा आती है, परन्तु उनके गोकुल पहुँचने पर गोपियाँ उन्हें चिढाती नही। वे कुछ कहते हैं उसे चुपचाप सुन लेती हैं। उद्धव द्वारा कृष्ण का सन्देश पाकर उनकी विरह-व्यथा शान्त हो जाती है। कृष्ण के प्रति दिये गये उनके उलाहने भी इतने तीव्र नही है। निर्गुण और सगुण का झमेला भी भागवत मे दिखाई नहीं देता, जो सूरसागर के भ्रमर-गीत का प्रधान अश है। कृष्ण लीलाओं का स्मरण करती हुई एक गोपी अपने सामने गुनगुनाते हुए भ्रमर को आया देखकर कुछ चटपटी बात अवश्य कह जाती है। भागवत के भ्रमर-गीत मे सूरसागर जैसा भावनाओ का उफान कहीं भी दृष्टिगोचर नही होता। इसके अतिरिक्त भागवत सर्ग-विसर्ग आदि दस विषयो का वर्णन करती हुई भक्ति को मूर्धन्य स्थान देती है पर सूरसागर में मुख्य रूप से राधा-कृष्ण लीला को ही प्रधानता दी गई है। भागवत जहाँ निवृत्ति-मूलक साधना का उपदेश करती है, वहाँ सूरसागर की राधा-कृष्ण लीला मनुष्य को प्रवृत्ति मार्ग मे लगाने वाली है। अतः सूरसागर भागवत का अक्षरशः अनुवाद नही है।"[२]

डा० मुन्शीराम शर्मा केवल भ्रमर-गीत और दो-चार उनकी बातों को लेकर इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि सूरसागर भागवत का अक्षरशः अनुवाद नही है, पर उनके इस कथन से स्पष्ट ही यह ध्वनि निकलती है कि 'भावात्मक अनुवाद अवश्य है'—आधार तो निश्चय रूप से है ही।

इन तीनों ही ग्रन्थों मे श्रीमद्भागवत को आधार अवश्य स्वीकार किया है। डा० ब्रजेश्वर वर्मा, कवि द्वारा द्वादशस्कन्धात्मक रूप दिये जाने में सन्देह करते है। डा० मुन्शीराम शर्मा जी ने इस विषय पर अधिक विवेचन नही किया और इसीलिये वे सन्देहात्मक निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। श्री द्वारिकादास परीख ने दो विकल्प रखे हैं और पहले विकल्प मे ही भागवत के आधार की ओर

१ सूर-निर्णय (सस्करण सम्वत् २००६) पृष्ठ १६२-१६३

२ डा० मुन्शीराम शर्मा सोम—सूरसौरभ···दूसरा भाग, पृष्ठ ११ (दूसरा सस्करण)

संकेत किया है। इन सब कथनों को दृष्टिकोण मे रखते हुए हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते है :

१—यों तो सभी वैष्णव सम्प्रदायों में श्रीमद्‌भागवत की मान्यता है, परन्तु पुष्टि सम्प्रदाय में तो इस महापुराण को चतुर्थ प्रमाण माना है और वेद, उपनिषद एवं गीता के समकक्ष रखा है। 'तत्वदीप-निबन्ध' मे श्री वल्लभाचार्य ने भागवत की प्रामाणिकता पर बल देते हुए कहा है—

"समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाण तच्चतुष्टयम् ।"

अर्थात्—व्यास की समाधि-भाषा अन्य तीन प्रमाणो के समान ही प्रमाण स्वरूप है।

इस सम्प्रदाय की आधार-भित्ति ही भागवत है। अतएव सूरदास ने अपने गुरु वल्लभाचार्य जी से अवश्य ही भागवत तत्व सुना होगा। वैसे भी सम्प्रदाय की बैठको मे भागवत की कथाएँ हुआ करती थीं और पुराणों का आश्रय लेकर धार्मिक वाद-विवाद भी होते थे, अतएव यह तो निश्चय ही है कि सूरदास जी को श्रीमद्‌भागवत का ज्ञान था और वे उसके महत्व को भी समझते थे, किन्तु उन्होंने यथावत् उसका अध्ययन किया हो, इसका कोई प्रमाण नही।

२—महात्मा सूरदास सिद्ध कवि थे और अपने ही समय मे प्रसिद्ध भी बहुत हो गये थे, जिसका पर्याप्त प्रमाण वार्त्ता-साहित्य से मिलता है। बिजली के तार की भाँति स्पर्श मात्र से ही उनकी प्रतिभा देदीप्यमान हो उठती थी, जिसका वार्त्ता-साहित्य में उल्लेख भी है। सिद्ध कवि अपनी प्रतिभा और कवित्व-शक्ति से नूतन-सृष्टि-सृजन मे समर्थ होते है। लीलाओ के स्फुरण का उल्लेख भी सूर के विषय मे वार्त्ता-साहित्य मे कई बार आया है। भागवत के विषय मे भी सूरदास के सम्बन्ध मे यही लिखा है—"पुरुषोत्तम सहस्रनाम सुनने के पश्चात् सम्पूर्ण भागवत की लीला सूरदास के हृदय मे स्फुरी और सूरदास जी ने प्रथम स्कन्ध से द्वादश-स्कन्ध-पर्यन्त कीर्तन वर्णन किये।"[१]

यदि हम वार्त्ता के कथन को प्रामाणिक माने तो दो बात उल्लेखनीय है। पहली—'सूरदास के हृदय मे भागवत की लीला स्फुरी', और दूसरी—'कीर्तन वर्णन किये।' अनुवाद वाली बात कही है ही नहीं।

श्री वल्लभाचार्य ने भागवत की (सुबोधिनी) टीका केवल उन्ही स्कन्धो पर की, जिनकी संगति उन्हें अपने सिद्धान्तों से लगानी थी। उन्हें दशम स्कन्ध ही बहुत प्रिय था और उसके ८७ अध्यायों की रूपक बाँध-बाँध कर उन्होने विस्तृत व्याख्या की है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि संभवतः सूर ने भी भागवत के दशम स्कन्ध तक ही अपने वर्णन को सीमित रखा हो। इसकी पुष्टि इन बातों से भी होती है :

१—सूरदास जी के दशम-स्कन्ध सम्बन्धी ग्रन्थों का उल्लेख, जैसे—दशम स्कन्ध टीका, दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध आदि।

२—केवल दशम-स्कन्ध वाली सूरसागर की प्रतियों की प्राप्ति।

३—किसी-किसी संग्रहात्मक प्रति मे भी दशम स्कन्ध का उल्लेख।

परन्तु इन स्कन्धात्मक प्रतियों मे क्रम उलट-पलट है। अतएव यह कथन कि सूर के जीवन काल में ही इस प्रकार की कोई स्कन्धात्मक प्रति बन गई होगी, युक्ति-संगत प्रतीत नही होता। हम 'सूर्य निर्णय' में दिये हुए इस कथन से पूर्णतया सहमत है कि—'सम्प्रदाय की नित्य और वर्षोत्सव की लीलाओं को प्रतिवर्ष नवीन भाव, छन्द और वर्णन की विभेदता से 'सूरदास' ने

---

१ सूरदास की वार्त्ता प्रसंग १

'श्रीनाथ जी' के सम्मुख स्वतः उद्गार रूप से गाया था। पीछे किसी ने इन्ही पदों से दो संग्रह कर दिये—संग्रहात्मक तथा द्वादश स्कन्धात्मक।"[1]

दशम स्कन्ध के अतिरिक्त द्वादश स्कन्धात्मक सभी प्रतियों के कुछ गेय पदों को छोड़कर अन्य पद प्रक्षिप्त से प्रतीत होते है। सम्भवतः गेय पदों की रचना सूरदास ने की हो। संग्रहात्मक तथा द्वादश-स्कन्धात्मक प्रतियो के विषय में हम पहले ही लिख चुके है कि संग्रहात्मक प्रतियो का संकलन १०० वर्ष पूर्व का मिलता है तथा उनमें पाठ भी अपेक्षाकृत शुद्ध है। इसलिये हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि सूर के पदों का संग्रहात्मक-सकलन ही पहले हुआ था। उन पदों मे १—नित्य-कीर्तन और वर्षोत्सिव के पद थे; २—विनय के पद थे, जो सूर ने पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पहले रचे थे, ३—अन्य पद भी, जो सूर यथावसर रचते थे, उस संकलन में रहे होंगे।

विषय की दृष्टि से इन सारे पदों को हम तीन भागों मे विभाजित कर सकते है :

(१) ऐतिहासिक तथा वर्णनात्मक

इनका आधार, भागवत के अतिरिक्त हरिवंश पुराण, विष्णु-पुराण, पद्म-पुराण, वायु-पुराण तथा देवी भागवत आदि हैं। सूरदास जी को इन पुराणो के सम्यक् अध्ययन का अवसर प्राप्त हुआ होगा, इसकी तो कोई सम्भावना ही नही, परन्तु तत्कालीन ब्रज के सन्त-समाज में अनेक विद्वान् रहते थे, जो अपने सम्प्रदायिक मन्तव्यों को सिद्ध करने के लिये अनेक ग्रन्थों का आश्रय लिया करते थे। उसी श्रुति के आधार पर ही सूरदास ने बहुत से पदों की रचना की होगी।

(२) लीला-परक

इन पदों का आधार प्रधानतया श्रीमद्भागवत है; क्योकि पुष्टि-सम्प्रदाय मे सारस्वत-कल्प की लीला मानी जाती है, जिसका वर्णन वामन-पुराण मे तथा जिसका उल्लेख सूर ने किया है। इसलिए वामन पुराण मे भी उसका आधार था। कुछ लीलाएँ ब्रह्म-वैवर्त-पुराण से ली गई हैं, विशेषतया राधा का विस्तृत वर्णन इसी पुराण मे मिलता है। कुछ लीलाओ की उद्भावना सूर ने स्वतन्त्र रूप से की है जो तत्कालीन प्रचलित सामाजिक प्रथाओ एवं लोक-गीतों से सम्बन्ध रखती हैं।

(३) भक्ति तथा दार्शनिक-सिद्धान्त-विषयक पद

सूर का लक्ष्य न तो भक्ति का विवेचन था और न दार्शनिक-सिद्धान्तों का विश्लेषण, किन्तु कवि भावुकता की अथाह धारा में बहता हुआ अनजाने ही कुछ ऐसी बाते कह जाता है, जिनका सम्बन्ध दार्शनिक जगत् से जोड़ा जा सकता है। सूर के पदों के हमें कई रूप स्पष्ट लक्षित होते है:

१—पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पहला रूप।

२—दीक्षित होने के पश्चात् का रूप।

३—सामयिक प्रभाव से प्रभावित रूप।

सूर से पहले की पाँच-छै शताब्दियाँ देश के धार्मिक क्षेत्र में बड़ी उथल-पुथल की शताब्दियाँ थी। सिद्धों और नाथों के नाना सम्प्रदाय, कबीर आदि सन्तों के पथ तथा अनेक वैष्णव सम्प्रदाय अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे थे। सूरदास यद्यपि एक विशेष सम्प्रदाय मे दीक्षित

---

१ सूर-निर्णय पृ० १६१

थे, परन्तु अपने युग के धार्मिक आन्दोलनों को सहृदय व्यक्ति तमाशबीन की तरह नहीं देख सकता। इसलिए जहाँ सूर के साहित्य मे सम्प्रदाय के सिद्धान्तो का प्रतिपादन है, वहाँ तत्तत् सामयिक परिस्थितियों की ओर भी सकेत है।

"निरंकुशा हि कवय:" उक्ति के अनुसार कवि की कल्पना निस्सीम आकाश में उडा करती है। कवि बन्धन में बँध कर नही रह सकता। उसका मानसिक विकास उस स्थिति तक पहुँच जाता है, जहाँ उसके लिए कोई वस्तु अगम्य, अबोध्य और अलक्ष्य नही रहती। सभी उच्च-कोटि के कवियों मे ये गुण पाये जाते है। फिर रससिद्ध भक्त शिरोमणि सूरदास का तो कहना ही क्या ? सूर ने कही शब्दों के साथ खिलवाड की है, कही वाणी का विस्मयकारक विलास दिखाया है और कहीं हृदय-रत्नाकर के अमूल्य भाव-रत्नों को मनमौजी तौर से लुटाया है।

अन्त मे हम श्रीमद्भागवत के उन चार श्लोकों का अनुवाद प्रस्तुत करते हैं, जिनको पद-भाषा मे गाने की प्रतिज्ञा सूरसागर में मिलती है। भागवत के द्वितीय स्कन्ध के नवम अध्याय में भगवान् ने ब्रह्मा को स्वयं अपने रूप का ज्ञान दिया है। जिन चार श्लोकों मे इस स्वरूप का वर्णन है, वे भागवत मे 'चतु:श्लोकी' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

सृष्टि के पूर्व केवल मैं ही मैं था। मेरे अतिरिक्त न स्थूल था और न सूक्ष्म तथा न दोनों का कारण अज्ञान ही था। जहाँ यह सृष्टि नही है, वहाँ भी मैं ही मैं हूँ और इस सृष्टि के रूप में जो भी प्रतीत हो रहा है, वह भी मैं ही हूँ तथा जो कुछ बच रहेगा वह भी मैं हूँ। वास्तव में न होने पर भी जो कुछ अनिर्वचनीय वस्तु मेरे अतिरिक्त मुझ परमात्मा में दो चन्द्रमाओं की तरह मिथ्या ही प्रतीत हो रही है अथवा विद्यमान होने पर भी आकाश के नक्षत्र-मण्डल में राहु की भाँति जो मेरी प्रतीति नही होती, उसे मेरी माया समझना चाहिए। जैसे प्राणियों के पंचभूत-रचित छोटे-बड़े शरीरों मे आकाशादि पंच-महाभूत उन शरीरों के कार्यरूप से निर्मित होने के कारण प्रवेश करते भी है और पहले से उन स्थानों और रूपों में कारण रूप से विद्यमान रहने के कारण प्रवेश नही भी करते, वैसे ही उन प्राणियों के शरीर की दृष्टि से मैं उनमे आत्मा के रूप से प्रवेश किये हुए हूँ और आत्म-दृष्टि से अपने अतिरिक्त कोई वस्तु न होने के कारण उनमे प्रविष्ट नही भी हूँ। 'यह ब्रह्म नहीं है, यह ब्रह्म नहीं है'—इस प्रकार की निषेध-पद्धति से और 'यह ब्रह्म है, यह ब्रह्म है'—इस अन्वय-पद्धति से यही सिद्ध होता है कि सर्वातीत एवं सर्वस्वरूप भगवान् ही सर्वदा और सर्वत्र स्थित है। वही वास्तविक तत्व है। जो आत्मा और परमात्मा का तत्व जानना चाहते हैं, उन्हें केवल इतना ही जानने की आवश्यकता है।[1]

———

१ श्रीमद्भागवत स्कन्ध २, अध्याय ९, श्लोक ३२-३३-३४-३५।

सप्तम अध्याय

सूरदास के कृष्ण और गोपियाँ

पिछले अध्याय मे कथावस्तु की दृष्टि से हमने श्रीमद्भागवत और सूरसागर की सक्षिप्त तुलना की है, जिससे पता चलता है कि महाकवि सूरदास ने अपनी कथाओ का सूत्र तो विशेष रूप से श्रीमद्भागवत से तथा कही-कहीं अन्य पुराणों से अवश्य ग्रहण किया है, परन्तु उनके ग्रथन की विधि उनकी अपनी है और कृष्ण चरित-माला को उन्होने एक मौलिक रूप प्रदान किया है। हम पहले कह चुके हैं कि पुष्टि-सम्प्रदाय मे भागवत पुराण की विशेष मान्यता है और भक्ति-प्रतिपादन का यह एक अलौकिक ग्रन्थ है, परन्तु हमारे चरित-नायक सूरदास श्रीमद्भागवत के गीतात्मक भाग को भावात्मकता से ही विशेष प्रभावित दीख पडते हैं। जहाँ तक कृष्ण-गोपियों के चरित्र-चित्रण का प्रश्न है, वह सूरदास जी का अपना है। उन्होंने अपने सभी पात्रों का केन्द्र राधा और कृष्ण को बनाया है। उनके सभी चरित्र राधा और कृष्ण के सम्बन्ध से ही विकसित होते हैं। श्रीमद्भागवत मे तो राधा का उल्लेख ही नहीं है। गोपियों और कृष्ण का चरित्र-चित्रण ही अति मानवीय और रहस्यात्मक ढंग से हुआ है। श्रीमद्भागवत की रचना एक विशेष उद्देश्य से हुई थी, इसीलिए उसमे कृष्ण का अवतार चतुर्व्यूह रूप में लिया है और बलदेव का प्रायः उनके साथ संयोग रहा है। वास्तव मे भागवतकार का उद्देश्य कृष्ण-चरित को चित्रित करना नहीं है, बल्कि उसके द्वारा कृष्ण का परम पुरुषत्व सिद्ध करना है जो उसका प्रतिपाद्य विषय है। चाहे उसे कोई कृष्ण कहे, ब्रह्म कहे या भगवान् कहे उसके निर्विशेष, सविशेष, निराकार और साकार सभी रूपो का समन्वय प्रस्तुत किया गया है। श्रीमद्भागवत की गोपियों का वर्णन भी शास्त्रीय ढंग का है, जिसके कारण उनके प्रेम की धाराओं में स्थान-स्थान पर बाँध से लगे प्रतीत होते है और यदि हम 'रासपंचाध्यायी' को प्रक्षिप्त मानें तो गोपियों का चरित्र ही विकलाग हो जाता है। इसमे राधा का नाम तो नही आता, परन्तु गोपियों और गोपालो की प्रेम-चर्चा का विस्तार है। गोपालो के तो नाम भी गिनाये है, जैसे—श्रीदामा, सुदामा, भद्रसेन, अंशु, अर्जुन आदि। यशोदा मे यद्यपि वात्सल्य भाव के दर्शन होते हैं, परन्तु उस वात्सल्य का चित्रण इतना थोड़ा है कि उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व सम्मुख नही आता। भागवतकार यशोदा के पूरे जन्म की कथा पर जोर देकर तथा यशोदा पर कृष्ण की अलौकिकता प्रकट करके उस स्वाभाविक-वात्सल्य मे ठेस-सी पहुँचा देता है। यशोदा के चरित्र का इतना मनोवैज्ञानिक विस्तार भी नही है, जितना सूर ने किया है। यशोदा की अपेक्षा नन्द के वात्सल्य का वर्णन कुछ विस्तार के साथ है।

सूरसागर के प्रधान पात्र भागवत की भाँति श्रीकृष्ण हैं, किन्तु भागवत मे जो लम्बे-लम्बे प्रसंगों, ऐतिहासिक वर्णनो तथा अन्य विवरणो के कारण श्रीकृष्ण बहुत काल तक पाठकों की दृष्टि से ओझल हो जाते है, किन्तु सूरदास जी श्रीकृष्ण को क्षणभर भी अपनी दृष्टि से ओझल नही करते। जिन प्रसंगों मे श्रीकृष्ण का सम्पर्क नही है, वे सूरदास को नहीं रुचते और उनका वर्णन उन्होंने वर्णन की दृष्टि से ही कर दिया है। वास्तव मे सूरदास का सारा काव्य कृष्णमय है। यद्यपि सूरदास ने कृष्ण के सभी रूपो पर प्रकाश डाला है, फिर भी नन्द-नन्दन बाल-

कृष्ण सूर-साहित्य में बेजोड है। यशोदोत्संग-लालित बालकृष्ण ग्वाल बालों के सखा रूप में अनेक प्रकार की लीलाएँ करते है, फिर वे ही रसिक-शिरोमणि, रतिनागर गोपियो के सर्वस्व बनते हैं और राधावल्लभ के रूप मे ब्रज में बिहार करते है। मथुरा पहुँचने पर उनके निष्ठुर और नीरस रूप के दर्शन होते है। जहाँ तक श्रीकृष्ण के असुर-सहारन, भक्त उद्धरण, अविनाशी पूर्ण ब्रह्म रूप का प्रश्न है, सूर ने भागवत की भाँति उन्हे परब्रह्म, पुरुषोत्तम, घट-घट के व्यापक, अन्तर्यामी, अज, अनन्त और अद्वैत माना है। उन्होने अपने भगवान् को प्राय: हरि नाम से सम्बोधित किया है। पुष्टि-सम्प्रदाय के अनुकूल उन्होंने परमानन्द स्वरूप ब्रह्म को वृन्दावन मे नित्य लीला करने वाले के रूप मे देखा है। सूरसागर मे स्थान-स्थान पर हमे इस प्रकार के सकेत मिलते हैं, जहाँ सूर ने कृष्ण और ब्रह्म की एकता स्थापित की है; परन्तु सूर का मन उस प्रकार के विवेचन में अधिक नहीं रमा है। नन्द-नन्दन गोपाल कृष्ण ही उनके इष्टदेव है और उसी के वर्णन मे कवि की तल्लीनता और भावात्मकता के दर्शन होते है। विशेषकर विनय के पदो मे, जिनकी रचना सूरदास जी ने सम्भवत: सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व ही की थी, उन्होंने भगवान् के उस रूप को लिया है, जो भक्त की दास्य-भाव की वैराग्य पूर्ण भक्ति का आलम्बन है। इन पदों मे भगवान् की भक्त-वत्सलता तथा दयालुता और भक्त की आन्तरिक वेदना तथा निराश्रितता प्रकट की गई है। दैन्य और दास्य-भाव की दृष्टि से सूर के विनय के पद गोस्वामी तुलसीदास की 'विनय-पत्रिका' की तुलना के साथ रक्खे जा सकते है। विनय के पदों में भगवान् के उस रूप की ओर संकेत है, जो आगे चलकर अनेक प्रकार की अलौकिक लीलाएँ करता है तथा जो असुरों और दुष्टों का संहारक, भक्तों और साधुओ का रक्षक है। इन पदों मे सूर के हरि—विष्णु, राम और कृष्ण के पर्यायवाचक हैं।

सूर के कृष्ण चरित्र मे एक बात यह भी लक्ष्य करने की है कि भागवतकार की भाँति भगवान् की लीलाओं का गान करते हुए सूर अपने इष्ट के अलौकिक रूप को नहीं भूलते। उनके अगम, अगोचर लीलाधारी परब्रह्म स्वरूप भगवान् ब्रज में उस रस का प्रवाह करने आये है, जो ब्रह्मा आदि के लिये दुर्लभ है।[१] कृष्ण की इस अलौकिकता का सूरदास जी बार-बार वर्णन करते हैं। जन्मोत्सव के विभिन्न अवसरों पर आनन्द-बधाइयों के बीच भी सूर कृष्ण के इस अलौकिक रूप को नही भूले है। आगे चलकर वत्सहरण लीला के समय कालिय-दमन, गोवर्द्धन धारण, दान-लीला इत्यादि सभी अवसरो पर सूरदास जी भगवान् के इस रूप का ध्यान दिलाते है। परन्तु सूरदास जी का मुख्य उद्देश्य भागवतकार की भाँति कृष्ण के चरित्र की अलौकिकता चित्रित करना नही है, उन्होने तो कृष्ण के मानव रूप को प्रधानता दी है। यही कारण है कि सूर के चित्रण मे कृष्ण के अति-प्राकृत और लोकातीत तथा मानवीय रूप की दो धारायें समानान्तर रूप से बहती हुई चलती हैं। आगे चलकर मानवीय रूप की स्वाभाविकता के कारण अति-प्राकृत स्वरूप की धारा दबी-सी लगने लगती है। पूतना-वध से लेकर भीमासुर-वध तक कृष्ण की बाल लीलाओं में जितने अलौकिक कृत्य है, सभी में भगवान् के असुर संहारक और भक्त उद्धारक रूप के दर्शन होते है। इन स्थलों के चित्रण में भी सूर ने यह विशेषता रक्खी है कि दुस्तर से दुस्तर कार्य करने मे भी समर्थ श्रीकृष्ण सुकुमार कोमल और मधुर बने रहते हैं। कालिय-दमन लीला के अवसर पर उरगनारी कृष्ण की कोमलता को देखकर अकुला उठती है और बार-बार कृष्ण को सम्बोधित करती हुई कहती है, "अरे तू किसका बालक है ? तू यहाँ से भाग जा। यदि वह जाग

१ सूरसागर, सभा पद ६२१

उठेगा तो तुझे भस्म कर देगा।"[१] इस प्रकार के भाव सूर ने प्रायः प्रत्येक असुर संहार लीला के अवसर पर प्रकट किये हैं। हमें कृष्ण का एक भी ऐसा चित्र नही मिलता, जो कृष्ण की सुकुमारता तथा कोमलता का व्यंजक न हो।

सूरसागर में कृष्ण के बाल रूप का जैसा चित्रण हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से नन्द-नन्दन बाल कृष्ण के वर्णन को हम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं—

१—रूप-सौंदर्य वर्णन, २—कृष्ण की क्रीड़ा और चेष्टाओं का वर्णन, ३—विभिन्न संस्कारों, उत्सवों और समारम्भों का वर्णन, ४—भगवान् का अलौकिक चरित्र। ये सूर के चारों ही प्रकार के वर्णन पूर्ण है। श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराणों में भी ये वर्णन सूक्ष्म रूप से मिलते हैं, परन्तु सूर ने अपनी कल्पना के योग से इन वर्णनों मे विशेष स्वाभाविकता, मनोवैज्ञानिकता और भावात्मकता भर दी है। ब्रज मे प्रकट होते ही कृष्ण अपने अनुपम सौन्दर्य से सारे ब्रज को आकृष्ट कर लेते है—

ब्रज भयो महर के पूत जब यह बात सुनी।
सुनि आनन्दे सब लोग, गोकुल गनक गुनी।।
....[२]

कवि ने बालक के एक-एक कृत्य को लेकर बडे विस्तार के साथ वर्णन किया है। नेग लेने वालों का झगडना, नार छेदन में विलम्ब, ग्राम के गोपों की चर्चा आदि सभी विषयों को सूर ने लिया है। कृष्ण का जन्मोत्सव तो और पुराणों में भी आया है, परन्तु सूर ने इस वर्णन में मनोवैज्ञानिकता के साथ अपने समय की प्रचलित प्रथाओं का समावेश करके उसे अधिक सजीव और प्रभावोत्पादक बना दिया है और अपनी प्रतिभा के बल से बड़े-बड़े सुन्दर चित्र उपस्थित किये हैं। पालने में झूलना, अँगूठा चूसना, लोरियों के साथ सोना और प्रभातियों के साथ जागना आदि शैशव सम्बन्धी प्रत्येक बात का कवि ने बड़े विस्तार और सूक्ष्म ब्यौरे के साथ वर्णन किया है। सूर ने कृष्ण के शैशवकालीन स्वाभाविक क्रिया-कलापों की इतनी प्रचुरता कर दी है कि उनके अलौकिक और अति-प्राकृत कृत्य प्राकृत बाल-चरित्र को अभिभूत नही कर सके हैं। अनेक संस्कारों तथा उनके जागने से लेकर सोने तक की अनेक क्रियाओं का वर्णन सूर ने बड़े विस्तार से किया है। प्रत्येक पद मे नये भाव और नई व्यंजना है। सूर के इस स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक चित्रण को देखकर पाठक सन्देह मे पड जाता है कि क्या कोई अन्धा व्यक्ति इस प्रकार के वर्णन कर सकता है। कृष्ण की संहार-लीलाओ मे भी सूर ने विशेष सहृदयता का परिचय दिया है, क्योकि सूर ने पूतना आदि की आपत्ति उपस्थित होने पर माता-पिता तथा ग्वाल-बालो की मानसिक विह्वलता का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। पूतना-बध के अनन्तर कवि कहता है :

जसुमति विकल भई छिन कल ना
लेहु उठाय पूतना उर ते मेरौ सुभग साँवरौ ललना।।[३]

यहाँ ललना शब्द में कितनी गहरी व्यंजना है। ऐसे आपत्-काल मे मातृ-हृदय में कल का क्या काम। सभी राक्षसों के बध के समय सूरदास जी ने सगे सम्बन्धियों की इसी प्रकार की आतुरता और विह्वलता का वर्णन किया है। साम्प्रदायिक दृष्टि से भक्ति नामक भाव को

१ सूरसागर, सभा पद ११६८
२ सूरसागर, सभा पद ६४२
३ सूरसागर 'सभा' पद ६७२

चरमोत्कर्ष पर पहुँचा कर भक्ति-रस मे परिणत करना ही इन स्थलों का उद्देश्य है। भारतीय भक्ति परम्परा के अनुकूल भगवान् के दिव्य मंगल स्वरूप को तीन गुणो से विभूषित किया जाता है—अनन्त शक्ति, अनन्त सौन्दर्य तथा अनन्त शील। सूरदास जी की वृत्ति अनन्त सौन्दर्य की ओर ही विशेष रमी है। भक्ति का आधार श्रद्धा है। श्रद्धा का पूर्व भाव आकर्षण है, जिसका स्थैर्य सौन्दर्य पर अवलम्बित है। परन्तु सौन्दर्य मे बाह्य और अन्तः दोनों का सामञ्जस्य होना चाहिए। यही सौन्दर्य सच्चे प्रेम को जन्म देता है जो भक्ति नामक भाव का स्तम्भ है। इसलिए यदि सौन्दर्य को भक्ति का प्रथम सोपान कहें तो अत्युक्ति न होगी। प्रेम नामक भाव सौन्दर्य से ही जाग्रत होता है और यदि वह सौन्दर्य आनन्त्य विशिष्ट है तो प्रेम की सत्ता स्थिर हो जाती है। प्रेम नामक भाव में आत्म समर्पण का भाव निहित है और सौन्दर्य मे नव-नव भावोन्मेषशालिता। इसीलिए रमणीयता का रूप "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः" बताया है। कृष्ण की सुन्दरता भी अद्वितीय है। कवि ने अनेक पदों में उनकी सुन्दरता का वर्णन किया है :

सोभा सिन्धु न अन्त रही री।
नन्द-भवन भरि पूरि उमंगि चलि ब्रज की बीथिनि फिरति बही री ॥[1]

वास्तव मे ब्रज में शोभा का ऐसा समुद्र उमड पडा, जिसके एक-एक बिन्दु का सौन्दर्य विचित्र है। कृष्ण की घुँघराली अलकें, दूध की दँतुलियाँ, काजल का डिठौना बड़े ही मनोहारी हैं। उनके इस अनुपम सौन्दर्य पर समस्त ब्रज-नारियाँ लट्टू हैं।[2]

बच्चे के विकास के साथ-साथ माता-पिता के हृदय की कामनावल्लरी भी विकसित होती है। माता-पिता की यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि बालक कब बड़ा हो! दूध के दाँतों ने बच्चे के विकास की सूचना दे दी है। यशोदा मैया फूली नहीं समाती :

सुत मुख देखि यशोदा फूली।
हर्षित देखि दूध की दतियाँ प्रेम-मगन तन की सुधि भूली ॥[3]

'श्रीमद्भागवत' मे भी दशम स्कन्ध के आठवे अध्याय के २१ से २८ तक के श्लोकों मे इस बाल-लीला का वर्णन हुआ है, परन्तु उस वर्णन में सूर के इस विस्तृत और मनोवैज्ञानिक वर्णन की आंशिक शोभा भी नही लक्षित होती। घुटनो चलने का उल्लेख भागवत में भी है और वहाँ श्याम तथा बलराम का बड़ा ही सुन्दर चित्र दिया भी है। परन्तु सूर ने इस अवसर पर न जाने कितने कल्पनात्मक चित्र उपस्थित किये है। मणिमय आँगन मे बालक कृष्ण का घुटनों चलना सूर के मन मे ऐसा बसा है कि उन्होंने अनुपम अप्रस्तुत-योजना के बल पर इस घटना को अत्यन्त सुन्दर ढंग से चित्रित किया है। बच्चे को लक्ष्य करके माता-पिता मे जो होड़ होती है, उसका सजीव और स्वाभाविक चित्र देखिये :

इततें नन्द बुलाइ लेत है, उतते जननि बुलावै री।
दम्पति होड करत आपुस में, स्याम खिलौना कीन्हौ री ॥[4]

सचमुच बालक माता-पिता का सजीव खिलौना होता है और फिर तीनों लोकों की सुन्दरता के सार चपलता के पारावार कृष्ण जैसे बालक का तो कहना ही क्या! कृष्ण और बड़े

१ सूरसागर 'सभा' पद ६४७
२ वही पद ७०८-७११
३ वही पद ७००
४ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद ७१६

हुए, डरते-डरते से खड़े होने लगे, यशोदा उन्हें भुजा पकड़ कर चलाती है, पर उन्हें तो ठीक से खड़ा होना भी नही आता, चलें कैसे ? लड़खड़ा कर गिर पडते है और फिर क्रम-क्रम से भुजा टेक कर दो पग चलने हैं ।[1] माता की स्वाभाविक उत्सुकता होती है कि उसका बालक शीघ्र से शीघ्र उठना, बैठना, चलना, बोलना सीख ले । उसके लिए वह अनेक प्रयत्न करती है । इसी प्रवृत्ति का सुन्दर चित्रण इस पद मे हुआ है और जब कृष्ण चलना सीख लेते है तो यशोदा को कितना हर्ष होता है ? सूर ने इसका सुन्दर वर्णन किया है ।[2] लडखड़ा कर दो पग टेकने वाला बच्चा और बडा होता है, चपलता बढ़ जाती है, हठ जोड़ पकड़ती है, चलने मे जो लड़खड़ाहट थी, वह दूर हो गई, आँगन में दौड़ लगाने लगे और फिर तो—

आँगन श्याम नचावही जसुमति नंदरानी ।
तारी दै दै गावही मधुरी मृदु बानी ।।[3]

पर नाचने वाले कृष्ण हठ पर उतरते हैं तो जननी को भी नाच नचा देते है । अब वे बोलने भी लगे । तोतली बोली में जब वे नन्द को बाबा, यशोदा को मैया और हलधर को भैया कहकर माता-पिता के कर्ण-कुहरो में सुधा-सीकर की मधुर वर्षा करने लगे । चपलता और बढ़ी और उसके साथ ही विनोद-प्रियता और रूठना भी । दधि-घट मे अपना प्रतिबिम्ब देखा तो बिगड गये, यशोदा क्या करे ? उसे उसी उपाय का आश्रय लेना पड़ा जो प्रत्येक नारी का मातृत्व उसे सिखा देता है, कृष्ण को बहका दिया—दधि-पात्र मे हाथ डालकर हिला दिया और प्रतिच्छाया गायब, कृष्ण प्रसन्न हो गये ।[4] यह सब चेष्टाएँ बालक और माँ के हृदय को कितने स्पष्ट रूप से सामने रख देती हैं ? कैसा मनोवैज्ञानिक वर्णन है ? कितना भावात्मक ? ऐसे दृश्य देखने हों तो 'सूरसागर' के पन्ने पलटिये और फिर देखिए वात्सल्य और बल भावों का कितना सुन्दर अलबम आपके सामने है । कृष्ण दूध नही पीते, हठ करते है, माखन और रोटी के लिए । परन्तु माँ अपने लाल को विना 'दूध' कैसे रहने दे, नही तो वह बढ़ेगा कैसे ? पुष्ट कैसे होगा ? यशोदा फिर उसी उपाय का आश्रय लेती है—

कजरी कौ पय पियहु लला तेरी चोटी बढ़ै ।

इन बाल-सुलभ एवं जननी-सुलभ चेष्टाओं के बीच-बीच मे कनछेदन आदि अनेक संस्कारो का कवित्वमय वर्णन हुआ है । प्रातःकाल ही कृष्ण को जगाने के प्रयत्न, कलेवा-वर्णन, खेल की योजनाएँ आदि कवि की अपनी कल्पना है । भागवत मे ये प्रसंग नही है । सूर के कृष्ण की प्रत्येक गति, प्रत्येक कर्म, प्रत्येक चेष्टा मे अद्‌भुत चपलता है । अजीब बाँकपन है ।

कुछ और बड़े होने पर कृष्ण ग्वालों के साथ खेलने के लिये उत्सुक होते है । इन बाल क्रीड़ाओं के अन्तर्गत बच्चो की मनोवृत्तियो का—आपस मे एक-दूसरे को खिजाना, चिढ़ाना, शिकायत करना—जैसा क्रमबद्ध वर्णन सूर ने किया है, वैसा कोई अन्य कवि नही कर पाया । प्रज्ञाचक्षु सूर की तीव्र दृष्टि से वे सूक्ष्म भाव और दृश्य भी नही बच सके है जो यथार्थ होते हुए भी बड़े-बड़े कवियों की नजरों से ओझल हुए रहते हैं । इन सब विषयो को देखकर सूर की प्रतिभा पर आश्चर्य होता है । स्तन्य छुड़ाने की चेष्टा मे यशोदा का यह कथन कितना स्वाभाविक है ।

---

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ७३०
२ वही पद ७५१
३ २ वही पद ७५
४ वही पद ७७४

"ब्रज लरिका तोहि पीवत देखत हसत लाज नहिं आवत ।"

इतनी बात का कदाचित् बालक पर असर न हो, इसलिये उसकी सुन्दर प्रिय वस्तु के खराब हो जाने की आशंका का भी वह उपयोग करती है—

"जैहैं बिगरि दाँत यह आछे ताते कहि समझावति ।"

परन्तु माया से संसार को भुलावे में डालने वाले ब्रह्म स्वरूप कृष्ण को क्या भुलावे मे डाला जा सकता है, देखिये, यशोदा की बातों को सुनकर क्या कर रहे है—

"सूर श्याम यह सुनि मुस्काने, अञ्चल मुखहि लुकावति ।"[१]

कृष्ण का मुस्काकर यशोदा के आँचल मे मुख छिपा लेना भी क्या भुलाया जा सकता है ? हर्ष, स्नेह, गर्व आदि भावों के साथ बौद्धिक-विकास का तथ्य भी कितने आकर्षक रूप से व्यञ्जित हुआ है । यह यशोदा और कृष्ण का नही, माँ और बच्चे का भावात्मक स्निग्ध चित्र है ।

ग्वाल-बालों के साथ खेलने के अनेक चित्र सूर ने उपस्थित किये है । बाल-स्वभाव जन्य धृष्टता, कौतुक-प्रियता, चतुरता आदि सब गुण कृष्ण मे है । इन सब गुणों का भी क्रमशः विकास हुआ है । माटी-भक्षण प्रसङ्ग में कृष्ण की जो 'लँगराई' देखी गई थी वह 'माखन-चोरी' में पराकाष्ठा पर पहुँच गई ।[२] अब तक कृष्ण का सौन्दर्य ही गोप-गोपिकाओं को लुभाता रहा और अपनी चेष्टाओं के कारण वे माता-पिता के वात्सल्य के आलम्बन बने किन्तु आगे चलकर सूर ने कृष्ण की उन चेष्टाओं को भी लिया है जो गोपियों के प्रेम का आधार बनीं । माखन-चोरी का प्रसङ्ग भागवत के नवें अध्याय मे भी ऊखल-प्रसङ्ग मे आया है, परन्तु सूर के वर्णन में जो सजीवता है, भागवत में उसका लेश भी कहाँ ? बाल-सुलभ उपायों की कल्पना मे सूर जितने चतुर है, उनके आराध्य उतने ही उन उपायों की योजना में । कृष्ण की 'माखन-चोरी' सारी ब्रज-नारियों की चर्चा का विषय बन गई, उनकी 'नाक में दम' आ गया, कृष्ण उनके लिये समस्या बन गये; ऐसी समस्या, जिसमें बौद्धिक विचारणा की आवश्यकता को श्रम नहीं करना पड़ता, अपितु हृदय के उन्मुक्त होने का साधन प्राप्त होता है; जिसे सुलझाने की अपेक्षा उलझाने का ही प्रयत्न किया जाता है और जो उत्तरोत्तर जटिल होती हुई भी हृदय मे ऋजुता और हर्ष का संचार करती है, वे कृष्ण पर क्रोध करती हैं, उन्हे माखन-चोरी से विरत करने के लिये नही, अपितु प्रोत्साहन देने के लिये । अपना पीछा छुडाने के लिये नही, हृदय को प्रेम-बन्धन में बँधवाने के लिये । यशोदा के पास ऐसी ही बनावटी शिकायत भी गई, जैसा गोपियों को क्रोध आता था, परन्तु यशोदा अपने ५ वर्ष के साँवरे को कैसे दोषी स्वीकार करे ? उसका तनक-सा गोपाल चोरी कर सकता है ? यह बात उसके गले ही नही उतर पाती ।[३] कृष्ण अपनी कला में पूरे है । जब कभी पकड़े भी जाते है, तो—

"मुख तनि चितै, विहँसि हरि दीन्हौ, रिस तब गई बुझाई ।"

फिर यह स्वाभाविक ही था—

"लियौ स्याम उर लाइ ग्वालिनी सूरदास बलि जाई ।"[४]

---

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ८४०

२ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ८८२ से ६५८ तक

३ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ६१०-११-११

४ सूरसागर पद ६१५

कृष्ण की यही चतुराई उनकी चोरी को दबा देती है और चतुराई भी ऐसी है कि—

"चोरी अधिक चतुरई सीखी जाइ न कथा कही।"[1]

यशोदा के विश्वास को दृढ करने के लिये वे कृष्ण चमत्कारपूर्ण कृत्य भी कर लेते है। गोपियाँ उन्हे चोरी के अपराध मे सप्रमाण पकड कर यशोदा के पास लाई, पर उल्टी गालियाँ खानी पडी, क्योकि कृष्ण बहुत देर से यशोदा के सम्मुख ही खेल रहे थे।[2] इसी प्रकार जब कोई गोपी कृष्ण को पकड लाती है तो यशोदा के सामने आकर उसे पता चलता है कि वह कृष्ण के धोखे मे किसी गोप-कन्या को ही ले आई।[3]

धीरे-धीरे कृष्ण के उत्पात इतने बढ जाते है कि यशोदा को विश्वास करना पडता है कि कृष्ण चोरी अवश्य करता है। वह उन्हे समझाती है, कभी डाँटती है और कभी बाँधकर साँटी की पहुनाई करने की धमकी भी देती है। बेटा घर का माखन छोडकर बाहर चोरी करता फिरे और माँ को खीझ न आए यह हो तो नही सकता।[4] गोपियाँ भी कहाँ तक सहें ? बात बढ़ती ही जाती है और यहाँ तक नौबत पहुँचती है कि गोपियाँ यशोदा पर भी व्यंग्य करती है—

अपनी गाँऊ लेहु नन्दरानी।
बड़े बाप की बेटी पूर्तहि भली पढ़ावति बानी।।

गोपियों की यह उक्ति भी कितनी मर्मस्पर्शी है।

'यशोदा तू बड़ी कृपण है परमात्मा का दिया हुआ दूध-दही—सब कुछ तेरे पास है, बुढापे मे तेरे एक बेटा हुआ है, उससे तू दूध-दही छिपाकर रखती है।[5]

यशोदा इन सब उलाहनो से तंग आ गई है और इधर कृष्ण अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिये विभिन्न उपाय काम में लाते जाते है। दोने को पीठ पीछे छिपा लेना तथा अपनी माता की सहानुभूति प्राप्त करने के लिये नई-नई कहानियाँ गढ लेना आदि नित्यप्रति की क्रिया हो गई और अन्त मे जब किसी गोपी की शिकायत पर यशोदा ने कृष्ण को ऊखल से बाँध ही दिया और पीटने को तुल ही गई तो गोपियों का बनावटी क्रोध काफूर हो गया और वे कृष्ण का पक्ष लेने लगी। ऐसी स्थिति मे यशोदा का चिढ़ जाना स्वाभाविक ही था। वे गोपियों की निष्ठुरता के लिये उन्हे खरी-खोटी सुनाती है और कृष्ण के प्रति उनका वात्सल्य सजग हो उठता है। वे कहती हैं—

कहन लगी अब बढि-बढ़ि बात।
ढोटा मेरो तुमहि बँधायौ, तनकहि माखन लात।।[6]

'ढोटा' और 'तनकहि माखन' शब्द यहाँ यशोदा के मातृ-हृदय को खोलकर रख देते है। मक्खन तो क्या, संसार का समस्त वैभव भी कल्याणकारिणी जननी अपने वात्सल्य पर वार सकती है। यशोदा बहुत खीझ गई है तभी तो कृष्ण के प्रति इतनी निष्ठुर बनी। कृष्ण ढीठ भी बहुत हो गये, दिन निकलते ही उलाहने आने प्रारम्भ हो जाते है। जब बलराम कृष्ण को खुलवाने के लिए अनुनय-विनय करते है तो यशोदा यही उत्तर देती है :

---

१ सूरसागर पद ६०६
२ वही पद ६२६
३ वही पद ६३३
४ वही पद ६४७-६४८
५ वही पद ६४३
६ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ६७३

कहा करौं हरि बहुत खिझाई ।
सहि न सकी, रिस ही रिस भरि गई, बहुतै ढीठ कन्हाई ।
मेरौ कह्यौ नेंकु नहिं मानत, करत आपनी टेक ।
भोर होत उरहन लै आवति, ब्रज की बधू अनेक ।[1]

अन्त मे कवि इस घटना मे अलौकिकता का पुट देकर समाप्त करता है । यशोदा की ममता उभर आती है । वह अपने आप को ही कोसने लगती है, "बरे जेबरी जिन तुम बाँधे परे हाथ भहराइ ।"

धीरे-धीरे कृष्ण गो-दोहन योग्य हो जाते है और ग्वालिनो से ही गो-दोहन क्रिया सीखते है । बाल-क्रीडाओं मे ही कृष्ण के प्रति गोपियो का पूर्ण आकर्षण हो चुका है, जिसका आभास कवि कृष्ण के ही भोले कथन मे देता है :

मोहि कहत जुवती सब चोर ।
× × × ×
बोलि-लेति भीतर घर अपनै, मुख चूमति भरि लेति अँकोर ।
माखन हेरि देति अपनै कर, कछु कहि विधि सौं करति निहोर ।
जहाँ मोहि देखति तहँ टेरति, मैं नहिं जात दुहाई तोर ।[2]

और तभी माता यशोदा कृष्ण को गले से लगाकर कहती है, "वै तरुनी कहै बालक मोर ।"

कृष्ण का यह बाल-चरित्र हर प्रकार से पूर्ण है । इस चित्रण की विशेषता यह है कि बाल-कृष्ण एक ओर तो रति-भाव के आलम्बन है और दूसरी ओर भक्ति-भाव के वात्सल्य-भाव के चित्रण मे कृष्ण एक साधारण बालक के रूप में ही है । इन दोनो प्रकार के भावों का सामंजस्य सूर ने बड़े मनोवैज्ञानिक ढग से किया है । भक्ति-भाव के आलम्बन कृष्ण भक्तों के सर्वस्व, अनन्त-शील, शक्ति और सौन्दर्य के आगार है । प्राकृत और भौतिक रूप में यशोदा, नन्द, एवं गोपियों के लिए जो वात्सल्य है, वही भक्तो के लिए भक्ति-रस है । यही कारण है कि सूर जब कृष्ण के मनोमुग्धकारी सौन्दर्य, उनकी लीलाओ, चाञ्चल्य आदि का मनोवैज्ञानिक एव अनुभूतिगम्य वर्णन करने लगते है तो भगवान का वह दिव्य-मगलमय स्वरूप उनके सामने उपस्थित हो जाता है, जिसमे तन्मय होकर वे भक्ति के आवेश में कृष्ण के अलौकिक स्वरूप का वर्णन करने लगते है। इसे यदि हम वात्सल्य रस मे अद्भुत-रस का समावेश माने तो अनुचित न होगा ।

कृष्ण के गोपाल-रूप के दर्शन उनकी बाल-क्रीडाओ से ही होने लगते हैं । जब वे गो-दोहन योग्य हो जाते हैं, उसी समय नन्द वृन्दावन को प्रस्थान करते है । नन्द-नन्दन ने नन्दालय मे बड़ी लीलाएँ कीं और सूर ने बड़ी तन्मयता से उनका गान किया है । इसके पश्चात् वृन्दावन की लीलाएँ आरम्भ होती है । अब तक की कृष्ण की चेष्टाएँ वात्सल्य भाव की उद्दीपक ही कही जायेंगी । शृंगारिक आचार्य इन बाल-लीलाओं मे भी शृंगार का ही दर्शन करने की चेष्टा करते हैं और गोपी-कृष्ण का शृङ्गार माखन प्रसंग से ही मानते है । उलूखल-लीला को भी वे शृंगारिक-लीला ही मानते है, क्योकि कृष्ण के बाँधे जाने पर वे ही गोपियाँ उन्हें छुडाने का प्रयत्न करती हैं, परन्तु हम इस मन्तव्य से सहमत नही है, क्योंकि यह सब अनुनय-विनय वात्सल्य-भाव मे भी सम्भव है । दूसरे, गोपियों का क्रोध और शिकायत कृत्रिम थे और वे उस दण्ड के लिए अपने आप को अपराधिनी मानती थी ।

---

१ सूरसागर पद ६६५
२ वही, पद १०१६

गोचारण के प्रसंग मे भी सूर ने अनेक रम्य चित्र उपस्थित किये है । प्रातःकाल ही गोचारण के लिए जाना, माता का व्यग्रता-पूर्वक प्रतीक्षा करना और शाम को घर आने के बाद भी दूसरे दिन जाने को उत्सुकता के कारण सोना तक नही आदि; ऐसी घटनाएँ है, जो स्वाभाविक, मनोवैज्ञानिक एवं यथार्थ्य युक्त है । प्रथम दिन के गोचारण का अनुभव करने पर नित्य प्रति गो चराने जाने की भूमिका कृष्ण इस प्रकार बाँधते है :

> मैं अपनी सब गाइ चरैहौ ।
> प्रात होत बल के सग जैहो तेरे कहे न रैहों ।
> ग्वाल-बाल गाइनि के भीतर, नेकहु डर नहिं लागत ।
> आज न सोवौ नन्द दुहाई रैनि रहोगों जागत ।[1]

भला यह कैसे हो सकता है कि अन्य ग्वाल-बाल गाये चरायें और कृष्ण घर पर बैठे रहे ।[2] यह स्वाभाविक है कि बच्चा उसी के साथ रहना चाहता है, जो उससे सहानुभूति और स्नेह प्रदर्शित करता है । खिजाने और चिढ़ाने वालो के साथ जाना वह पसद नही करता, यही कारण है कि कृष्ण रैता, पैता, मना, मनसुका आदि गोप-बालकों के साथ न जाकर दाऊ के साथ ही जाना पसद करते है ।[3] यद्यपि इन प्रसंगों मे भी हमे यत्र-तत्र भगवान् के अलौकिक चरित्रों का चित्रण मिलता है, परन्तु अधिकांश वर्णन इसी मानवीय धरातल पर स्वाभाविकता के साथ हुए है । वन मे गोपो का परस्पर मिलकर भोजन करना, अलग-अलग वनों को बांटना, बारी-बारी से गौओं को घेर कर लाना आदि घटनाएँ मानव-जीवन से ही सम्बद्ध है । इन प्रसंगों मे कवि वात्सल्य-रस के उन पीयूष बिन्दुओ को ढालना नही भूला है, जो स्वाभाविक स्नेहवश उद्गार के रूप मे माता-पिता के हृदय से निकलते हैं । जो ग्वाले छाक लेने के लिये घर जाते है, उनसे यशोदा अपने 'कान्हा' की बात अवश्य पूछती और उत्सुकता से सुनती है । गोचारण प्रसंग मे ग्राम्य-जीवन के सरल, सरस चित्र है, साधारण ग्वालो की दैनिक-चर्या का विवेचन है; जिसमे आडम्बर का लेश नही, ढोंग का निशान नही और कृत्रिमता का नाम नही । मानव-जीवन एवं वाह्य-प्रकृति के तादात्म्य का जैसा अनुभव इन प्रसंगो मे हो सकता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है । यह प्रसंग सरल भारतीय जीवन का सुन्दर विश्लेषण करता है और उन्मुक्त प्रकृति के अचल से झाँकते हुए विराट् पुरुष की झाँकी का अवसर प्रदान करता है । यही कारण है कि भारतीय साहित्य मे गोचारण, वन-गमन, आश्रम-स्थान आदि का वर्णन विशेष रूप से प्रतिष्ठित हुआ है और साहित्यिक आदर्श माना गया है, क्योकि प्रकृति के अंक मे क्रीड़ा करने वाले कलाकार ही उसके संसर्ग से उपलब्ध भाव-सुमनों से कविता-कामिनी का समुचित शृगार कर सकते है । प्रकृति का अनन्त वैभव उनके मानस की संकीर्णता को दूर कर उन्हे असीम चिर सत्ता के अस्तित्व का आभास देकर उनके हृदय को सांसारिक बन्धनों से मुक्त कर काल और देश की परिधि के बाहर ले जाता है और 'विश्वकवि' के आसन पर बिठा देता है । सूर का गोचरण उनके हृदय की विशालता, कोमलता, प्रकृति-प्रेम, सरलता और पवित्रता का परिचायक है । प्राचीन समय में दूसरे देशों के साहित्य में भी इस प्रकार के दृश्यों को प्रधानता मिली थी । इस 'गोचारण' प्रसंग से कृष्ण के 'गोपाल' नाम की सार्थकता मे कोई संशय ही नही रहता ।

---

१ सूरसागर (सा० प्र० स०) पद १०३८ से १२८६ तक

२ वही पद १०३८

३ वही पद १०४२

कृष्ण कोरे गोप नही हैं, न अबोध बालकृष्ण ही। प्रकृति के मुक्त वातावरण मे उनके अगावयवों के विकास ने शरीर को और भी सुन्दर बना दिया। सिर पर मोर के पंखों का मुकुट आया और अधरों पर मुरली ने आसन जमाया। नटवर की सारी चेष्टाएँ उन्होंने अपना ली। गोपियों के साथ उनका शिशुता से ही साहचर्य था। वे उन पर तभी से मुग्ध थीं, परिचय स्नेह मे और स्नेह प्रेम मे परिणत होता हुआ प्रणय-पद की ओर अग्रसर होने लगा। सुन्दर रूप का मोहक प्रभाव और चपलता, चतुरता एव औदात्य से परिपूर्ण विनोद-क्रीड़ाएँ ही गोपियो को कृष्ण के प्रति आकृष्ट करने के लिए पर्याप्त थे। तिस पर उनकी चर-अचर-मोहिनी मुरली ने तो गजब ही कर दिया। उसकी स्वर-लहरी ने उन्हें 'आरज-पथ' त्यागने के लिए विवश कर दिया। उन्हें कृष्ण के प्रेम-जंजाल मे फँसा कर मुरली उनके लिए बबाले-जान ही साबित हुई। मुरली का उल्लेख कवि ने अनेक बार किया है।[१] उसका प्रभाव व्यापक है, स्थावर-जंगम, पवन, यमुना-जल सब उससे प्रभावित है। फिर प्रकृति से ही भावुक श्याम के साथ-साथ खेल कर किशोरावस्था को पार करने वाली ब्रजबालाओ का तो कहना ही क्या ? वे कृष्ण के हाथों बेमोल बिक जाती है, तन्मय हो जाती है और उनके वन से आने की बाट जोहती रहती है। वास्तव मे गोपियों की शृङ्गार-रति का प्रारम्भ "गारुडि प्रसंग" से ही समझना चाहिए, जब कृष्ण गारुडि के वेष मे राधा से मिलकर युवतियों का मन हर लेते है और ब्रज की तरुणियो के हृदय मे मिलन की उत्कठा का सचार करते है। राधिका के सिर से तो उन्होंने लहर उतार दी, परन्तु उसे शतमुखी बनाकर ब्रज-लीलाओ पर डाल दिया। वे कृष्ण को पति रूप मे पाने के लिए उद्विग्न हो उठी और आशुतोष की पूजा करने लगी। साधना होती रही, हृदय बँधता गया; भावना दृढ होती रही, प्रेम का विकास चलता रहा और चीर-हरण लीला मे कृष्ण ने उनकी कठिन-साधना को पूर्ण किया। पनघट-लीला तक आते-आते तो गोपियाँ 'कुल की कानि' और लोक की मरजादा को त्याग कर कृष्ण को पति रूप मे मानने लगी। कृष्ण की धृष्टता भी बढ़ी, पनघट-लीला की छेड़-छाड़, धर-पकड़ एवं अन्य केलि-क्रीडाओं का बडा ही सरस वर्णन सूर ने किया है। गोपियाँ उनसे इतनी खुल जाती है कि कोई अन्तर ही नही रहता। कृष्ण की इन शृङ्गारिक चेष्टाओं और केवल १० वर्ष की आयु को देखकर दोनों मे संगति न बैठने के कारण मन मे विरोधी भाव उठते है, जिनका समाधान अपने-अपने सिद्धान्तो के अनुसार विभिन्न साम्प्रदायिकों ने किया है। सूर ने भी अलौकिकता का पुट देकर इन विरोधो को समाहित किया है।

दान-लीला का समावेश करके सूर ने कृष्ण की रसिकता को पराकाष्ठा से भी आगे पहुँचा दिया है। दधि-दान के प्रसंग से बढते-बढते कृष्ण उनके जीवन का दान तक माँगने लगे।[२] गोपियाँ उनकी 'लँगराई' को समझ जाती है और कहती है कि अब हम तुम्हारी शरारत समझ गईं। कृष्ण की धृष्टता चलती रहती है। इस प्रसंग मे कृष्ण के मानव-चरित्र के सभी रूप प्रकाशित हुए हैं। दान-लीला की घटनाओं मे कृष्ण अपने सखाओ को ही विश्वास मे ले लेते है और सब मिलकर गोपियों को तंग करते हैं। इस लीला मे गोपियों का रति-भाव पुष्ट हो जाता है और रास-लीला के लिए पृष्ठ-भूमि प्रस्तुत हो जाती है, जिसको महा-मिलन कहा गया है। हिंडोल और बसन्त-लीलाओं मे भी कृष्ण ने गोपियो के साथ सामूहिक रूप से आनन्द-केलियाँ की है। कृष्ण की शृङ्गार चेष्टाओं को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(१) राधा

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद १२३८ से १२५६ तक

२ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद १०८७

सम्बन्धी, और (२) गोपियो से सम्बद्ध। राधा को भी कवि ने दो प्रकार से (स्वतन्त्र रूप से तथा गोपी रूप से) चित्रित किया है।

सूर की गोपियाँ

गोपियों को सूर ने सामूहिक रूप से लिया है और उनके वर्णन मे बड़े सुन्दर रूपक प्रस्तुत किये है। किन्तु किसी गोपी का अपना पृथक् व्यक्तित्व विकसित नही हो पाया है, जिसके कारण गोपियो के सम्बन्ध मे शृङ्गार रस का पूर्ण परिपाक सूरसागर मे दीख नही पड़ता, जैसा श्रीमद्-भागवत मे है। सूरसागर मे जो कुछ लीलाएँ—चीर-हरण, पनघट-प्रसग, दान-लीला, रास-लीला, जल-क्रीडा सूर ने वर्णित की है, उनमे गोपियो के सौन्दर्य का ही वर्णन है। रस-परिपाक की दृष्टि से गोपियाँ राधा के व्यक्तित्व से इतनी दब गई है कि उनकी सार्थकता ही राधा के प्रेम को आदर्श मानने मे है। राधा की दशा को प्राप्त करना ही उनका चरम लक्ष्य है, उनमे तो केवल प्रेम का विकास ही दिखाना कवि का लक्ष्य है। गोपियाँ या तो भगवान् के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उनका विविध प्रकार से वर्णन करती हुई प्रतीत होती है अथवा भगवद्भक्ति के लिए प्रयत्नशील दीख पड़ती हैं। कही-कही उनकी स्त्री-स्वभाव-सुलभ वे उक्तियाँ है, जो उनके चरित्र के विकास मे तो किसी प्रकार से सहायता नही देती, हाँ, राधा और कृष्ण के नायिकात्व और नायकत्व का समर्थन अवश्य कर देती हैं। वे सब अवस्थाओ मे कृष्ण की लीलाओ का साथ देती है। सूर ने 'गोपी' शब्द का प्रयोग प्रायः उन कुमारियो और नवोढ़ाओ के लिए किया है, जो कृष्ण के प्रति प्रेम-भाव रखती है। भावना की दृष्टि से वे सब समान है, अवस्था की दृष्टि से अवश्य कुछ भेद हो गया है। गोपियो के सरल ग्रामीण स्वभाव का चित्रण सूर ने सर्वत्र किया है। 'वसन्त' और 'होली' के प्रसगो मे गोपियो की प्रगल्भता और चञ्चलता चरम सीमा पर पहुँच जाती है, परन्तु सूर के समस्त वर्णन राधा को ही लक्षित करके किये हुए प्रतीत होते है। 'खण्डिता' प्रकरण मे सूर ने कुछ गोपियो का नामोल्लेख अवश्य किया है किन्तु यह सम्भवतः साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के कारण था। इन गोपियो मे ललिता और चन्द्रावली मुख्य है। ये दोनो घनिष्ट सखियाँ है और राधा-कृष्ण के सौन्दर्य एव पारस्परिक प्रेम-चेष्टाओं के वर्णन मे निपुण है। ललिता तो राधा की बहुत ही विश्वासपात्र है। उसने राधा और कृष्ण के बीच दूती का कार्य बडी सफलता से किया है। दान-लीला के प्रसंग मे इन दोनो का ही उल्लेख है। दोनों को सूर ने खण्डिता नायिका के रूप मे दिखाया है परन्तु दोनों ही राधा से ईर्ष्या नही करती। वृन्दा, कुमुदा और प्रमुदा आदि कुछ अन्य गोपियों के भी नाम है।

जिस प्रकार सूर का संयोग शृंगार उत्कृष्ट कोटि का है, उसी प्रकार वियोग भी। इस पक्ष मे गोपियों की मनोदशा का बड़ा ही भावात्मक वर्णन सूर ने किया है। कृष्ण के वियोग में उनकी दशा तुषाराहत-कमलिनीवत हो जाती है और वे कृष्ण की निठुरता पर रोती रहती हैं। जब कृष्ण उद्धव को अपना सदेश-वाहक बनाकर भेजते हैं तो उनकी विरह-व्यथा और भी तीव्र हो उठती है। वे कृष्ण और उद्धव दोनों को ही उलाहना देती है। वियोग-चित्रण मे सूर ने उन सभी अन्तर्दशाओ की व्यंजना की है, जो विरह मे हो सकती हैं। जिस प्रकार संयोग में वात्सल्य-रस को उन्होने स्थान दिया है, उसी प्रकार वियोग-वर्णन का वात्सल्य रस के ही वियोग-पक्ष से किया है। नन्द-यशोदा की अनेक दुःखात्मक भाव-तरंगों मे सूर का पाठक ऐसा मग्न हो जाता है कि स्वयं तद्रूप हो उठता है। ग्वालो की दशा का भी बडा ही मर्मस्पर्शी वर्णन है। आगे चलकर गोपियों की वियोग-जन्य स्थिति का धाराप्रवाह-वर्णन है। यह वियोग-वर्णन दो रूपों में हुआ है, १—

साधारण रूप मे, और २—भ्रमरगीत के रूप मे। साधारण रूप मे तो गोपियों की उस साधारण दशा का चित्रण है, जो विरह के कारण हो गयी थी। प्रकृति के सारे पदार्थ उन्हे काटने के लिये दौड़ते हैं, कृष्ण की दिन-चर्या उनके मन से नही निकलती। जिन स्थलो पर कृष्ण के साथ विहार किया था, वे अब दुःखप्रद प्रतीत होते है। गोपियो का वियोग सारी पृथ्वी पर व्याप्त है। सूर ने चन्द्र, चन्द्रिका, मधुवन, बादल, यमुना आदि विभिन्न प्राकृतिक पदार्थों का सुन्दर चित्रण संस्कृत-साहित्य की पद्धति पर किया है जिसमे कवि की सहृदयता और वाग्विदग्धता का पूरा परिचय प्राप्त हो जाता है। श्रीमद्भागवत के वर्णन मे इतना विस्तार नही है। अपनी कल्पना के बल पर सूर ने बडी सुन्दर योजनाएँ की है।

सूर का 'भ्रमरगीत' एक विरह-काव्य है, जिसमे विरह से उद्बुद्ध असंख्य भावों और अन्तर्दशाओ का समावेश है। स्वाभाविकता और सजीवता से ओत-प्रोत सूर का यह काव्य विरहिणी गोपियों के मानस का स्वच्छ प्रतिबिम्ब है, जिसमे भावनाओ की लहरियाँ और व्यापारो की सक्रियता का तारतम्य सर्वत्र परिलक्षित होता है। उन्माद की सीमा का स्पर्श करने वाली मनोदशा के प्रभाव से परिचलित होकर कभी वे 'पी-पी' रटने वाले पपीहे को अपने समान ही प्रिय-वियोग-संतप्त जान कर आश्वासन देती है और कभी उसे वियोग उद्दीपक समझ कर कोसती है। कभी प्राकृतिक वस्तुओं को अपने मनोभावों से ओत-प्रोत मानकर उनके साथ अपने हृदय का तादात्म्य स्थापित करती हैं और कभी विपरीत व्यवहार देकर उन्हे दोष देती है। उद्धव के द्वारा श्याम का संदेश श्रवण करते ही उनका प्रेम-प्रवाहाप्लावित हृदय क्षुब्ध हो उठता है। प्रेम के हरे-भरे संसार को त्याग कर योग की विकट मरु-भूमि में 'आनन्द' के पीछे दौड़ लगाना उनकी दृष्टि से बुद्धि का दिवालियापन है। वे उद्धव पर बरस पड़ती हैं और अपने व्यंग-बाणो से उसके योग के गट्ठर को छिन्न-भिन्न करके उड़ा देती है। उन्होने कृष्ण से प्रेम किया, उसे अपना हृदय दिया है, अब कैसे त्याग दे ? रस-पान कर कलिका की ओर से सर्वथा प्रमुख होने वाले मधुकर का व्यापार क्या प्रेम के सरक बसन्त में अगारों की वर्षा करना नही है ? इस व्यापार का उपदेश देने वाले उद्धव को 'मधुकर' नाम देकर गोपियाँ बरस पडती है और उद्धव की खूब खबर लेती है। अन्त मे अपनी पराजय मे भी गौरव का अनुभव करने वाले उद्धव को गोपियो के श्याम-रंग मे नख से शिख तक डूबे हुए लौटते देखकर कृष्ण फिर एक बार मुस्का देते है। 'भ्रमरगीत' मे सूर की गोपियों का स्वरूप सरल, निश्छल और ग्रामीण है। भागवत के 'भ्रमरगीत' से तुलना करने पर सूर के 'भ्रमरगीत' की मौलिकता स्पष्ट झलक लाती है ?

१—सूर ने उद्धव का स्वरूप ही बदल दिया है। वे उसे भागवत की भाँति साधारण संदेह-वाहक नही मानते; अपितु अपनी सगुणोपासना को सर्वश्रेष्ठ साधना प्रतिपादित करने में सहायक बनाते है। उद्धव के ज्ञान-वर्ग को दूर करने के लिये ही श्रीकृष्ण ने उन्हे गोपियों के पास भेजा और गोपियो ने उसे अपने प्रेमी के दूत के रूप मे स्वीकार किया। इस प्रकार सूर के 'भ्रमर-गीत' का आधार ही शृंगार-रस है।

२—कुछ ऐसी नवीन योजनाएँ भी सूर ने की है, जो भागवत में नही है, जैसे भागवत मे किसी चिट्ठी-पत्नी का जिक्र नही मिलता, पर सूर के उद्धव कृष्ण से गोपियो के नाम एक 'परवाना' भी लाये है।

३—भागवत में उद्धव को गोपियों का व्यंग्य-पात्र नही बनाया गया। उनके तर्क से गोपियों को जैसे आत्म-ज्ञान प्राप्त हो जाता है। अन्त मे भक्ति का आग्रह करते हुए भी ज्ञान और भक्ति का सामञ्जस्य उपस्थित किया है; पर सूर का तो लक्ष्य ही दूसरा था। वे निर्गुण की अपेक्षा सगुण

उपासना को श्रेष्ठ मानते थे। अपने इसी मन्तव्य का प्रतिपादन उन्होने 'भ्रमरगीत' मे किया भी है। यही कारण है कि उनकी गोपियों के सामने उद्धव तर्क करते हुए नही दीख पड़ते। उनके व्यंग्यपूर्ण कथनों से वे दब से जाते हैं और अन्त में भक्ति रस से सराबोर होकर कृष्ण से कह देते हैं—

"मेरो कह्यो पवन को भुस भयो गावत नन्दकुमार।"

सूर के कृष्ण

सिद्धान्त रूप से भागवत के कृष्ण-गोपियो और सूर के कृष्ण-गोपियों में कोई विशेष अन्तर प्रतीत नही होता, परन्तु व्यावहारिक रूप से दोनो के पात्रों में महान् अन्तर है। श्रीमद्भागवत मे कृष्ण विशेष रूप से दास्य-भक्ति के आलम्बन चित्रित किये गये हैं, जब कि सूर ने सख्य, वात्सल्य और माधुर्य-भावों को अधिक महत्व दिया है। सूर के कृष्ण का व्यावहारिक रूप अधिक निखरा हुआ है और उनमे मानवीयता का आरोप इतना प्रबल है कि उसमे अतिप्राकृत रूप ढक-सा जाता है। सूरदास के काव्य में कृष्ण भगवान् का अनुग्रह भक्त-वत्सलता के रूप मे प्रकट न होकर प्रेम के रूप में प्रकट हुआ है। यही कारण कि यहाँ भगवत्कृपा के उल्लेख गौण से प्रतीत होते हैं। सूर ने कृष्ण के लौकिक सम्बन्धों को लौकिक रूप ही दिया है।

सूर की गोपियाँ

सूर की गोपियाँ भी भागवत की गोपियो से न्यारी है। भागवतकार ने अपनी गोपियों मे अतिप्राकृत तत्व का इतना आरोप कर दिया है कि वे प्राकृत और अतिप्राकृत के बीच मे त्रिशंकु के समान दीख पड़ती हैं। कभी-कभी तो ऐसा आभास होने लगता है कि उन्हें अपने पूर्व-जन्म की स्मृति है और वे भगवान् का दर्शन करने के लिये ही गोपी रूप में अवतीर्ण हुई है, अतएव भागवत की गोपियों में स्वाभाविकता नही है। सूरदास की गोपियाँ ब्रज की भोली-भाली सरल नारियाँ हैं, जो मानवीय दुर्बलताओं का अपवाद नही है। उनकी प्रकृति में बाँकपन, अल्हडता और विनोद-प्रियता है। वे प्रेम की बातो के साथ प्रेम की बाते भी करना जानती है, जो सम्भवतः उन्होंने अपने नायक से सीखी है। कृष्ण के साथ वे इतनी हिली-मिली है और उनके प्रेम का विकास इतना स्वाभाविक है कि न तो उनके प्रिय में ही, और न उनमे ही अतिप्राकृतता का कोई आभास होता है। गोपियों मे प्रेम की जिन वृत्तियों का चित्रण सूर ने किया है, भागवत में उनकी एक कला का भी नही हुआ।

सूर की गोपियो मे वाक्चातुर्य भी अधिक है। वे कृष्ण को जवाब पर जवाब देती हुई दिखाई गई हैं, वसन्त और फाग के अवसर पर तो उनकी प्रगल्भता बहुत ही बढ़ जाती है। उनकी तुलना मे भागवत की गोपियाँ अनुशासित है, परन्तु सूर की गोपियों की प्रगल्भता मे भी ग्रामीणता और सरलता की छाप है। 'भ्रमरगीत' के अवसर पर भागवत की गोपियों को कृष्ण के संदेश से सान्त्वना मिल जाती है। परन्तु सूर की गोपियाँ कब इन चक्करों मे आने वाली है?

यद्यपि सूर ने भी, भागवत की भाँति गोपियों को सामूहिक रूप से लिया है, फिर भी व्यक्तिगत रूप से भी उन्होने कुछ गोपियों का उल्लेख किया है, जिसका कारण हम साम्प्रदायिक प्रभाव कह सकते हैं। गौडीय वैष्णव आलंकारिकों ने भक्ति-रस का शास्त्रीय विवेचन किया है। चैतन्य महाप्रभु के शिष्य रूप गोस्वामी ने इस विषय पर दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं—'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' और 'उज्ज्वल नीलमणि'। 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' चार भागों में विभाजित है—पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर। इन विभागो में भक्ति-रस का विवेचन हुआ है और उसके

अंगोपांगों का विश्लेषण-विशेषकर उज्ज्वल; अर्थात् शृङ्गार-रस का विवेचन—'उज्ज्वल-नीलमणि' में हुआ है। शृङ्गार-रस के सांगोपांग विवेचन मे ६६३ प्रकार की नायिकाओं के उदाहरण दिये गये हैं, जिनमे ललिता, चन्द्रावली आदि का भी उल्लेख है, किन्तु सूर की गोपियाँ इन गौडीय वैष्णव आलंकारिकों की गोपियों से बिल्कुल अलग हैं।

अब हम सूर के नायक कृष्ण के उस स्वरूप का विवेचन करेंगे, जिसको हमने 'राधावल्लभ' का नाम दिया है। हम पहले कह आये हैं कि भागवत मे स्पष्ट रूप से राधा का अभाव है, इसलिए राधा के विकास पर विचार करना आवश्यक है। जिस प्रकार कृष्ण के विषय में पाश्चात्य विद्वानो की अनेक कल्पनाएँ हैं, उसी प्रकार राधा के विषय मे भी है। वे राधा को ईस्वी शताब्दी के बाद की कल्पना मानते हैं। यद्यपि पौराणिक पण्डित राधा का सम्बन्ध वेदो से लगाते है, परन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव मे कृष्ण की प्रेमिका राधा को वेदों तक घसीटना असंगत ही प्रतीत होता है। गोपाल कृष्ण की कथाओं से परिपूर्ण भागवत, हरिवंश और विष्णु पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थों में राधा का अभाव अनेक प्रकार के संदेहों को जन्म देता है। 'गोपाल-तापनी', 'नारद-पाँच-रात्र' तथा 'कपिल पाञ्चरात्र' आदि ग्रन्थ इस विषय मे प्रामाणिक नही कहे जा सकते, क्योंकि वे बहुत बाद की रचनाएँ है। राधा कृष्ण का उल्लेख हाल की 'गाथासप्तशती' मे है। 'पञ्चतन्त्र' मे भी राधा का उल्लेख है, परन्तु इन इक्के-दुक्के हवालों से कुछ विशेष सिद्धि नही होती। भागवत में राधा का उल्लेख नही है, केवल एक गोपी-विशेष का उल्लेख है, जिसके साथ कृष्ण एकान्त में घूमते और क्रीड़ा करते है। "अनयाराधितो नूनम्" वाक्य से राधा की कल्पना की गई है। फिर 'पद्म-पुराण' मे इस गोपी को विशेष चर्चा है। 'ब्रह्म-वैवर्त्त' के उत्तर-खण्ड मे राधा शृंगार-रसमयी होकर प्रकट हुई है। राधा के विषय मे मतभेद चाहे जितना हो, लेकिन इतना तो निश्चय है—

"चौदहवीं शताब्दी के अन्त मे जबकि भागवत सम्प्रदाय अपने नये रूप मे विकसित हुआ था, राधा और कृष्ण इतिहास के व्यक्ति नही थे, वे सम्पूर्ण भाव-जगत् के व्यक्ति हो गए थे।"[1]

वल्लभ और निम्बार्क सम्प्रदाय वाले राधा को कृष्ण की आल्हादिनी शक्ति के रूप में मानते है। निम्बार्क मत के भक्ति-पक्ष मे राधा और कृष्ण की युगल-उपासना प्रचलित है। राधा-वल्लभ सम्प्रदाय मे राधा की स्वतन्त्र रूप से उपासना की जाती है और कृष्ण की अपेक्षा राधा को अधिक महत्व दिया जाता है। राधा और कृष्ण का सम्बन्ध कब हुआ ? यह बडा कठिन प्रश्न है। वास्तव मे राधा और कृष्ण पर इतने दार्शनिक आवरण डाल दिये गए है कि आज उनके असली रूप को खोज निकालना बड़ा ही कष्ट-साध्य है। राधा को कृष्ण की आत्मा माना है और कृष्ण को परम-पुरुष आनन्द-स्वरूप। वह परम पुरुष अपने आनन्द रूप मे रमण करता है और इस प्रकार स्वयं ही अपनी आराधना मे प्रवृत्त होता हैं; इसी से उसे 'श्रीराधा' कहकर पुकारा गया है। पद्म-पुराण के उत्तर-खण्ड, अध्याय ७३ और ८२ मे ब्रह्म के स्वरूप का बहुत अच्छी प्रकार से निरूपण किया गया है। वहाँ भगवान् ने व्यास जी को श्रीहित वृन्दावन और उसमे श्री राधाकृष्ण के दर्शन कराये है। शुद्ध और निराकार प्रेम की घनीभूत मूर्ति श्री वृन्दावन-धाम और श्री राधाकृष्ण हैं। आनन्द पुरुष-स्वरूप श्री वृन्दावन-धाम है, इन्द्रियाँ सखिस्वरूप है, मन श्रीकृष्ण है और आत्मा श्रीराधिका है। इस प्रकार चारो को मिलाकर एक 'हित पुरुष' कहा गया है, जिसे वेदान्त सूत्रो का शारीरिक सूत्र कह सकते है। तत्व दृष्टि से यही स्वरूप की एकता है। शरीर

१ सूर-साहित्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० स०, स०

और इन्द्रियाँ दोनो ही मन और आत्मा के अधीन हैं। श्रीराधातत्व से अभिन्न है और उसी का आत्म-स्वरूप है। रस रूप भगवान् को श्रुति मे 'रसो वै सः' कहा गया है। यह रसराज एक रस आनन्द मे विग्रहमान् होता हुआ भी राधा और कृष्ण, इन दो रूपो से विद्यमान है। यजुर्वेद में लिखा है "श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ"; अर्थात्—आपकी दो पत्नियाँ है, एक लक्ष्मी जी जो वैकुण्ठ मे रहती है, और दूसरी श्री जी।[1] ऋग्वेद के उपनिषद् भाग मे भी एक 'राधिकोपनिषद्' की कल्पना की गई है जिसका भाव सक्षेप मे यह है :

ऊर्ध्वरेता सनकादि महर्षियो के द्वारा सर्वप्रथम देवता के पूछे जाने पर श्री ब्रह्मा जी ने कहा कि भगवान् श्रीकृष्ण ही परम देव है। ये छैओ ऐश्वर्यो से पूर्ण, गोप और गोपनियो के सेव्य श्री वृन्दावनदेवी से आराधित और श्रीवृन्दावन के अधीश्वर हैं। यह भी एकमात्र सर्वेश्वर है, इन्ही श्रीहरि के एक स्वरूप नारायण भी हैं, जोकि अखिल ब्रह्माण्डों के अधीश्वर है। ये श्रीकृष्ण प्रकृति से भी पुरातन और नित्य हैं। इनकी आल्हादिनी, सन्धिनी, ज्ञान, इच्छा और क्रिया आदि बहुत-सी शक्तियाँ है। उनमे आल्हादिनी सर्व-प्रधान है। यही परम-अन्तरंगभूता श्री राधा है। कृष्ण इनकी आराधना करते है अथवा ये सर्वदा कृष्ण की आराधना करती है। इसलिए ये राधा कहलाती है। इन श्रीराधिका के शरीर से ही गोपियाँ हुई है। ये राधा और श्रीकृष्ण रस-सागर श्रीविष्णु के एक शरीर से ही क्रीडा के लिये दो हो गए है। इन राधिका जी की अवज्ञा करके जो श्रीकृष्ण की आराधना करना चाहता है, वह महामूर्ख है। सन्धिनी शक्ति धाम, भूपण, शैया और आसनादि तथा मित्रो और भृत्यादिको के रूप मे परिणत होती है। ज्ञान-शक्ति को क्षेत्रज्ञ शक्ति कहते हैं और इच्छा-शक्ति के अन्तर्भूत माया-शक्ति है। यह सत्व, रज और तमोगुण रूपा है तथा बहिरङ्ग और जड है। क्रिया-शक्ति को लीला-शक्ति कहते हैं। 'विष्णु पुराण' मे भी इन भगवत्-शक्तियो का वर्णन आया है।[2]

इस प्रकार के अनेक राधा-तत्व-विवेचक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि राधा को शास्त्रीय रूप देने के प्रयास १४ वी शताब्दी से बहुत पहले से हो रहे थे। हम पहले लिख चुके है कि कृष्ण का गोपाल-लीलाओ से सम्बन्ध ईसा के जन्म से पहले ही हो चुका था। मन्दसौर में टूटे हुए जो दो द्वार-स्तम्भ प्राप्त हुए है, उन पर कृष्ण की कुछ गोपाल-लीलाएँ उत्कीर्ण है; इन्हें चौथी शताब्दी का बताया जाता है। बादामी की गुफाओ मे श्रीकृष्ण के जो चित्र मिले है. उनमे भी इस प्रकार की लीलाओ के संकेत है। ये चित्र सातवी शताब्दी के बतलाये जाते है। प्रो० सुकुमार सेन की पुस्तक 'ब्रज-बोली लिटरेचर' में राधा के विषय मे विस्तार से विचार हुआ है। जयदेव के 'गीत-गोविन्द' मे राधा का स्वरूप उच्चकोटि की काव्य शैली मे किया गया है। जयदेव का समय बारहवी शताब्दी के अन्त में माना जाता है, इसलिए हम यह कह सकते है कि बारहवी शताब्दी मे वैष्णव धर्म मे राधा की भावना पूर्ण विकसित हो चुकी थी। 'गीत-गोविन्द' केवल एक गीत-काव्य ही नही है, बल्कि एक वैष्णव-धर्म-ग्रन्थ भी है। इस पुस्तक मे जयदेव ने राधा-कृष्ण के प्रेम को मानवीय स्तर पर प्रकट किया है। चैतन्य महाप्रभु को जयदेव के पदों मे बड़ा आनन्द आता था। जयदेव के 'गीत-गोविन्द' से वैष्णव-धर्म का स्वरूप अवश्य कुछ लक्षित हो जाता है। जयदेव का वर्णन श्रीमद्भागवत पर आधारित नही कहा जा सकता। 'गीत-गोविन्द' का यह श्लोक ब्रह्म-वैवर्त पुराण के कृष्ण-जन्म खण्ड के १५ वे अध्याय की उस कथा से मिलता है, जिसमे नन्द ने

---

१ यजुर्वेद अध्याय ३१ मन्त्र २२

२ विष्णु पुराण १-१२-५६

कृष्ण को राधा के सुपुर्द किया है। ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण में राधा का जितना स्पष्ट और पूर्ण चित्रण हुआ है, उतना और किसी पुराण मे नही। जयदेव का 'गीत-गोविन्द' कई स्थलो पर ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण से मिलता है, जैसे—दशावतार का वर्णन आदि। यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि जयदेव ने ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण का अनुसरण किया अथवा उसकी रचना जयदेव के बाद में हुई, परन्तु इतना तो निश्चित ही है कि ब्रह्म-वैवर्त्त का कृष्ण-जन्म खण्ड शंकराचार्य के बाद का है।[1] भण्डारकर ने इस पुराण के समस्त उत्तर खण्ड को निम्बार्क सम्प्रदाय वालों द्वारा प्रक्षिप्त बतलाया है।[2] यद्यपि यह भी एक विवाद ग्रस्त विषय है, तथापि इतना तो निश्चित ही है कि निम्बार्क सम्प्रदाय, 'गीत-गोविन्द' तथा ब्रह्म-वैवर्त्त तीनों मे ही राधा को महत्व दिया गया है। चैतन्य तथा वल्लभ सम्प्रदायों मे ब्रह्म-वैवर्त्त की इतनी मान्यता नही है, जितनी कि श्रीमद्भागवत की। अतएव राधा का सूत्र-ब्रह्म-वैवर्त्त से स्वतन्त्र रूप से ही गवेषणीय है।

वैष्णव मत अनेक अवैष्णव सम्प्रदायों से भी प्रभावित हुआ है और उनकी अनेक प्रचलित परिपाटियों तथा प्रथाओं का रूप वैष्णव-धर्म मे स्वीकृत हो चुका है। बौद्ध-धर्म की महायान शाखा के विरोध मे संचालित वज्रयान और सहजयान शाखाओं का वैष्णव-धर्म पर बडा प्रभाव पडा है। इनके अतिरिक्त वैष्णव-धर्म तन्त्रवाद के प्रभाव से भी खाली नही है। वाममार्गियों ने शक्ति को बडा महत्व दिया है। उस शक्ति का रस आत्मा ग्रहण करता है, जो स्वय असीम और अनन्त है। वह शक्ति इसी अनन्त रूप को सीमित करती है और इसी क्रिया का नाम 'जगत्' है। इस शक्ति के रस को पूर्णतया ग्रहण नही किया जा सकता। उसके एक देश के रस से ही अपरिसीम आत्मा को अनन्त रस का ज्ञान हो जाता है। स्त्री और पुरुष दोनों में दोनों के तत्व विराजमान हैं। इस मत में स्त्री और पुरुष दोनो की कलुषित वृत्तियो को भी सैद्धान्तिक रूप से हेय नही माना गया है। यह तन्त्रवाद सिद्धान्त रूप से बहुत ऊँचा है, किन्तु क्रियाओ मे निकृष्टतम भी हैं। वैष्णव-पाञ्चरात्र-विधान और काश्मीरी शैव-आगम तन्त्रवाद के ही रूप है। राधा को शक्ति-तत्व अथवा आल्हादिनी शक्ति मानना स्पष्ट ही तन्त्रवाद के प्रभाव को सिद्ध करता है। वैष्णव तन्त्रों में—नारद-पाञ्चरात्र, उज्ज्वल नीलमणि आदि में—राधा को तान्त्रिक दृष्टि से ही चित्रित किया गया है। यही बात सहजयान से प्रभावित वैष्णव सहजवाद के विषय मे भी कही जा सकती है। 'सहज' और 'शून्यवाद' का प्रचार वैष्णव-धर्म में तन्त्रवाद से भी पहला है। 'युगल-उपासना' पर सहजमत का भी पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा है। इसका ज्ञान हमे बगाल के सहजिया सम्प्रदाय के सिद्धान्तों से हो सकता है, जिसके अनुसार चौरासी कोस का "ब्रजमण्डल स्त्री के चौरासी अंगुल के शरीर के अतिरिक्त कुछ नही और ब्रज की पञ्चकोशी उसका पञ्चांगुल परिमित अङ्ग विशेष है।"

इस विवेचन के आधार पर हम सहज ही यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि ब्रह्म-वैवर्त्त-पुराण की रचना से बहुत पहले राधाकृष्ण भाव-जगत् की वस्तु बन चुके थे, ब्रह्म-वैवर्त्त-पुराण मे उस पर धार्मिक छाप और लगा दी गई। इस प्रकार सूर के पूर्व राधा का विवेचन करने वाले उक्त दो ही ग्रन्थ हमें प्राप्त होते है; अर्थात् —ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण तथा जयदेव का 'गीत-गोविन्द'। इनके अतिरिक्त मैथिल भाषा मे विद्यापति ने और बंगला के क्षेत्र में चण्डीदास ने राधा का पदार्पण कराया। रूप गोस्वामी सूर के समकालीन ही थे और उन्होंने वृन्दावन मे रहकर राधा के शास्त्रीय पक्ष का विशेष रूप से उद्घाटन किया है। श्री हित हरिवंश जी का 'श्री राधा-सुधा-

१ ब्रह्म-वैवर्त्त, कृष्ण-जन्म खण्ड, वेंकटेश्वर प्रेस, अध्याय १४, श्लोक १८

२ 'वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म' पृष्ठ ६२

निधि' काव्य भी सूर के आस-पास का बताया जाता है। निम्बार्क-सम्प्रदाय में युगल-उपासना का प्रचार है, उसी सम्प्रदाय के भट्ट जी ने, जो हरिव्यास जी के साक्षात् गुरू थे, 'युगलशतक' नाम की एक पुस्तक की रचना की थी, जिसमे राधाकृष्ण के अतिरिक्त विहार का वर्णन है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति हमने वृन्दावन मे देखी है, जिसमे इसका रचना-काल इस प्रकार दिया है—

नयन बाण पुनि राम राशि, गिनो अंक गति वाम।

प्रकट भयौ श्री युगलशत, यह सम्वत अभिराम।।

अर्थात् 'युगल-शतक' का निर्माण काल सम्वत् १३५२ है। यदि यह निर्माण-काल मान्य है, तो इसमे कोई सन्देह नही कि जयदेव से सूरदास तक राधाकृष्ण-केलि-विषयक अनेक ग्रन्थ रचे गये होगे, जो आज प्राप्त नही हो रहे है। काव्य की दृष्टि से सूर की राधा की तुलना मे हम जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास की राधा को भी रख सकते हैं। ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण मे मुख्य विषय राधाकृष्ण-लीला है। यद्यपि इस पुराण का आधार श्रीमद्भागवत है, परन्तु राधा की कल्पना से इसका स्वरूप बदल गया है। इस पुराण मे कृष्ण को महा-विष्णु से भी ऊपर माना गया है। लीला के लिए वे राधा के साथ अवतार लेते है। गोलोक मे भी उनके वृन्दावन, रास मण्डल आदि है। पृथ्वी का वृन्दावन भी ब्रह्मा द्वारा निर्मित है, जो उतना ही ऐश्वर्य पूर्ण है, जितना गोलोक वाला। श्रीमद्भागवत की भाँति इस कथा को ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण मे कोई रूपक नही माना गया है और राधा-कृष्ण ने अनेक नग्न-विलास-चित्र दिये है राधा गोलोक की अधिष्ठात्री देवी है, जिसको श्रीदामा का शाप मिला है, इसीलिए उसे पृथ्वी पर आना पड़ा। कृष्ण भी राधा को प्रसन्न करने के लिये इस लोक मे आये। रास-लीला का बड़ा विचित्र-सा वर्णन है, जिसमे समस्त भौतिक ऐश्वर्यो से परिपूर्ण एक भवन की कल्पना की गई है। वहाँ कृष्ण और गोपियों की अव्याहत रतिक्रीडा का विस्तार हुआ है। इस प्रकार भागवत की अपेक्षा ब्रह्मवैवर्त्त में बहुत कुछ परिवर्तन कर दिया गया है।

यद्यपि सूरदास श्रीमद्भागवत ही से अधिक प्रभावित हैं, परन्तु जहाँ तक राधा का सम्बन्ध है, उन्होंने ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण से ही पूर्ण सहायता ली है। गीत-गोविन्द, विद्यापति और चण्डीदास का प्रभाव भी उन पर स्पष्ट लक्षित होता है। उनकी राधा-विषयक कुछ निजी मौलिक कल्पनाएँ भी हैं, जिनके कारण वे राधा-कृष्ण प्रसग को अश्लील और गर्हित होने से बचा गये हैं। राधा का वर्णन ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण के अन्तर्गत कृष्ण-जन्मखण्ड अध्याय १५, राधा-कृष्ण-प्रथम-मिलन तथा परिचय अध्याय २७, चीरहरण-प्रसग अध्याय २८, ५२, ५३, ५८ रास-प्रसंग अध्याय ६६ से ६८ तक और फिर अध्याय ९२ से ९८ तथा ११६-१२७ में प्राप्त होता है। इस पुराण मे कृष्ण को एक छोटा बालक और राधा को तरुणी बताया गया है। राधा कृष्ण को लेकर गोकुल जाती है, मार्ग में कृष्ण अपनी वास्तविक सत्ता का परिचय राधा को देते हैं। उसी समय ब्रह्मा प्रकट होकर दोनों की स्तुति करते हैं और दोनों का विवाह कर देते है। ब्रह्मा के चले जाने के पश्चात् राधा-कृष्ण के विलास का वर्णन है। अन्त मे कृष्ण फिर वही बाल-रूप धारण कर लेते है और राधा उस बालक को यशोदा को सौप आती है। सूर ने इस अस्वाभाविक अलौकिकता को अपने काव्य में स्थान नही दिया है। चीर-हरण प्रसंग मे ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण मे राधा को नग्न दौड़ाया है, पर सूर मे ऐसा उल्लेख नही है। राधा-कृष्ण का विवाह भी सूर ने रास-प्रसग में दिखाया है और गान्धर्व-विधि से सम्पन्न माना है। रास-प्रसग मे सूर ने भागवत का ही अधिक आश्रय लिया है। ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण मे तो कृष्ण राधा को बहुत सी पौराणिक गाथाएँ सुनाते है और विदाई के प्रसंग में

अनेक रति-प्रसंगों के अतिरिक्त राधा को भोग साधना के उपदेश भी देते हैं। कृष्ण राधा और गोपियो को यो ही सोती छोड़कर चले जाते है। सूरदास ने इन प्रसगों को नही लिया है, विदाई के समय सूर की राधा उपस्थित ही नही थी। उद्धव प्रसग मे ब्रह्म-वैवर्त्त में उद्धव राधा के यहाँ पहुँच गये हैं और पुराणकार ने राधा की प्रेम-विह्वलता के अनेक चित्र उपस्थित किये है। सूर की राधा मे इतनी दुर्बलता नही है। ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण में राधा का जैसा पुनर्मिलन है, सूर ने उसे पृथक् ही चित्रित किया है। ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण के अन्त मे कृष्ण, नन्द, यशोदा, राधा तथा गोप-गोपिकाओं से कलियुग के उत्पातों का वर्णन करते है और फिर एक दिव्य रथ पर चढ़कर गोलोक को चले जाते है। अपनी योगमाया से वे फिर वृन्दावन मे गोप-ग्वालों की उत्पत्ति करते हैं और उन्हें वहाँ का अधिवास सदा के लिए दे देते हैं। अन्त मे ब्रह्मा के शाप से कृष्ण की द्वारका उड़ जाती है और कृष्ण भी वृन्दावन मे कदम्ब के नीचे एक मूर्त्ति में समा जाते हैं।

सूर की राधा

अब हम सूर की राधा का विवेचन करेंगे। राधा सूरसागर अथवा कृष्ण-चरित की प्रधान नायिका है। राधा से कृष्ण का परिचय उस समय होता है, जब वे भौरा-चक डोरी खेलने के लिये घर से बाहर निकले। अचानक ही समवयस्क बालिकाओ के साथ वह कृष्ण की निगाह पड़ जाती है। विशाल-नेत्र, मस्तक पर रोली का टीका, पीठ पर लटकती हुई वेणी, गोरे शरीर पर नील वर्ण की फरिया और वस्त्र; यह थी राधा की सज्जा। श्याम की दृष्टि पड़ी, आँखों से आँखें मिली और ठगौरी पड़ गई, कृष्ण मुग्ध हो गए; जैसे किसी ने जादू कर दिया हो।[१] रसिक शिरोमणि कृष्ण ने भोली राधिका को बातों मे ही भुला लिया और प्रतिदिन आकर मिलने का मार्ग दिखा दिया। यहाँ पर सूर ने गुप्त रीति की ओर संकेत किया है, जिसका अर्थ पुरातन प्रीति किया गया है। परन्तु कुछ भी हो, कृष्ण ने राधिका को प्रेम का पाठ पढा लिया और वह उनके विरह मे व्याकुल रहने लगी। कृष्ण से मिलने के लिए अनेक बहाने वह बनाने लगी और उस नागर के साथ नागरी बन गई :

"सूर श्याम नागर नागरि सों करत प्रेम की बातें।"[२]

नन्द बाबा की साथ-साथ खेलने की अनुमति मिलने पर तो उसका दिल और भी खुल गया और वह कृष्ण पर अधिकार भी जमाने लगी। इसके पश्चात् सूर ने श्याम-श्यामा की गुप्त-लीला का वर्णन किया है।[३] सम्भवतः इस लीला का आधार ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण ही रहा हो। कृष्ण के साथ रति-विलास के पश्चात् जब राधा घर पर लौटी तो माता ने समझा कि शायद उसे 'दीठि' लग गई है। राधा ने कृष्ण-नाग की कथा गढ़कर अपनी माँ को सान्त्वना दे दी और यह भी बता दिया कि नन्द का बेटा झाड-फूंक में बडा चतुर है। राधिका दो भाइयो में एक बहिन थी, माता-पिता का तो मानो हृदय ही थी, अतएव माता का बहक जाना स्वाभाविक ही था।

यशोदा के यहाँ आने-जाने का भी राधा ने बहाना बना लिया, सुन्दरी तो थी ही, यशोदा को बड़ी अच्छी लगी और यशोदा सूर्य-भगवान् को मनाने लगी कि श्याम और राधा की अच्छी जोट मिलेगी।[४] अब राधा और कृष्ण एक-दूसरे के प्रेम मे फँसे हुए है; दोनो का हृदय एक-दूसरे से लगा हुआ है, उल्टे-सीधे काम करते है। यशोदा भी उनके हाल को देखकर राधा को उलाहने देती है, परन्तु

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद १२९०
२ वही ,, पद १२९९
३ वही ,, पद १३०१
४ वही ,, पद १३२०

राधा स्पष्ट कह देती है कि तू अपने पुत्र को क्यों नही रोकती, वे ही तो कहते है कि तुझे देखे बिना प्राण नही रहते, मुझे तो उन पर दया आती है; इसलिए आती हूँ। १३२० से १३७८ तक के पदों मे राधा और कृष्ण की अनेक चेष्टाओ का वर्णन कवि ने किया है। 'गारुडि' के प्रसंग मे राधा ने कृष्ण से मिलने का अच्छा बहाना बनाया। राधा को काले भुवंगम की तो नही, पर काले नन्द-नन्दन की फूँक अवश्य लग गई थी और वही अपने उस जहर को उतार सकता था। इसके लिए पृष्ठ-भूमि भी राधिका ने बड़ी सुन्दर प्रस्तुत की। हुआ भी यही। श्याम को आना पडा, राधिका के ऊपर से तो उन्होने विप की लहर उतार दी, परन्तु अन्य ब्रजबालाएँ उसकी लपेट मे आ गई। इस प्रकार राधा के प्रेम को सूर ने पूर्णता तक पहुँचाया है। सूर के प्रेम-वर्णन मे शृंगार-रसि को साहचर्य द्वारा पुष्ट करके दिखाया गया है, जैसा कि आचार्य शुक्ल ने कहा है :

"सूर का संयोग-वर्णन एक क्षणिक घटना नही है, प्रेम-सगीत मे जीवन एक गहरी चलती धारा है, जिसमे अवगाहन करने वाले को दिव्य माधुर्य के अतिरिक्त और कुछ दिखलाई नही पडता।"[१]

सूर के प्रेम की उत्पत्ति मे रूप-लिप्सा और साहचर्य दोनों का योग है। सूर ने प्रेम-व्यापार का आरम्भ हास-परिहास और छेड-छाड़ के साथ दिखाया है। बाल-क्रीडा के सखी-सखा आगे चलकर यौवन काल के सखी-सखा हो जाते है। अपने शृङ्गार की प्रतिष्ठा में सूर ने जो वातावरण उपस्थित किया है, वह उद्दीपन-कार्य करता है। उनका प्रेम आदर्श प्रेम है, जिसको हम जीवनोत्सव के रूप मे पाते हैं। सहसा उठ खड़े हुए तूफान या मानसिक विप्लव मे नही, जिसमे अनेक प्रकार के प्रतिबन्धों और विघ्न-बाधाओं को पार करने की लम्बी-चौडी गाथाएँ होती है। अलौकिकता का पुट होते हुए भी सूर ने इस प्रेम को जीवन से दूर ले जाकर चित्रित नही किया है। राधा और कृष्ण के अनेक प्रेम-प्रसंग सूर ने उपस्थित किये है। अब राधिका का मन कृष्ण मे और कृष्ण का राधिका मे पूर्ण रूप से लग गया है। श्याम भुजंग से डसने वाली कल्पना से सूर ने दो बातो की ओर संकेत किया है। पहली—राधा के प्रेम की पूर्णता, और दूसरी—कृष्ण का अन्य गोपियों पर प्रेम-पाश। चीर-हरण लीला और दान-लीला तथा पनघट-लीला मे राधा की अपेक्षा इन गोपियों के व्यक्तित्व का ही विशेष अभिव्यंजन हुआ है। चीर-हरण-लीला मे तो राधा का वर्णन है ही नहीं, पनघट-लीला मे भी उसका प्रवेश केवल नाम मात्र को है। दान-लीला में राधा कृष्ण को अलग बुलाकर उन्हे सबके सामने वैसी बाते करने से रोकती हैं; क्योकि वह अभी माता-पिता की बातो से डरती है। उसका भेद खुल जाता है तो माता डाटती भी है, पर मन ही मन रीझती और ऊपर से समझाती है। इसी प्रकार छेड-छाड चलती रहती है और दान-लीला के पश्चात् राधा भी लोक-वेद की मर्यादा को तोड़ डालती है। अब कृष्ण भी उसकी प्रीति की रीति को समझ जाते है और उसके साथ विहार करते है। इस मिलन के अवसर पर राधा ने जब अपने हृदय की व्यथा कृष्ण के सम्मुख रखी, तो कृष्ण ने राधा को अपने वास्तविक प्रकृति-पुरुष सम्बन्ध को समझाकर लोक-लाज से न डरने की सम्मति दी। अब तक राधा का जितना चित्रण हुआ है, उससे हम उसे कृष्ण की बाल-सहचरी राधा कहते है, जिसमे सरलता और निष्कपटता के भाव दिखाई देते है। परन्तु इस चित्रण में राधा के उस अप्रतिम सौन्दर्य का वर्णन है, जो राधा को सभी के आकर्षण का विषय बनाता है। उसका प्रत्येक अंग अनुपमेय है। जब वह भूपणो से सुसज्जित होकर कटिकिंकिणी की ध्वनि की झँकार

१ सूरदास (आचार्य शुक्ल) पृ० १८२

के साथ, गोरे शरीर पर नीले रग का लँहगा पहन कर, नितम्ब-भार से मन्द-मन्द हस गति से चलती है, तो उसके अंगों की सुगन्ध के कारण भ्रमर भी गुजार करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। उसके सौन्दर्य को देखकर चर और अचर सभी मोहित है। शरीर के अवयवो मे धीरे-धीरे यौवन का प्रवेश हो रहा है। राधा के नेत्रो के वर्णन मे तो कवि ने जान ही डाल दी है और उसके सौन्दर्य के अनेक चित्र प्रस्तुत किये है। बाल-सहचरी राधा के विषय मे एक बात उल्लेखनीय यह है कि प्रकट रूप से सूर ने राधा-कृष्ण की रति-केलियो का वर्णन नही किया है।

राधा का दूसरा रूप परकीया भाव से चित्रित हुआ है, परकीया रूप मे नही। अब राधा प्रेम की गम्भीरता मे अवगाहन करने लगी है और जैसे-जैसे प्रेम गम्भीर होता जाता है, वैसे-वैसे ही उसकी निपुणता भी गम्भीर होती जाती थी। गोपियाँ उसकी चतुराई को भाँप लेती हैं और श्याम को दोष लगाती है। इधर 'कुल की कानि' और उधर प्रियतम का प्रेम और तिस पर मर्यादा का पालन करने के लिए प्रियतम का आदेश "लोक लाज कुल-कानि न तजिये, जातै भलो कहै सब कोई।"[१] बेचारी राधा बड़े असमजस मे पड़ी, इसलिए उसे अपनी निर्दोषता सिद्ध करने के लिए भी चतुराई करनी पडती है। कृष्ण से मिलने के लिए बहाना बनाने की तो उसे आवश्यकता थी ही, सखियों पर ये बातें खुल जाती है और वे राधा से कृष्ण का नाम ले लेकर अठ-खेलियाँ करती है। राधा सखियो के सामने ऐसा भाव बनाती है, मानों कृष्ण से उनकी कोई पहचान ही नहीं। ग्रीष्म लीला के समय श्याम रूप को देखकर सब सखियाँ राधा के भाग्य को सराहती है और कहती है कि 'बहिन राधिके, तू बडी धन्य है'।[२] अब दोनो का गुप्त मिलन प्रारम्भ हो गया, राधा को मनमोहन के बिना चैन नही, घर पर माता-पिता का डर है, अतएव गुप्त मिलन ही सम्भव है। सखियाँ राधा का भेद-भाव लेने का प्रयत्न करती हैं, परन्तु राधा 'दिनन की थोरी' भले ही सही, अपना भेद नही दे सकती। सूरदास ने राधा-कृष्ण मिलन एवं राधा से गोपियो की चुटकियों का अनेक प्रकार से वर्णन किया है। परकीया-भाव मे जितनी भी शृङ्गारिक चेष्टाएँ हो सकती हैं, जितने भी गुप्त भावों और सकेतो की सभावना है, उन सबका पूरा ब्यौरा हमे राधा-कृष्ण मिलन मे मिल जाता है। सुरत-केलियो के वर्णन भी यथेष्ट मात्रा मे और उच्च कोटि के हुए है। मिलन के लिए अनेक बहाने होते है, ये बहाने राधा ही नही, कृष्ण भी करते है। राधा श्याम के रग में रँग गई और श्याम राधा के रग मे—"राधा—श्याम, श्याम—राधा रग।"[३]

सूर की राधा का तीसरा स्वरूप स्वकीया भाव का है। जब राधा मानवती और गौरव-शालिनी के रूप मे चित्रित की गई है, परन्तु कृष्ण बहुनायक के रूप में ही दिखाये गये है। राधा के विषय मे कृष्ण को प्रियतमा का रूप दिया है और दम्पत्ति विहार का वर्णन करके कवि ने राधा के मान का विशद् वर्णन किया है। 'खण्डिता' प्रकरण मे चार बार राधा के मान का वर्णन है। पहली बार का मान तो साधारण-सा ही है, क्योकि राधा सखियो द्वारा श्याम को वश मे करने की प्रशंसा से प्रभावित होकर मान करती है, परन्तु जब कृष्ण आकर लौट जाते है, तो उसका मान कपूर की भाँति उड़ जाता है और वह अपने अहंकार-जन्य अपराध का अनुभव कर परम विह्वल हो जाती है। जब ललिता दूती बनकर कृष्ण को मनाने जाती है और राधा की विरह दशा के साथ उनके रूप की प्रशसा करती है, तो कृष्ण आकर उसे हृदय से लगाकर उसका विरह-ताप शान्त करते है।

---

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद २३०६
२ वही ,, ,, पद २४७७
३ वही ,, ,, पद २६४०

दूसरी बार केवल भ्रमवश ही राधिका मान कर बैठती है, क्योंकि वह अपने प्रियतम के हृदय मे अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर दूसरी नारी का अनुमान लगा लेती है;

"कियौ अति मान वृषभान बारी, देखि प्रतिबिम्ब पिय हृदय नारी"[1]

कृष्ण की मनुहारे भी उसे मनाने मे सफल न हो सकी। अत्यन्त व्याकुल होकर कृष्ण दूती को भेजते है। जब उसके भी सब प्रयत्न व्यर्थ होते है, तो वह राधा से कहती है :

"तुम चाहे कितना ही मान करो, पर अन्त मे तुम और मोहन एक हो। 'मोहन' का नाम सुनते ही राधा का मान जाता रहा और वह प्रसन्न हो गई।[2]

राधा का तीसरा मान वास्तविक कारणो से है। राधा की धारणा थी कि कृष्ण रात्रि मे मेरे अथवा नन्द के घर के अतिरिक्त अन्यत्र नही जाते, किन्तु एक दिन प्रात.काल ही जब रति-रस-चिह्नो से लाञ्छित नटनागर का साक्षात्कार हुआ तो उनके विचित्र रूप को निहार कर राधा को हँसी आ गई, जो शीघ्र ही परिहास, कटाक्ष और तिरस्कार के क्षेत्र से निकलती हुई रोष के साम्राज्य मे पहुँच गई। कृष्ण ने अपने आप को निरपराध सिद्ध करने मे कोई कोशिश उठा न रखी, पर राधा का रोष न गया। राधा की कुछ सखियों के आ जाने पर उसने सारा मामला उनके समक्ष रखा और कहा :

"तुम भी मुझे ही दोष देती हो, इन्हे देखो, ये रहते कही है और घूमते कही है; सवेरा होने पर यहाँ पधारते है।"[3]

राधा के इस मान से राधा और कृष्ण दोनो व्याकुल है, सखियाँ यत्न करती है, पर राधा नही मानती। रसिकेश्वर स्वय अनुनय-विनय करते हैं, पर राधा पर कोई प्रभाव नही होता, परन्तु जब गुप्त-चरित्र का सकेत कृष्ण राधा के प्रति करते हैं तो उसका हृदय पसीज जाता है और वह कृष्ण के साथ 'निकुञ्ज-सुख' के लिये चल देती है।

राधा की बडी मान-लीला बहुत विकट है; अब की बार उसे कृष्ण के पर-गृह गमन का प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया। वह सखियों के साथ यमुना-स्नान के लिये निकली और अकस्मात् उसी सखी को बुलाने के लिये जा पहुँची, जिसके हृदय मे मोहन अपनी रसमयी कलियो से आनन्द की हिलोरें उठा रहे थे। जैसे ही वे उसके घर से निकले, राधा से भेट हो गई।[4] इससे अधिक और क्या प्रमाण चाहिये ? राधा को मनाने के सभी उपाय व्यर्थ गए, न अपनी प्रशसा सुनकर रीझती है और न कृष्ण की दीन दशा से पसीजती है; वर्षा-ऋतु, मन्द-वायु तथा प्रकृति-सौन्दर्य कोई उसकी खीझ को दूर नही कर पाता। कृष्ण स्वयं दूती का वेश बना कर जाते है, परन्तु राधा फिर भी क्यों मानने लगी ?[5] मानिनी राधिका का मान बडा दृढ़ है, चाहे स्वर्ग डोल जाय, सुर और सुरपति समेत सुमेरु डिग जाय, रात्रि मे रवि और दिन मे निशाकर उदित हो जाये, नक्षत्र हिल उठे, सिन्धु मर्यादा त्याग दे, धरा अधीर होकर उलट जाय, बन्ध्या पुत्रवती हो जाय, शुष्क काष्ठ लहलहा उठे, विफल तरु फलने-फूलने लगे, बादलों के बिना ही वर्षा होने लगे और अचल चलायमान हो जायँ, पर राधा का मान-भंग नही होने वाला है।[6] अन्त मे कृष्ण को एक उपाय सूझा, उन्होने एक मणि-दर्पण राधा के सामने लाकर रख दिया और स्वयं पीछे खड़े हो गये; प्रतिबिम्ब मे दोनों के नेत्र मिल गये, राधा का चेहरा खिल उठा और उसे निश्चय हो गया कि कृष्ण का बहुनायकत्व तो दिखाने भर का है। मान की झंझा के पश्चात् मिलन का शीतल, मदिर, गम्भीर समीर बह

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ३०३८
२ वही ,, पद ३०५५
३ वही ,, पद ३१८१
४ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ३३५३
५ वही ,, पद ३४३१
६ वही ,, पद ३४४२

निकला, जिसके स्पर्श ने युगल प्रेमियों के क्षुब्ध मानस मे स्थैर्य और धैर्य के साथ माधुर्य की लहरो मे गुदगुदी उत्पन्न कर दी, प्रेम का बन्धन और भी दृढ हो गया। इन मान-लीलाओ मे गौरवशालिनी राधा की गम्भीरता देखते ही बन पड़ती है; मान-भग होने पर वह दूती के द्वारा आने का सदेश भेजती है और फिर वस्त्र-भूषण धारण करके ही गौरव और गम्भीरता के साथ केलि-कुञ्ज मे पदार्पण करती है। मान-वियोग के पश्चात् मिलन-सुख-भोग का वर्णन भी सूर ने बडी तन्मयता के साथ किया है।

राधा का एक रूप सूर ने बसन्त और झूले के प्रसंगो पर चित्रित किया है। दोनो ही अवसरों पर राधा-कृष्ण दम्पति के रूप मे हमारे सामने आते है—

"झूलत श्याम श्यामा-सग।
निरख दम्पति-अंग शोभा लजत कोटि अनग"[1]

बसन्तकालीन फाग-क्रीडा का सूर ने बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है और वहाँ भी राधा-कृष्ण को नव-दम्पति माना है।[2] बसन्त-लीला ब्रज के सुख का चरमोत्कर्ष है, जहाँ सूर ने विधि-मर्यादा का अतिक्रमण कर राधा की विनोदी प्रकृति का स्वच्छन्द और निर्बाध प्रतिपादन किया है।

राधा का अन्तिम चित्र 'वियोगिनी राधा' का है, इस रूप मे राधा का दर्शन सूर ने बहुत ही कम कराया है। ऐसा ज्ञात होता है कि परमोच्च अवस्था पर पहुँची हुई राधा का कृष्ण-प्रेम अन्तर्मुख हो गया है। इस वियोग-काल में सूर ने जब भी राधा को देखा तभी वह गम्भीर प्रेम की एक दयनीय मूर्ति के रूप में दीख पडी। कृष्ण के मथुरा-गमन अवसर पर गोपियों की आतुरता के साथ-साथ नन्द और यशोदा की भी बड़ी व्याकुलता दिखाई गई है; कृष्ण ने भी अपने माता-पिता को सान्त्वना दी है। परन्तु कवियों ने चित्र लिखी-सी गोपियो के बीच में राधा को खोजने का प्रयत्न नही किया है। कृष्ण को मथुरा पहुँचाकर नन्द जब लौट आये, उस समय के यशोदा और गोपियों के वियोग-विलाप का सूर ने बडा ही मर्म-स्पर्शी विस्तृत, मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है। बहुत देर के पश्चात् कवि को राधा की भी याद आई और विरहिणी राधा सर्व प्रथम गम्भीर सोच में मग्न, नीचा सिर किये हुए नख से हरि का चित्र बनाती हुई दिखाई गई है, पर क्या वियोगिनी राधा अपने प्रियतम का चित्र बना सकती है ? बिना माधव के राधा की स्थिति विचित्र है। अब तक उसके अंग प्रत्यंग सौन्दर्य के उपमान थे, अब उपमेय भी न रहे।[3] वह किसी पथिक को अपना सन्देश श्याम तक भेजने के लिये बुलाती है, पर अपने विषय मे एक शब्द भी न कह कर ब्रज के दुःखी गोपी, ग्वाल और गौ-सुतों का सदेश भेजती है। भला प्रियतम को वह कैसे दोषी कहे ? जब कभी गोपियाँ कृष्ण के प्रेम पर व्यग्य करती हुई उन्हें जाति-पाँति-भिन्न परदेशी और विश्वासघाती बताती हैं तो राधा कहती है कि इसमें हरि का कोई दोष नहीं है, शायद मेरे प्रेम मे ही कुछ कसर है। वास्तव मे गोपियों के विरह-वर्णन मे भी राधा के विरह की अतिशयता ही व्यञ्जित होती है, क्योंकि गोपियो को राधा के विषय मे बड़ा सोच है। इस प्रकार राधा को सूर ने आदर्श प्रेमिका के रूप में चित्रित किया है।

भ्रमरगीत-प्रसङ्ग मे भी राधा के अत्यन्त मार्मिक चित्र कवि ने उपस्थित किये है। रसिक शिरोमणि कृष्ण ने भी न जाने क्या सोचकर राधा को कोई सन्देश नही भेजा, केवल वृषभानु महर को ही सन्देश देकर वे चुप हो गए है। उद्धव के रथ को आता देखकर जब सखियों ने राधा

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ३४५८
२ वही „ पद ३५१२
३ वही „ रद ४०२२

को बतलाया कि मथुरा की ओर से वैसा ही रथ आ रहा है, जैसा अक्रूर का था और कोई कृष्ण-सदृश व्यक्ति आ रहा है, तो व्रज की स्त्रियों को बड़ा आनन्द हुआ और वे रथ की ओर दौड़ी, परन्तु राधा कपाट की ओट मे बोली, "अच्छा किया, जो हरि आ गए" फिर भी राधा का गम्भीर प्रेम उसके शरीर की अवस्था से झलक रहा था। गोपियों ने उद्धव को अपनी विरह-वेदना सुनाई, उद्धव के तर्कों का तर्कपूर्ण समाधान किया और भगवान् के सगुण रूप मे ही आसक्ति प्रकट की, पर इस लम्बे-चौडे वार्त्तालाप मे उद्धव को राधा की वाणी एक, बार भी सुनाई न दी। उसे तो उन्होने केवल 'माधव' 'माधव' ही रटते हुए देखा। वास्तव मे माधव-माधव रटती हुई वह स्वयं भी तद्रूप हो जाती थी। सम्पूर्ण वाद-विवाद मे राधिका उद्धव के सम्मुख नही आई, गोपियों ने ही उसकी ओर से विरह-निवेदन किया और 'अति मलीन वृषभानुकुमारी' की दशा दिखाई। गोपियो के प्रति सदेश देते हुए उद्धव ने राधिका ही की विरहावस्था का सबसे अधिक हृदय-विदारक चित्र उपस्थित किया है—

चित दै सुनहु श्याम प्रवीन।
हरि तुम्हरे विरह राधा मै जु देखी छीन।।[१]

जब कृष्ण मथुरा से भी द्वारका चले गये तो राधा की दशा और भी दयनीय हो गई और जब कुरुक्षेत्र मे कृष्ण ने नन्द, यशोदा, गोपी-ग्वालों को बुलाया तो राधा के अन्तिम दर्शन हुए। कृष्ण आगमन की सूचना से राधा अधीर हो उठी और उसके नेत्रो मे जल भर आया।[२] कुरुक्षेत्र मे रुक्मिनी ने कृष्ण से पूछा, 'हे हरि, तुम्हारी वृषभानु किशोरी कौन-सी है ?'[३] कृष्ण को पुरानी प्रीति की स्मृति आ गई और कण्ठ अवरुद्ध हो गया। राधा भी सामने ही थी, उसकी चितवन को देखते ही रुक्मिनी को अपने प्रश्न का उत्तर मिल गया और वे राधा से इस प्रकार मिली, जैसे—

"बहुत दिनन ते बिछुरी एक बाप की बेटी।"[४]

अन्त में कवि ने राधा-माधव का अन्तिम महा-मिलन कराया है—

राधा-माधव भेंट भई।
राधा माधव, माधव राधा, कीट भृङ्ग गति ह्वै जु गई।
माधव राधा के रंग रांचे, राधा माधव-रग रई।
माधव-राधा-प्रीति निरन्तर, रसना करि सो कहि न गई।
बिहँसि कह्यौ हम तुम नहि अन्तर, यहि कहि कै उन ब्रज-पठई।
'सूरदास' प्रभु राधा माधव, ब्रज विहार-नित नई नई।[५]

इस अन्तिम मिलन मे भी कृष्ण ने हँस कर और यह कह कर कि "हम और तुम में कोई अन्तर नही है," उन बेचारी को फिर विरहानल मे दग्ध होने के लिए ब्रज भेज दिया, किन्तु प्रेम की एकान्त-साधिका राधिका के मुख से एक भी शब्द नही निकला, उससे कुछ भी कहते न बना और वह हाथ मलती ही रह गई :

करतु कछु नाही आजु बनी।
हरि आये हौ रही ठगी सी जैसे चित्र धनी।[६]

इस प्रकार सूर के चित्रण मे हमें सच्ची प्रेमिका का चित्रण मिल जाता है, जो विरह की असह्य ज्वाला मे जलती है, पर उफ तक नही करती; जिसका त्याग हिमाद्रि से भी उच्च है,

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ४७२५
२ वही ,, ,, पद ४८६७
३ वही ,, ,, पद ४९०३
४ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ४९०९
५ वही ,, ,, पद ४९१०
६ वही ,, ,, पद ४९११

परन्तु नम्रता के कारण झुका हुआ, जिसकी कर्त्तव्य-भावना प्रस्तर से भी अधिक कठोर है और हृदय नवनीतवत् कोमल; जिसे माखन-प्रिय नवनीत-चोर कृष्ण ने हँसते खेलते ही चुरा लिया।

राधा का चित्रण, जैसा कि हम पहले कह आये है, जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास ने भी किया है, परन्तु उनका प्रेम-वर्णन दूसरे ही प्रकार का हुआ है। जयदेव राधा-कृष्ण स्वरूप के उपासक थे, अतएव उन्होने साहित्य के सुरम्य मन्दिर मे युगल-किशोर-प्रतिमा की प्रतिष्ठा की। राधिका को उन्होंने स्वकीया रूप दिया अथवा परकीया; यह तो उनके ग्रन्थ से स्पष्ट आभासित नही होता, परन्तु इतना अवश्य है कि राधा के प्रेम की धारा 'गीत-गोविन्द' मे इतनी तीव्रता के साथ बही है, जिसमे लोक-लाज, कुल-कानि आदि के अवरोध विलीन हो गये। इस काव्य मे बारह सर्ग है और इसका आरम्भ इस प्रकार हुआ है :

"एक समय राधिका, कृष्ण और नन्द किसी वन मे उपस्थित थे। जब संध्या हो गई तो नन्द राधिका से बोले, "हे राधे, आकाश मेघों से आच्छन्न है, वन की भूमि श्याम-वर्ण के तमाल वृक्षो से श्यामा दीख पडती है, रात्रि हो चली, कृष्ण को तुम घर पहुँचाओ।" इस प्रकार नन्द की आज्ञा प्राप्त करके चलने वाले राधा-कृष्ण की यमुना तट के निकुञ्जो मे सम्पन्न होने वाली एकान्त-लीलाएँ जयशील हो।" फिर आगे राधा और कृष्ण के विरह-मिलन के अनेक दृश्य कवि ने उपस्थित किये है, जिनके अध्ययन से हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते है .

१—राधा कृष्ण के प्रेम मे पागल और विह्वल है तथा यह जानते हुए भी कि कृष्ण बहुनायक हैं, वह कृष्ण की होना चाहती है।

२—जयदेव की राधा के प्रेम मे लोक-लाज या संकोच की बाधाएँ नही। वह प्रारम्भ से ही प्रगल्भा दिखाई गई है।

३—कृष्ण और राधा का विहार-वर्णन बडा शृंगारिक है, जिसमें नायक-नायिकाओ की सभी चेष्टाओं का वर्णन किया गया है। इनमें मान, अनुनय, विनय आदि भी सम्मिलित हैं।

४—'गीत-गोविन्द' मे राधा के प्रेम का क्रमिक विकास नही मिलता। राधा-कृष्ण के केवल संयोग और वियोग की दशाओ के चित्र मिलते है।

विद्यापति और चण्डीदास जी की राधिका की तुलना, कवि-कुल-गुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर ने की है, जिसका हिन्दी अनुवाद आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने 'सूर-साहित्य' ग्रन्थ मे इस प्रकार से किया है :

"विद्यापति की राधिका मे प्रेम की अपेक्षा विलास अधिक है, इसमे गम्भीरता का अटल स्थैर्य नही है; केवल नवानुराग की उद्भ्रान्त लीला और चाञ्चल्य। विद्यापति की राधा नवीना है, नवस्फुटा है। हृदय की सारी नवीन वासनाएँ पख फैलाकर उडना चाहती हैं, पर अभी रास्ता मालूम नही; कौतूहल और अनभिज्ञतावश वह जरा अग्रसर होती है और फिर सिकुड़े आँचल की ओट मे अपने एकान्त कोमल घोंसले मे फिर आती है। कुछ व्याकुल भी है, कुछ आशा-निराशा का आन्दोलन भी है। किन्तु चण्डीदास की राधा मे जैसे "नयन, चकोर मोर पिले करे उतरोल, निमिखे निमिख नाहि सय" है, विद्यापति मे उस प्रकार का उतरोल (उत्तरल=चञ्चल) भाव नही है। कुछ-कुछ उतावलापन अवश्य है। नवीना का नया प्रेम जिस प्रकार मुग्ध, मिश्रित, विचित्र कौतुक-कौतूहल-पूर्ण हुआ करता है, उससे इसमें कुछ भी कमी नही है। चण्डीदास गम्भीर और व्याकुल है, विद्यापति नवीन और मधुर।"

दिनेश बाबू का कथन है :

"विद्यापति वर्णित राधिका कई चित्रपटो की समष्टि है। जयदेव की राधा की भाँति इसमे शरीर का भाग अधिक है, हृदय का कम। किन्तु विरह मे पहुँचकर कवि ने भक्ति और

विरह का गान गाया है, उसके प्रेम मे बँधी हुई विलास-कलामयी-राधा का चित्रपट सहसा सजीव हो उठा है,............विद्यापति की राधा बडी सरला है, बडी अनभिज्ञा। ....चण्डीदास की राधिका प्रथम ही उन्मादिनी वेश मे आती है। प्रेम के मलय-समीर में उसका विकास हुआ है। इसके बाद प्रेम की विह्वलता, कितना कातर अश्रु-संपात ! कितना दुःख-निवेदन ! कितनी कातरोक्ति ? प्रेम के दुःख का परिशोध है—अभिमान, किन्तु वह तो केवल आत्म-वंचना है। चण्डीदास की राधा मे मान करने की क्षमता भी नही है। दसो इन्द्रियाँ तो मुग्ध है, मन कैसे मान करे ? यह अपूर्व तन्मयता है।"

इस विवेचन से सिद्ध होता है कि चण्डीदास की राधा में प्रेम का आधिक्य है। उसका हृदय-सरोवर प्रेम-रस से लबालब है, उसमे भावुकता की पराकाष्ठा है, मान करने की क्षमता नही, कृष्ण का व्यापक स्वरूप उसकी आँखो मे समाया है। उसे हम प्रेम का अवतार कह सकते हैं। उनमे विलासिता की मात्रा इतनी अधिक नही, जितनी भक्ति-भावना की। कृष्ण का साम्य प्रकृति मे देखकर वह व्याकुल हो जाती है। चण्डीदास की राधा और कृष्ण मे अभेद है। कृष्ण के प्रेम के सामने संसार का अपवाद कुछ नही। उसमे आत्म-समर्पण की पूरी भावना है—

बँधू कि आर बलिबे आमि।
मरने-जीवने, जनमे-जनमे, प्राणनाथ हइओ तुमि।
तोमार चरने आमार पराने बाँधिल प्रेमेर फाँसी।
सब समर्पिया एक मन हइया, निश्चय हइलाम दासी।

कृष्ण भी राधा मे उतने ही अनुरक्त है। राधा ही उनका सर्वस्व है। अमरुक की "सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः" वाली उक्ति उन पर सवा-सोलह-आने चरितार्थ होती है। मान की कल्पना तो चण्डीदास की राधा मे की ही नही जा सकती। यदि कभी वह मान का ढोग रचती भी है और कृष्ण आकर लौट जाते है, तो वह पछताती हुई कहती है—

"आपन सिर हम आपन हाते काटीनू, काहे करिनु हेन मान।
श्याम सुनागर नटवरशेखर कहाँ सखि ! करल पयान ?"

कृष्ण के वियोग मे व्याकुल होकर वह पृथ्वी पर गिर पडती है और कनकलता की भाँति मुरझा जाती है।

विद्यापति की पदावली मे भी परकीया राधा का चित्रण हुआ है। इसमे अधिकांश पद राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओ से सम्बद्ध हैं। चैतन्य महाप्रभु विद्यापति के पदों को गाते-गाते इतने भाव-विभोर हो जाते थे कि मूर्छित हो जाते थे। सहजिया सम्प्रदाय के भक्त तो विद्यापति को सात रसिक भक्तों मे से एक मानते है। इसलिए डा० ग्रियर्सन ने "मैथिली क्रिस्टोमैथी" की भूमिका मे पदावली के विषय मे लिखा है—

"They are nearly all Vaishnava-hymns or Bhajans......... Glowing stanzas of Vidyapati are read by the devout Hindu without a little of the baser part of human-sensuousness as the Song of Soloman is by the Christian poet."

ग्रियर्सन महोदय का यह कथन कुछ सीमा तक अवश्य ही सत्य कहा जा सकता है। परन्तु यह कहना कि विद्यापति ने पदावली की रचना धार्मिक दृष्टिकोण से की होगी, ठीक नहीं जँचता। डा० श्यामसुन्दर दास ने विद्यापति पर विष्णुस्वामी और निम्बार्क का प्रभाव बताया है।[1] कुछ

१ 'हिन्दी भाषा और साहित्य' पृ० ४०६

भी हो, इतना तो सत्य है कि विद्यापति ने जयदेव के अनुकरण पर राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं को काव्य का विषय बनाया होगा; क्योंकि जयदेव ने पहले राधा को परकीया नायिका का रूप देकर गेय पदों की रचना किसी ने नहीं की। विद्यापति पण्डित थे और काव्य-शास्त्र की सूक्ष्मताओं से भी अभिज्ञ थे; संस्कृत और प्राकृत शृंगारिक पुस्तकों का उन्होंने सूक्ष्म अध्ययन किया था। 'गाथा-सप्तशती' के शृङ्गारिक भाव विद्यापति में अनेक स्थलों पर प्रतिबिम्बित हुए हैं। उन्होंने राधा और कृष्ण को नायक-नायिका के रूप में चित्रित किया है और शृंगार-रस की अविरल धारा अपनी 'पदावली' में बहाई है। संयोग और वियोग की सभी परिस्थितियों और उन परिस्थितियों में प्रेम-विभोर युवक-युवतियों के सभी भावों का संश्लिष्ट वर्णन विद्यापति ने किया है। नायिका के आन्तरिक भावों के साथ बाह्य चेष्टाओं का इतना स्वाभाविक और सजीव वर्णन बहुत कम कवियों द्वारा हो पाया है। वियोग-वर्णन में कवि की वृत्ति रमती हुई प्रतीत नहीं होती और उन्होंने अधिकतर परम्पराओं का ही अवलम्बन लिया है। विद्यापति अन्तर्जगत् के सौन्दर्य की अपेक्षा बाह्य जगत् के सौन्दर्य से अधिक प्रभावित जान पड़ते हैं और उसी का वर्णन उन्होंने जी खोलकर किया भी है। उनकी राधा में हाव अनुभावों की ही प्रधानता रही है। वयःसन्धि अभिसार और सद्यःस्नाता के बड़े सजीव चित्र विद्यापति ने उपस्थित किये हैं। अभिसारिका के मार्ग की कठिनाइयों को अत्यन्त भयप्रद रूप में दिखाया है। विद्यापति के पदों में जयदेव की अपेक्षा अधिक सरसता है और सूरदास की अपेक्षा अधिक मधुरता है। वह सूर की राधा की भाँति प्रेम-चेष्टाओं के गोपन में निष्णात नहीं, पर वह है पूरी विलासमयी और कलामयी किशोरी, जिसमें आन्तरिक सौन्दर्य का विलास और बाह्य सौन्दर्य का चरम विकास हुआ है। कृष्ण इस विद्युत्-रेखा से चमत्कृत हो जाते हैं और उसी को बार-बार देखने के लिये उनके नेत्र भटकने लगते हैं। संयोग से अनेक चित्रों को चित्रित कर कवि विप्रलम्भ का चित्रण करता है, जिसमें विरहिणी राधा अपना अस्तित्व भूलकर कृष्ण का ध्यान करती हुई तन्मय हो जाती है। राधा और कृष्ण का विरह समान है, बेचारी राधा को चैन नहीं, राधा रहने पर कृष्ण का और कृष्ण-स्वरूप होने पर राधा का विरह उसे सहना पड़ता ही है—

> अनुखन माधव माधव सुमिरत सुन्दरि भेल मधाई।
> × × × ×
> राधा सयँ जब पुनिताई माधव सयँ जब राधा।
> दारुन प्रेम तबहिं नहिं टूटत बाढ़त विरहक बाधा।।
> दुहु दिसि दारु दहन जैस दगधइ आकुल कीट परान।
> ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि कवि विद्यापति मान।।

इस तुलनात्मक अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सूर की राधा में विद्यापति, जयदेव, चण्डीदास और ब्रह्म-वैवर्त पुराण की राधा की विशेषताएँ संहित हो गई हैं और उन सब के ऊपर स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता के स्वर्णिम वर्ण से सूर ने अपनी राधा को ऐसा रूप दिया कि उनसे पहले के राधा के सभी चित्र फीके पड़ गये। उन्होंने कैशोर्य की संयत चपलता और यौवन के उद्दाम भवसागर में डूबती हुई राधा का ही चित्रण नहीं किया, अपितु अपने भोलेपन से सब के मन को हरने वाली और सहज निर्बाध तरलता से श्याम को आकृष्ट करने वाली बालिका राधा का भी चित्रण किया है। यह सूर की अपनी देन है, निजी मौलिकता है। उनकी राधा में परकीया की तीव्र वेदना चाहे न हो, परन्तु स्वकीया की गम्भीर और स्वाभाविक उत्कण्ठा अवश्य है। विवाह होने से पूर्व का राधा का अनुराग पूर्वानुराग कहा जा सकता है।

हम पहले कह चुके है कि श्रीमद्भागवत मे राधा का चित्रण नही हुआ है और न ही उसका कही नाम आया है, साम्प्रदायिक दृष्टि से निम्बार्क सम्प्रदाय वालो ने राधा को सर्वप्रथम अपने भक्ति-धर्म-ग्रन्थो मे स्थान दिया। साहित्यिक परम्परा मे राधा का समावेश कब हुआ, यह निश्चयपूर्वक न कहा जा सकने पर भी यह असम्भव नही कि उसका आगमन रस-क्षेत्र मे इससे भी पहले हो चुका हो। जयदेव के 'गीत-गोविन्द' के रचना काल से पहले कृष्ण के अवतारत्व के कारण राधा-कृष्ण के प्रति भक्ति-भावना का और उनकी प्रेम लीलाओ का मिश्रण होगया था। 'पचतन्त्र' मे राधा का नाम आया है। 'गाथा सप्तशती' मे भी उसकी शृङ्गारिक चेष्टाओ का उल्लेख है, धनञ्जय के 'दशरूपक'; भोजकृत 'सरस्वती-कण्ठाभरण', आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' तथा क्षेमेन्द्र के 'दशावतार चरित' आदि ग्रन्थो में कृष्ण के अवतारत्व के प्रति भक्ति-भाव दिखाते हुए उनके राधा-विषयक-प्रेम-सम्बन्ध को विशेषणो के रूप मे दिया है—अथवा लक्षण-ग्रन्थो मे नायक-नायिका के स्थान पर कृष्ण और राधिका का नाम रख दिया है। राधा के विषय मे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने दो प्रकार के अनुमान किये है—

१—राधा आभीर जति की प्रेम-देवी रही होगी, जिनका सम्बन्ध बालकृष्ण से रहा होगा। आरम्भ मे केवल बालकृष्ण का वासुदेव कृष्ण से एकीकरण हुआ होगा, इसलिए आर्य ग्रन्थो मे राधा का नामोल्लेख नही है। पीछे से जब बालकृष्ण की ही प्रधानता रही होगी तो इस बालक देवता की सारी बाते अहीरो से ले ली गई होगी, और इस प्रकार राधा की प्रधानता हो गई होगी।

२—दूसरा अनुमान यह किया जा सकता है कि राधा इस देश की किसी आर्य-पूर्व-जाति की प्रेम-देवी रही होगी। बाद मे आर्यो मे इसकी प्रधानता हो गई होगी और कृष्ण के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ दिया गया होगा।

इस प्रकार हमने देखा कि—

१—चरित-चित्रण और भावाभिव्यञ्जन मे सूरदास जी ने भागवत का आधार न लेकर पूर्णरूप से मौलिकता दिखाई है और कृष्ण-चरित को मनोवैज्ञानिक रूप से विविध अवस्थाओ और परिस्थितियो मे चित्रित करके एक नूतन मौलिक प्रबन्ध के रूप मे उपस्थित किया है।

२—प्रेम-भक्ति के अनुभूति-क्रम का विकास जितनी सुन्दरता से सूर ने अपने 'सूरसागर' मे दिखाया है, वैसे श्रीमद्भागवत मे नही। राधा का चरित्र इस प्रेम-भक्ति के भाव से ओत-प्रोत है।

३—सूरदास की गोपियाँ भी अपनी पृथक् सृष्टि है।

४—कृष्ण और गोपियो के अतिरिक्त सूर ने कुछ ऐसे चरित्र चित्रित किये है, जिनके बिना कृष्ण का चरित्र पूर्ण ही नही कहा जा सकता। उनमे से मुख्य नन्द और यशोदा है, जिनका व्यक्तित्व ही कृष्ण-स्नेह का प्रतीक है। यशोदा के रूप मे उन्होने मातृत्व का साकार कर दिया। वात्सल्य-भक्ति का आश्रय यशोदा के समान ससार के साहित्य मे शायद ही कोई मिले। वास्तव मे सूर के दो पात्र—राधा और यशोदा—साहित्य की अनुपम निधि है।

५—श्रीमद्भागवत मे कृष्ण और गोपियों का जो चरित्र-चित्रण है, उसकी मुख्य पृष्ठभूमि दार्शनिक है। भक्ति का विवेचन और महत्व प्रतिपादन करने के लिए भागवतकार उस दार्शनिक पृष्ठ-भूमि को भक्ति के क्षेत्र से मिलाने का प्रयत्न करता है। 'सूरसागर' भक्ति-रस का सागर है, जिसमे गोता लगाने से भक्ति-रत्न ही प्राप्त होते है। दार्शनिक तत्व तो इन रत्नों मे घोंघों की भाँति मिले हुए है।

६—सूरदास उच्च-कोटि के भक्त होते हुए भी अपने समय और सम्प्रदाय से पूर्णतया प्रभावित थे। दोनों ही प्रभाव उनके 'सूरसागर' मे लक्षित होते है।

अष्टम अध्याय

सूर के दार्शनिक सिद्धान्त

सूरदास जी का सूरसागर शताब्दियो से चली आती हुई धार्मिक परम्परा का आश्रम स्थल कहा जा सकता है। भक्ति-रस से लबालब भरा रहने पर भी सिद्धान्त-रत्नो की इसमे कमी नही हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सभी साम्प्रदायिक विरोधी भावनाये यहाँ आकर समन्वित हो गयी हैं। महाकवि सूर के विशाल-हृदय का यह उद्‌गार प्रायः सभी प्रचलित धार्मिक-परम्पराओ का उचित रुप मे प्रतिनिधित्व करता है। सूर के इस भक्ति-ग्रन्थ से स्वतन्त्र रूप से दार्शनिक सिद्धान्तों को खोज निकालना दुस्तर कार्य है। इसके लिए हमे पिछली कई शताब्दियों के धार्मिक आन्दोलन का मन्थन करना पडेगा। वैष्णव-सम्प्रदायों का युग तो दशवी शताब्दी से ही व्यवस्थित रूप मे प्रारम्भ हुआ, परन्तु उससे पहले परस्पर विरोधी धार्मिक आन्दोलनों का स्वर कितना व्यापक विस्वरित था, इसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके है। पहली शताब्दी से लेकर दशवी तक वैदिक और अवैदिक की छाप लिये हुए इन सम्प्रदायों का दक्षिण मे विशेष प्राबल्य रहा। पुराण, आगम, तन्त्र और संहिताओं से इन सम्प्रदायो की परम्परा का पता चलता है। वैदिक और अवैदिक दोनों ही प्रकार के सम्प्रदायों के ये ग्रन्थ मिलते है। तन्त्र का प्रवाह सर्वत्र दीख पड़ता है। वास्तव मे तन्त्र और आगम का अत्यन्त निकटवर्ती सम्बन्ध है और सभी प्रकार के आगमों को तन्त्र कहा गया है। यद्यपि तन्त्र-ग्रन्थ का सम्बन्ध साधारण रूप से शक्ति सम्प्रदाय से समझा जाता है, परन्तु वास्तव मे ऐसी बातें नही है। व्यवहार मे अवश्य वैष्णव-ग्रन्थ सहिताओ के नाम से, शैव आगमो के नाम से और शाक्त-ग्रन्थ तन्त्रों के नाम से प्रचलित हो गये है पर सिद्धान्त रूप से इन सभी ग्रन्थो मे समानता पाई जाती है। सर जान उडरफ ने 'शक्ति एण्ड शक्ति' पुस्तक मे इस विषय पर विशेष रूप से विचार किया है। उन्होने लिखा है कि "इन सभी ग्रन्थो का मूल स्वर एक है, केवल पारिभाषिक शब्दो का भेद है। पाञ्चरात्रो की भाषा में जो लक्ष्मी शक्ति, व्यूह और सकोच नाम से विख्यात है, शाक्तों की भाषा मे वही त्रिपुरसुन्दरी, महाकाली तत्व और कञ्चुक नामों से अभिहित है।"[१]

वैष्णव-सहिताओ में पाञ्चरात्र संहिताएँ विशेष उल्लेखनीय है, क्योकि आगे के वैष्णव-सम्प्रदाय पाञ्चरात्र मत से ही विशेष प्रभावित हुए है इन संहिताओं के निर्माण काल, संख्या, विशेष आदि पर पाश्चात्य विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है। इस विषय में श्रोडर का 'इण्ट्रोडक्शन टू दि पाञ्चरात्र एण्ड अहिर्बुध्न्य संहिता' तथा फर्कुहर का 'आउट लाइन्स ऑफ दि रिलीजन लिट्रेचर ऑफ इण्डिया' विशेष उल्लेखनीय है। पाञ्चरात्र मत के उपासक भागवत कहलाते हैं। स्वामी शकराचार्य ने अपने शारीरिक भाष्य मे पाञ्चरात्र-मत की आलोचना की है और उसे वेद-बाह्य बतलाया है।[२] सम्भवतः इसलिये शकर से बाद के आचार्यों ने शंकर-मत का खण्डन अपना पूर्वपक्ष रक्खा और पाञ्चरात्र-मत को शास्त्रीय सिद्ध करके उसकी उपयोगिता प्रतिपादित की। श्री रामानुजाचार्य का श्रीभाष्य इसी प्रकार का प्रयत्न कहा

१ शक्ति एण्ड शक्ति, सर जान उडरफ पृष्ठ २३,२४

२ शारीरिक भाष्य २--२--४५

जा सकता है। ये संहिताएँ चार विषयो को लेकर चली है — (१) ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध का निरूपण, (२) मोक्ष. (३) क्रिया-कलाप, अर्थात् मन्दिरों का निर्माण, मूर्ति स्थापना पूजा आदि तथा (४) चर्या; अर्थात् नित्य नैमित्यिक कृत्य, पूजा-पद्धति, पर्व, उत्सव आदि। इनमे अन्तिम दो विषयो का विशेष विवेचन हुआ। चतुर्व्यूह सिद्धान्त पाञ्चरात्र मत की विशेषता है और शकर ने इसका खण्डन किया है। भागवत मत की दूसरी संहितायें वैखानस संहितायें कहलाती है। दक्षिण के कुछ मन्दिरो मे आज भी इन संहिताओ के अनुकूल पूजा-पद्धति प्रचलित है, परन्तु श्री रामानुजाचार्य जी ने पाञ्चरात्र सहिताओं का ही विशेष महत्व दिया था। इन संहिताओ में भक्ति पर विशेष बल दिया है और भगवान् के अनुग्रह को सब कुछ बतलाया है। जीव अपने कर्मों के वशीभूत संसार मे चक्कर काटता रहता है। जब उस पर भगवान् की कृपा होती है तभी उसे छुटकारा मिलता है। इसलिए इस संसार से छुटकारा पाने के लिये उसे भगवान् की शरण में जाना चाहिए।[१]

हम पहले कह चुके हैं कि श्री शंकराचार्य जी के अद्वैत मत का सम्पूर्ण भारतवर्ष पर बड़ा व्यापक प्रवाह पड़ा था और आज भी हमे स्थान-स्थान पर यह प्रवाह लक्षित होता है। उस प्रवाह का प्रतिरोध साधारण शक्ति का काम नही था। उसके विरोध मे भक्ति का प्रचार करने के लिये अनेक ग्रथों का प्रणयन हुआ। आलवार और आडवार से विशेष प्रेरणा मिली और कई वैष्णव-सम्प्रदाय उठ खड़े हुए। सभी ने अपना आधार श्रीमद्भागवत को माना। इसलिये आगे के सम्प्रदायो के सैद्धान्तिक स्वरूपो को समझने के लिये भागवत का अध्ययन परम आवश्यक है। अब हम संक्षेप से भागवत के दार्शनिक पक्ष पर विचार करते है।

'भागवत' के दार्शनिक सिद्धान्त

श्रीमद्भागवत का प्रतिपाद्य विषय मुख्य रूप से तो भक्ति-निरूपण ही है परन्तु उसमे ब्रह्म, जीव, माया आदि का भी पर्याप्त विवेचन हुआ है। व्यास जी ने जब देखा कि महाभारत से नैष्कर्म्य प्रधान धर्म का जो निरूपण किया है, उसमे भक्ति का यथावत् वर्णन नही है, तो उसका मन उदास हो गया और उन्होने नारद की प्रेरणा से 'श्रीमद्भागवत' की रचना की।[२] भागवत के मंगलाचरण के प्रथम तीन श्लोको मे यह संकेत है कि 'श्रीमद्भागवत' वेदान्तार्थ तथा ब्रह्म-सूत्रों का भाष्य है। पहले श्लोक मे "सत्य परम धीमहि" कहा गया है अर्थात् ग्रन्थ रचना से पहले भागवतकार भगवान् के उस सच्चे स्वरूप का ध्यान करते हैं जिससे इस जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय होती है, क्योंकि वह सभी सद्रूप पदार्थो मे अनुरत है और सभी असत् पदार्थो से पृथक है। जड नही, चेतन है, परतन्त्र नही, स्वयं प्रकाश है, जो ब्रह्म तथा हिरण्यगर्भ नही, प्रत्युत अपने सत्य संकल्प से ही जिसने उन्हे वेदज्ञान दिया है, जैसे तेजोमय सूर्य-रश्मियों मे जल का, जल मे स्थल का और स्थल मे जल का भ्रम होता है, वैसे ही जिसमे यह त्रिगुणमयी जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति रूपा सृष्टि मिथ्या होने पर भी अधिष्ठान-सत्ता से सत्यवत् प्रतीत हो रही है और जो अपनी स्वयं-प्रकाश ज्योति से माया और माया-कार्य से मुक्त रहा है। दूसरे श्लोक में भागवत-पुराण को मोक्ष पर्यन्त फल की कामना से रहित परम धर्म का निरूपक ग्रन्थ बताया है और फिर तीसरे मे इस महा-पुराण को वेदरूप कल्प वृक्ष का पका हुआ फल कहा है।[३]

---

१ अहिर्बुध्न्य सहिता --१४ श्लोक २८,२९, ३०-३२

२ श्रीमद्भागवत प्रथम स्कन्ध, अध्याय--४,५

३ श्रीमद्भागवत प्रथम स्कन्ध अध्याय १, श्लोक १, २, ३,

इन तीनों श्लोकों मे ही भागवत का सार आ गया है। भागवत की प्रशंसा कई पुराणो और पाञ्चरात्र-निबन्धो मे की गई है। नारद पाञ्चरात्र की ज्ञानामृत-सार-संहिता के द्वितीय रात्र के सप्तम अध्याय में तथा सात्वत-तन्त्र के द्वितीय पटल मे भागवत को 'वेदों का सार' कहा गया है। इस महापुराण मे सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय—इन दस विषयों का यथावत् वर्णन है। दसवे तत्व 'आश्रय' का ठीक-ठीक निश्चय करने के लिए कही श्रुति से, कही तात्पर्य से और दोनों के अनुकूल अनुभव से महात्माओ ने अन्य नौ विषयों का बडी सुगम रीति से वर्णन किया है। इस प्रकार ईश्वर, जीव, जगत् और माया, इन सब की विस्तृत व्याख्या श्रीमद्भागवत मे हो गई है।

ईश्वर की प्रेरणा से गुणों में क्षोभ होकर रूपान्त होने से जो आकाशादि पञ्चभूत, शब्दादि तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ, अहङ्कार और महत्तत्व की उत्पत्ति होती है, उसे सर्ग कहते है। श्रीमद्भागवत मे सर्ग का वर्णन कई रूपो में हुआ है।[1] सृष्टि की उत्पत्ति के विषय मे तीन मत विशेष रूप से प्रसिद्ध है—आरम्भवाद, विवर्त्तवाद और परिणामवाद। श्रीमद्भागवत मे इन तीनों ही वादों की संगति मिल जाती है। अव्यक्त से व्यक्त होना, एक से अनेक होना, निराकार से साकार होना सूक्ष्म का स्थूल होना ही सृष्टि है।

उस विराट् पुरुष से उत्पन्न ब्रह्मा जी द्वारा जो विभिन्न चराचर सृष्टियों का निर्माण होता है, उसका नाम विसर्ग है। श्रीमद्भागवत मे इस प्रकार की सृष्टि का भी वर्णन है।[2] प्रतिपद नाश की ओर बढने वाली सृष्टि को एक मर्यादा मे स्थिर रखने से भगवान् विष्णु की जो श्रेष्ठता सिद्ध होती है, उसका नाम 'स्थान' है।[3] भागवत के पञ्चम स्कन्ध के २४वे अध्याय मे लोको का वर्णन है।

'पोषण' का लक्षण भागवतकार ने इस प्रकार किया है, "पोषण तदनुग्रहः" (द्वि० स्क० दशम अध्याय श्लोक ४)। इस तत्व का भागवत के छठे स्कन्ध में विशेष रूप से वर्णन किया गया है। इसमे भगवान् के विशेष अनुग्रह की अनेक कथाएँ है। जीव की वे वासनाएँ, जो उसे कर्म के द्वारा बन्धन मे डाल देती है, 'ऊति' नाम से कही जाती है।[4] श्रीमद्भागवत के सातवें स्कन्ध मे इन वासनाओं का विस्तार से वर्णन है। 'मन्वन्तर' काल-परिमाण का नाम है।[5] मनुष्य-वर्षो के हिसाब से तितालीस लाख, बीस हजार वर्षो की एक चतुर्युगी होती है और इकहत्तर चतुर्युगियों का एक मन्वन्तर होता है। १४ मन्वन्तरों का एक कल्प होता है। यह ब्रह्मा का एक दिन है और इतनी ही बड़ी उसकी एक रात्रि होती है। इस हिसाब से जब ब्रह्मा सौ वर्ष के हो जाते है, तो उनकी आयु पूरी हो जाती है। ब्रह्मा के एक दिन मे १४ मनु बदल जाते है। इस श्वेत बाराह-कल्प मे 'स्वयंभू'; 'स्वारोचिष', 'उत्तम', 'तामस', 'रैवत' और 'चाक्षुष' नाम के ६ मनु व्यतीत हो चुके हैं और सातवें 'वैवस्वत-मनु' वर्तमान हैं। इनके अतिरिक्त सात मनु और होगे—सावर्णि, दक्ष-सावर्णि,

---

१ श्रीमद्भागवत द्वितीय स्कन्ध अध्याय ५, तृतीय स्कन्ध अ० ५, १०, ११, १२, २३
२ वही तृतीय स्कन्ध अध्याय १०, २६
३ वही स्कन्ध २ अ० १ श्लोक ४
४ वही ऊतयः कर्म-वासना। भागवत २।१०।४
५ वही मन्वन्तराणि सद्धर्मः। वही २।१०।४

ब्रह्म-सावर्णि, धर्म-सावर्णि, रुद्र-सावर्णि, देव-सावर्णि, और इन्द्र-सावर्णि। प्रत्येक मनु के संग में विशेष-विशेष देवता, उनके पुत्र, इन्द्र, सप्तर्षि और भगवान् के अवतार हुआ करते है।[1]

भगवान् के विभिन्न अवतारों और उनके प्रेमी भक्तो के विविध आख्याओं से युक्त गाथाएँ 'ईश-कथाएँ' कहलाती है।[2] श्रीमद्भागवत मे स्थान-स्थान पर भक्तों के चरित्र दिये हुए है। जब भगवान् योगनिद्रा स्वीकार करके शयन करते है, तब इस जीव का अपनी उपाधियों सहित उसमें लीन हो जाना 'निरोध' कहलाता है :

"निरोधोऽस्या शयनमात्मन सह शक्तिभिः।" (भागवत २।१०।६)। भागवत के द्वादश स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय मे 'निरोध' का वर्णन हुआ है।

अज्ञान कल्पित कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व, आदि अनात्म-भाव का परित्याग करके अपने वास्तविक स्वरूप परमात्मा मे स्थित होना ही 'मुक्ति' है :

"मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।"[3]

श्रीमद्भागवत मे पाँच प्रकार की मुक्ति बताई है— सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। भगवान् के नित्य चिन्मय धाम मे रहना 'सालोक्य मुक्ति' है। उनके समान ऐश्वर्य प्राप्त कर लेना 'सार्ष्टि मुक्ति' है। भगवान् के समीप रहना 'सामीप्य' मुक्ति है, भगवान् के समान रूप प्राप्त कर लेना 'सारूप्य' और उनके चरणो मे समा जाना 'सायुज्य मुक्ति है। भागवत' मे इन पाँचों प्रकार की मुक्तियो के अनेक उदाहरण है, परन्तु मुक्ति की अपेक्षा भक्ति को महत्व दिया गया है; जो भगवान् के सच्चे प्रेमी है, वे मुक्ति की इच्छा नही रखते, भगवान के प्रेम को ही मुक्ति से ऊँचा मानते हैं।

न्याय और वैशेषिक दर्शनों मे प्रमाण, प्रमेय आदि षोडश द्रव्य और द्रव्य, गुण, कर्म आदि सप्त पदार्थो के तत्व-ज्ञान से एकविंशति प्रकार के दुःखों का ध्वंस होकर मुक्ति सिद्ध होती है। सांख्य-दर्शन मे प्रकृति और पुरुष के विवेक से पुरुष का अपने असग रूप मे स्थिर हो जाना ही मुक्ति बताया गया है। योग-दर्शन मे विवेक के साथ ही साथ मुक्ति के लिए समाधि की आवश्यकता भी स्वीकृत हुई है। भक्ति-दर्शनों मे भगवत्कृपा को ही मुक्ति का हेतु माना गया है, क्योकि भक्ति को अमृत रूपा बताया है। पूर्व-मीमांसा दर्शन स्वर्ग के अतिरिक्त और किसी प्रकार की मुक्ति स्वीकार नही करता। श्रीमद्भागवत मे इन सब शास्त्रो के सिद्धान्तों को अपनाया है, केवल पूर्व-मीमासा का मत ही नही के तुल्य है। इन सब शास्त्रो से परे भागवत मे एक और स्थिति बताई गई है, जो वास्तविक मुक्ति है, वह स्थिति है निरपेक्ष-स्थिति, अर्थात् साधक यह विचार ही नही करता कि कौन-सी मुक्ति वाञ्छनीय है अथवा मुक्ति का क्या स्वरूप है।

श्रीमद्भागवत मे आश्रय-तत्व का विशेष रूप से निरूपण हुआ है। इस चराचर जगत् की उत्पत्ति और प्रलय जिस तत्व से प्रकाशित होते है, वह परब्रह्म ही आश्रय है। शास्त्रो मे उसी को परमात्मा कहा है, जो नेत्रादि इन्द्रियों का अभिमानी द्रष्टा जीव है। वही इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता सूर्यादि के रूप मे भी है और जो नेत्रगोलकादि से युक्त देह है, वही उन दोनो को अलग-अलग करता है। इन तीनों मे यदि एक का भी अभाव हो जाय तो दूसरे दो की उपलब्धि

१ श्रीमद्भागवत अष्टम स्कन्ध
२ वही २।१०।५
३ वही २।१०।६

नही हो सकती। अत: जो इन तीनों को जानता है, वह परमात्मा ही सब का अधिष्ठान आश्रय-तत्व है।[१]

श्रीमद्भागवत मे कृष्ण को ही परम तत्व माना है और नारायण को उससे निम्न कोटि का बताया है।[२] भगवान् कृष्ण के सगुण साकार रूप आश्रय का दशम स्कन्ध मे तथा निर्गुण निराकार रूप आश्रय का बारहवे स्कन्ध मे विशेष निरूपण हुआ है। द्वितीय स्कन्ध के नवम अध्याय में भगवान ने ब्रह्मा को स्वय अपने रूप का ज्ञान दिया है। जिन चार श्लोको मे इस स्वरूप का वर्णन हुआ है, उन्हे भागवत मे चतु:श्लोकी कहते है, जिनका साराश हम पीछे दे चुके हैं।

भागवत मे ब्रह्म के विषय मे तीन बातों को प्रधानता दी गई है—(१) अधिष्ठानता, (२) साक्षिता, (३) निरपेक्षिता। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक; ये उस पुरुष के तीन रूप है। आध्यात्मिक पुरुष का अर्थ है—नेत्रादि-इन्द्रियों का अभिमानी जीव, आधिदैविक पुरुष का अर्थ है—नेत्रादि-इन्द्रियो का अधिष्ठातृ देवता और आधिभौतिक पुरुष का अर्थ है नेत्र गोलकादि वाला स्थूल शरीर, ये तीनों सापेक्ष है। इन तीनों के भाव और अभाव को देखने वाला आत्मा इनका निरपेक्ष साक्षी है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं मे विश्व-तैजस तथा प्राज्ञ के रूप मे उनका अनुभव करने वाला एवं मूर्छादि-अवस्था मे उनके अभाव का अनुभव करने वाला और समाधि अवस्था मे उनमे परे रहने वाला आत्मा ही आश्रय है। श्रीमद्भागवत मे श्रीकृष्ण और ब्रह्म को एक ही माना गया है। ब्रह्म-सूत्र के ब्रह्म गीता के पुरुषोत्तम और श्रीमद्-भागवत के श्रीकृष्ण एक ही वस्तु है। इस कृष्णरूप ब्रह्म के विषय में श्रीमद्भागवत में बताया है "तत्ववेत्ता लोग ज्ञाता और ज्ञेय के भेद से रहित, अखण्ड, अद्वितीय, सच्चिदानन्द रूप ज्ञान को ही तत्व कहते है। उसी को कोई ब्रह्म, कोई परमात्मा और कोई भगवान् के नाम से पुकारते हैं।"[३] प्रथम स्कन्ध में नारायण, वासुदेव, सात्वतां पति: और कृष्ण आदि सभी ब्रह्म के नाम आ गये है। भागवत के अनुसार भगवान् में शरीर और शरीरी का भेद नही है। जीव अपने शरीर से पृथक् होता है, शरीर उसका ग्रहण किया हुआ है, और वह उसे छोड़ सकता है। परन्तु भगवान् का शरीर जड नही, चिन्मय है, उसमे हेय और उपादेय का भेद नही होता। वह सम्पूर्णतया आत्मा ही है। शरीर की ही भाँति भगवान् के गुण भी आत्मस्वरूप ही होते है। जीवों के गुण तो प्राकृत होते है और वे उनका त्याग कर सकते है। भगवान् का शरीर और गुण जीवो की ही दृष्टि मे होते है भगवान् की दृष्टि में नही। भगवान् तो निज स्वरूप मे समत्व में स्थित रहते है; क्योंकि वहाँ गुण और गुणी का भेद नही। इस प्रकार श्रीकृष्ण ही परब्रह्म स्वरूप आश्रय-तत्व है।

---

१ आभासश्च निरोधश्च यतश्चावध्यसीयते।
स आश्रय. परब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते॥
योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुष: सोऽसावेवाधिदैविक:।
यस्तत्रोभय विच्छेद पुरुषो ह्याधिभौतिक. ॥८॥
एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे।
वितय तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रय ॥९॥
(श्रीमद्भागवत २।१०, ७, ८, ९)

२ श्रीमद्भागवत २।१०, १०, ११

३ वदन्ति तत्तत्वविदस्तत्व यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥भागवत॥ १। २। ११

श्रीमद्भागवत में प्रायः सभी दर्शनों का समन्वय और सामञ्जस्य हो जाता है। मुख्य-मुख्य वैष्णव सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धान्तो का सक्षिप्त परिचय हम पीछे दे चुके है। यहाँ हम आचार्य वल्लभ के दार्शनिक सिद्धान्तो की सक्षेप मे व्याख्या करेगे, क्योकि सूरदास जी का साक्षात् सम्बन्ध वल्लभ-सम्प्रदाय से ही था।

आचार्य वल्लभ के दार्शनिक सिद्धान्त

श्री शकराचार्य के अद्वैतवाद के विरोध मे चार वैष्णव सम्प्रदाय खड़े हुए। इनमे कई बातों मे समानता और कई मे विभिन्नता है। सभी सम्प्रदाय भक्ति को सर्वोपरि मानते है और इसीलिए इन सम्प्रदायों ने ब्रह्म को स्वरूप से सगुण माना है, जबकि शंकराचार्य ब्रह्म को माया के प्रभाव से सगुण-सा प्रतीत होने वाला मानते है। इसी प्रकार शकर ने 'सर्व ब्रह्म जगन्मिथ्या' कहकर जगत् को भ्रान्त कहा है, जबकि अन्य समस्त वैष्णव सम्प्रदायो ने ब्रह्म के समान ही जगत् को माना है। 'अह ब्रह्मास्मि' आदि वाक्यों के अनुसार शकर मुक्त-जीव को ही ब्रह्म मानते है, परन्तु अन्य वैष्णव-सम्प्रदाय मुक्त-जीव को ब्रह्म न मानकर, वैकुण्ठ मे निवास करने वाले भगवान् की सेवा करने वाला मानते हैं। इन समानताओं के होते हुए भी इन सम्प्रदायों मे सैद्धान्तिक मत-भेद है, जिनका संक्षिप्त विवेचन हम पहले कर चुके है। ये सारे सम्प्रदाय समकालीन नहीं, तो थोड़े-थोड़े अन्तर से ही हुए हैं। ऐसे मुख्य सम्प्रदाय चार हैं—(१) श्रीरामानुजाचार्य का श्री सम्प्रदाय (२) निम्बार्क का सनकादि-सम्प्रदाय, (३) विष्णुस्वामी का रुद्र-सम्प्रदाय, और (४) मध्वाचार्य का ब्रह्म-सम्प्रदाय।

वल्लभ-सम्प्रदाय के ग्रन्थों तथा किंवदन्तियों से ज्ञात होता है कि वल्लभाचार्य विष्णु-सम्प्रदाय के आचार्य थे। डाक्टर भण्डारकर ने स्पष्ट रूप से यह माना है कि वल्लभाचार्य के वे ही दार्शनिक सिद्धान्त थे, जो विष्णु-स्वामी के।[1] 'सम्प्रदाय-प्रदीप' के द्वितीय प्रकरण मे भी विष्णु-स्वामी का वृतान्त दिया हुआ है। विष्णु-स्वामी का समय अभी निश्चित नही हो सका है। इस सम्बन्ध मे विभिन्न आचार्यो के अलग-अलग मत हैं, जिनके अनुसार इनका समय तीसरी शताब्दी से तेरहवी शताब्दी तक दोलायमान है। भण्डारकर, आर्थवेनिस, सतीशचन्द्र विद्याभूषण आदि विद्वानों के अनुसार विष्णु-स्वामी का समय १३ वी शताब्दी के लगभग है।[2] विष्णु स्वामी के मत के विषय मे उनका कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नही है, यद्यपि 'सम्प्रदाय-प्रदीप' से ज्ञात होता है कि विष्णु-स्वामी ने ब्रह्मसूत्र, गीता और भागवत पर भाष्य लिखे थे। वल्लभ-सम्प्रदाय के ग्रन्थो मे लिखा है कि वल्लभाचार्य विष्णु-स्वामी के मत के अनुयायी थे और उनकी गद्दी के अधिकारी हुए। इससे प्रतीत होता है कि विष्णु-स्वामी का दार्शनिक सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैत' था। उनके मत की प्रतिष्ठा कुछ भंग हो गई और फिर वल्लभाचार्य जी ने उसे फिर से जीवित कर उसका प्रचार किया।

शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त का प्रतिपादन वल्लभाचार्य ने अपने ग्रन्थो मे किया है, जिनकी संख्या ८४ बताई जाती है, परन्तु आजकल छोटे-बड़े कुल मिलाकर केवल तीस ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इन ग्रन्थो मे वेदान्त-सूत्र का अणुभाष्य, भागवत की सुबोधिनी टीका, षोडशग्रन्थ, पुरुषोत्तम सहस्रनाम तथा तत्वदीप निबन्ध अधिक प्रसिद्ध हैं। वल्लभाचार्य जी के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने भी

१ "वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म" भण्डारकर पृ० १०६

२ "वैष्णव-धर्म का सक्षिप्त इतिहास" पृ० २२६

वल्लभाचार्य जी के सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला और छोटे-बडे अनेक ग्रन्थ लिखे, अपने पिताजी के अपूर्ण ग्रन्थों को पूरा किया तथा उनकी टीकाएँ की। इनके स्वतन्त्र ग्रन्थो मे, 'विद्वन्मण्डन' ग्रन्थ बडा महत्वपूर्ण है। विट्ठलनाथ जी के पश्चात् उनके पुत्र गोकुलनाथ जी तथा पौत्र श्री हरिराय जी ने भी सम्प्रदाय सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, परन्तु हम अपना विवेचन आचार्य वल्लभ के ग्रन्थो तक ही सीमित रखेगे।

धर्म के दो पक्ष है, सिद्धान्त और आचरण। सिद्धान्त-पक्ष मे वल्लभ-सम्प्रदाय को शुद्धाद्वैत-वादी, ब्रह्मवादी तथा अविकृत परिणामवादी कहते है, आचरण-पक्ष मे यह मार्ग पुष्टि-मार्ग कहलाता है। शुद्धाद्वैत का विवेचन श्री गिरिधर जी के 'शुद्धाद्वैत-मार्त्तण्ड' मे तथा श्री रामकृष्ण भट्ट के 'शुद्धाद्वैत-परिष्कार' मे विशेष रूप से हुआ है ब्रह्मवाद का विवेचन श्री हरिराय जी और श्री ब्रजराज जी ने किया है तथा तत्वदीप-निबन्ध के शास्त्रार्थ-प्रकरण मे, अणुभाष्य मे, सिद्धान्त-मुक्तावली मे और भागवत की टीका सुबोधिनी मे आचार्य वल्लभ ने भी ब्रह्मा के विविध रूपों पर प्रकाश डाला है। हम पहले बता चुके है कि आचार्य वल्लभ का मत शंकर के मत से भिन्न है। शुद्धाद्वैत का अभिप्राय है। शुद्ध च तदद्वैतं च—अर्थात् शुद्ध अद्वैत माया के सम्बन्ध से रहित है। शंकर ने माया और अविद्या रूप उपाधि से युक्त ब्रह्म को कारण और कार्य बताया है, परन्तु वल्लभाचार्य ऐसा नही मानते। 'शुद्धाद्वैत-मार्त्तण्ड' में भी लिखा है :

"माया-सम्बन्ध-रहित शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्य-कारणरूप हि शुद्धं ब्रह्मा न मायिकम्॥"[१]

ब्रह्मवाद का अभिप्राय यह है—सर्वं ब्रह्मा, इतिवादः=ब्रह्मवादः, अर्थात्—सब कुछ ब्रह्म ही है। जगत् भी ब्रह्म रूप है और जीव भी ब्रह्म-रूप है, जैसा कि तत्वदीप-निबन्ध मे लिखा है—

"आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा।"[२]

इसी शुद्धाद्वैत को अविकृत-परिणामवाद कहा गया है, जिसका अर्थ है कि जगत् ब्रह्म का ही परिणाम है, जो अविकृत अर्थात् विकार रहित है। "एकमेवाद्वितीय ब्रह्म" वाली श्रुति को लेकर शुद्धाद्वैत के आचार्यो ने ब्रह्म का निरूपण किया है। इस श्रुति में ब्रह्म को एक और अद्वितीय बताया गया है और उसमे निश्चयात्मकता-सूचक अव्यय 'एव' का प्रयोग कर मन्तव्य की दृढता का आभास दिया है। इसके अनुसार ब्रह्म स्वारस्य, स्वजातीय, विजातीय और स्वगत-भेद-वर्जित है। इस प्रकार जीव, जगत् और ब्रह्म को एक ही माना गया है। 'तत्व-दीप-निबन्ध' में निबन्ध के शास्त्रार्थ प्रकरण मे लिखा है कि ब्रह्म सजातीय, विजातीय, स्वगत-भेद-वर्जित है तथा सत्य आदि हजारो गुणों से वह युक्त है।[३] उसी पृष्ठ पर वल्लभाचार्य लिखते हैं कि ब्रह्म सच्चिदानन्द-स्वरूप है, व्यापक और अव्यय है, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है एवं गुणों से रहित है। इससे आगे वे फिर लिखते है :

"वही ब्रह्म जगत् का समवायि-कारण है और वही निमित्त-कारण है तथा वह अपने स्वरूप मे और अपनी रचित लीला मे नित्य मग्न रहता है। जिस प्रकार सुदीप्त अग्नि से

---

१ शुद्धाद्वैत-मार्त्तण्ड (गिरिधर जी) श्लोक २८

२ तत्वदीप-निबन्ध, शास्त्रार्थ-प्रकरणान्तर्गत सर्व-निर्णय-प्रकरण।

३ तत्वदीप-निबन्ध पृ० २२१

विस्फुलिंग; अर्थात्—चिनगारियाँ उत्पन्न होती है, उसी प्रकार ब्रह्म से असंख्य-स्वरूप जीव उत्पन्न होते है।"[१]

श्रुतियों के अनुकरण पर वल्लभाचार्य ने ब्रह्म को 'पुरुषेश्वर', 'पुरुषोत्तम' भी माना है। ब्रह्म को पुरुष मानने वाली अनेक श्रुतियाँ है। तैत्तिरीयोपनिषद् के सहस्र शीर्षानुवाद में वह श्रुति पढी गई है—"पुरुष एवेदत् सर्वम्"; अर्थात्—यह सब पुरुष ही है। फिर आगे कहा है कि—"जो हो गया है और जो होगा वह ब्रह्म ही है।" वल्लभाचार्य जी ने सब श्रुतियो को आधार मान कर लिखा है :

"जहाँ-जहाँ, जिससे जिसके लिए और जिस सम्बन्ध द्वारा जो-जो जब-जब होता है, उस देश, उस हेतु, उस सम्बन्ध, उस कार्य और उस पदार्थ के—अर्थात् सब कुछ के—भगवान् स्वय ही नियन्ता है।"[२]

इस भाव को प्रकट करने वाली अनेक श्रुतियाँ है। इस प्रकार ब्रह्म अनन्त-मूर्ति सिद्ध हो जाता है, जैसा कि वल्लभाचार्य जी ने लिखा है, "भगवान् अनन्त-मूर्ति, चल और अचल दोनों प्रकार का है तथा वह सम्पूर्ण विरुद्ध धर्मो का आश्रय है।"[३] ब्रह्म का यह 'विरुद्ध-धर्माश्रयत्व' वल्लभाचार्य जी के मत की विशेषता है। इसको वल्लभाचार्य जी ने स्थान-स्थान पर बड़े विस्तार से कहा है। शास्त्रार्थ प्रकरण मे ईश्वर के विरुद्ध-धर्मत्व की विवेचना की गई है। ब्रह्म से ही पदार्थों का आविर्भाव और उसमे ही उनका तिरोभाव होता है। इस प्रकार भगवान् स्वयं आविर्भाव और तिरोभाव की शक्ति से सम्पन्न है, जिसके द्वारा वह एक से अनेक और अनेक से एक होता रहता है। 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' मे वल्लभाचार्य ने ब्रह्म के अनेक नामों का वर्णन किया है। आविर्भाव-तिरोभाव की क्रिया मे भी वल्लभ सम्प्रदाय की अपनी विशेष मौलिकता है। इसी आविर्भाव-तिरोभाव के द्वारा जड़ जगत् जीव, सृष्टि और ब्रह्म मे एकता स्थापित की गई है। जड-तत्त्व मे चित् और आनन्द दो धर्म-तिरोभूत है, केवल सद्धर्म प्रकट है। जीव मे सत् और चित्—दो धर्म प्रकट हैं और आनन्द तिरोभूत है। इस ब्रह्म का आनन्दांश अन्तरात्मा रूप से प्रत्येक जीव मे है, इसलिए भगवान् अन्तर्यामी है—

विस्फुलिंगा इवाग्नेस्तु संदशेन जडा अपि।
आनन्दांश स्वरूपेण सर्वान्तिर्यामिरूपिणः।।
सच्चिदानन्दरूपेषु पूर्वयोरन्यलीनता।
अतएव निराकारो पूर्वावानन्दलोपतः।।
जडो जीवोऽन्तरात्मेति व्यवहार स्त्रिधा मतः।
विद्याविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते।।[४]

पुरुषोत्तम परब्रह्म का दूसरा स्वरूप 'अक्षर ब्रह्म' भी है। आविर्भाव-तिरोभाव की क्रिया में अक्षर ब्रह्म की ही अनेकरूपता होती है। अक्षर-ब्रह्म से ही जीव और जगत् की उत्पत्ति होती है।

१ तत्वदीप-निबन्ध पृ० २२३
२ वही शास्त्रार्थ प्रकरण पृ० २३७
३ अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च।
विरुद्धसर्वधर्माणी माश्रयं युक्त्यागोचरम्॥ त० द० नि० शास्त्रार्थ प्रकरण, ज्ञानसागर बम्बई, पृ० २४६
४ तत्व-दीप-निबन्ध शास्त्रार्थ प्रकरण श्लोक ३२, ३३, ३४ पृष्ठ ६२, ६५, ६६।

वह पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म ही जब रमण करने की इच्छा करता है, तो स्वयं जगत् के रूप मे प्रकट हो जाता है । तैत्तिरीयोपनिषद मे लिखा है "एकोऽहं बहु स्याम्" । वल्लभाचार्य जी ने भी इसी सिद्धान्त को माना है और लिखा है "वह अक्षर ब्रह्म अपनी इच्छा से अनन्तमूर्ति हो गया ।" अक्षर-ब्रह्म-ब्रह्मा, विष्णु और शिव का रूप धारण करना है । शुद्ध सत्वगुण युक्त विष्णुरूप में वह सृष्टि को स्थित रखता है, शुद्ध रजोगुण-रूप से ब्रह्मा उसे उत्पन्न करता है तथा शुद्ध तमोमय रूप से शिव उसका संहार करता है ।[1]

उसी पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म का एक स्वरूप रस-रूप भी है । छान्दोग्योपनिषद मे उसके इस स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है ।[2] वल्लभ-सम्प्रदाय मे रसरूप परब्रह्म को छै धर्मो से युक्त बताया गया है । वे छै धर्म है—ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य । जब जीव के ये छै ऐश्वर्यादि गुण तिरोहित हो जाते है तभी उसे दुःख भोगना पडता है । फिर भगवान् की कृपा से जब पुनः उक्त छै गुण मिल जाते हैं तो वह अपने स्वरूप को जानकर ब्रह्म के समान हो जाता है । परब्रह्म आनन्दाकार विग्रह से अपने अक्षर-धाम मे अनेक लीलाएँ करता है । परब्रह्म के अक्षर-धाम को 'गोपाल' भी कहा गया है । यह पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म अगणितानन्द है और अक्षर-ब्रह्म गणितानन्द । अक्षर-ब्रह्म के ही अनेक अंश समय-समय पर कला रूप से अवतार लेते है । यह अक्षर-ब्रह्म दो प्रकार से अवतार धारण करता है—धर्म-संस्थापन के लिए और संसार को आनन्द देने के लिये । वल्लभ-सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण को पूर्ण-आनन्द-स्वरूप पूर्णपुरुषोत्तम परब्रह्म माना गया है ।[3]

'तत्व-दीप-निबन्ध' के शास्त्रार्थ प्रकरण के प्रथम श्लोक मे ही लिखा है—"मैं उस भगवान् को नमस्कार करता हूँ, जिससे संसार की उत्पत्ति हुई है और जो रूप और नाम-भेद से उसमे रमण करता है ।" ब्रह्म के स्वरूपों का विश्लेषण करते हुए उसके तीन स्वरूप बताये गये है—१—पूर्ण-पुरुषोत्तम रसरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण, २—पूर्ण पुरुषोत्तम अक्षरब्रह्म, ३—अन्तर्यामी ब्रह्म । कृष्ण का अवतार उन्होंने चतुर्व्यूहात्मक तथा रसात्मक, दोनो रूपों से माना है । परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम अपने अक्षर-धाम तथा अपनी शक्तियो सहित अवतार लेता है; इसलिए ब्रजभूमि को भगवान् का लीलाधाम अथवा गोलोक का अवतार माना है और उसको मायिक जगत् से परे माना है ।

हम पहले कह चुके हैं वल्लभाचार्य जी ने जीव को अंश और परमात्मा को अंशी माना है । जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ निकलती है, उसी प्रकार सच्चिदानन्द अक्षर ब्रह्म के चिद् अंश से असंख्य जीव निकले और सद् अंश से जड प्रकृति, तथा आनन्दांश से उनके अन्तर्यामी रूप निकले । श्रीमद्भगवद्गीता मे भी जीव को उसका अंश माना गया है । अणु-भाष्य मे वल्लभाचार्य ने लिखा है :

अस्य जीवस्यैश्वर्यादितिरोहितम् ।[4]

अर्थात् भगवान् की इच्छा से जीव के ऐश्वर्य आदि छै गुण तिरोहित हो जाते है । ऐश्वर्य के तिरोभाव से दीनता, पराधीनता, वीर्य के तिरोभाव से सब प्रकार के दुःख, यश के तिरोभाव

१ अनन्तमूर्ति ब्रह्म ह्यविक्ति विभक्तिवत् ।
बहु स्याम् प्रजायेयेति लीला तस्य ह्यभूत् सती ॥ त० दी० नि० पृष्ठ ८७ ।

२ रसो वै स छान्दोग्य० ३ । १४ । २

३ परब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दक वृहत् । सिद्धान्त मुक्तावली, श्लोक ३ ।

४ अणुभाष्य अ० ३ पा० २ सू० ५

से हीनता, श्री के तिरोभाव से जन्म-मरण विषयक आपत्तियाँ, ज्ञान के तिरोभाव से अहंबुद्धि और सब पदार्थों का विपरीत-ज्ञान तथा वैराग्य के तिरोभाव से विषयों में आसक्ति हो जाती है। आनन्दांश का तिरोभाव तो पहले से ही हो जाता है।

वल्लभाचार्य ने जीव को अणुमात्र माना है, जो गंध की भाँति सम्पूर्ण शरीर में फैला हुआ है; उसका चैतन्य-गुण सर्व-शरीरव्यापी है।[१] जीव, असंख्य, नित्य और सनातन है। जीव में अपने अंशों के सब गुण है। अविद्या माया के कारण जीव बद्धावस्था मे रहता है और ऐश्वर्य आदि गुणो का उसमें से तिरोधान हो जाता है। उस समय जीव अनेक योनियों से भ्रमता रहता है। वल्लभाचार्य ने श्रुतियों से प्रमाण देकर जीव अणुत्व और आनन्त्य सिद्ध किया है।[२]

जीव-सृष्टि दैवी और आसुरी दो प्रकार की मानी गई है। दैवी जीव-सृष्टि पुष्टि तथा मर्यादा-भेद से दो प्रकार की है। पुष्टि सृष्टि के जीव चार प्रकार के होते है और उनकी उत्पत्ति पुरुषोत्तम के अङ्ग से मानी गई है। इस सृष्टि के जीवों के चार प्रकार ये है—शुद्ध-पुष्ट, पुष्टि-पुष्ट, मर्यादा-पुष्ट तथा प्रवाही-पुष्ट।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वल्लभाचार्य ने जड-जगत की उत्पत्ति अक्षर-ब्रह्म के सद् अंश से मानी है। ब्रह्म की रमण करने की कामना ही उसका कारण है; अर्थात्—भगवान् स्वय ही जगत् के रूप मे प्रकट हुए है। जैसे स्वर्ण से कटक कुण्डलादि बनते है, उसी प्रकार ब्रह्म से यह जगत् बना है, इसलिए भगवान् की क्रीडा का उपकरण रूप जगत् भी आनन्दरूप है। क्रीड़ा आधार के बिना सम्भव नहीं; अतः आधारत्वेन जड़-जीवात्मक सच्चिदश से सत्‌रूप प्रपंच का आविर्भाव किया है। यह दृश्यमान जगत् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का ही आविर्भाव है। इस प्रकार काष्ठवह्नि न्याय से आविर्भूत और अनाविर्भूत दोनों स्वरूपो मे ही जगत् सत्य, ज्ञान और अनन्त लक्षण लक्षित ब्रह्मरूप सच्चिदानन्द स्वरूप का भगवत्स्वरूप है। सिद्धान्त-मुक्तावली मे वल्लभाचार्य जी कहते हैं—

'परब्रह्म' तो श्रीकृष्ण ही हैं। सच्चिद् गणितानन्द अक्षर ब्रह्म है जो दो प्रकार का है, जगत्स्वरूप और उससे भिन्न। जगद्‌रूप के विषय मे विवाद करने वालों के अनेक मत है। कोई इसे मायाविष्ट बताता है और कोई त्रिगुणात्मक, कोई इसे ईश्वरकृत मानता है और कोई अनादि। वास्तव अक्षर ब्रह्म ही जगद्‌रूप है जो गङ्गा के जल के सदृश है; अर्थात्—जलरूप और दूसरा तीर्थ-रूप।[३]

अणुभाष्य मे आचार्य जी लिखते है, "ब्रह्म ही इस जगत् का निमित्त कारण है और वही इसका उपादान कारण"।[४] यह जगत् अविकृत् परिणामी है, अर्थात्—यह रूप बदलने पर भी लय होने के अनन्तर शुद्ध ब्रह्मरूप मे आ जायेगा। सृष्टि के विकास के विषय मे श्रीवल्लभाचार्य जी मानते है कि सच्चिदानन्द पूर्ण पुरुषोत्तम अपनी इच्छामात्र से सत्, चित् तथा गणितानन्द अक्षर ब्रह्म बनता है। उसके चिद्‌रूप से जीव रूप पुरुष और सद् अंश से प्रकृति का प्रादुर्भाव होता है। पुरुष और प्रकृति के साथ महत्तत्व, अहकारादि अन्य २६ तत्वो का आविर्भाव होता है। इन २८ तत्वो

---

१ जीवस्य हि चैतन्य गुणः स सर्व-शरीरव्यापी। अणुभाष्य २।३।२५

२ बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य तु।
भागो जीव स विज्ञेय' स चानन्त्याय कल्पते॥

३ सिद्धान्त मुक्तावली, श्लोक ३, ४, ५

४ अणुभाष्य ३।२।१७

से युक्त अण्डरूप सृष्टि मे परब्रह्म जब अन्तर्यामी रूप से प्रवेश कर उनका संचालन करता है, तभी अनेक रूपात्मक सृष्टि का प्रसार होने लगता है। इस अण्ड-सृष्टि को विराट् पुरुष भी कहा गया है। अक्षर, काल, कर्म और स्वभाव ये सृष्टि-कार्य ब्रह्म के ही स्वरूप है और इनकी गणना सृष्टि के २८ तत्वों में नही की गई है।[1]

वल्लभाचार्य ने ससार का सम्बन्ध जीव से बताया है। जगत् सत्य है, क्योंकि वह ब्रह्म का अविकृति परिणाम है; ससार जीवकृत होने के कारण ही झूठा है—

प्रपञ्चो भगवत्कार्यस्तद्रूपो मायायाऽभवत्।
तच्छक्त्याऽविद्यया त्वस्य जीवससार उच्यते ।।

त० दी० नि० शास्त्रार्थ प्रकरण, २६

ससार को जीव ने अपनी अविद्या माया से रचा है। इसका उपादान-कारण अविद्या और निमित्त-कारण जीव है। अहंता-ममतात्मक कल्पना का नाम ही ससार है। जब जीव अज्ञान से छूट जाता है तो उसके संसार का लय हो जाता है, किन्तु जगत् का लय भगवान् की इच्छा पर निर्भर है। श्रीमद्भागवत मे लिखा है, "यह संसार गुणो और कर्मो के कारण होने वाला जन्म-मरण का चक्र है। यद्यपि यह अज्ञान-मूलक एवं मिथ्या है, तथापि जीव को रस की प्रतीति स्वप्न के समान हो रही है।"[2] वल्लभाचार्य जी ने माया के दो रूप बताये हैं—विद्या-माया और अविद्या-माया। जीव माया के अधीन है, अविद्या-माया जीव के बन्धन का कारण है और विद्या-माया 'मुक्ति' का। अविद्या-माया के कारण ही जीव को भ्राति होती है, उसमे अहंता ममता के भाव आते है। माया दो प्रकार से भ्रम उत्पन्न करती है, एक तो विद्यमान को प्रकाशित नही होने देती, और दूसरे अविद्यमान को प्रकाशित करती है।[3] शास्त्रार्थ प्रकरण मे आचार्य जी ने माया को पञ्चपर्वा कहा है।[4] ये पाँच पर्व—अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रिय, देह और स्वरूप नाम के अध्यास है। स्वरूपाध्यास मे जीव यह बिल्कुल भूल जाता है कि वह भगवान् के चेतन रूप का अश है। इस अविद्या का नाश भगवान् की कृपा के बिना सम्भव नही है। भगवान् की कृपा होने पर जब जीव दुःख से छूट जाता है और उसे नित्यानन्द की प्राप्ति हो जाती है तब वह मुक्त हो जाता है।[5]

वल्लभ-सम्प्रदाय मे मुक्त जीव के अधिकार और साधन के अनुसार मुक्ति की अनेक अवस्थाएँ मानी है। नित्यानन्द की प्राप्ति ही मुक्ति है। विद्या के द्वारा जब अविद्या का नाश हो जाता है तो देह इन्द्रिय आदि का अध्यास मिट जाता है और जीव ससार के दुःख से छूट जाता है। जब तक जीव के प्रारब्ध कर्म नष्ट नही हो जाते अथवा उसे भगवान् की अनुकम्पा प्राप्त नही होती, तब तक उसका देहाभाव विद्यमान रहता ही है। प्रभु की कृपा के पात्र पुष्टि मार्गी भक्त के प्रारब्ध कर्म बिना भोग के ही नष्ट हो जाते है।[6] वह इस स्थल देह को छोड़ देता है और भगवान् की लीला के उपयुक्त देह को प्राप्त कर लेता है। भक्ति के द्वारा ही मुक्ति सरलता से प्राप्त हो सकती है, क्योंकि ज्ञान और योग के उपाय और साधन कष्ट-साध्य है। वल्लभाचार्य जी ने

---

१ तत्वदीप निबन्ध, सर्वनिर्णय प्रकरण।

२ श्रीमद्भागवत् ७। ७। २७

३ श्रीमद्भागवत् २। ६। ३३।

४ पञ्च पर्वा त्वविद्येय मद्बद्धो याति ससृतिम्।
विद्ययाऽविद्यानाशे तु जीवो मुक्तो भविष्यति। त० दी० नि० शा० प्र० ३६।

५ त० दी० नि० शास्त्रार्थ प्रकरण ३७, ३८।

६ अणुभाष्य ४। १। १७।

सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति-अवस्थाओं के अतिरिक्त स्वरूपानन्द की एक अवस्था और मानी है, जब मुक्त-जीव भगवान् की लीला का साक्षात् रूप से अनुभव करता है। वल्लभ-सम्प्रदाय मे इसी को अधिक महत्व दिया है और गोकुल को वैकुण्ठ से भी उच्च माना है। भगवान् के सयोग-विप्रयोगात्मक रस रूप के उपासक श्री वल्लभाचार्य इस अवस्था में संयोग और वियोग—दोनो ही रसों की अनुभूति करते है, इसीलिए उन्होने सायुज्य-मुक्ति की लयात्मक और प्रवेशात्मक—दो अवस्थाएँ मानी है। श्रीमद्भागवत की भाँति उन्होने 'सद्योमुक्ति' और 'क्रममुक्ति' भी स्वीकार की है। सद्योमुक्ति के अधिकारी पुष्टि-पुष्ट भक्त होते है, जिन्हे भागवान् आनन्द विग्रह देकर अपनी नित्य रसात्मक लीला मे ग्रहण करते है। क्रम-मुक्ति ज्ञानमार्गियों को प्राप्त होती है। अणुभाष्य के चौथे अध्याय मे मुक्ति और पुनरावृत्ति के विषय पर विस्तार पूर्वक विचार किया गया है। विरह की अवस्था को इस सम्प्रदाय ने बड़ा महत्व दिया है, क्योकि उस अवस्था मे ही भक्त और भगवान् का एकीकरण होता है। वह भी एक सायुज्य-अवस्था ही है। भगवान् का अनुग्रह ही जीव की मुक्ति मे विशेष कारण बनता है; जैसा अनुग्रह जिस जीव पर होता है, उसी के अनुसार अलौकिक शरीर मे प्रवेश कर मुक्त जीव भगवान् की लीला का आनन्द लेता है।[1]

हम पहले कह आये है कि चैतन्य-सम्प्रदाय वालों ने वृन्दावन को बहुत महत्व दिया है और उसी को भगवान् कृष्ण की नित्य लीला का स्थल बताया है। वल्लभ-सम्प्रदाय मे गोकुल का महत्व है और अक्षर-ब्रह्म के लीला-धाम का नाम गोकुल, गोलोक या वृन्दावन कहा गया है, जहाँ भगवान् अपनी आनन्द-प्रसारिणी शक्तियो के साथ लीला करते है। ब्रज, वृन्दावन अथवा गोकुल—नित्यलीला-धाम गोलोक का अवतरित रूप है। वल्लभाचार्य जी ने गोकुल की महत्ता वैकुण्ठ से भी अधिक मानी है।[2] इसीलिये वल्लभ-सम्प्रदायी भक्त इसी गोलोक की प्राप्ति को अपनी साधना का परम लक्ष्य मानता है।

श्रीकृष्ण-लीलाओं का आध्यात्मिक पक्ष तथा प्रतीकार्थ

भगवान् की त्रिविधात्मक शक्ति का सूत्र तो विष्णु-पुराण से लिया गया है, परन्तु ब्रह्म के स्वरूपों का जैसा विस्तार और समन्वय श्रीमद्भागवत मे है, वैसा अन्यत्र नहीं। इसलिये वैष्णव-धर्म में श्रीमद्भागवत को प्रामाणिक माना गया है, विशेषकर बगाल के सभी वैष्णव-सम्प्रदाय भागवत को लेकर चले हैं। भागवत मे वर्णित कृष्ण-लीलाओ को लेकर चैतन्य महाप्रभु के शिष्य—वृन्दावन के गोस्वामियों ने बड़े-बड़े रूपक बांधे है। इस विषय मे सनातन गोस्वामी का 'वृहद-भागवतामृत' तथा रूप-गोस्वामी का 'लघु-भागवतामृत' विशेष उल्लेखनीय हैं। 'लघु-भागवतामृत' में अवतारों का विशद विवेचन है। रूप गोस्वामी ने कृष्ण को पूर्णावतार माना है और उनकी लीलाओं को नित्य-लीला कहा है। जीव गोस्वामी ने अपने 'कृष्ण-सदर्भ' मे इस विषय को और भी विस्तार दिया है। भगवान् की नित्य-लीला प्रकट और अप्रकट, दोनो रूपो मे रहती है। प्रकट लीला मे वे भक्तों के सम्मुख प्रकट होते है और यह लीला उनकी शक्ति ही का कार्य है। इस लीला मे भगवान् वृन्दावन, मथुरा और द्वारका मे विहार करते है, परन्तु नित्य-लीला मे अपने नित्य-धाम वृन्दावन में रहते है, जहाँ उनका केवल द्विभुज रूप है और वह केवल अपनी शक्ति-स्वरूपा एक गोपी से विहार करते हैं, मथुरा मे वे वासुदेव और द्वारका में प्रद्युम्न और अनिरुद्ध रूप हो जाते है। यशोदा के वे नित्य पुत्र हैं और देवकी के पुत्र केवल प्रकट-लीला मे ही होते है।

१ अणुभाष्य ४।४।७
२ वही ४।२।१५

वृन्दावन से उनका कभी वियोग नही होता, क्योंकि वह उनका गोलोक है। लीला भगवान् की दैवी शक्ति का ही एक स्वरूप है और उसके प्राकृत और अप्राकृत दो भेद है। वृन्दावन से कृष्ण का वियोग प्राकृत लीला में है, जो केवल स्थूल रूप से वियोग माना गया है। सूक्ष्म रूप से प्राकृत-लीला मे भी उनका वृन्दावन से नित्य सम्बन्ध है जो दो प्रकार का है—आविर्भाव और अगति। अप्राकृत-लीला में भी कृष्ण का वृन्दावन से नित्य-सम्बन्ध रहता है। इसलिये वृन्दावन मे ही माधुर्य-भाव की पूर्णता है। इस माधुर्य-भाव में कृष्ण का ऐश्वर्य, क्रीडा, वेणु तथा स्वरूप सम्मिलित हैं।

रूप गोस्वामी ने 'लघु-भागवतामृत' मे भक्तों की कोटियाँ गिनाई हैं और पद्म-पुराण तथा श्रीमद्भागवत का आधार लेकर अनेक सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। भगवान् कृष्ण के स्वरूप की भाँति उनके परिकरों का भी पूर्ण विवेचन किया गया है। द्वारका तथा मथुरा मे भगवान् के परिकर यादव है, तथा वृन्दावन और गोकुल मे गोप और गोपियाँ। ये परिकर भी कृष्ण की भाँति प्राकृत और अप्राकृत है। गोकुल और वृन्दावन मे गोप-गोपियो का सम्बन्ध नित्य-सम्बन्ध है, जिनमे अलौकिकता का भाव है। जीव गोस्वामी ने कृष्ण और गोपियो के सम्बन्ध को शुद्ध सात्विक सम्बन्ध माना है और जार-बुद्धि का विश्लेषण भी इसी रूप से किया है।

चैतन्य महाप्रभु के शिष्यों ने वैष्ण-सम्प्रदाय को शास्त्रीय रूप देने मे बहुत अधिक योग दिया। यों तो उनके शिष्य वृन्दावन के छै गोस्वामी थे और सभी ने इस विषय मे योग दिया है, परन्तु सनातन, रूप और जीव का कार्य बडा महत्वपूर्ण है। सनातन और रूप, दोनों सहोदर थे और जीव गोस्वामी उनके भ्रातृज। इन्होंने १५ वी शताब्दी के अन्तिम वर्षो मे ग्रन्थ लिखने प्रारम्भ किये और सोलहवी शताब्दी के मध्य तक उनका यह लेखन-कार्य चलता रहा। वृन्दावन के प्रायः सभी सम्प्रदाय उनसे प्रभावित हुए हैं। वल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट झलक जाती है कि सिद्धान्त रूप से वल्लभ-सम्प्रदाय चैतन्य-सम्प्रदाय से बहुत अधिक प्रभावित हुआ है। कृष्ण-लीला का आध्यात्मिक पक्ष थोड़े बहुत अन्तर से प्राय. चैतन्य-सम्प्रदाय ही लिया गया है। वल्लभाचार्य जी के पश्चात् गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने तो अपने सम्प्रदाय का विस्तार पर्याप्त मात्रा मे चैतन्य-साम्प्रदाय के आधार पर ही किया। श्री वल्लभाचार्य ने श्रीमद्भागवत को समाधि भाषा कहकर प्रस्थान चतुष्टय मे सम्मिलित किया। उन्होने तत्वदीप निबन्ध, दशम स्कन्ध की अनुक्रमणिका तथा सुबोधिनी मे श्रीमद्भागवत का रहस्य प्रतिपादित किया है और भागवत के सात प्रकार के अर्थ बताये है—चार प्रकार के भागवतार्थ-प्रकरण मे, और तीन प्रकार के सुबोधिनी मे। सम्पूर्ण ग्रन्थ भगवान् का मूर्तिमान् स्वरूप है, और दशम स्कन्ध सारे ग्रन्थ का रहस्य होने के कारण हृदय माना गया है। दशम स्कन्ध के अध्याओं को भी उन्होंने सङ्गति लगाई है। अन्तिम तीन अध्याओ को प्रक्षिप्त मानकर शेष ८७ अध्याओं को पाँच प्रकरणों मे विभाजित किया है-- जन्म-प्रकरण, तामस-प्रकरण, राजस-प्रकरण, सात्विक-प्रकरण और गुण प्रकरण। तामस प्रकरण मे उन्होने पूर्ण रुप से आध्यात्मिकता का आरोप किया और युगलगीत तक का विषय इस प्रकरण में माना है।

वल्वभ-सम्प्रदाय मे भगवान कृष्ण को पूर्णावतार मानकर उनके चार व्यूह माने है—वासुदेव संकर्षण पद्युद्म और अनिरुद्ध। इन चारों के कार्य पृथक-पृथक है। पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का अवतार उन्होने दो जगह माना है—श्री वासुदेव देवकी के यहाँ और श्री नन्द यशोदा के यहाँ। दोनों जगह श्रीकृष्ण का जन्म व्यूह सहित ही हुआ है। कही व्यूह का प्राकट्य कार्य से है और कही

स्वरूप से। वासुदेव-देवकी के यहाँ चारों व्यूह स्वरूप भी प्रकट हैं; अर्थात्--भगवान ने ब्रज में अपने व्यूहों का स्वरूप छिपा कर रखा है, किन्तु व्यूहो का कार्य किया है और मथुरा में भगवान् ने अपने व्यूहो का स्वरूप भी प्रकट किया है और कार्य भी। अतएव भगवान् ने वसुदेव जी के यहाँ अपने चतुर्भुज स्वरूप का दर्शन कराया। श्रीहरिराय के स्वरूप-निर्णय' मे कृष्ण के संयोग-विप्रयोगात्मक स्वरूप की व्याख्या विस्तार से की गई हैं। गोपियाँ नित्य-सिद्धा, श्रुतिरूपा और अग्निकुमार स्वरूपा बताई गई हैं। इस प्रकार भगवान् की लीला को आध्यात्मिक रूप दिया गया है।[1]

प्रतीकार्थ

राधा, गोपी, मुरली तथा रास

पिछले अध्याय मे राधा का विवेचन करते हुए हमने बताया कि राधा भगवान् की आल्हादिनी शक्ति है। चैतन्य-सम्प्रदाय मे राधा को बहुत अधिक महत्व दिया गया है और चैतन्य-महाप्रभु को राधा और कृष्ण का सयुक्त रूप माना है। वल्लभाचार्य के सिद्धान्त-ग्रन्थो मे राधा का इतना विवेचन नही है, जितना उनके पश्चात् लिखे गये सम्प्रदाय-ग्रन्थो मे। सम्भवतः यह प्रभाव चैतन्य तथा निम्बार्क-सम्प्रदाय का है। निम्बार्क-सम्प्रदाय मे युगलरूप की उपासना की जाती है। 'भागवत-सन्दर्भ मे जीव-गोस्वामी ने राधिका को भगवान् की स्वरूप शक्ति माना है। यह स्वरूप-शक्ति भगवान् के विभिन्न लीला-स्थलो पर विभिन्न स्वरूप धारण करती है। मथुरा तथा द्वारका मे इस स्वरूप-शक्ति का नाम 'महिषी' है, जो सोलह हजार रानियो के लिये आया है। इन सोलह हजार में से आठ भगवान् की पट्टमहिषी है। वृन्दावन मे भगवान् की स्वरूप-शक्ति ब्रजदेवियो के रूप मे प्रकट हुई है; जो भगवान् की आल्हादिनी शक्ति राधिका के शरीर से ही उत्पन्न हुई है। इस प्रकार राधिका को जीव गोस्वामी ने प्रधान स्थान दिया है।[2] 'प्रीति-सन्दर्भ' मे उन्होंने राधिका का प्रेमोत्कर्ष पराकाष्ठा पर माना है और उसे सर्वश्रेष्ठ भक्त अथवा परिकर के रूप मे ग्रहण किया है। भागवत की अन्यतमा सखी को ही वे राधिका मानते है।

पुराण-साहित्य मे भी गोपिकाओं के विषय मे इसी प्रकार के आध्यात्मिक आरोप मिलते हैं, जिसका विवेचन हम पहले कर चुके है। विशेषकर पद्म पुराण के पाताल-खण्ड के तितालीसवें अध्याय मे उन्हें श्रुति-स्वरूपा और मुनि-स्वरूपा कहा गया है। भागवत् में इस प्रकार के अनेक सकेत है। भगवान् के समान गोपियाँ भी परम रसमयी और सच्चिदानन्दमयी मानी गई है। साधना की दृष्टि से उन्होंने न केवल जड़ शरीर का ही त्याग किया, अपितु सूक्ष्म शरीर से प्राप्त होने वाले स्वर्ग तथा कैवल्य से अनुभव होने वाले मोक्ष की भी उपेक्षा कर दी। भागवतकार ने लीलामय कृष्ण को तीन प्रकार का माना है। कुरुक्षेत्र मे श्रीकृष्ण पूर्णसत् और ज्ञान-शक्ति-प्रधान है, द्वारका और मथुरा में श्रीकृष्ण पूर्णचित और क्रिया-प्रधान है तथा वृन्दावन मे वे पूर्णानन्द और इच्छा-शक्ति-प्रधान है। इसीलिये लीला को Playing in the infinite कहा है। भगवान् कृष्ण की सभी लीलाओ मे अध्यात्म का आरोप किया गया है। श्रीमद्भागवत मे इस अध्यात्म-तत्व का निर्देश स्थान-स्थान पर मिलता है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् की सारी लीलायें प्रधान रूप से किसी न किसी उद्देश्य को लेकर की जा रही थी। गोप गोपिकायें आदि सभी प्रच्छन्न रूप में, असाधारण अथवा अति-मानव थे। यहाँ तक कि असुर भी किन्ही विशेष प्रयोजनों तथा कारणों से उस लीला पुरुषोत्तम नटवर के सम्पर्क मे आते थे। माखन-चोरी, उलूखल-बन्धन, दामोदर-

१ स्वरूप-निर्णय (हरिराय जी)

२ भागवत सन्दर्भ (जीव गोस्वामी)

लीला, चीर-हरण, रास-लीला, वेणु-वादन आदि सब पर ही आध्यात्मिक आरोप हुए हैं। गोपियो के पूर्व-जन्म की कथायें तो पुराणो मे भरी पड़ी है। इन गोपियो ने भगवान् के लिये कल्पो तक साधना करके गोपीतन प्राप्त किया था और उनकी अभिलापा पूर्ण करने के लिये ही भगवान् की लीलाएँ की। श्रीमद्भागवत मे भगवान् ने स्वय गोपियो से कहा है, "हे गोपियो, तुमने लोक और परलोक के सारे बन्धनों को काटकर मुझ से निष्कपट प्रेम किया है। यदि मैं तुम मे से प्रत्येक के लिये अलग-अलग अनन्तकाल तक जीवन धारण करके तुम्हारे प्रेम का बदला चुकाना चाहूँ, तो भी नही चुका सकता। मैं तुम्हारा ऋणी हूँ और ऋणी ही रहूँगा।"[1]

चीर-हरण और रास-लीला को साम्प्रदायिको ने बडा महत्व दिया है और वेणु से भगवान् का अविच्छिन्न सम्बन्ध माना है। आचार्य वल्लभ ने 'वेणुगीत' का विषय दशम स्कन्ध के तामस प्रकरण के अन्तर्विभाग प्रमेय-प्रकरण में माना है इस तामस प्रकरण के चार विभाग किये है—प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल। प्रमाण-प्रकरण मे प्रभु अपने नि साधक भक्तो के विरोध के लिये प्रेम-दान करते है फिर प्रमेय मे वह प्रेम विकसित होकर आसक्ति रूप बन जाता है और साधन मे भक्तिमार्गीय साधन द्वारा वह व्यसनावस्था को प्राप्त हो जाता है इस अवस्था मे शुद्ध भक्ति का भल प्रभु के साथ रमण; अर्थात् रास-लीला होती है। इस प्रकार वल्लभाचार्य ने तामस प्रकरण के चारों अन्तर्विभागों की परस्पर संगति दिखाई है। इन्हे भक्ति की चार अवस्थायें, अर्थात् स्नेह, आसक्ति, व्यसन और तन्मयता कहा जा सकता है। 'वेणुगीत' ब्रज भक्तो की आसक्ति का बहिरुद्गम कराने का प्रयास है। सगीत, काव्य और भक्ति, सभी दृष्टियों से वेणुगीत बड़ा महत्वपूर्ण है। इस सूत्र को ग्रहण करके हिन्दी, गुजराती और मराठी के कवियो ने जाने कितने काव्य लिखे है ? इस गीत-सूत्र मे भक्ति-मार्ग का अत्युत्तम सिद्धान्त गुम्फित है। इसमे भगवान् स्वयं अपने शब्द द्वारा चराचर सृष्टि को तल्लीन करते है। सगीत का महत्व भी इस गीत से प्रकट होता है। संगीत का महत्व और प्रभाव जगत् के समस्त साहित्य मे बताया गया है। ग्रीक-साहित्य मे Orphense का वर्णन है, जो सगीत के प्रभाव से चराचर जगत् को हिला देता, समुद्र की उछलती तरगों को शान्त कर देता, वायु के वेग को रोक सकता और पर्वतो को गति दे सकता था। मिल्टन ने अपने 'पैराडाइज लॉस्ट' मे भी यही लिखा है कि —'जब ईश्वर ने इस सृष्टि की रचना की तो पहले बिखरे हुए महाभूतो को संगीत के द्वारा एकत्र किया और फिर सृष्टि रची।' ड्राइडन ने इसी बात को अपने 'सेंट-अमीलिया' की प्रार्थना के गीत मे दिखलाया है कि—'संगीत मे केवल वस्तु के सर्जन करने की ही नही, किन्तु लय करने की भी शक्ति है।[2] स्टीवेन्सन ने अपने 'Pans Pipes (पैन्स पाइप्स) नामक लेख मे वशी बजाते हुए 'पैन'—अर्थात्—प्रकृति-देव की कल्पना की है। भागवतकार ने भी इसी प्रकार वेणुगीत मे संगीत की अलौकिक शक्ति का परिचय कराया है। सूरदास ने मुरली विषयक इतने पद लिखे है कि वे एक अलग खण्ड काव्य का रूप धारण कर सकते हैं।

वेदों में भगवान् के दो स्वरूप बतलाये गये है— नाम और रूप। वेणु-गीत भगवान् के नामात्मक स्वरूप का बोध कराता है। वेणु शब्द व+इ+अणु, इस प्रकार तीन अक्षर है। 'व' का अर्थ—ब्रह्म का सुख, 'इ' का अर्थ—काम का सुख, और 'अणु'—अर्थात्—तुच्छ। इस प्रकार जिस सुख के सामने सांसारिक तथा आध्यात्मिक सुख अणु, अर्थात् तुच्छ हो जाते है, उसे वेणु कहते है। वेणु मे सात छेद हैं, उनमें से छै छेद तो भगवान् के ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य के

---

१ प्रीति सन्दर्भ (जीव गोस्वामी)

२ भागवत १०।३२। २२

द्योतक हैं, एक मातवाँ उपर्युक्त छै धर्मो से युक्त अप्राकृत देहधारी स्वयं भगवान् का बोध कराता है। श्री वल्लभाचार्य जी ने अपनी 'सुबोधिनी' टीका मे वेणु-गीत का बड़े विस्तार के साथ अर्थ किया है और सारे ही गीत को प्रभु मे आसक्ति द्वारा निरोध सिद्ध कराने के लिए बताया है। इस गीत के कुल २० श्लोक हैं। पहले श्लोक मे वर्णित वृन्दावन-प्रवेश और दूसरे मे वर्णित वेणु-कूजन गोपियों की आसक्ति को उद्दीप्त करने वाले है। 'वृन्दावन' का अर्थ भक्ति और 'वन' का प्रदेश है, इसलिये 'वृन्दावन' का अर्थ हुआ। भक्ति का प्रदेश। आगे स्वरूप के प्रति गोपियों को आसक्ति कराने के लिए भगवान भी मन और कर्म को छोडकर भक्ति के प्रदेश मे प्रवेश करते हैं। इसीलिए पहले श्लोक मे वृन्दावन-प्रवेश का वर्णन है। वहाँ प्रवेश करने पर भगवान गोपियो की अलौकिक साधन से आसक्ति का दान करते हैं। इस प्रकार पहले दो श्लोकों मे स्थान और साधन की अलौकिकता बताकर तीसरे श्लोक मे अनन्यभाव से आसक्त गोपियों द्वारा भगवान् के स्वरूप और लीला का वर्णन कराया है। यह वर्णन 'विद्या' अर्थात् स्वरूप और लीला—के ज्ञान के बिना नही हो सकता, इसलिए फिर विद्या का वर्णन है। वल्लभाचार्य ने विद्या के पाँच प्रकार माने है–सांख्य, योग, तप, वैराग्य और भक्ति। 'रसघन प्रभु ही मेरे सर्वस्व हैं', इस निश्चय का नाम ही साख्य है। अन्त.करण की वृत्तिमात्र का प्रभु मे लगा रहना ही योग है। भगवान् के विरह मे ताप और क्लेश का अनुभव करना तप है। एक प्रभु को छोडकर अपर वस्तु मे चित्त न जाय, इसका नाम वैराग्य है। ऐसी आसक्ति, जिसमे लेश-मात्र भी लोक-आसक्ति (सासारिक मोह) न हो, भक्ति कहलाती है। इस विद्या का फल प्रभु है और उन प्रभु के स्वरूप का वर्णन वेणु-गीत के सातवे श्लोक से बीसवें श्लोक तक किया है। वेणु-गीत का तात्पर्य भक्ति-मार्ग की स्थापना है। भागवत मे वेणु का प्रभाव बतलाते हुए लिखा है—

अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणाम्।[1]

अर्थात्—बाँसुरी की तान से, मनुष्यों की तो बात ही क्या, सभी चलने वाले चेतन पशु-पक्षी और जड़ नदी आदि स्थिर हो जाते है तथा अचल वृक्षो को भी रोमाञ्च हो आता है।

चीर-हरण लीला के विषय में भी अनेक प्रकार से आध्यात्मिकता का आरोप किया गया है। यद्यपि श्रीकृष्ण की आयु चीर-हरण लीला के समय केवल आठ-नौ वर्ष की थी और इस अवस्था मे कामोत्तेजना का प्रश्न उपस्थित नहीं होता। आध्यात्मवादी व्यक्ति इस लीला को भी भौतिक रूप मे ग्रहण नही करते, वे तो श्रीकृष्ण को आत्मा के रूप मे और गोपियो को वृत्तियों के रूप मे देखते हैं। वृत्तियों का आवरण नष्ट होना ही चीर-हरण लीला है और उनका आत्मा मे रम जाना रास-लीला है। गोपिकाएँ ब्रह्मान्वेषणकारिणी भक्ति-साधिका हैं। अनेक जन्मों के पुण्यों के फलस्वरूप उन्हें परमात्मा श्रीकृष्ण प्राप्त हुए है। उनकी अहबुद्धि को छुड़ाने के लिये भगवान् ने यह लीला की और इसीलिए अन्त में भगवान् गोपिकाओ से कहते हैं—"हे कुमारियो, अब तुम अपने-अपने घर को लौट जाओ, तुम्हारी साधना सिद्ध हो गई है, तुम आने वाली शरद्-ऋतु की रात्रि मे मेरे साथ विहार करोगी, जिसके उद्देश्य से तुमने यह व्रत और कात्यायनी देवी की पूजा की थी।"[2]

चीर-हरण लीला में भगवान् ने गोपियों की साधना को पूर्ण किया है वे कृष्ण के लिये आत्म-समर्पण करना चाहती थी, किन्तु उनके समर्पण में कमी थी। वे निरावरण रूप से श्रीकृष्ण

१ 'भागवत' वेणुगीत श्लोक १६

२ यातावला व्रज सिद्धा मयेमा रस्यथ क्षपा'।
यदुद्दिश्य व्रतमिद चेरुरार्याचिन सती.॥ भागवत १०।२२।२७

के सम्मुख नही जा पा रही थी, उनमे कुछ झिझक थी। उनकी साधना को पूर्ण बनाने के लिये उन्हें निवारण करना आवश्यक था। भक्ति की दृष्टि से भी वैधी भक्ति का पर्यवसान रागात्मिका भक्ति में है और रागात्मिका भक्ति की परिणति पूर्ण आत्म-समर्पण मे। गोपियों ने वैधी भक्ति का पूर्ण अनुष्ठान किया था और उनका हृदय रागात्मिका भक्ति से परिपूर्ण था। चीर-हरण लीला से पूर्ण आत्म-समर्पण का कार्य सम्पन्न हुआ। गोपियो की इस दिव्य लीला का जीवन उच्च कोटि के साधन के लिए आदर्श जीवन है। श्रीकृष्ण जीव के एकमात्र प्राप्तव्य साक्षात् परमात्मा है। उनकी यह लीला अपार और अप्राकृत है। श्रीकृष्ण उनके वस्त्रों के रूप मे उनके समस्त संस्करण-आवरणों को अपने हाथ मे लेकर समीपस्थ कदम्ब-वृक्ष पर चढकर बैठ गए। गोपियाँ जल मे थीं और वहाँ अपने आपको सर्व-व्यापक, सर्वदर्शी भगवान् से प्रच्छन्न समझ रही थी। उनकी इस भूल का सुधार श्रीकृष्ण करना चाहते थे। हम संसार के अगाध जल मे आकण्ठ मग्न हैं और भगवान् को भूले हुए है। भगवान् यही बताते है कि भक्तो ! संस्कार शून्य होकर, निरावरण होकर, माया का पर्दा हटाकर मेरे पास आओ। तुम्हारा मोह का पर्दा मैंने छीन लिया है, अब तुम इस पर्दे के मोह मे क्यो पड़े हो ? यह पर्दा ही तो परमात्मा और जीव के बीच बडा व्यवधान है, जो भगवत्प्रेम से ही दूर हो सकता है। प्रभु के सम्पर्क से वह पर्दा भी प्रसाद रूप हो जाता है। यही चीर-हरण लीला का प्रतीकार्थ अथवा आध्यात्मिक पक्ष है।

रास-लीला के विषय मे भी इसी प्रकार विचार किया जा सकता है। ब्रज-लीला की पराकाष्ठा रास-लीला मे है। आत्माराम श्रीकृष्ण की आत्मा राधिका है। वंशी उनकी प्रेमरूपिणी है। जिस प्रकार बालक अपने प्रतिबिम्ब के साथ क्रीडा करता है, उसी प्रकार भगवान् कृष्ण ने बहुधा विभक्त आत्मरूपिणी ब्रज-गोपिकाओं के साथ रास-लीला करने के लिये सुखमयी रजनी मे सुन्दर यमुना-पुलिन पर प्रेम-वंशी के शब्द से सकेत-ध्वनि की। रास शब्द का मूल रस है और रस स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही है। जिस दिव्य क्रीड़ा में अनेक रस एक ही रस मे होकर अनन्त-अनन्त रस का आस्वादन करें, एक रस ही रस-समूह के रूप मे प्रकट होकर स्वयं आस्वाद्य, आस्वादक, लीलाधाम और विभिन्न आलम्बन एवं उद्दीपन के रूप मे क्रीड़ा करे, उसका नाम रास है। विश्व की नियमबद्ध गति को भी रास कहा गया है। विश्व मे गति ही प्रधान है तथा यह गति नियमबद्ध होती है। इसी नियमबद्ध गति से विश्व का प्रादुर्भाव और इसी मे विलय है। जो इसका रहस्य समझता हुआ इसमे प्रवृत्त होता है, वही इसके सच्चे आनन्द का अनुभव कर सकता है। भगवान् अपने मधुर आह्वान से प्रत्येक व्यक्ति को रास के लिए बुलाते है और जो अपना अहंभाव त्यागकर इस ओर अग्रसर होता है, वही इस आनन्द की प्राप्ति करता है।

वल्लभाचार्य जी ने अपना सुबोधिनी मे 'रास', 'वेणु' आदि के ऊपर विचार किया है। रास के विषय मे उनका मत है कि—भगवान् ने ब्रज में लीलाएँ इसीलिए की कि युक्त जीवो को ब्रह्मानन्द से मुक्त होकर भजनानन्द मिले। रास की व्याख्या करते हुए वे लिखते है :

"रसस्याभिव्यक्तिर्य स्मादिति, रसप्रादुर्भावार्थंयेव नृत्यम्। रासक्रीडायां मनसो रसोद्गमो न तु देहस्य।"[1]

अर्थात्—जिससे रस की अभिव्यक्ति हो, उसे 'रास' कहते है। रस के प्रादुर्भाव के लिए उसमे नृत्य का समावेश होता है। रास-क्रीड़ा में मानसिक रस का उद्गम होता है, देह द्वारा प्राप्त अनुभव से उस रस की उत्पत्ति नही होती। वल्लभाचार्य जी ने आभ्यन्तर और बाह्य दो प्रकार का रास माना है :

---

१ 'भागवत' की सुबोधिनी टीका (रास प्रकरण)

बाह्याभ्यन्तरभेदेन आन्तर तु पर फलम् ।[1]

दास्य, वात्सल्य, सख्य और माधुर्य मे केवल माधुर्य भाव से ही रस की अनुभूति होती है ।

हम पहले सकेत कर चुके हैं कि गोपियाँ भगवान् की आनन्दरूपिणी शक्तियाँ है, राधा भगवान् की आह्लादिनी शक्ति है, इसीलिए कृष्ण और गोपियाँ अभिन्न है । वल्लभ सम्प्रदाय मे गोपिकाएँ रसात्मकता सिद्ध कराने वाली शक्तियो की प्रतीक और राधा रसात्मक-सिद्धि की प्रतीक मानी गई है । रासपञ्चाध्यायी के फल प्रकरण के तीसरे अध्याय मे वल्लभाचार्य ने रास मे प्रवेश करने वाली गोपियो को १९ प्रकार की बताया है, जो मुख्यतः तीन वर्ग की थी— १—अनन्यपूर्वा (विवाहिता तथा कुमारिका), २—अन्यपूर्वा (विवाहिता), ३—गुणातीता । पहले दो प्रकार की गोपियाँ—तामस, राजस, सात्विक तीनो गुणों के प्रभाव से तथा तीनों गुणों के मेल से नौ-नौ प्रकार की होती हैं । उन्नीसवी गोपी निर्गुण थी । राधा का समावेश वल्लभ-सम्प्रदाय मे मुख्य रूप से विट्ठलनाथ जी ने किया, जो सम्भवतः चैतन्य-सम्प्रदाय का स्पष्ट प्रभाव है ।

योग की दृष्टि से भी रास का महत्व इसी प्रकार समझा जा सकता है । अनाहतनाद ही भगवान् श्रीकृष्ण की वशी-ध्वनि है, अनेक नाडियाँ ही, गोपिकाएँ हैं, कुण्डलिनी ही राधा है और मस्तिष्क का सहस्रदल कमल ही वह वृन्दावन है, जहाँ आत्मा और परमात्मा का सुखमय मिलन होता है तथा जहाँ पहुँचकर जीवात्मा की सम्पूर्ण शक्तियाँ ईश्वरीय विभूति के साथ सुरम्य रास रचती हुई नृत्य किया करती है । वल्लभाचार्य ने 'रास पञ्चाध्यायी' को समाधि भाषा में लिखा कहा है, अतः इसका रहस्य अनेक दृष्टियो से इस प्रकार समझा जा सकता है—भगवान् कृष्ण आनन्दानुभूति की पूर्ण अभिव्यक्ति हैं और यह रास परम उज्ज्वल रस का एक प्रकार है । साम्प्रदायिको ने रास को केवल रूपक या कल्पना-मात्र नही माना है, प्रत्युत उसे सत्य स्वीकार किया है, अन्तर केवल इतना है कि वह लौकिक स्त्री-पुरुषों का मिलन न था । उसके नायक थे सच्चिदानन्दविग्रह, पूर्णतया स्वाधीन, निरकुश और स्वेच्छाचारी गोपीनाथ भगवान् नन्दनन्दन, जिनकी नायिका थी स्वय उनकी आह्लादिनी शक्ति राधा जी और उनकी काव्य-व्यूह-रूपा घनीभूत मूर्त्तियाँ श्री गोपीजन । इसलिए उनकी यह लीला अप्राकृत थी । भागवत मे शुकदेव जी ने इसका समर्थन किया है ।[2]

रास-लीला को एक वैज्ञानिक स्वरूप भी दिया गया है । एक मुख्य केन्द्र के आकर्षण के अनुसार उसके चारो ओर गतिमान् आश्रितो की जो गति होती है, उसे रास कहते है, जैसे—सौर-जगत् मे सूर्य केन्द्र है, उसके आसपास गृह और उपगृहो की मण्डली होती है, जो अपने केन्द्र सूर्य के आकर्षणानुसार अपनी विशेष गति से गतिमान् है । उनकी यह गति उनकी रास-लीला है । इसी प्रकार मनुष्य के अन्दर भी रास-लीला हुआ करती है, मनुष्य के शरीर मे उसका केन्द्र हृदय है और विभिन्न अग उससे शक्ति लाभ करते हुए समग्र शरीर की रक्षा हेतु अपने-अपने जो कर्त्तव्य करते है, वह भी एक रास-लीला ही है । इसी प्रकार विश्वरूप वृत्त मे भगवान् कृष्ण परम केन्द्र हैं, प्रकृति इसकी परिधि हैं और जीवात्मा-गण नाना रेखाएँ है, जो केन्द्र से निकल कर परिधि की ओर गई है । इन जीवात्माओं का प्रकृति की ओर जाना प्राकृत-लीला है । जीवात्मा-गण इस प्राकृतिक चक्र मे पड़कर अपने केन्द्र को बिल्कुल भूल गए है । पीछे ज्ञान के द्वारा उनकी आत्म-विस्मृति दूर होती है और ये जीवात्मा-रूप सरल रेखाएँ परिधि को त्यागकर अपने केन्द्र के

१ सुबोधिनी फल प्रकरण कारिका

२ भागवत १० । २९ । १३–१६ तथा १० । ३३ । ३०–३७

आकर्षण से आकृष्ट होकर केन्द्र की ओर जाती है। अपने केन्द्र की ओर आना ही विश्व की आध्यात्मिक रासलीला है, जो नित्यप्रति होती रहती है। इसी नित्य-रास-लीला का अभिनय ब्रज मे रसोत्सव के रूप मे किया गया। यह अभिनय गोपीरूप जीवात्माओं का अपने परम कारण परमात्मा रूप श्रीकृष्ण के साथ युक्त होना था। यह दो भौतिक शरीरो का नही, आत्मा और परमात्मा का मिलन था। इसीलिए इस रास-लीला मे प्रवेश करने का अधिकार उसी को है, जिसने प्राकृतिक नानात्व की वासना और ममता तथा स्वीय अहंभाव रूप पुरुष-भाव को सर्वथा त्याग दिया है और अपनी आत्मा को भगवान् की शक्तिमात्र मानकर उनकी दी हुई वस्तु उन्ही को समर्पित करने के लिए सदा लालायित रहता है। यही गोपीभाव है। इस गोपीभाव मे पगे हुए अपने भक्त के बिना भगवान् को चैन नही पड़ता और जब भगवान् यथा समय उनका आह्वान करते है तो दोनो का मिलन होता है, जिसे रास-लीला कहते है। इस रास-लीला को बाह्यरूप मे भी अभिनीत करके भगवान् श्रीकृष्ण ने भावि-भक्तों के हितार्थ प्रस्तुत किया जहाँ गोपियाँ आत्म-समर्पण की मूर्त्तियाँ थी और भगवान् श्रीकृष्ण स्वय परमेश्वर थे। आत्मा और परमात्मा का यह मिलन बाहर से बाँह पकड़ने के समान है, जिससे दोनो मुक्त हो जाते है; जैसे—भगवान् श्रीकृष्ण ने गोपियों के हाथो को अपने हाथ मे लेकर उनसे नृत्य कराया, उसी प्रकार समर्पितात्मा भक्त की सारी चेष्टाएँ और क्रियाएँ भगवान् के द्वारा ही संचालित होती है। दोनो की भाव-गति एक हो जाती है और उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही रहता। भगवान् उसका निमित्त रूप से विश्व-लीला से विश्व-हितार्थ यन्त्रवत् उपयोग करते हैं। यही रासलीला का यथार्थ भाव और रहस्य है।

सूरदास जी का दार्शनिक पक्ष

सूरदास जी तत्वतः दार्शनिक नही थे। वे तो संत, भक्त और सिद्ध कवि थे। उनका लक्ष्य दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना नही था। भगवान् की भक्ति मे विभोर हुए उनके हृदय की तन्त्री से जो राग स्वतः निर्गत हुए, उन्ही का संकलन 'सूरसागर' है। परन्तु महात्मा सूरदास एक विशेष सम्प्रदाय मे दीक्षित थे—और उसी की सेवा-पद्धति को जो उस सम्प्रदाय का आचरण-पक्ष है, उन्होने अपनाया था—इसीलिए उसके सिद्धान्त-पक्ष से भी सूरदास जी अवश्य प्रभावित हुए होगे। सूर-साहित्य की पृष्ठ-भूमि मे हम लिख चुके है कि उनसे पहली चार-पाँच शताब्दियाँ उत्तरी भारत के धार्मिक आन्दोलन के इतिहास मे विशेष महत्व रखती है। भारतीय शास्त्र मे वह टीकाओं का युग कहा जाता है। सम्भवतः ये भारतीय संस्कृति को बचाये रखने के लिए टीकाकारों के प्रयत्न थे। बौद्ध-धर्म का नया रूप देश मे उपस्थित हो चुका था। नाथ-पन्थी योगियो की निरंजनी शाखा और सूफियो के मेल से एक नई धारा निकल पड़ी थी, जो एक ओर तो योग-मार्ग को पकड़े हुए थी; और दूसरी ओर प्रेम और भक्ति के तत्वों को अपनाए हुए थी। उधर दक्षिण भारत से उमड़ती हुई भक्ति धारा ने सारे उत्तरी भारत को सराबोर करने का संकल्प-सा कर लिया था। सामान्य रूप से शंकर के अद्वैतवाद का प्रभाव सारे भारतवर्ष मे व्यापक था। सूरदास जी के काव्य में इन सभी विभिन्न धाराओं का प्रभाव लक्षित होता हैं, परन्तु कवि सिद्धान्तो के बधनो मे बँधने वाला नही होता। जब उसकी कल्पना उन्मुक्त क्षेत्र मे अबाध गति से विचरण करने लगती है तो वह भावमय हो जाता है और दार्शनिक-सिद्धान्त, जो कि बुद्धिगम्य होते है, उसके मार्ग से बहुत दूर पड़ जाते है।

यों तो 'सूरसागर' एक महान् सागर है और 'जिन खोजा तिन पाइयाँ' के अनुसार किसी भी वैष्णव-सम्प्रदाय का व्यक्ति अपनी हृदयमाला के रत्न उसमे से खोज निकालता है, फिर भी

उसमे प्रचुरता वल्लभीय-सम्प्रदाय के सिद्धान्त-मुक्ताओ से मेल रखने वाले रत्नों की ही है। इसलिए हम वल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तो के मेल में रखकर ही सूर के सिद्धान्तो का विवेचन करेगे।

वल्लभ-सम्प्रदाय की भाँति सूरदास के इष्ट श्रीकृष्ण रूप परब्रह्म है। जिस प्रकार श्रीवल्लभाचार्य जी ने अपने अनेक ग्रन्थों मे कृष्ण का नाम हरि लिखा है और उन्हे ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव से ऊपर बताया है, उसी प्रकार सूरदास जी ने भी स्थान-स्थान पर हरि का स्मरण किया है। ब्रह्म का निरूपण सूरदास जी इस प्रकार करते है—

सोभा अमित अपार अखण्डित आप आतमाराम।
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम सब विधि पूरन काम।
आदि सनातन एक अनूपम अविगत अल्प अहार।
ऊँकार आदि वेद असुर हन निर्गुण सगुण अपार।।[1]

सूरदास जी ने वल्लभाचार्य जी की भाँति ब्रह्म, प्रकृति और पुरुष में अद्वैतता स्थापित की है और पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म और श्रीकृष्ण का एकीकरण किया है—

सदा एक रस एक अखण्डित आदि अनादि अनूप।
कोटि कल्प बीतत नहिं जानत, बिरहत युगल, स्वरूप।
सकल तत्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायन सबै है अश गोपाल।।[2]

इस अश और अशी वाली बात को उन्होने कई बार दुहराया है। कृष्णस्वरूप परब्रह्म की अद्वैतता और निर्गुणत्व का भी स्थान-स्थान पर प्रतिपादन किया है। ब्रह्मा को चतुःश्लोकी ज्ञान देते हुए भगवान् कहते है—

पहले हौ ही हौं तब एक।
अमल अकल अज भेद बिवर्जित सुनि विधि विमल विवेक।
सो हौ एक अनेक भाँति करि सोभित नाना भेष।
ता पाछै इन गुनिन गए तें, हौ रहि हौ अविसेप।।[3]

× × × ×

दशम स्कन्ध के प्रारम्भ मे सूरदास जी ने परब्रह्म के रूप की विस्तृति व्यवस्था की है और उसमें भगवान के तीनों रूप आ गए है—पूर्ण पुरुषोत्तम, रस-रूप श्रीकृष्ण अक्षर ब्रह्म तथा अन्तर्यामी श्रीकृष्ण परब्रह्म का विरुद्ध-धर्माश्रयत्व भी उसमे बताया गया है—

आदि सनातन हरि अविनासी। सदा निरंतर घट-घट बासी।
पूरन ब्रह्म पुरान बखाने। चतुरानन सिव अन्त न जानैं।।
गुन-मन अगम निगम नहिं पावै। ताहि जसोदा गोद खिलावैं।।[4]

× × × ×

सूरसागर मे इस प्रकार अनेक पद हैं जिनमे परब्रह्म कृष्ण के अन्तर्यामी स्वरूप, विराट् स्वरूप तथा निर्गुण स्वरूप का वर्णन है। भगवान् के विराट् रूप का वर्णन करते हुए सूर कहते है—

---

१ सूरसारावली पद ९९३ पृष्ठ ३४ (वेंकटेश्वर प्रेस)
२ वही वे० प्रेस० पृष्ठ ३८
३ सूरसागर सभा पद ३८५
४ वही सभा पद ६२१

"नेत्रों से श्याम का रूप देखो। वही अनूप रूप ज्योति-रूप होकर घट-घट में व्याप्त हो रहा है। सप्त पाताल उसके चरण हैं, आकाश सिर है तथा सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि सब मे उसी का प्रकाश है।"[1]

इसी प्रकार इससे अगले 'हरि जू की आरती' वाले पद मे भी उनका विराट् रूप बताया गया है।

सूर ने ब्रह्म के परमानन्द स्वरूप सगुणत्व-विशिष्ट का भी वर्णन विस्तार से किया है। वे कहते हैं—भगवान् कृष्ण, जो अविगत आदि, अनन्त, अनुपम, अलख और अविनाशी पुरुष हैं, वे वृन्दावन मे गोपियो के मण्डल के बीच नित्य लीला विहार करते है।[2] वृन्दावन और ब्रज के आध्यात्मिक रहस्य की ओर सूरदास जी ने कई बार संकेत किया है।[3] सूर ने कृष्ण को तीनो देवों से ऊँचा माना है और विष्णु का पूर्णावतार कहा है। विष्णु के अवतार होने की बात उन्होने कई पदो मे कही है।[4] सूर के विनय-सम्बन्धी पदों मे भगवान् की भक्त-वत्सलता और भक्त की दीनता विशेष रूप से प्रस्फुटित हुई है। प्रायः लीला-सम्बन्धी पदों के पश्चात् सूरदास ने इस प्रकार के पद लिखे है, जो भक्त-वत्सलता-विषयक कहे जा सकते है। केवल इतना अन्तर है कि भक्त-वत्सल भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा ब्रज-लीलाओ मे प्रेम का रूप धारण कर लेती है। यही कारण है कि लीलाओ का वर्णन करता हुआ कवि लीला के सुख मे स्वय इतना तल्लीन हो जाता है कि भगवान् की कृपा का उसे इतना ध्यान नही रहता, जितना भागवतकार को। फिर भी कवि हरि-कृपा का स्मरण दिलाना भूला नही है। चीर-हरण, कालिय-दमन, गोवर्द्धन आदि लीलाओ मे हरि-कृपा का संकेत किया गया है। स्थान-स्थान पर गोपियों ने भगवान् कृष्ण से कृपा-दृष्टि की याचना की है। कदाचित् भक्त-वत्सलता का वर्णन सूर ने भागवत के आधार पर किया है।

जीव

सूर ने वल्लभ के अनुसार जीव को गुपाल (गोपाल) का अश माना है और ब्रह्म की अद्वैत सत्ता को स्वीकार किया है। ईश्वर के विषय मे उन्होने जितने सकेत किये हैं, उतने जीव के विषय मे नही। जीव को उन्होने साधारण रूप से माया से आवृत माना है। जिस प्रकार वल्लभाचार्य जीवो की तीन श्रेणियाँ मानते हैं, उस प्रकार का सैद्धान्तिक विवेचन सूर ने नही किया; फिर भी उनके काव्य मे तीन प्रकार के जीवों का सकेत अवश्य मिल जाता है। शुद्ध अवस्था वाले जीवों का वर्णन उन्होने भगवान् की नित्य-लीला के सम्बन्ध में, और ससारी जीवों का वर्णन विनय के पदों मे किया है। अविद्या और माया का स्वरूप विस्मृति का कारण बताया है। यदि माया न हो तो ब्रह्म और जीव मे कोई अन्तर नही।[5] माया के कारण जीव अपने स्वरूप को भूल जाता है, जैसा कि सूर के इस पद से प्रकट होता है :

अपुनपौ आपुन ही बिसर्‌यौ।
जैसै स्वान काँच-मन्दिर मे, भ्रमि-भ्रमि भूकि पर्‌यौ।
ज्यौं सौरभ मृग-नाभि बसत है, द्रुम तृन सूँघि फिर्‌यौ।

१ सूरसागर सभा, पद ३७०
२ सूरसारावली पृष्ठ २
३ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद १०६७, १०६८
४ वही ,, पद ६२२, ११८५, ११८६
५ वही ,, पद ३८१

ज्यौ सपने मे रंक भूप भयौ, तसकर अरि पकर्यौ।
ज्यौ केहरि प्रतिबिम्ब देखि कै, आपुन कूप पर्यौ।
जैसै गज लखि फटिकसिला मै, दसननि जाइ अर्यौ।
मर्कट मूँठि छाँड़ि नहिं दीनी, घर-घर-द्वार फिर्यौ।
सूरदास नलिनी कौ सुवटा, कहि कौनै पकर्यौ।[1]

संसारी जीवों की दुर्गति, भ्रम और अनेक प्रकार की आपत्तियो का वर्णन सूर ने बड़े विस्तार के साथ किया है। भगवान् की कृपा से जब वह संसारी जीव माया से छुटकारा पा जाता है और उसमें आनन्दांश का भी आविर्भाव हो जाता है, तब वह मुक्त हो जाता है। यह आनन्द उसका अपना ही है। भ्रान्ति तथा माया के कारण वह उससे दूर पड़ा था। भ्रम दूर होने पर जीव को अपना ज्ञान हो जाता है।

अपुनपौ आपुन ही मैं पायौ।
सब्दहि सब्द भयौ उजियारौ, सतगुरु भेद बतायौ।
ज्यौ कुरंग-नाभी कस्तूरी, ढूँढ़त फिरत भुलायौ।
फिरि चितयौ जब चेतन ह्वै करि, अपनै ही तन छायौ।
राज-कुमारि कंठ-मनि-भूषन, भ्रम भयौ कहूँ गँवायौ।
दियौ बताइ और सखियनि तब, तनु कौ ताप नसायौ।
सपने माहिं नारि कौ भ्रम भयौ बालक कहूँ हिरायौ।
जागि लख्यौ, ज्यौ की त्यौं ही है, ना कहुँ गयौ न आयौ।
सूरदास समुझे की यह गति, मनही मन मुसुकायौ।
कहि न जाइ या सुख की महिमा, ज्यौं गूँगै गुर खायो।[2]

इन्ही पदों को आधार मानकर सूर पर शंकर के मायावाद का प्रभाव भी बताया जाता है। डा० दीनदयालु गुप्त इस विषय मे लिखते है :

"सूरदास के अन्य पद और कथनों के मिलान करने पर तथा वल्लभ-सिद्धान्त को ध्यान मे रखने पर हमे ज्ञात होगा कि वास्तव मे सूर पर शकर के मायावाद का प्रभाव नही था। ऐसे पदो का अर्थ वल्लभ-सिद्धान्तानुसार ही है।"[3]

परन्तु हम डा० गुप्त के इस कथन से पूर्णतः सहमत नही। इसके दो कारण है—१—सूरदास ने निश्चित सिद्धान्तों का प्रतिपादन नही किया। उनका उद्देश्य भगवान् का गुणगान करना था। वैष्णव-सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धान्तों का सूक्ष्म भेद प्रकट करने का न तो उन्हें अवसर ही था और न आवश्यकता ही थी। अतएव हमारी दृष्टि से इस प्रकार की शंका उठाना ही असंगत है। २—माया, अविद्या, जीव, जगत् आदि से सम्बन्ध रखने वाले पद सूर ने उस समय बनाए थे, जब वे किसी सम्प्रदाय में दीक्षित नहीं थे। साधारण जनता मे शकर के मायावाद का जितना प्रचार रहा है, उतना किसी अन्य वैष्णव-सम्प्रदाय के सिद्धान्तो का नही। अतः बहुत सम्भव है कि सूरदास पर भी अप्रत्यक्ष रूप से शंकर का प्रभाव रहा हो। सम्प्रदाय मे दीक्षित होने के पश्चात् तो वे मनसा-वाचा-कर्मणा, गोविन्द के स्मरण मे ही कल्याण मानने लगे और मन को

१ सूरसागर पद ३६६
२ वही (ना० प्र० सभा) पद ४०७
३ अष्ट छाप और वल्लभ-सम्प्रदाय, द्वितीय भाग, पृष्ठ ४२६

मिथ्या-वाद-विवाद छोडने का निर्देश करने लगे।[१] कहीं-कहीं सूर ने उन ज्ञानी जीवों की ओर भी सकेत किया है, जो सदा एक-रस रहते है और तन के भेद को वास्तविक नही समझते। उन्हे देह का अभिमान भी नहीं रहता, जबकि अज्ञानी जीव देह के धर्मों को अपना ही धर्म समझता है। गोस्वामी तुलसीदास जी की भाँति सूरदास जी भी ससार के सब क्रिया-कलापो का नियन्ता गोपाल को ही मानते है :

कही गोपाल की सब होइ।

जो अपनौ पुरुषारथ मानत, अति झूठौ है सोइ।[२]

जीव के सम्बन्ध मे सूरदास ने भावी की प्रबलता स्वीकार की है और भावी को ही कर्म-गति माना है। तीनो लोक उसी के वश में है और उसी के अधीन होकर सुर और नर देह धारण करते है।[३] जीव के लिए वे भगवद्भजन को ही कल्याणकारी मानते है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है :

'सूरदास भगवन्त भजन बिनु मिथ्या जनम गँवैयै।

जगत् और संसार

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, वल्लभ-सम्प्रदाय मे जगत् और ससार अलग-अलग हैं, जगत् सत्य है और संसार असत्य। सूरदास जी ने जहाँ जगत् को गोपाल का अश बताया है, वहाँ संसार का नाम नही लिया है और उसकी उत्पत्ति भी ब्रह्म से ही मानी है। वे जगत् को मिथ्या मानने के लिये प्रस्तुत नही। जिस जगत् मे भगवान् का गुणगान करके जीव तरता है, उसे कैसे मिथ्या कहा जा सकता है?[४] प्रभु का मर्म जान नहीं पड़ता, वे संसार का सर्जन, पालन और संहार करते है और संहार के पश्चात् फिर सर्जन मे लग जाते है।[५] सूरदास संसार को हरि की इच्छा का फल मानते हैं। उनकी इच्छा से प्रकट हुआ यह संसार स्वयं भी हरि-रूप ही है, फिर भी इसे मायाकृत समझो. अतएव मन को सब स्थानों से खीचकर कृष्ण भगवान् में लगाओ। सूर के पदों से स्पष्ट झलक जाता है कि उन्होंने वल्लभाचार्य के अविकृत परिणामवाद को माना है; क्योंकि जगत् की उपमा उन्होंने पानी के बुलबुले से दी है और आचार्य वल्लभ के समान ही ईश्वर को ही जगत् का निमित्त उपादान कारण माना है। सूरसारावली मे सूरदास ने सृष्टि की रचना के विषय मे भी लिखा है कि किस प्रकार भगवान् के हृदय मे सृष्टि-रचना की इच्छा उत्पन्न हुई और फिर माया के द्वारा काल-पुरुष के चित्त मे किस प्रकार क्षोभ पैदा हुआ? तदनन्तर सत्व, रज, तम—इन तीन गुणों के मेल से प्रकृति और पुरुष द्वारा सृष्टि का विस्तार हुआ। वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों के अनुसार 'सूरसारावली' मे २८ तत्व माने गये है, जिनका विवेचन सूरसागर मे किया गया है :

आदि निरजन, निराकार, कोउ हुतौ न दूसर।
रचो सृष्टि-विस्तार, भई इच्छा एक औसर।
त्रिगुन प्रकृति तै महत्तत्व, महत्तत्व तै अहंकार।
मन-इन्द्री, शब्दादि पंच, तातै कियो विस्तार।

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) प्रथम स्कन्ध, मन. प्रबोध नामक शीर्षक मे संकलित पद
२ वही (,, ,,) पद २६२
३ वही (,, ,,) पद २६४
४ वही (,, ,,) पद ४६१६
५ वही (,, ,,) पद ४६२०

सब्दादिक तैं पंचभत सुन्दर प्रगटाए।
पुनि सब को रचि अड आपु मे आपु समाये।[1]

तीसरे स्कन्ध मे भी सृष्टि का क्रम बताया है। यह सृष्टि-क्रम कपिल ने अपनी माता को बताया था। इस वर्णन मे सूर वल्लभ-सम्प्रदाय से कुछ अलग प्रतीत होते है, क्योकि उन्होंने माया को तिगुणात्मिका मानकर सत्व, रज और तम उसके गुण माने है और आगे चलकर माया का मिथ्यात्व सिद्ध किया है।[2] सूरदास जी संसार को सेंभल के समान और जीव को संसार-सेंभल के रूप पर मुग्ध शुक के समान मानते हैं। भेद खुलने पर जीव को पश्चात्ताप करना पडेगा।[3] ससार का मिथ्यात्व उन्होंने स्थान-स्थान पर प्रतिपादित किया है और जीव की अविद्या को उसके भ्रम का कारण बताकर बार-बार उसे चेतावनी दी है।

माया

माया वर्णन सूर के पदों मे बड़े विस्तार के साथ मिलता है। वल्लभाचार्य जी ने निश्चय रूप से शकराचार्य के मत से अपने मत को भिन्न रखा है और माया को सत्य तथा भ्रम दोनों ही प्रकार की बताया है। वह स्वयं ब्रह्म की शक्ति-स्वरूपा है और उसके दो स्वरूप विद्या और अविद्या है। शंकर के मत से तो अविद्या का नाश होने पर जीव और जगत् दोनों की ही सत्ता का लोप हो जाता है, परन्तु वल्लभाचार्य के मत से अविद्या का नाश होने पर भी दोनों की स्थिति रहती है, केवल संसार का नाश होता है। सूरदास माया को ईश्वर की ही शक्ति मानते हैं और उन्होने इस माया की करामात का अनेक प्रकार से वर्णन भी किया है।। यह माया-नटी हाथ में लकुटी लेकर जीव को कोटिक नाच नचाती है और उसकी बुद्धि को भ्रम में डालती है। माया के बल से ही ईश्वर इस जगत् मे विचित्रताओं को भर देता है। वास्तव मे उसकी गति यह माया ही है। विनय के पदों में सूरदास ने माया का अनेक प्रकार से वर्णन किया है। माया के चक्र में पडा हुआ भक्त हरि को भी विस्मृत कर देता है। केवल भक्ति द्वारा ही माया से छुटकारा सम्भव है। इस माया ने किस को नहीं बिगोया ? नारद जैसे ज्ञानी, शंकर जैसे महादेव और ब्रह्मा जैसे सृष्टि-कर्त्ता भी इस माया के चक्कर में आ गये है। सूर इस माया को हरि की माया ही मानते है।[4] इस प्रकार विनय के पदो में उन्होने माया का अनिष्टकारी रूप प्रदर्शित किया है और माया का प्रभाव अत्यन्त व्यापक बताया है। उनके पदों मे माया का मिथ्यात्व भी प्रतिपादित हुआ है। हम पहले बता चुके है कि उनके इन पदो को देखकर यह सन्देह हो जाता है कि उन पर शंकराचार्य का प्रभाव था। सूर ने माया को मोहिनी भुजंगिनी, नटिनी आदि नामो से कहा है। काम, क्रोध, मद, लोभ मोहादि इसी माया के रूप हैं। विषय मे सूर ने पर्याप्त मौलिकता दिखाई है और

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ३७९
२ वही (, ,, ,) पद ३९४
३ मिथ्या यह ससार और मिथ्या यह माया
मिथ्या है यह देह कहो क्यो हरि बिसराया।
तुम जाने बिन जीव सब उत्पति प्रलय समाहि।
शरण मोहि प्रभु राखिये चरण कमल की छाँहि।
सूरसागर (ना० प्र० स०) पद १११०
४ (i) हरि तुम माया को न वियोगी ? सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ४३ तथा
(ii) गोपाल तुम्हारी माया महाप्रबल जिहि सब जग बस कीन्हो। वही, पद ४४

उनकी माया वल्लभ और शङ्कर की माया का सम्मिश्रण-सी प्रतीत होती है। सूर ने माया को अविद्या और तृष्णा बताकर अनेक रूपको की योजना की है। अविद्या को गाय बताकर वे अपनी इस गाय को गोकुलपति के गोधन में मिलाना चाहते हैं।[1] यह पापिनी अविद्या आशा के समान है, जो जीव को भरमाती रहती है। तृष्णा भी माया का स्वरूप है, जिसका वर्णन सूर ने एक बड़े सुन्दर रूपक मे किया है—

माधौ, नैकु हटकौ गाइ।
भ्रमत निसि-वासर अपथ-पथ अगह गहि नहिं जाइ।
छुधित अति न अघाति कबहूँ, निगमद्रुमदलि खाइ।
अष्ट दस-घट नीर अँचवति तृषा तऊ न बुझाइ।[2]

× × ×

सारे सांसारिक सम्बन्ध माया से उत्पन्न है और माया मनुष्य को उन सम्बन्धो के बन्धन में डाल देती है। सूर के लिये माया और अज्ञान एक ही हैं।[3] इसी अज्ञान-तिमिर में पड़कर मनुष्य अपने उद्देश्य को भूल जाता है। माया के कारण करूणामय की सेवा को छोड़कर मन मोह में पड़ जाता है और निकट रहने पर भी कस्तूरी वाले मृग के समान जान नहीं पाता।[4] सूर ने माया को भगवान् की वह शक्ति माना है, जिसके कारण यह मिथ्या-संसार सत्य-सा प्रतीत होता है। तृतीय स्कन्ध के ३८० वें पद में कपिल ने हरिमाया का रूप समझाया है और भागवत के अनुसार त्रिगुणात्मिका जड प्रकृति को ही माया बताया है। माया और जीव में इतना ही अन्तर है कि माया चैतन्य-रहित है और जीव चैतन्य-सहित। माया का वर्णन 'सूरसागर' में स्थान-स्थान पर मिलता है। दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध मे ब्रह्मा द्वारा बालवत्स-हरण-लीला में कृष्ण ने अपनी माया का रूप बताया है। अन्त मे ब्रह्मा इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वास्तव में यह संसार मिथ्या है और भगवान् की माया के कारण ही सत्य प्रतीत होता है। ब्रह्मा की स्तुति में माया के रूप को और भी स्पष्ट किया गया है। ब्रह्मा कहते हैं—यह संसार, माया और देह मिथ्या हैं, फिर हे हरि, बताओ, हम तुम्हें क्यों भूल गये? इत्यादि।[5] कृष्ण भी ब्रह्मा से कहते हैं, "मेरी माया अत्यन्त अगम्य है, इसका पार कोई नही पा सकता।"[6] माया वास्तव मे ब्रह्म की मोहक शक्ति है, जिसको योगमाया कहा गया है। इस योगमाया का वर्णन भी सूर ने किया है।

यद्यपि सूर ने अनेक प्रकार से माया का वर्णन किया है तथापि माया के विषय में उनके ऊपर पुष्टिमार्ग का ही प्रभाव था, क्योंकि दशम स्कन्ध मे राधा एवं अन्य गोपियों का कृष्ण के द्वारा मायाजन्य सांसारिक सम्बन्धों का आदर करने का आदेश दिलाया गया है।

मोक्ष

पीछे उल्लेख हो चुका है कि सूरदास ने पुष्टि-सम्प्रदाय के अनुसार ही जीवों की कोटियाँ मानी हैं। भक्ति-मार्ग के पथिक वास्तव में उसी भक्त को मुक्त मानते है, जो निर्गुण मुक्ति को न

---

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ५
२ वही (,, ,, ,,) पद ५६
३ वही (,, ,, ,,) पद ४७
४ वही (,, ,, ,,) पद ४६
५ वही (,, ,, ,,) पद ११1०
६ वही (,, ,, ,,) पद ११1०

चाहकर भगवान् के दर्शन से सुखी होता है। सूरदास की भक्ति स्वतःपूर्ण है, जिसके प्राप्त होने पर कोई इच्छा नहीं रह जाती। तभी तो वे कहते है, "हे भगवान्, मुझे अपनी भक्ति दो। चाहे आप करोड़ों लालच दिखाये लेकिन मुझे अन्य किसी बात की रुचि नहीं हो सकती।"[1] सूर ने कई स्थानों पर भक्ति का फल बताया है और कई भक्तों को वैकुण्ठ धाम की प्राप्ति कराई है जिसमें भक्त जल पे कमल के समान हर्ष-शोक से दूर रहकर जीवन्मुक्त हो जाते हैं।[2] कपिल ने भक्ति का फल हरिपद की प्राप्ति और हरिपुर का वास बताया है। अधिकतर भक्तो को हरिपुर-वास ही प्राप्त हुआ है। ध्रुव की कथा मे भक्ति का फल वैकुण्ठ-निवास बताया गया है।[3] इसी प्रकार शुकदेव, अजामिल, राजा पुरुरवा इत्यादि की कथाओ के सम्बन्ध मे कहा जा सकता है। सूरदास ने कही मुक्ति का सैद्धान्तिक विवेचन नही किया है। राजा पुरुरवा के वैराग्य-दर्शन में निर्वाण-पद का उल्लेख है।[4] इसी प्रकार सौभरि ऋषि की कथा मे भगवान् का भजन करने वाले के लिये मुक्ति सुलभ बताई है।[5] जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त करने की ओर सूर ने अनेक संकेत किये है। सारा 'भ्रमरगीत' इस प्रकार के सकेतो से भरा पड़ा है। सालोक, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्तियों का सैद्धान्तिक रूप तो 'सूर-सागर' मे नही है, परन्तु इन चारों मुक्तियों की अनुभूति सूर ने पूर्ण रूप से की हैं, इसमे कोई सन्देह नही है। पूर्ण-पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के लीलाधाम में पहुँचने की इच्छा सूर के कई पदों से प्रकट होती है और उस भगवत-धाम का स्वरूप भी सूरदास ने बताया है।[6] भगवान् के लीलाधाम मे पहुँचना ही सालोक मुक्ति है, उनके चरणारविन्द का सान्निध्य सामीप्य मुक्ति कहलाता है, कृष्ण के साथ उन्ही के समान आचरण करना सारूप्य मुक्ति है तथा ईश्वर के साथ एकीभाव को प्राप्त हो जाना सायुज्य-मुक्ति है। जब भक्त रसरूप भगवान् का अंग हो जाता है तब सायुज्य-मुक्ति की प्राप्ति समझनी चाहिये। वल्लभाचार्य की भाँति सूर ने भी सायुज्य-मुक्ति को ही प्राधान्य दिया है। भगवान् के नित्यरास का वर्णन सायुज्य-मुक्ति का ही रूप है। सायुज्य-मुक्ति के भी दो रूप है—ससार के दुःख से मुक्ति और नित्य सुख की प्राप्ति। इन दोनो अवस्थाओ मे जीव भगवान् का अग नही बनता। लयात्मक सायुज्य-मुक्ति में जीव ईश्वर का अंग हो जाता है। शृंगार रस के संयोग और विप्रयोगात्मक दोनो ही रूप इस सायुज्य-मुक्ति के रूप है। सूर ने एक का वर्णन 'रास-लीला' मे और दूसरे का 'भ्रमर गीत' मे किया है। अपनी आत्मानुभूति को प्रकट करते हुए वे लिखते है :

---

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद १०६
२ वही पद ३६४
३ वही पद ४०४
४ वही पद ४४०
५ वही पद ४५२
६ (i) चकई री चलि चरन सरोवर, जहाँ न प्रेम वियोग।
जहँ भ्रम निसा होति नहिं कबहूँ, सोइ सायर सुखजोग। सूरसागर पद ३३७
(ii) चलि सखि तिहि सरोवर जाहि।
जिहि सरोवर कमल, कमला, रवि बिना बिकसाहिं। वही ३३८
(iii) भृङ्गी री, भजि स्याम-कमल पद, जहाँ न निसि कौ भास।
जहँ बिधु भानु समान, एक रस, सो बारिज सुखराज। वही ३३९
(iv) सुवा चलि तावन कौ रस पीजै।
जा दिन राम नाम अम्रित-रस, स्रवन-रात्र भरि लीजै। वही ३४०

नमो नमो हे कृपा-निधान ।
चितवत कृपा-कटाच्छ तुम्हारे मिटि गयो तम-अज्ञान ।
मोह-निसा कौ लेस रह्यौ नहिं, भयौ विवेक-बिहान ।
आतमरूप सकल घट दरस्यौ, उदय कियौ रवि-ज्ञान ।
मैं मेरी अब रही न मेरै, छुट्यौ देह अभिमान ।
भाव परौ आजुही यह तन, भावै रहौ अमान ।
मेरे जिय अब यह लालसा, लीला श्रीभगवान् ।
स्रवन करौं निसि-बासर हित सौं सूर-तुम्हारी आन ।[1]

इस पद मे सूर ने यही इच्छा प्रकट की है कि मैं सदा भागवान् की लीला का ही श्रवण करता रहूँ । यही उनके लिये सब से बडा सुख है, जैसा कि उन्होंने निम्नलिखित पद मे प्रकट किया है :

जो सुख होत गुण पालहिं गाएँ ।
सो सुख होत न जपतप कीन्हे, कोटिक तीरथ न्हाएँ ।
दिएँ लेत नहि चारि पदारथ, चरन कमल चितलाऐ ।
तीन लोक तृन-सम करि लेखत, नन्दनन्दन उर आएँ ।
बंसीवट वृन्दावन जमुना तजि वैकुण्ठ न जावै ।
सूरदास हरि कौ सुमिरन करि बहुरि न भव-जल आवै ।[2]

इसी अवस्था को भजनानन्द में मग्न होना कहते है, जिसको सम्प्रदाम में स्वरूपानन्द-मुक्ति कहा गया है । इसी के सम्बन्ध में वल्लभाचार्य ने लिखा है :—

प्रकृतिकालाद्यतीते वैकुण्ठादप्युत्कृष्टे श्रीगोपाल एव सन्तीति शेषः ।[3]

लयात्मक सायुज्य-मुक्ति के दोनों रूप हमें सूर मे दिखाई देते हैं । वे कृष्ण के अक्षर-धाम वृन्दावन का अंग बन कर उस आनन्द का अनुभव करना चाहते हैं । उनके साथ अनेक देवताओं ने भी इस प्रकार की प्रार्थनाएँ की है । एक स्थान पर सूर 'वृन्दावन की रेणु' ही बनने की कामना करते है ।[4] हिन्दी के प्रसिद्ध कवि 'रसखान' ने भी इस प्रकार की इच्छा प्रकट की है । दूसरे प्रकार की लयात्मक मुक्ति का वर्णन गोपियों के विरह मे हुआ है । वहाँ भी सूर ने भक्त-स्वरूपा गोपियों का कृष्ण के साथ एकीकरण दिखाया है । गोपियों को आत्म विस्मृति हो गई है और वे कृष्ण में पूर्णतया तल्लीन हो जाती हैं तभी तो किसी-किसी गोपी के मुख से 'दही लेहुरी' के स्थान में 'गोपाल लेहुरी' निकल जाता है[5] प्रवेशात्मक सायुज्य-मुक्ति का स्वरूप सूर ने नित्य-रास के वर्णन में बड़े विस्तार से उपस्थित किया है । इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि सूर ने सैद्धान्तिक रूप से मुक्ति-भेद का वर्णन नहीं किया, तथापि क्रियात्मक रूप से उन्होंने वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुसार सब प्रकार की मुक्तियों का स्वरूप अपने काव्य मे प्रस्तुत किया है । गोपी-उद्धव सम्वाद के अन्त मे गोपियाँ उद्धव से कहती हैं ।

---

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) ३७६
२ वही पद ३४९
३ अणुभाष्य अध्याय ४, पाद २, सूत्र ५ ।
४ करहु मोहि ब्रजरेणु देहु वृन्दावन वासा । सूरसागर
५ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद २२५५

ऊधौ सूधै नैक निहारौ।
हम अबलनि कौ सिखवत आए सुन्यौ सयान निहारौ ।।
निरगुन कहौ कहा कहियत है, तुम निरगुन अति भारी ।
सेवत सुलभ स्याम सुन्दर कौ मुक्ति रही हम चारी ।
हम सालोक्य, सरूप, सायुज्यौ, रहित समीप सदाई ।
सो तजि कहत और की औरै की तुम अलि बडे अदाई ।
हम मूरख तुम बडे चतुर हौ, बहुत कहा अब कहिए ।
वेही काज फिरत भटकत कत, अब मारग निज गहिए ।
तुम अज्ञान कतहिं उपदेसत, ज्ञान रूप हमही ।
निसिदिन ध्यान सूर प्रभु की अलि देखत जित तितहीं ।[1]

सूर की गोपियाँ विरहासक्ति में चारों प्रकार की मुक्ति का आनन्द ले रही हैं । वे कृष्ण-मयी हो चुकी हैं और अपने आपको ज्ञानरूप मानती है । जिधर भी वे देखती है, उधर ही कृष्ण का स्वरूप दीख पड़ता है । यह प्रवेशात्मक और लयात्मक दोनों प्रकार की सायुज्य मुक्ति की चरम सीमा है । इसी जीवन-मुक्त अवस्था को सूर ने सर्वश्रेष्ठ बताया है । सूर उच्च कोटि के भावुक कवि थे । ईश्वर का लीला-धाम, श्रवण, सेवा-सगति आदि अवस्थाओं में सूर जिस आनन्द का अनुभव करते है, वह किसी मुक्ति में दुर्लभ है । उस आनन्द को सूरदास जी ने बड़े-बड़े मुनियों के लिए भी स्पृहणीय माना है। वेद, उपनिषदादि धर्म-ग्रन्थों मे जिस परम-धाम का वर्णन है, वह सूरदास जी का लीला-धाम है, उनका भजनानन्द ब्रह्मानन्द से बढ़ कर है ।[2]

भागवत की भाँति सूरदास में भी आध्यात्म-पक्ष की झलक मिलती है। वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुसार सूरदास ने ब्रज, वृन्दावन गोकुल को नित्य लीला-धाम गोलोक का अवतरित रूप माना है और स्थान-स्थान पर ब्रजधाम की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है ।[3] ब्रह्मा ने ब्रज वृन्दावन की महिमा 'वत्स-हरण लीला' के समय गाई हैं । सूर कहते है कि—'ब्रज की लीला को देखकर विधि का ज्ञान भी नष्ट हो गया । ब्रज की गोपियाँ धन्य है, ग्वाले धन्य है, वे बछड़े और गौएँ धन्य है। इस ब्रजलीला का पार शारदा भी नही पा सकती।" इस वृन्दावन की रज भी प्रशंसनीय है, जहाँ कृष्ण ने धेनुओं को चराया और अपने अधरों से वेणु-वादन किया । अरे मन, इस स्थान का क्या कहना ? यहाँ तो पुरातन पूर्ण-पुरुष श्रीकृष्ण स्वयं निवास करते हैं । इस धाम मे कुछ लेना-देना नही है, केवल मनमोहन के ध्यान मे ही सब आनन्द है । यहाँ की समता कल्पवृक्ष और कामधेनु भी नही कर सकते ।[4] इसीलिए तो ब्रह्मा के रूप मे सूर ने ब्रज की रेणु होने की कामना प्रकट की है ।[5]

सूर का वृन्दावन, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, नारायण के वैकुण्ठ से भी बढ़कर है। वृन्दावन से मुरली की ध्वनि जब वैकुण्ठ पहुँची तो नारायण और कमला दोनो के हृदय मे उसके प्रति बडी रुचि उत्पन्न हुई और वे भी ब्रज और ब्रजवासियो के भाग्य को सराहने लगे ।

---

१ सूरसागर पद ४५१८

२ भजनानन्द अलि हम प्यारौ ।
ब्रह्मानन्द सुख कौन विचारौ ? सूरसागर (भ्रमर गीत)

३ वृन्दावन ब्रज को महत्त कापै बरनौ जाय ।
चतुरानन पग परसि कै लोक गयौ सुखपाय ॥
सूरसागर, ना०प्र०स०, पद १११०

४ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ११०६

५ वही ,, ,, पद १११०

मुरली धुनि बैकुण्ठ गई।
नारायन-कमला सुनि दम्पति, अति-रुचि हृदय भई।
सुनौ प्रिया यह बानी अद्भुत वृन्दावन हरि देखौ।
'धन्य-धन्य' श्रीपति मुख कहि-कहि, जीवन ब्रज कौ लेखौ।
रास-विलास करत नन्द-नन्दन, सो हमतैं अति दूरि।
धनि बन-धाम धन्य ब्रज-धरनी, उडि लागै जौ धूरि।
वह सुख तिहूँ भुवन मे नाही जो हरि-सग पल एक।
सूर निरखि नारायन इक टक, भूले नैन निमेष।[1]

सूर ने ब्रजधाम और वृन्दावन को लौकिक और अलौकिक दोनों ही रूप दिये हैं और पूर्णतया वल्लभ-सम्प्रदाय का अनुकरण किया है।

रास

वृन्दावन की भाँति सूर ने रास को भी आध्यात्मिक पक्ष प्रदान किया है और रास का विशद वर्णन किया है। ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण, विष्णु-पुराण, हरिवंश आदि पुराणो मे तो रास का वर्णन हुआ ही है, चैतन्य-सम्प्रदाय के गोस्वामी ने भी उसका आध्यात्मिक रूप बड़े विस्तार से प्रतिपादन किया है। 'उज्ज्वल-नीलमणि' मे कृष्ण विषयक श्रृङ्गार-रस का बड़ा विस्तार है और मधुर अथवा भक्ति-रस की श्रेष्ठता का तर्कपूर्ण प्रतिपादन हुआ है। जहाँ तक रास का प्रश्न है, सूर की रास-लीला 'रासपञ्चाध्यायी' को आधार मानकर लिखी गई है, किन्तु उसमे सूर की मौलिकता भी है और बंगीय प्रभाव भी। भागवत मे राधा का उल्लेख नही है। बंगीय वैष्णव-शाखा में परकीया भाव को प्राधान्य दिया गया है, जबकि वल्लभ सम्प्रदाय वालों ने स्वकीया-भाव को अपनाया है, किन्तु इस लीला पर बगीय प्रभाव अवश्य मानना पडेगा। 'श्रीमद्भागवत' मे तो स्वकीया-परकीया का भाव उपस्थित ही नही होता, क्योकि भागवतकार ने प्रारम्भ से अन्त तक रास में आध्यात्मिकता का निर्वाह किया है। श्रीकृष्ण को परम पुरुषोत्तम परमात्मा स्वीकार कर लेने पर स्वकीया और परकीया का प्रश्न ही असम्भव है, क्योंकि यह सब कुछ उनका अपना ही विलास है और उनकी ही अंगभूता अन्तरग शक्ति। रासलीला तथा उसमे प्रवेश करना सूर का चरम लक्ष्य है। उसी स्थिति को उन्होने सब से बड़ी मुक्ति माना है। वेद, सुर, नर, मुनि, शिव आदि इस रास-रस की अंश-कला को भी प्राप्त नही कर सकते।[2] रास-रस का वर्णन सूर अपनी शक्ति के बाहर की वस्तु समझते है। रास का प्रभाव सार्वत्रिक एवं सार्वभौतिक है; उसके प्रभाव से यमुना भी उलटी बहने लगती है, सुर, नर और मुनियो का ध्यान टूट जाता है और चन्द्रमा भी आत्म-विभोर होकर आकाश में अपना मार्ग भूल जाता है।[3] हम पहले कह चुके हैं कि सूर ने रास-वर्णन भागवत के आधार पर ही किया है और उसी के आधार पर रस के श्रृङ्गार-परक भावों को परब्रह्म कृष्ण के संसर्ग के कारण निर्दोष ठहराया है। सूरसागर मे मुरली की ध्वनि सुनकर गोपियों का आकुल होकर कुल-मर्यादा, गृह-व्यापार आदि को तिलाञ्जलि देकर कृष्ण के समीप दौड़ जाना तथा बाद में कृष्ण द्वारा उन्हे उपदेश देना, भागवत के अनुसार ही है। भागवत पर आधारित होने पर भी सूर के रास-वर्णन मे पर्याप्त मौलिकता है, उसमें लौकिक और

---

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) १६८२
२ वही ,, ,, पद १७६१
३ वही ,, ,, पद १७६७

आध्यात्मिक भावों का सुन्दर सामञ्जस्य है। आध्यात्मिक रूप मे कृष्ण घन है एवं गोपियाँ दामनी-स्वरूपा तथा भौतिक-पक्ष मे कृष्ण नायक और गोपियाँ नायिकाएँ। यह रास शाश्वत है—

वृन्दावन हरि यह विधि क्रीडत सदा राधिका सङ्ग।
भोर निसा कबहुँ नहिं जानत सदा रहत इक रङ्ग।

तथा

नित्य धाम वृन्दावन श्याम, नित्य रूप राधा ब्रजधाम।
नित्य रास जल नित्य बिहार, नित्य मान खण्डिताभिसार।
ब्रह्म रूप एही करतार, करनहार त्रिभुवन ससार।
नित्य कुञ्ज-सुख नित्य हिंडोर, नित्य हि त्रिविध समीर झकोर।[1]

मुरली का भी सूर ने लौकिक और अलौकिक दोनों रूपो से वर्णन किया है। जहाँ एक ओर उन्होने वल्लभाचार्य के अनुसार मुरली को आध्यात्मिक रूप दिया है, वहाँ दूसरी ओर लौकिक दृष्टि से भी मुरली को लेकर बडी खिलवाड़ की है। राधा को तो उन्होने प्रकृति माना है और कृष्ण को पुरुष, फिर प्रकृति-पुरुष की एकता भी प्रतिपादित की है।[2] कही-कही उन्होंने राधा को कृष्ण की शक्ति कहा है और उसी रूप से उसकी उपासना भी की है। वल्लभ-सम्प्रदाय मे राधिका को स्वामिनी माना है, स्वयं गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने राधा के विषय मे 'स्वामिन्यष्टक' और 'स्वामिनी-स्तोत्र' द्वारा राधा की उपासना की है। सूर की गोपियों का विभाजन भी अनन्यपूर्वा, अन्यपूर्वा तथा गुणातीता के रूप मे हो सकता है।

श्रीमद्भागवत, वल्लभ-सम्प्रदाय तथा अन्यान्य सम्प्रदायों को आधार मानते हुए भी हमे सूर के सिद्धान्तों में पर्याप्त मौलिकता मिलती है। पिछले अध्याय में हम दिखा चुके है कि सूर ने अपने इष्ट के अतिमानवीय रूप के साथ मानवीय रूप का भी चित्रण किया है। उनके कृष्ण एक ओर तो भागवत के श्रीकृष्ण और वल्लभ के इष्टदेव, परब्रह्म पुरुषोत्तमस्वरूप तो हैं ही, दूसरी ओर उनके कृष्ण मे मानवता का भी पूरा-पूरा पुट हमें मिलता है। कृष्ण के बालरूप का वर्णन करता हुआ कवि उन्हें अबोध, सुकुमार, चञ्चल तथा धृष्ट शिशु के रूप में चित्रित करता है। उस चित्रण मे इतनी मानवीयता और मनोवैज्ञानिकता है कि कृष्ण हमें अपने बीच खेलते हुए प्रतीत होते हैं। सम्भवतः इसीलिए सूर उनकी अलौकिकता की ओर पाठक का ध्यान आकर्षित करते जाते है। विभिन्न संस्कारों, उत्सवों और समारोहों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन सम-सामयिक समाज का प्रतिबिम्ब स्वरूप है। गोचारण-प्रसंग मे भी कृष्ण साधारण ग्वाले के रूप मे चित्रित किये गये हैं। उनकी शृङ्गार-लीलाओं के चित्रण को देखकर पाठक को सहसा यह विश्वास नही होता कि वे केवल आठ-नौ वर्ष के होंगे। प्रेम की ऐसी घातें, नये-नये दाँव-पेच और विचित्र

---

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) दशम स्कन्ध रास पंचाध्यायी,

२ ब्रजहिं बसै आपुहि बिसरायौ।
प्रकृति पुरुष एकहि करि जानहु बातन भेद करायौ।
जल थल जहाँ रहौ तुम बिनु नहिं बेद उपनिषद गाऔ।
द्वै तन जीव एक हम दोऊ सुख कारन उपजाऔ।
ब्रह्म रूप द्वितिया नहिं कोऊ, तब मन तिया जनायौ।
सूर श्याम मुख देखि अलप हँसि आनन्द पुञ्ज बढायौ॥

सूरसागर (ना० प्र० स०) पद २३०४।

रति-क्रीड़ाएँ पाठक को विवश कर देती है कि वह कृष्ण को रसिक-शिरोमणि, चतुर रतिनागर के रूप में देखे। यही बात गोपियो के विषय मे भी है। इसे हम सूर की मौलिकता कह सकते है।

जीव, जगत्, मोक्ष आदि के विषय मे भी सूर ने केवल मौलिकता ही नही, निर्भीकता भी दिखायी है। जगत् और संसार के सूक्ष्म भेद की ओर सूर का ध्यान इतना नही गया है और न ही जीवों की कोटियाँ गिनाने मे उनका मन रमा है, ब्रज-भूमि मे प्रवेश होने से पहले उनका मन सामीप्य के लिए मानो तडपता था। माया और अविद्या को वे आवरण समझते थे। इसलिए भगवान् के सम्मुख सूरदास कभी करुणा-क्रन्दन करते हुए दीख पड़ते है, तो कभी अपना दैन्य प्रकट करते हुए और कभी माया और उसके रूप, तृष्णा आदि पर पिल पड़ते हुए लक्षित होते है। यही कारण है कि वल्लभाचार्य जी से साक्षात्कार होने तक वे घिघियाते रहे। ब्रज-भूमि के स्पर्श से उनका घिघियाना बन्द हो गया और मानो उन्हें परमधाम की प्राप्ति हो गयी। उस परमधाम में पहुँच कर भगवान् का लीला-गान ही वे अपना कर्तव्य समझते रहे। जीवन्मुक्त भक्त को मोक्ष की विभिन्न कोटियों के पचड़े में पड़ने से क्या मतलब ? इसीलिए सूरसागर मे दार्शनिक सिद्धान्तो की खोज करना असगत-सा ही प्रतीत होता है।

नवम अध्याय

सूरदास का भक्ति-पक्ष

सूर-साहित्य की पृष्ठ-भूमि का विवेचन करते हुए हमने सक्षेप मे भक्ति-आन्दोलन का विश्लेषण किया है। उत्तरी भारत के वैष्णव सम्प्रदायों ने अपनी भक्ति-भावना का सूत्र श्रीमद्-भागवत से ग्रहण किया है, इसका हम पहले ही विवेचन कर चुके है। यद्यपि इस ग्रन्थ में वर्णाश्रम धर्म, मानव-धर्म, कर्म-योग, अष्टांग-योग, ज्ञान-योग और भक्ति-योग आदि भगवद्-भक्ति की प्राप्ति के सभी साधनों का विशद विवेचन है, परन्तु इस महापुराण का मुख्य प्रयोजन भक्ति का उत्कर्ष दिखाकर मनुष्य को उसकी ओर प्रवृत्त करना है। वैदिक काल से लेकर पौराणिक युग तक के भक्ति-सिद्धान्तों का समन्वय और सामञ्जस्य हमें इसमे मिलता है। भक्ति के विकास पर हिन्दी में कई निबन्ध लिखे जा चुके है। हम संक्षेप से भक्ति का विकास-क्रम दिखलाते हुए भक्ति का विश्लेषण प्रस्तुत करते है।

भक्ति का विकास और विश्लेषण

भारतीय धर्म-पद्धति में लोक-धर्म के तीन अवयव है। प्राचीन काल से ही ये तीनों अवयव भारतीय धर्म-साधना मे प्रतिष्ठित हैं। वास्तव मे ये तीनों ही मानवता की पूर्णता के लिए आवश्यक हैं, परन्तु देश काल की परिस्थितियों के अनुकूल कभी एक का प्राबल्य रहता है, तो कभी दूसरे का। इनके अनुपात को सुव्यवस्थित और सुमर्यादित बनाना ही भारतीय धर्म-साधना की मौलिकता रही है। वेदों में प्राकृतिक शक्तियों को दैवी रूप दिया गया है और उनकी उपासना के अनेक मन्त्र मिलते हैं। ज्ञान-पक्ष में सब देवताओं को एक ही ब्रह्म के नाना रूप बताया है।[1] एक ओर वेदों में ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा है और दूसरी ओर द्रव्य-यज्ञ का भी विधान है, जो एक प्रकार से उपासना का ही वाह्य रूप है। वेदों में— विशेषकर यजुर्वेद मे—बहुत से काम्य और नैत्यिक यज्ञों का विधान है, साथ ही साथ वैदिक ऋषियो ने अपनी सहृदयता और भावुकता का भी परिचय दिया है। उनकी यह भावुकता देवताओं की स्तुतियों तथा प्राकृतिक दृश्यों के सम्बन्ध में सौन्दर्य भावना और शुद्ध अनुराग प्रेरित रमणीय उक्तियों के रूप में प्रकट हुई है।[2]

वैदिक काल में ही ब्रह्म की नराकार भावना हो चुकी थी। ऋग्वेद के पुरुष-सूत्र में ईश्वर की भावना पुरुष रूप में की गई है। ब्राह्मण-ग्रन्थो मे तो इस भावना को और भी पुष्टि मिली और ब्रह्म की पुरुष-नारायण के रूप मे कल्पना की गई। हम यों कह सकते हैं कि मंत्र-काल या संहिता-काल में परमेश्वर की विभिन्न शक्तियों का साक्षात् करके उनको एक समष्टि शक्ति के रूप मे ग्रहण किया गया और फिर ब्राह्मण-काल मे बुद्धि और कल्पना के बल पर उस शक्ति के स्वरूप का परिचय दिया गया। इसे हम ज्ञान और उपासना का योग कह सकते हैं अथवा बुद्धि और हृदय का सामंजस्य। उपनिषदों में भी इसी प्रकार के प्रयत्न स्पष्ट लक्षित होते हैं। ब्रह्म को

१ इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्य सुपर्णो गरुत्मान्।

२ एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः।

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय देखना ही उसे अपनी अन्तःसत्ता के बाहर वाह्य जगत् में देखने का ही प्रयत्न है।[१]

वैदिक वाङ्मय में यह ब्रह्म की भावना हमें विभिन्न रूपों मे प्रस्फुटित होती हुई दृष्टि-गोचर होती है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, अग्नि, वरुण, वायु ब्रह्म के ही विभिन्न प्रतीक है। इस प्रकार ब्रह्म की ही समष्टि शक्ति, बुद्धि और कल्पना का योग पाकर अनेक नाम-रूपों में विभक्त हुई-सी प्रतीत होती है। इस उपासना-पक्ष के साथ ज्ञान-पक्ष का रूप भी हमे वैदिक काल में बराबर मिलता है। उपनिषद्-काल मे तो स्पष्ट ही दो मार्ग दिखलाई देते है। निवृत्ति-परक ज्ञानमार्ग की वृहदारण्यक तथा कठोपनिषद् आदि में तथा कर्म-परक ज्ञानमार्ग की ईशावास्यादि उपनिषदों में व्याख्या हुई है। कर्म-परक ज्ञानमार्ग से ही उस भक्ति-मार्ग का विकास हुआ, जिसमे हृदय-पक्ष प्रबल हो गया और रागात्मक तत्व को प्रधानता मिली। ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमृत, स्थित और चल, अणु और महान्—दोनों ही रूपों का वर्णन हमें उपनिषदों में मिलता है। अन्त में उसे मूर्त और अमूर्त दोनों से परे बताया है।[२] वृहदारण्यक में स्पष्ट बतलाया है :

द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैवामूर्तञ्च।
मर्त्यञ्चामृतं च, स्थितं च, यच्च, सच्चं, त्यच्च।

सारांश यह है कि उपनिषदों में विशुद्ध तत्वज्ञान के लिए ब्रह्म को निर्गुण और अव्यक्त कहा गया है, परन्तु उपासना के लिए उसका सगुण रूप ही सामने रक्खा गया है। यों तात्विक रूप से ब्रह्म की भावना एकत्वनिष्ठ ही थी :

त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिः।
त्वमग्निर्वरुणो वायुस्त्वमिन्द्रस्त्वं निश करः।
त्वं मनुस्त्वं यमश्च त्वं पृथिवी त्वमथाच्युतः।
स्वार्थो स्वाभाविकेऽर्थे च बहुधा तिष्ठसे दिवि॥

मैत्रायण्युपनिषद् ४। १२। १३

उपासना-पद्धति में विधि-विधान और उपचार का भी समावेश हुआ। वैदिक काल की पूजा, जो केवल द्रव्य-यज्ञ द्वारा ही सम्पादित होती थी और जिसमें भय, लोभ या कृतज्ञता के ही भाव रहते थे, धीरे-धीरे परिष्कृत होती गई। ब्रह्म के स्वरूप के बोध के साथ उसका विशेषीकरण हुआ और पूजा ने श्रद्धा-समन्वित उपासना का रूप धारण कर लिया। बुद्धि के योग के कारण द्रव्य-यज्ञ का परिष्कार ज्ञान-यज्ञ के रूप मे हुआ। उपनिषदों से लेकर श्रीमद्भगवद्गीता तक द्रव्य-यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान-यज्ञ की विशेषता प्रतिपादन करने के उपाय स्पष्ट लक्षित होते है। हम पहले लिख चुके है कि घोर अङ्गिरस ऋषि द्वारा देवकी पुत्र श्रीकृष्ण को इस विद्या को देने का उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् में है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी इसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है।[३]

---

१ अन्नब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनो ब्रह्मेति व्यजानात्।
विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।

तैत्तिरीयोपनिषद् भृगुवल्ली।

२ अणोरणीयान् महतो महीयान्,
आत्मा गुहाया निहितोऽस्य जन्तोः। (श्वेत० ३—२०)

३ श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परतप। गीता ४—३३

इस यज्ञ मे ज्ञान और कर्म दोनों का समन्वय है, मन की बोधवृत्ति और रागात्मिका वृत्ति का संयोग है। धीरे-धीरे मन की रागात्मिका वृत्ति को प्रधानता मिलती गई और भागवत-धर्म की प्रतिष्ठा हुई। विष्णु को प्रधानता वैदिककाल मे ही मिलने लगी थी, आगे चलकर तो विष्णु ही भागवत-धर्म के सर्वश्रेष्ठ देव निश्चित हुए। कृष्ण के विकास मे हम बतला चुके हैं कि किस प्रकार विष्णु, नारायण, वासुदेव और कृष्ण मे एकता स्थापित हुई और श्रीकृष्ण भागवत-धर्म के मुख्य आधार बने? प्रारम्भ मे तो श्रीकृष्ण में लोक-रजक और लोक-रक्षक दोनों ही स्वरूपों का समन्वय था, परन्तु धीरे-धीरे उनका लोक-रक्षक स्वरूप तिरोहित होता गया और केवल ऐसे स्वरूप की प्रतिष्ठा की प्रवृत्ति बढती गई, जो अत्यन्त घनिष्ठ प्रेम का अवलम्बन हो सके। यद्यपि सभी पुराण किसी न किसी देवता को प्रधान मानकर इस उपासना-पद्धति का निरूपण करते हैं, फिर भी श्रीमद्भागवत को इस प्रवृत्ति का विशिष्ट सुमधुर, सुस्वादु फल कहा जा सकता है। गीता में जो भक्ति का रूप है, वह कर्म और ज्ञान से समन्वित ही कहा जा सकता है। परन्तु भागवत मे तो कर्म और ज्ञान से अलग भक्ति का स्वतन्त्र क्षेत्र तैयार किया गया है। शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र, नारद-भक्ति-सूत्र और पाञ्चरात्र संहिताएँ इसी परम्परा के ग्रन्थ हैं। श्रीमद्भागवत की एक विशेषता यह भी है कि उसमे ज्ञान या स्वरूप-बोध के लिए तत्वचिन्तक की स्वाभाविक पद्धति को स्वीकार किया गया है। आगे चलकर वैष्णव सम्प्रदायों ने इसी भक्ति-पद्धति को अपनाया, जिसका विवेचन हम पहले कर चुके हैं।

भक्ति की व्याख्या

भक्ति शब्द 'भज्' सेवायाम् धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर बनाया है; जिसका अर्थ है भगवान् का सेवा-प्रकार। शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र में लिखा है कि ईश्वर मे परम अनुरक्ति ही भक्ति है।[1] नारद-भक्ति-सूत्र में लिखा है कि भक्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेम-रूपा है और अमृत-स्वरूप भी है। जिस परम प्रेम-रूपा और अमृतस्वरूपा भक्ति को पाकर मनुष्य तृप्त हो जाता है, सिद्ध हो जाता है और अमर हो जाता है। जिस भक्ति के प्राप्त होने पर मनुष्य न किसी वस्तु की इच्छा करता है, न शोक करता है और न किसी वस्तु मे आसक्त होता है; विषय-भोगों के प्रति उसका कोई उत्साह नही रहता और आत्मानन्द के साक्षात्कार से वह संसार के विषयो से निरपेक्ष होकर मस्त रहता है।[2]

भागवतकार ने भक्ति का लक्षण इस प्रकार दिया है, "मनुष्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है, जिसके द्वारा भगवान् कृष्ण मे भक्ति हो; भक्ति भी ऐसी, जिसमे किसी प्रकार की कामना न हो और जो नित्य निरन्तर बनी रहे, ऐसी भक्ति से हृदय आनन्द स्वरूप भगवान् की उपलब्धि करके कृतकृत्य हो जाता है।"[3]

'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' में भक्ति की बडी विस्तृत व्याख्या की गई है। इस ग्रन्थ के चार विभाग हैं—पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण। पूर्व विभाग में भक्ति की व्याख्या की गई है। इसमें चार लहरी हैं—प्रथम लहरी मे भक्ति के सामान्य रूप का विश्लेषण हुआ है, दूसरी मे

१ सा परानुरक्तिरीश्वरे। शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र. भक्ति-चन्द्रिका, (सम्पादक श्रीगोपीनाथ कविराज, पृष्ठ ५)

२ नारद-भक्ति-सूत्र १, २, ३, ४, ५, ६

३ स वै पुसा पराधर्मो यता भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा संप्रसीदति। (१-२-६)

साधना-भक्ति का स्वरूप बताया है, तीसरी मे भाव-भक्ति का विवेचन है और चौथी मे प्रेम-भक्ति का।

महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने भक्ति की परिभाषा इस प्रकार से की है, "भगवान् में माहात्म्यपूर्वक, सुदृढ़ और सतत स्नेह ही भक्ति है। मुक्ति का इससे सरल उपाय नही है।"[1]

और भी अनेक आचार्यो ने भक्ति के लक्षण किये है, परन्तु उन सभी लक्षणो मे दो लक्षणो पर विशेष जोर दिया गया है—१-ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम तथा २-अन्य सांसारिक वस्तुओं से वैराग्य। श्रीमद्भागवत मे हमे भक्ति के तीन स्वरूप मिलते है, १-विशुद्ध भक्ति, २-नवधा भक्ति, ३-प्रेमा भक्ति। श्रीमद्भागवत मे विशुद्ध भक्ति का विवेचन कई स्थानों पर हुआ है। एकादश स्कन्ध के चौदहवें अध्याय में उन्होंने भक्ति को योग, ज्ञान, धर्म, स्वाध्याय, तप, दान, आदि-आदि से भी ऊपर माना है।[2] नवम स्कन्ध मे भगवान् ने घोषणा की है कि मै भक्तों के अधीन हूँ, मुझे केवल भक्ति के द्वारा ही जाना जा सकता है।[3]

श्रीमद्भगवद्गीता में भी इसी प्रकार की भक्ति की ओर संकेत किया है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्यः अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ।।११। ५४

श्रीमद्भगवद्गीता मे श्रीकृष्ण भगवान् कहते है, "यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भाव से मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चय वाला है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहने वाली परम शान्ति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन, तू निश्चय जान, मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।"[4] श्री मद्भागवत की यह विशेषता है कि इसमें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति से युक्त नैष्कर्म्य का आविष्कार किया गया है तथा भक्ति-सहित ज्ञान का निरूपण हुआ है। ज्ञान की अन्तरंग साधना मे श्रवण, मनन और निदिध्यासन को विशेष स्थान देने पर भी 'नतत्रोपायसहस्राणाम्' कहकर भक्ति को ही मुख्य माना है। इसका कारण यह है कि ज्ञान का आविर्भाव होने के लिए शुद्ध अन्तःकरण की आवश्यकता होती है और समस्त कामनाओं को नष्ट करने का कारण होने से भक्ति ही अन्तःकरण की शुद्धि का प्रधान कारण है। ज्ञान और भक्ति का सामञ्जस्य भागवतकार ने स्थान-स्थान पर किया है। निम्नलिखित श्लोक मे यह सामंजस्य बड़ी सुन्दरता से प्रस्तुत किया गया है—

वदन्ति तत्तत्वविदस्तत्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।। भागवत १-२-११

अर्थात् ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—ये तीन नाम पृथक्-पृथक् तत्व के नही, एक ही परमतत्व की दृष्टि-भेद के अनुसार त्रिविधि अनुभूति मात्र है। ज्ञान-राशि के उदय-काल में भगवत्तनु का जो आलोक साधक के शुद्ध, सात्विक हृदय-पटल पर प्रतिफलित होता है, उसे ब्रह्म कहते है। यही आलोक-पुञ्ज जब बिम्ब रूप से साधक के हृदयाकाश में प्रतीत होता है, तब वह परमात्मा कहलाता है। ये ब्रह्मानुभव और परात्म-दर्शन दोनों ही भगवत् तत्व के खण्ड या अंश-

---

१ माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ़ः सर्वतोऽधिक।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचान्यथा। त० दी० नि०, ज्ञानसागर बम्बई, श्लोक ४६, पृष्ठ १२७

२ भागवत स्कन्ध ११, अध्याय १४, श्लोक २० से २५

३ भागवत ९-४। ६३ से ६८

४ गीता ९। ३०-३१

बोधमात्र हैं। इस ब्रह्म के प्रतिष्ठान एवं परमात्मा के अधिष्ठान-भूत परमतत्व का भक्तों को जो श्री श्याम रूप में दर्शन होता है, वह भगवान् नाम से निर्दिष्ट किया जाता है। इस दर्शन से जो अनुभव होता है, वही भगवान् का विज्ञान-समन्वित परम गुह्य ज्ञान है और वह भक्ति-भावित नेत्रों से ही परिज्ञात होता है। वास्तव में भक्ति और ज्ञान मे कोई तात्विक भेद नहीं है। भक्ति की पराकाष्ठा ज्ञान है और ज्ञान की पराकाष्ठा भक्ति। जहाँ भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ बताया गया है, वहाँ भक्ति का अर्थ साधन भक्ति है और जहाँ ज्ञान को भक्ति से श्रेष्ठ बताया गया है, वहाँ ज्ञान का अर्थ परोक्ष ज्ञान है। पराभक्ति और परम ज्ञान दोनो एक ही वस्तु है। गीता का निष्कामता भी भक्ति-योग के अन्तर्गत है, क्योंकि भगवदर्थ कर्म ही निष्काम होते हैं। भागवत महात्म्य मे ज्ञान और वैराग्य को भक्ति का पुत्र बतलाया है।[1]

भागवत मे भक्ति के साध्य और साधन दोनो ही पक्षो का विवेचन हुआ है। मन की एकाग्रता से भगवान् का नित्य निरंतर श्रवण, कीर्तन और आराधन भक्ति का साधन पक्ष है और भगवान् मे परानुरक्ति उसका साध्य पक्ष है। साधना रूपा भक्ति को नवधा भक्ति, वैधी भक्ति अथवा मर्यादा भक्ति भी कहते है और साध्य रूपा भक्ति को प्रेमाभक्ति तथा रागानुगा अथवा रागात्मिका भक्ति के नाम से अभिहित किया जाता है। 'हरि-भक्ति-रसामृत-सिन्धु' मे वैधी और रागानुगा दोनों ही भक्तियों को साधनभक्ति कहा है और पराभक्ति को साध्य भक्ति माना है। इस ग्रन्थ में भक्ति गौणी तथा परा भेद से दो प्रकार की मानी गई है। गौणी भक्ति के दो भेद हैं—वैधी और रागानुगा। फिर रागानुगा के भी दो भेद है—कामरूपा और सम्बन्धरूपा। यही भक्ति साधना भक्ति है और जब सब कामनाओं से रहित होकर भक्त की भगवान् में परानुरक्ति हो जाती है तब वह पराभक्ति कहलाती है। साधनरूपा भक्ति के पाँच अङ्ग माने गये हैं १—उपासक, २—उपास्य, ३—पूजा-द्रव्य, ४—पूजा-विधि, ५—मंत्र-जप। तन्त्र-ग्रन्थों मे मन्त्र-जप को विशेष महत्व दिया गया है और इसके पाँच तत्व माने गये है—१—गुरुत्व, २—मन्त्र तत्व, ३—मनस्तत्व, ४—देवत्व तथा ५—ध्यान तत्व। निर्वाण तन्त्र और निर्वाण सार में इनका विशद विवेचन हुआ है। इन तन्त्र-ग्रन्थों में भक्ति को मन्त्रयोग का एक अंग माना है और चित्तवृत्ति के निरोध के लिए उसे आवश्यक बताया है। मंत्र-योगी-भाव-समाधि मे जाकर ईश्वर का साक्षात्कार करता है।

श्रीमद्भागवत मे भक्ति के कई भेद गिनाए है। तृतीय स्कन्ध मे भक्ति के चार प्रकार माने है—सात्विकी, राजसी, तामसी तथा निर्गुण।[2] फिर सप्तम स्कन्ध मे प्रह्लाद ने भक्ति के नौ भेद बतलाए है :

> श्रवणं कीर्तनं विष्णोःस्मरणं पादसेवनम्।
> अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मानिवेदनम् ॥२३॥
> इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
> क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥२४॥
>
> भागवत सप्तम स्कन्ध, पंचम अध्याय

इन नौ साधनों के तीन भाग किये जा सकते है—श्रवण, कीर्तन और स्मरण, जो श्रद्धा और विश्वास की वृत्ति के सहायक है। पाद सेवा, अर्चन और वन्दन रूप-सम्बन्धी-साधन हैं, जो

---

१ भागवत महात्म्य अध्याय १ श्लोक ४५

२ भागवत तृतीय स्कन्ध अध्याय २९ श्लोक ७—१४

वैधी भक्ति के विशेष अंग है तथा दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन भाव-सम्बन्धी-साधन है, जो रागात्मिका भक्ति से सम्बन्ध रखते है। श्रीमद्भागवत मे इन तीनों ही अंगो का बड़े विस्तार से विवेचन हुआ है। आगे चलकर दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन का ही रूपगोस्वामी ने भक्ति-रस का उत्पादक माना है। 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' और 'उज्ज्वल नील मणि' में भक्ति-रस का शास्त्रीय ढंग से विवेचन हुआ है। दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन मे भी आत्मनिवेदन का विशेष महत्व है, क्योंकि आत्मनिवेदन मे साधन और साध्य एक हो जाते है। श्रीमद्भागवत मे भक्तों की जितनी भी कथाएँ आई है, उनमें शरणागति का भाव ही ओतप्रोत है। वैधी-भक्ति का पर्यवसान रागात्मिका भक्ति में है और रागात्मिका भक्ति की पूणता आत्म-समर्पण मे। गोपियों ने वैधी भक्ति का ही अनुष्ठान किया था, परन्तु उनका हृदय रागात्मिका भक्ति से ही ओतप्रोत था। भगवान् की चीर-हरण लीला और रासलीला इस पूर्ण समर्पण के ही रूप है। गीता मे भी भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को इस आत्म-निवेदन का ही उपदेश स्थान-स्थान पर दिया है :

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्वमदर्पणम् ॥—गीता ६। २७
मन्मना मव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्व सर्वपापेभ्यो मोचयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

गीता, अध्याय १८

कुछ आचार्यों ने इस आत्म-निवेदन को शरणागति अथवा प्रपत्ति कहा है। पाञ्चरात्र विष्वक्सेन संहिता मे कहा गया हैं, "भगवत्रूप प्राप्य वस्तु की इच्छा करने वाले उपाय-हीन व्यक्ति की प्रार्थना मे पर्यवसायिनी निश्चयात्मिका बुद्धि ही प्रपत्ति का स्वरूप है तथा अनन्य साध्य भगवद्-प्राप्ति मे महाविश्वास पूर्वक भगवान् को ही एक मात्र-उपास्य समझ कर उपाय करते रहना ही प्रपत्ति है और इसी को शरणागति कहते हैं।"[1]

भक्ति की कोटियो मे प्रेमाभक्ति का सर्वोच्च स्थान है। रूपगोस्वामी ने 'भक्तिरसामृत-सिन्धु' में उत्तमा भक्ति के तीन भेद माने है—साधन-भक्ति, तथा प्रेमाभक्ति। साधन-भक्ति के साधनो का वर्णन आता है, उसके दो रूप है—वैधी और रागानुगा। रागानुगा-साधन-भक्ति के भी दो रूप है—कामानुगा और सम्बन्धानुगा। कामानुगा मे इच्छा बनी रहती है, भक्त गोपीमय होना चाहता है। सम्बन्धानुगा भक्ति मे भक्त कृष्ण से सम्बन्ध स्थापित करता है। नन्द, यशोदा और गोप इसी कोटि के भक्त है। भाव-भक्ति या तो कृष्णप्रसाद जी होती या कृष्ण-भक्त-प्रसादजी होती है। यह रस-रूप तक नही पहुँचती। रस की स्थिति पर पहुँचकर वह प्रेमा-भक्ति हो जाती है। रूपगोस्वामी ने पाँच मुख्य और सात गौण रस माने है।[2]

'नारद-भक्ति-सूत्र' मे प्रेमा-भक्ति का विशद विवेचन हुआ है। इस ग्रन्थ के चौरासी सूत्रों मे भक्ति-तत्व की व्याख्या, भक्ति के अन्तराय भक्ति के साधन, भक्ति की महिमा और भक्तो के महत्व को भली-भाँति प्रकट किया है। इसीलिए इस ग्रन्थ को प्रेमदर्शन भी कहते हैं। इस भक्ति

१ पाञ्चरात्र विष्वक्सेन संहिता से कल्याण के साधनाङ्क मे उद्घृत (अगस्त, सन् १९४०)

२ भक्ति रसामृत-सिन्धु, पूर्व विभाग चतुर्थ लहरी।

को प्राप्त करके मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है, तृप्त हो जाता है और भगवान् कृष्ण के अतिरिक्त उसे किसी बात की चिन्ता नहीं रहती।[1] प्रेमस्वरूपा भक्ति मे अनन्यता का भाव निहित रहता है। यह भक्ति कर्मयोग और ज्ञानयोग; दोनों से ही श्रेष्ठ है। भागवत मे कृष्ण कहते है, "योग, ज्ञान, धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग मुझे इतना प्रसन्न नही कर सकते, जितना मुझे मेरी दृढ भक्ति प्रसन्न करती है। मेरी भक्ति चाण्डालादि को भी पवित्र कर देती है।"[2] गीता मे भी कृष्ण अर्जुन से कहते है, "हे अर्जुन, जैसा तुमने मुझे देखा है, वैसा मैं वेद, तप, दान, यज्ञ आदि से भी नही देखा जा सकता। हे अर्जुन, अनन्य भक्ति के द्वारा ही मेरा इस प्रकार से देखा जाना, मुझे तत्व मे जानना और मुझ में प्रवेश पाना सम्भव है।"[3]

यही प्रेमा-भक्ति परा-भक्ति कहलाती है और इसी को भूमानन्द कहते है। इसमे भक्त अपने प्रियतम भगवान् के स्वरूप को प्राप्त हो जाता है; इसी को भागवत में अहैतुकी निर्गुण-भक्ति तथा गीता मे ज्ञानी की भक्ति कहा है। इसमें भक्त की चित्त-वृत्ति और कर्म-गति का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से भगवान् की ओर बहता रहता है और उसकी समस्त क्रियाएँ कृष्णोन्मुख ही होती हैं।[4] गीता के बारहवें और अठारहवें अध्याय में भक्त के लक्षण बताए गये हैं और वह स्थिति बतलाई है, जब भक्त को पराभक्ति की प्राप्ति होती है। "जब मनुष्य विशुद्ध बुद्धि से युक्त एकान्तसेवी और मिताहारी बनकर वाणी को जीतकर और वैराग्य को धारण करके निरन्तर ध्यान परायण, दृढ़ धारण से अन्तःकरण को वश मे करके शब्द-स्पर्श आदि विषयों को त्याग, राग-द्वेष को नष्ट कर—अहंकार, बल-दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह को छोड़कर ममता-रहित और शान्त हो जाता है, तभी वह ब्रह्म प्राप्ति के योग्य होता है। फिर ब्रह्मभूत होकर सदा प्रसन्न चित्त रहने वाला वह न किसी वस्तु के लिए आकांक्षा ही करता है। सब प्रणियो में समभाव से केवल भगवान् को ही देखता है, तब उसे मेरी परा-भक्ति प्राप्त होती है, जिसके द्वारा वह मुझे तत्व से जानकर मुझ ही में मिल जाता है।"[5]

'नारद-भक्ति-सूत्र' मे प्रेमरूपा भक्ति के सम्बन्ध में ग्यारह आसक्तियों का उल्लेख किया गया है, जिसके कारण यह एक होकर ग्यारह प्रकार की होती है। ग्यारह आसक्तियाँ ये है—(१) गुण-महात्म्यासक्ति, (२) रूपासक्ति, (३) पूजासक्ति, (४) स्मरणासक्ति, (५) दास्यासक्ति, (६) सख्यासक्ति, (७) कान्तासक्ति, (८) वात्सल्यासक्ति, (९) आत्मनिवेदनासक्ति, (१०) तन्मयतासक्ति, (११) परमविरहासक्ति। जो भक्त परा-भक्ति को प्राप्त कर लेते है, उनमें तो ये सभी आसक्तियाँ रहती है, जैसे—व्रज की गोपियों में, परन्तु सभी अन्य भक्तो मे कोई न कोई आसक्ति अवश्य रहती है। श्रीमद्भागवत मे इन सभी प्रकार के भक्तों का वर्णन है। जैसे—नारद, शुकदेव, सूत, शौनक, परीक्षित, पृथु, जनमेजय आदि गुणामहात्म्यासक्ति-भक्त हैं। कुछ ऋषि और व्रजनारियाँ रूपासक्ति-भक्त हैं। राजा पृथु, अम्बरीष, भरत आदि पूजासक्ति-भक्त है। प्रह्लाद, ध्रुव, सनकादि स्मरणासक्ति-भक्त हैं। अक्रूर, विदुर आदि दास्यासक्ति-भक्त हैं। अष्ट पटरानियाँ कान्ता-सक्ति-भक्त है। कश्यप, अदिति, सुतपा, पृश्नि, मनु, शतरूपा, नन्द-यशोदा, वसुदेव-देवकी

---

१ नारद-भक्ति-सूत्र ४
२ भागवत ११।१४।२०-२१
३ गीता ११।५३-५४
४ भागवत ३।२९।११-२
५ गीता १८।५१-५५

आदि वात्सल्यासक्ति-भक्त है। राजा अम्बरीष, राजा बलि, राजा शिवि आदि
भक्त है। शुक, सनकादि, ज्ञानीगण अथवा कौण्डिन्य. सुतीक्ष्ण आदि प्रेमी भ
भक्त हैं तथा उद्धव, अर्जुन और ब्रजनारी परम विरहासक्ति-भक्त हैं।

सूर की भक्ति-साधना

सूर-साहित्य की पृष्ठ-भूमि में हमने तत्कालीन धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराया है। स्पष्ट रूप से न तो सूरदास जी ने पुष्टि-सम्प्रदाय के अतिरिक्त किसी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का विवेचन ही किया है और न अपने समय की परिस्थितियों का उल्लेख ही किया है। परन्तु फिर भी, जैसा कि हम पहले कह चुके है, कवि तमाशबीन की तरह उन परिस्थितियो की उपेक्षा नही कर सकता। धार्मिक परिस्थितियों के साथ ही साथ सामाजिक परिस्थितियों का भी परिचय हमें सूर-काव्य मे मिल जाता है। सूर के समकालीन गोस्वामी तुलसीदास जी की सभी रचनाओं में किसी न किसी रूप मे सामाजिक प्रतिच्छाया मौजूद है, कबीर की अटपटी, अक्खड़, सधुक्कडी भाषा मे समाज की पोल खोलकर उस पर व्यंग्य वाणो की जो वर्षा की गई है, उससे भी तत्कालीन समाज का पूरा नक्शा ज्यों का त्यों सामने आ जाता है। ढोंग और आडम्बर के सर्वभक्षी राक्षस मानवता और सदाचार को निगल रहे थे। व्रत, पूजा, तीर्थादि की प्रतिष्ठा होते हुए भी पवित्र धर्म-बुद्धि का अभाव ही दीख पड़ता था। धर्म के नाम पर प्रच्छन्न कलुष का आचरण जोर-शोर से चल रहा था। नाथपथी साधुओं का ढकोसला भी कुछ कम न था। मन्दिर व्यभिचार के अड्डे बन रहे थे। इन सब बातो का प्रभाव सूर के साहित्य पर पड़ना स्वाभाविक ही था। उनकी भक्ति-साधना में तत्कालीन परिस्थितियों का बहुत सीमा तक योग है।

सूर की भक्ति-साधना और तत्कालीन परिस्थितियों के सम्बन्ध में एक बात यह भी विचारणीय है कि जहाँ सूर ने एक ओर इन परिस्थितियों के प्रति विरक्ति प्रदर्शित कर व्रत, पूजा, उपवास आदि से स्पष्ट विरोध नही तो उदासीनता तो प्रकट की ही है, वहाँ दूसरी ओर उन मानव दुर्बलताओं से समझौता भी किया है जिसका शिकार उस समय का समाज हो रहा था। सूर के काव्य मे कृष्ण-चरित्र के विलासमय चित्र और श्रृंगार रस की मादकता का जैसा संचार हुआ हैं, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। हम आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के इस मत से बिलकुल सहमत हैं :

"सूरदास ने मनुष्य की इस विफलता का कारण भजन का अभाव बतलाया है। अगर भजन हो तो यह सारी विफलता महती सफलता के रूप मे परिवर्तित हो जाय। सूरदास ने वस्तुतः अपने काल की सारी विलासिता का सुन्दर उपयोग किया है और कोई भी सहृदय इस बात को अस्वीकार नही करेगा कि सचमुच उन्होंने भजन के पारस पत्थर से स्पर्श कराके विलासिता रूपी कुधातु को भी सोना बना दिया है। उस युग के मनुष्य की विफलता की प्रथम सीढ़ी है—"आलिगन, चुम्बन; परिरम्भन, नख-छत, चारु परस्पर हाँसी" और सूर से अधिक और किस कवि ने इनका सफल वर्णन किया है ? "[1]

वस्तुतः पुष्टिमार्गीय सेवा का यही महत्व है। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने तत्कालीन समस्त विलास-सामग्री अपने आराध्य देव को समर्पित कर भक्त के मन से विलासिता को दूर करने का उपाय निकाला। इसका विशेष वर्णन हम अगले प्रकरण मे करेंगे। सूर-साहित्य मे उन्मुक्त

१ सूर साहित्य पृष्ठ ७२

विलास का समावेश होने पर भी उन्हें मर्यादा-विमुख नहीं समझना चाहिए। स्मार्त पथ के भी विरोधी नहीं थे और टीकाकारों के साथ उन्होंने मर्यादा-मार्ग को भी महत्व दिया है तथा वैधी-भक्ति का विवेचन भी उनकी रचनाओं में दृष्टिगोचर हो जाता है। भागवत में भक्ति को सर्वोपरि माना है, परन्तु ज्ञान और कर्म को भी अपनाया है। पराभक्ति या प्रेमरूपा भक्ति को महत्व देते हुए वैधी-भक्ति को उसकी प्राप्ति का साधन माना है। सूरदास जी ने भागवतकार की भाँति भक्ति को तो महत्व दिया है, परन्तु ज्ञान और कर्म की प्रतिष्ठा नहीं की। इस पृष्ठ-भूमि में हम सूर की भक्ति को निम्नलिखित दृष्टिकोणों से देखने का प्रयत्न करेंगे :

१—साधारण भक्ति विवेचन—उनका स्वरूप और महत्ता।

२—वैराग्यपूर्ण भक्ति—जो सम्भवतः वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व सूरदास जी मे थी।

३—वैधी भक्ति।

४—प्रेमरूपा भक्ति।

५—पुष्टिमार्गीय भक्ति।

पुष्टिमार्गीय भक्ति का वर्णन तो अगले अध्याय में किया जायगा, यहाँ पर हम सूर की भक्ति के अन्य प्रकारों पर दृष्टि-प्रक्षेप करेंगे। सूर के दार्शनिक सिद्धान्तो के विवेचन में हम कह चुके है कि सूर के मत से इस प्रपञ्चात्मक संसार से छूटने का एकमात्र उपाय हरिभक्ति है जिनके बिना समस्त जीवन ही भार स्वरूप है : भक्ति रहित जीवन अधार्मिक जीवन है। कलियुग के संतापकारी तापत्रय का शमन भक्त के कोमल हृदय से बहते हुए भगवद्भक्ति रस के शीतल स्रोत से ही सम्भव है, जो केवल भौतिक-संघर्षजन्य क्लान्ति को ही दूर नहीं करता, प्रत्युत मानसिक कालुष्य-पङ्क का प्रक्षालन कर हृदय को स्वच्छ भी करता है और उसे उच्चभावों के ठहरने योग्य बनाता है। कर्मकाण्ड के जाल की जटिल उलझन में फँसी हुई जनता धर्म के लुब्धक ठेकेदार पण्डित-पुजारियों की बगुला-भक्ति की शिकार बन रही थी। तीर्थ, व्रत, जप आदि व्यर्थ ढकोसला वास्तविकता पर आवरण डालकर धर्म के मूलभूत तत्वों का अपहरण कर रहा था। तुलसी की तरह सूर ने भी अपने चारों ओर के संसार को आँख खोल कर देखा और उसकी बुराइयों की भर पेट निन्दा की। ऐहिक लालसा की मृगतृष्णा के पीछे भटकते हुए मानव-मन कुरंग को उन्होंने भगवद्भक्ति-सरिता के सरस कूल पर लाकर छोड दिया। भौतिक विषयों के दुष्परिणामों का उद्घाटन और प्रभु-प्रेम का प्रतिपादन उन्होंने इस खूबी के साथ किया कि लोग हरि-लीलागान में अनायास ही रत हो गये और भक्ति के बिना समग्र साधनों को बन्धन समझने लगे। ज्ञान और वैराग्य का साधक बना कर उन्होंने भक्त के पद की प्रतिष्ठा की और ज्ञान एवं योग द्वारा अगम्य तत्व को भी भक्ति के सरल मार्ग द्वारा गम्य बनाया। भक्ति स्वतःपूर्ण है, वह साधन नहीं, साध्य है, व्यापार नहीं, लक्ष्य है; उसकी प्राप्ति सब कामनाओं की इति श्री है। हरि का भक्त स्वयं हरिस्वरूप हो जाता है, वह ब्रह्मा और महादेव से भी महान् है :

> हरि के जन सब के अधिकारी।
>
> ब्रह्मा, महादेव तें को बढ़, तिनकी सेवा कछु न सुधारी॥[१]

जिस पर हरि की कृपा हो जाती है; उसे फिर किस बात की कमी ? भक्ति का विशाल क्षेत्र जाति-पाँति की क्षुद्र परिधि से परमेय नहीं होता। बड़े-बड़े महाराज, ऋषिराज और मुनिराज भी हरि भक्ति के समक्ष सिर झुकाकर बन्दना करते हैं और उसके तेज से लज्जित होते है :

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ५५

हरि के जन की अति ठकुराई।
महाराज रिषिराज महामुनि देखत रहे लजाई।
निरभय देह राजगढ ताकौ, लोक-मनन उतसाहु।
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, ये भये चोर तें साहु।
दृढ़ विस्वास कियौ सिंहासन, ता पर बैठे भूप।
हरि-जस विमल-छत्र सिर ऊपर राजत परम अनूप।
हरि-पद पङ्कज पियौ प्रेमरस, ताही मे रङ्गरातौ।
मन्त्री ज्ञान न औसर पावै, कहत बात सकुचातौ।
अर्थ काम दोऊ रहैं द्वारैं, धर्म मोक्ष सिर नावै।
बुद्धि-विवेक विचित्र पौरिया, समय न कबहूँ पावै।
अष्ट महासिधि द्वारैं ठाढ़ी, कर जोरे, उर लीन्हे।
छरीदार वैराग विनोदी, झिरकि बाहिरें कीन्हे।
माया काल कछू नहिं व्यापै, यह रस-रीति जो जानै।
सूरदास यह सकल समग्री, प्रभु प्रताप पहिचानै।[1]

भक्ति के बिना ज्ञान और कर्म व्यर्थ हैं, इस तथ्य को द्योतित करने के लिए सूरदास जी ने एक बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त उपस्थित किया है। उनका कथन है कि जिस प्रकार पतङ्ग दीपक से प्रेम करता है और उसकी दीप्त शिखा से भी न डरता हुआ उस पर गिर पड़ता है। उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी अपने ज्ञानरूपी दीपक से सांसारिक दुःख रूपी कूप को प्रकट देखता हुआ भी उसमे गिर जाता है। जड़ जन्तु कालरूपी व्याल के रजम्तमोमय विषानल मे क्यों जलता है? वह सकल मतों के अविकल वाद-विवाद के कारण वेश धारण करता है और इस प्रकार सकल निशिदिन भ्रमण करता रहता है, जिससे कुछ भी कार्य नहीं सरता, अगम-सिन्धु के पार करने को यत्नो की नौका सजा कर उसे कर्मों के भार से भरता है; परन्तु सूर का व्रत तो यही है कि मनुष्य कृष्ण-भक्ति द्वारा ही इस भव-सागर को पार कर सकता है।[2] विनय के सारे पद इसी प्रकार की भक्ति-भावना से भरे हुए हैं कि 'मनुष्य-जन्म बडी कठिनता से प्राप्त होता है, उसे यो ही नही गँवाना चाहिये।' सूर ने अपनी मत की पुष्टि मे अनेक पापियों के उदाहरण देकर सिद्ध किया है कि भक्ति के लवलेश से ही समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं, अन्यथा जीव इस भवसागर में यों ही भ्रमता रहता है। मन को चेतावनी देते हुए सूर ने अनेक पदों में भक्ति की महत्ता प्रतिपादित की है।[3]

सूरदास के विनय-पद तुलसीदास जी की 'विनय पत्रिका' की तुलना में रखे जा सकते है। दोनों ही कवियों का दैन्य-भाव पराकाष्ठा को पहुँच गया है और दोनो ने ही संसार की असारता दिखाकर भक्ति का महत्व प्रतिपादित किया है। मन को सम्बोधित कर मानव की पतित और शोचनीय दशा का चित्रण किया है, जिसका कारण स्वयं मनुष्य की सासारिकताप्रिय प्रवृत्ति है। सूरदास के पदों मे तन्मयता और मार्मिकता विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है।

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ६३-८८
२ वही (,, ,,) पद १७६१
३ वही (,, ,,) पद १७६७

सन्त-मत जिसका मुख्य आधार जाति-पाँति का विरोध है, सूर को कई पक्षों में मान्य है। भक्ति के नाते सारे भक्त एक कोटि के है। सन्तों का "जाति-पाँति पूछै नहिं कोय, हरि को जपै सो हरि का होय" वाला सिद्धान्त सूर सम्मत है। सूर के प्रभु के यहाँ सब बराबर है, उनके दरबार मे जाति-पाँति का भेद नही :

जाति-पाँति कोउ पूछत नाही श्रीपति के दरबार।[1]

भगवान् के भजन से नीच व्यक्ति भी उच्च पद प्राप्त कर लेता है।[2] उनके यहाँ ऊँच-नीच की गिनती नही की जाती।[3] हिन्दू-धर्म के बहुत-से सम्प्रदायों मे स्त्री को भक्ति का अधिकार भी नही दिया गया। सन्तों ने इन सिद्धान्तों का विरोध किया और सूर ने उनका समर्थन किया है।[4] मनुष्य का सब पुरुषार्थ, सारे साधन, सफल उपाय, अखिल मन्त्र और उद्यमादि व्यर्थ हैं, केवल प्रभु की चाही बात होती है, अतः उसी की आराधना करनी चाहिये :

करी गोपाल की सब होइ।
जो अपनौ पुरुषारथ मानत, अति झूठौ है सोइ।
साधन, मन्त्र, जन्त्र, उद्यम, बल ये—सब डारौ धोइ।
जो कछु लिखि राखी नन्द-नन्दन, मेटि सकै नहिं कोइ।
दुःख-सुख लाभ-अलाभ समुझि तुम कतहिं मरत हौ रोइ।
सूरदास स्वामी करुनामय, स्याम चरन मन पोइ॥[5]

भगवद्भक्ति के बिना बनिता, सुत, हाथी-घोडे आदि वैभव व्यर्थ है। इस विषय मे गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं :

झूमत द्वार मतंग अनेक जँजीर जरे पद अम्बु चुचाते।
ताते तुरंग मनोगति चंचल, पौन के गौनहु ते बढ़ि जाते॥
भीतर चन्द्रमुखी अवलोकति, बहर भूप खरे न समाते।
ऐसे भये तो कहा तुलसी, जौ पै जानकी-नाथ के रग न राते॥[6]

इसी भाव को सूरदास जी अपनी सन्त वाणी मे कहते है :

इहिं विधि कहा घटगौ तेरौ।
नन्द-नन्दन करि घर कौ ठाकुर, आपुन है रहु चेरौ।
कहा भयौ जो सम्पति बाढ़ी, कियौ बहुत घर घेरौ॥
कहुँ हरि-कथा कहुँ हरि-पूजा कहुँ सन्तनि कौ डेरौ।
जो बनिता-सुत-जूथ सकेले, हय गय विभव घनेरौ।
सबै समर्पौ सूर स्याम कौ, यह साँचौ मत मेरो॥[7]

---

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद २३१
२ है हरि भजन को परमान।
नीच पावै ऊँच पदवी बाजते नीसान। वही पद २३५
३ हरि हरि हरि सुमिरौ सब कोइ।
ऊँच नीच हरि गनत न दोइ। वही पद २६६
४ हरि हरि हरि सुमिरौ सब कोइ।
नारि पुरुष हरि गनत न दोइ। वही पद २४५
५ सूरसागर पद २६२
६ कवितावली उत्तर काण्ड पद ४४
७ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद २६६

भगवान् बड़े भक्त-वत्सल है, उनकी भक्त-वत्सलता का भी वर्णन सूर ने अनेक भाँति से किया है। भागवत में भगवान् को भक्त से तादात्म्य स्थापित करते हुए देखा है। सूर के भगवान् भी कहते हैं कि—हम भक्तों के है और भक्त हमारे हैं, भक्तों के लिए ही हमें पैदल भी दौड़ना पडता है, भक्तों के शत्रु हमारे शत्रु है, उनकी जीत हमारी जीत और उनकी हार हमारी हार है।[1] परीक्षित की कथा में भक्ति की महिमा बताते हुए सूर ने कहा कि यज्ञ, दान करके मनुष्य स्वर्ग प्राप्त कर सकता है, किन्तु पुण्य क्षीण होने पर उसे फिर मर्त्य लोक मे आना पड़ता है; अतएव हरि-भक्ति ही सार है।[2] सारे प्रथम स्कन्ध में सूर ने हरि-भक्ति-महिमा का ही गान किया है, अन्य प्रसंग तो मानो भक्ति की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए प्रयुक्त हुए है। द्वितीय स्कन्ध का प्रारम्भ भी उन्होंने भजन के महत्व से ही किया है। वे कहते हैं कि—हरि की भक्ति युग-युग मे वृद्धि पाती है, अन्य धर्म तो चार दिन के है। सतयुग मे सत्य, त्रेता मे तप, द्वापर मे पूजाचार और कलयुग में 'लज्जा-कानि' त्याग कर केवल भजन करना चाहिये। कलयुग में केवल हरिनाम का ही आधार है और सब व्यवहार झूठे हैं। हरि-स्मरण का महत्व नारद, शुक आदि ने भी स्वीकार किया है। हरि भक्ति के बिना सच्चे सुख की प्राप्ति नही और न ही मुक्ति सम्भव है। विषयों के बन्धन हरि-भजन से ही कट सकते है।[3]

हम पहले बता आये हैं कि सूर का समकालीन समाज विषयासक्त और आचार-विचार-विरत था। सच्ची भक्ति के प्रचार के लिए विषय-विरक्ति अपेक्षित थी, इसीलिए सूरदास साधारण भक्ति विवेचन मे स्थान-स्थान पर वैराग्य का महत्व प्रतिपादित किया है। विनय के पदों में जहाँ एक ओर हरि-भजन की आवश्यकता पर उन्होंने बल दिया है, वहाँ दूसरी ओर भक्तों के विचारों में वैराग्य भी अनिवार्य बताया है, क्योंकि वैराग्यपूर्ण भक्ति से ही सांसारिकता का दूर होना सम्भव है और भक्त के हृदय में पूर्ण-आत्म-समर्पण का भाव उदित हो सकता है। राजा परीक्षित की कथा मे भी इसी वैराग्यपूर्ण की आवश्यकता बताई गई है। वास्तव में अनन्य भक्ति बिना वैराग्य के सम्भव ही नहीं।[1] वैराग्य ही अनन्य-भक्ति का आवश्यक अंग माना है।[2] जो भक्ति-मार्ग का अनुसरण करते हैं, उन्हें स्त्री और पुत्र से अपना सम्बन्ध छोड़ना पड़ता है। असन-वसन की उन्हें कोई चिन्ता नहीं होती, खाने के लिए प्रभु ने वन मे फल उत्पन्न किये है। तृषा के लिये झरने हैं, पात्रों के स्थान पर हाथ है तथा वसनों के लिये वल्कल। शैया के लिए पृथ्वी और घर के लिए गिरि-कन्दराएँ बनाई हैं।[3]

---

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद २७२
२ वही (,, ,, ,,) पद २९०
३ वही (,, ,, ,,) पद ३४५ से ३५९
४ जौ लौ कामना न छूटै।
तौ कहा जोग जज्ञ-व्रत कीन्है बिनु कन तुम कौ कूटै।
कहा स्थान किये तीरथ के, अङ्ग भस्म जट-जूटै॥
कहा पुरान जु पढ़ै अठारह, ऊर्ध्व धूम के घूँटै।
जग शोभा की सकल बडाई, इनतै कछु न खूँटै॥
करनी और कछु औरै, मन दश हूँ दिश टूटै।
काम, क्रोध, मद, लोभ सत्रु है जो इतननि सौं छूटै॥
सूरदास तबही तम नासै ज्ञान अग्नि झर फूटै।
सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ३६२
५ सूरसागर पद ३६५, ३६६, ३६७
६ वही पद ३६३

इस प्रकार के अनेक पदों मे सूरदास जी ने वैराग्यपूर्ण भक्ति का वर्णन किया है। आत्म-ज्ञान के बिना मनुष्य की बडी दुर्गति होती है। जब तक मनुष्य को सत्स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, तब तक वह मृग की भाँति संसार-वन मे घूमता रहता है। तेल, तूल और पावक पुट मे भर कर रखने से प्रकाश नहीं होता, आत्म-ज्ञान के अभाव मे आदमी सब कुछ भूला रहता है और ससार मे भ्रमता रहता है।[१] राजा परीक्षित के ऊपर इस उद्देश्य का पूरा-पूरा प्रभाव सूर ने दिखलाया है। इन पदो से यही निष्कर्ष निकलता है कि सूर ने आत्म-ज्ञान तज्जन्य वैराग्य को भी भक्ति का एकमात्र साधन माना है। तृतीय स्कन्ध मे भगवान् कपिल अपनी माता देवहूति को आत्म-ज्ञान का उपदेश देते है, उस समय भी सूर ने भक्ति के लिए वैराग्य की आवश्यकता बतलाई है और वह वैराग्य आत्म ज्ञान से ही हो सकता है।[२] पुराञ्जन-कथा मे भी सूर ने वैराग्य और भक्ति का सम्बन्ध स्थापित किया है।[३] इसी प्रकार अन्य बहुत से प्रसंगों मे वैराग्य और भक्ति का सामञ्जस्य स्थापित किया है।[४]

इस प्रकार सूरदास जी ने साधारण-भक्ति-निरूपण मे भक्ति के साथ वैराग्य की आवश्यकता बताई है। इस भक्ति-निरूपण के विषय में दूसरी बात यह भी द्रष्टव्य है कि सूर ने उस समय मे प्रचलित योग-मार्ग की निन्दा की है। उनके पदों में भक्ति के सामने योग-मार्ग की निरर्थकता का प्रतिपादन किया गया है। वैराग्य योग-मार्ग का प्रधान साधन है, परन्तु सूरदास जी वैराग्य को भक्ति का साधक मानते हैं, जबकि योग-मार्ग के साधुओं की निन्दा करते है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है :

> भक्ति बिना जौ कृपा न करते तौ हौ आस न करतौ।
> ×　　×　　×　　×
> साधु-सील सद्रूप पुरुष कौ अपजस बहु उच्चरतौ।
> औघड़-असत कुचीलनि सौ मिलि, माया जल मे तरतौ।[५]

इसी प्रकार भक्ति-पंथ का निरूपण करते हुए सूरदास जी कहते है—

> भक्ति-पथ कौ जो अनुसरै, सो साष्टाङ्ग जोग की करै।
> यम, नियमासन, प्रानायाम, करि अभ्यास होइ निष्काम।
> प्रत्याहार, धारना, ध्यान, करै जु छाँड़ि वासना आन।
> क्रम-क्रम सौ पुनि करै समाधि, सूर स्याम भजि मिटै उपाधि।[६]

अर्थात्—भक्ति-पथ का अनुसरण करके ही अष्टाङ्ग-योग की सिद्धि सम्भव है, क्योकि भक्त यम, नियम, प्राणायाम का अभ्यास करके निष्काम होता है, परन्तु प्राणायाम, धारणा, ध्यान के लिए वासनाओं का त्याग परम आवश्यक है। वासनाओं के त्याग से ही इन क्रियाओं का महत्व है और उसी प्रकार क्रम-क्रम से समाधि करने पर, भगवद् भजन से उपाधि मिटती है। इसी भाव को उन्होंने आगे प्रकट किया है कि भगवान के भजन बिन योग आदि क्रियाएँ व्यर्थ है।

१ सूरसागर पद ३६७, ३६८
२ वही पद ३९४
३ वही पद ३११
४ वही पद ४१५, ४२१, ३४६
५ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद २०३
६ वही (,, ,, ,,) पद ३६४

इन पदों से सिद्ध होता है कि सूरदास जी योग-मार्ग के तो विरुद्ध नही है, पर उन दूषित भावनाओ और क्रियाओं के विरुद्ध है जिन्हे योग-मार्गी साधुओ ने अपना लिया था।

तीसरी बात इस भक्ति-विवेचन की उल्लेखनीय यह है कि सूरदास जी ने सन्त-मत के तत्वों को भी अपनाया है। जाति-पाँति के विषय मे तथा स्त्रियों के भक्ति-अधिकार के विषय में हम लिख चुके है। इस निर्गुण-पन्थ का विशद् विवेचन भ्रमरगीत प्रसङ्ग मे हुआ है, जहाँ इस पन्थ की क्रियाओं की ओर से कवि ने उदासीनता प्रकट की है। उस स्थल पर प्रतिपादित भक्ति का स्वरूप हम उस समय का मानते है, जब सूर पुष्टि-सम्प्रदाय मे दीक्षित हो चुके थे और उनकी भक्ति का आदर्श ही बदल गया था तथा मिथ्या-ससार के प्रति विराग उनकी भक्ति का आधार नहीं रह गया था। वहाँ तो उन्होंने सहज भक्ति-धर्म का निरूपण किया है, जिसका आधार कृष्ण की रूप-माधुरी और लीलाएँ हैं, इसलिये वहाँ निर्गुण-पन्थ के प्रति उनकी उदासीनता ही नही, स्पष्ट विरोध भी है। सम्प्रदाय मे दीक्षित होने के पूर्व सूरदास सन्त-मत को पूर्ण आदर की दृष्टि से देखते थे, यही कारण है कि उनके कई पद कबीर के पदों के समकक्ष रखे जा सकते है। कबीर की भाँति उन्होंने भी माया के मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया, जिसका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं; इसके अतिरिक्त कबीर के समान उन्होने भगवान् के उस परम-धाम की ओर भी सकेत किया है, जहाँ सासारिक दुःखों का लेश नही।[१]

यह कहा जा चुका है कि सूरदास जी यद्यपि भक्ति के साध्य-रूप को ही महत्व देते थे और प्रेम ही उनकी साध्यरूपा भक्ति का आधार है, फिर भी स्थान-स्थान पर हमे सूरसागर मे वैधी-भक्ति के उदाहरण भी मिल जाते है। गोपियो को प्रेम-भक्ति का आश्रय मानकर उनके माध्यम से सूर ने अपने सिद्धान्तो का भी प्रतिपादन किया है। उनके समय मे बहुत से ज्ञानी और योगी थे, जिनमे कुछ नाथ-पन्थ के और कुछ निर्गुण-मत के अनुयायी थे। भारतीय-शास्त्र-पद्धति के अनुकरण पर साधन स्वरूपा भक्ति के मानने वाले भी बहुत से भक्त थे, सूरसारावली मे इन सब की ओर संकेत किया गया है।[२]

सूरदास जी के भक्ति-विवेचन से ज्ञात होता है कि वल्लभ के मिलने से पहले उनका मन स्थिर नही था और इसीलिये वे घिघियाते थे। यही कारण है कि उनके भक्ति-विवेचन मे उत्तरोत्तर निश्चित रूप से अन्तर प्रतीत होता है। निर्गुण पन्थ के प्रति प्रारम्भ में उनकी सहिष्णुता उदासीनता में परिणत होती हुई भ्रमरगीत-प्रसंग में पूर्ण विरोध के रूप में फूट निकली है। सूरसागर के देवहूति-कपिल-सवाद मे सूर ने भक्ति की विस्तृत व्याख्या करते हुए उसके चार रूप बताये है।[३] त्रिगुण भक्ति को सुधासार भक्ति कहा है, यही प्रेमा भक्ति हैं। भक्तों की भी

---

१ देखिये सूरसागर (ना० प्र० स०) प्रथम स्कन्ध के अन्तर्गत चिद्-बुद्धि-सवाद।

२ कर्म-योग पुनि ज्ञान उपासन, सब ही भ्रम भरमायो।
श्री वल्लभ-गुरु तत्व सुनायो, लीला-भेद बतायो।
ता दिन ते हरि-लीला गाई, एक लक्ष पद बन्द।
ता को सार सूरसारावलि, गावत अति आनन्द। सूरसारावली. सूरसागर (वेकटेश्वर प्रेस) पृष्ठ ३८

३ माता भक्ति चारि परकार, सत रज, तम, गुन सुद्धाचार।
भक्ति एक पुनि बहुविधि होइ ज्यो जल रग मिलि रंग सु होइ।
भक्ति सात्विकी चाहत मुक्ति, रजोगुनी धन कुटुम्बअनुरक्ति।
तमोगुनी चाहै या भाइ, मम बैरी क्यो हू मरि जाइ।
श्रद्धा भक्ति मोहि क्यों चाहै, मुक्तिहुँ कौ सो नहिं अवगाहै।
मन क्रम-बच मन सेवा करै, मन तै रूप आसा परिहरै।
ऐसो भक्त सदा मोहि प्यारौ, इक छिन तातै रहौ न न्यारौ। सूरसागर (ना० प्र० स०) पद १६४

उन्होंने दो कोटि मानी हैं—सकाम-भक्त और अनन्य भक्त। धर्म, ज्ञान और योग के सम्बन्ध मे भक्त तीन प्रकार के माने गये—कर्मयोगी भक्त, भक्तियोगी भक्त और ज्ञानयोगी भक्त। कर्मयोगी भक्त अधर्म-आचरण से दूर रहता हुआ वर्णाश्रम-नियमों का पालन करता है, उसे मर्यादायुक्त भक्त कहा जा सकता है। भक्तियोगी भक्त प्रभु से प्रीति रखता हुआ उसके स्मरण और अर्चन मे दत्तचित्त होकर क्रम-क्रम करके मुक्ति का लाभ करता है। ज्ञान योगी भक्त सब को ब्रह्म समझकर सब से प्रेम करता है।[1] भगवद्गीता मे भी चार प्रकार के भक्तो का वर्णन आया है।[2]

भागवत मे नवधा-भक्ति का विवेचन हुआ है, परन्तु सूर ने दसवी प्रेमस्वरूपा भक्ति का भी उल्लेख किया है।[3] वल्लभाचार्य ने नवधा-भक्ति को प्रेमस्वरूपा भक्ति का साधन माना है। सूरदार ने भी साधन रूप मे ही नवधा-भक्ति को कहकर इसी प्रेमाभक्ति की ओर शक्ति सकेत किया है। इन नौ प्रकार की भक्तियों मे प्रथम छः प्रकार के साधनों का इतना विशद विवेचन सूर मे नही है, जितना अन्तिम तीन का। पहले तीन प्रकार की भक्ति भगवान् के नाम और लीला से सम्बन्ध रखती है, दूसरे तीन प्रकार की रूप से और अन्तिम तीन प्रकार की मन से सम्बद्ध है। मन से सम्बद्ध भक्ति ही रस की कोटि तक पहुँचती है और इसीलिए रूपगोस्वामी ने पाँच मुख्य रसों में ही उसका अन्तर्भाव कर दिया है—प्रीति रस मे दास्यभाव, प्रेम मे सख्यभाव, वात्सल्य मे वत्सलता, मधुर रस मे आत्म-निवेदन और शान्त रस में संसार से विरक्ति का भाव है। अब हम संक्षेप मे सूर की वैधी भक्ति का विवेचन करेंगे।

श्रवण, स्मरण, कीर्तन,

इन तीनों में भगवन्नाम का ही महत्व है। नाम-महिमा का प्रतिपादन करने वाले अनेक पद सूर ने लिखे हैं।[4] हरिनाम का प्रभाव ही ऐसा है कि महान् से महान् पापी भी इसके सहारे से भवसागर पार हो जाता है :

> को को न तर्‌यो हरिनाम लिए।
> सुआ पढ़ावति गनिका तारी, ब्याध तरो सर घात कियें।
> प्रभु तें जन-जन तै प्रभु बरतत, जाकी जैसी प्रीति हियें।[5]
> × × ×

भगवान् का यशोगान करने से भक्ति सहज ही प्राप्त हो जाती है।[6] राम नाम की बड़ी ओट है,[7] इसीलिये वही धन्य है; जो राम का गान करता है।[8] हरिस्मरण के बिना मुक्ति भी सम्भव नहीं, उसी से सब सुखों की प्राप्ति होती है, भगवान् के साक्षात्कार का भी यही साधन है। सौ बातों की एक बात तो यह है कि दिन रात भगवान् का स्मरण करना चाहिये।[9] इसी प्रकार

---

१ सूरसागर पद ३९४

२ चतुर्विधा भजन्ते मां जना. सुकृतिनोऽर्जुन ?
अर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ? गीता ७।१६

३ श्रवण कीर्तन पादरत, अचरन वन्दन दास।
सख्य और आत्म-निवेदन, प्रेमलक्षणा जास।
सूरसारावली सूरसागर वें० प्रेस० पृष्ठ ५ तथा ६६

४ देखिये सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ८९, ९०, ९१, ९२, ९३ आदि

५ सूरसागर पद ८९

६ भक्ति पंथ मेरे अति नियरै जब तक कीरति गाई। वही, पद ९३

७ बडी है राम नाम की ओट। वही, पद २३२

८ सोई भलौ जौ रामहि गावै। वही, पद २३३

९ सौ बातनि की एकै बात, सूर सुमरि हरि हरि दिन-राति। सूरसागर पद ३४८

कीर्तन के महत्व का भी उन्होंने प्रतिपादन किया है। भगवान् के नाम, गुण, लीला, धाम आदि का प्रेम और श्रद्धा के साथ कथा-पाठ और गान कीर्तन कहलाता है। संगीत-कला-विशारद सूर ने कीर्तन में संगीत का पुट देकर सोने में सुगन्ध उत्पन्न कर दी। कीर्तन मे गान, वाद्य और नृत्य तीनों ही सम्मिलित है। सूरदास जी जन्म-सिद्ध गायक थे और उन्होंने न जाने कितनी राग-रागनियो का समावेश सूरसागर मे किया है ? संगीताचार्यों के लिए यह अलग ही खोज का एक विषय है। सूरदास जी अपने पदो को रचते या कहते नही अपितु गाते है, "ताते सूर सगुन पद गावै" कह कर वे स्पष्ट ही अपनी संगीतज्ञता का परिचय देते है। भगवान् के लीला-गान मे ही उन्हें सच्चे सुख की उपलब्धि होती है।[1] सूरदास जी उसी रसना को रसना कहते है, जो भगवान् के गुणों का कीर्तन करती है और उन्ही कानों को कान कहते है, जो हरि कथा का श्रवण कर अमृत-रस प्राप्त करते हैं।[2]

हरि-कीर्तन के समान ही हरिगुण-श्रवण का भी स्थान-स्थान पर सूरसागर मे महत्व प्रतिपादित हुआ है। भगवान् के गुण, यश, लीला आदि का सुनना-सुनाना ही श्रवण-भक्ति है। सूरदास भगवान् की लीला का वर्णन करके प्रायः अन्त में कह दिया करते हैं—

'जो यह लीला सुनै सुनावै, सो हरि भक्ति पाइ सुख पावै।

अथवा

'जो पद स्तुति सुनै सुनावै, सूर सो ज्ञान भक्ति को पावै।[3]

सूरसागर में स्थान-स्थान पर इसी प्रकार लीला-श्रवण का माहात्म्य बताया गया है। एक स्थान पर सूर कहते है, "मैं रसमयी रासलीला को गाकर सुनाता हूँ। जो इस रासलीला के रस का गान और श्रवण करते है, उनके चरणो मे मैं अपना मस्तक नवाता हूँ। मै एक रसना से इस लीला के कथन एवं श्रवण के फल का वर्णन करने मे असमर्थ हूँ।" उसके सामने अष्टसिद्धि और नवनिधि की सुख सम्पत्ति भी कुछ नही है। भगवान् की कथा के श्रोता और वक्ता धन्य है, क्योंकि भगवान् कृष्ण सदा ही उनके निकट रहते हैं।[4]

पाद-सेवन, वन्दन और अर्चन

ये तीनों प्रकार के भक्ति-साधन भगवान् के रूप से सम्बन्ध रखते हैं और पुष्टि-सम्प्रदाय की सेवा-विधि में इनका बड़ा महत्व है। पाद-सेवन में मूर्ति-पूजा, गुरु पूजा और भगवद्भक्त-पूजा भी सम्मिलित है। इन पूजाओं के अनन्तर भक्त मे दास्य प्रेम का आविर्भाव होता है, फिर भक्त मानसिक पाद-सेवन की कोटि तक पहुँचता है और भगवान् के अभी तक चरणों की सेवा करता है। सूरदास जी गोवर्द्धन पर्वत पर श्रीनाथ जी के मन्दिर मे भगवान् की पूजा करते थे, जिसमें तीनों ही प्रकार के भक्ति-साधन थे। उनके अनेक पदों मे नन्द-नन्दन चरणों को भजने की बात कही गई है। सूरसागर का प्रथम पद ही भगवान् के चरण कमलों की वन्दना से प्रारम्भ होता है—

१ जो सुख होत गुपालहिं गाएँ।
सो सुख होत न जप तप कीन्हें, कोटिक तीरथ न्हायें।
दिए लेत नहिं चार पदारथ चरन कमल चितलाये।
तीन लोक तृन सम करि लेखत, नन्दनन्दन उर आये।
वसीवट, वृन्दावन, जमुना तजि वैकुण्ठ न जावै।
सूरदास हरि को सुमरन करि बहुरि न भवजल आवै। वही पद २४८

२ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ३५०

३ सूरसागर (वेंकटेश्वर प्रेस) दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध पृ० ५६५

४ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद १७६४

चरन-कमल बन्दौ हरिराइ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अन्धे कौ सब कछु दरसाइ।
बहिरौ सुनै मूक पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराइ।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार-बार बन्दौ तिन्हि पाइ।[१]

भगवान् के चरणों की वन्दना करके न जाने कितने जनों का उद्धार हो गया? सूर कहते है, भगवान्! "मैं आपके कमल रूपी चरणों की वन्दना करता हूँ। वे चरण शिव, यमुना आदि के सर्वस्व हैं। जिन चरणों की अनुकम्पा से प्रह्लाद ने मुक्ति प्राप्त की; अहिल्या, बलि, नृग आदि का उद्धार हुआ, जिनके ऊपर गोपिकाओं ने सर्वस्व लुटा दिया, जिनके प्रसाद से पाण्डवों के कार्य सिद्ध हुए और जो तीनों प्रकार के तापों को हरने वाले है।"[२] आगे चल कर सूर अपने मन को सम्बोधित करके कहते है, "हे मन, तू नन्दनन्दन के चरणों की सेवा कर जो बड़े सुन्दर और पवित्र है तथा जिनके प्रसाद से बहुत से पापी तर गये।"[३]

अर्चन के विषय मे हम पहले कह चुके है कि श्रद्धा-सहित भगवान् के स्वरूप की उपासना 'अर्चन-भक्ति' कही जाती है। 'हरि-भक्ति-रसामृतसिन्धु' में अर्चन का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

अर्चनं तूपचाराणां स्यान्मन्त्रोपपादनम्।
परिचर्या तु सेवोपकरणादिपरिष्क्रिया।[४]

वल्लभ-सम्प्रदाय मे अर्चन-भक्ति का बडा महत्व है और इस सम्प्रदाय के मन्दिरों मे आठों पहर की सेवा मे अर्चन के पृथक्-पृथक् विधान है। सूरदास जी के अनेक पद भगवान् के अर्चावतार रूप की स्तुति में कहे गये है। श्याम के स्वरूप का भिन्न-भिन्न प्रकार से सूर ने वर्णन किया है। उनके अनेक पोज, अनेक भाव और अनेक व्यापारों के सूचक एक से एक बढ़कर सैकड़ों शब्द-चित्र सूरसागर में मिलेंगे। भगवान् के विराट् स्वरूप और आरती का भी उन्होंने मनोहर चित्रण किया है।[५]

वन्दन और अर्चन दोनो भक्तियों के व्यापार साथ-साथ चलते हैं, क्योंकि वन्दन मे भी भक्त के दास्य रूप का ही अभिव्यंजन है। सूर के दैन्य-भाव के पद वन्दना के ही पद कहे जा सकते है। सूर की वन्दना केवल भगवत्-चरणों तक ही सीमित नही है, प्रत्युत भगवान् के विविध अंग, वस्त्र, वेष-भूषा तथा कृत्यों की भी सूर ने वन्दना की है। वे एक भावुक और भक्त कवि थे। यही कारण है कि उनकी भावुकता वन्दना के पदों मे शतमुखी होकर प्रवाहित हुई है। आराध्य देव से सम्पर्क रखने वाली चेतन अथवा अचेतन प्रत्येक वस्तु सूर के लिए वन्दनीय है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि प्रिय के सम्पर्क से सभी पदार्थ प्रिय हो जाते है। सम्बन्ध-निर्वाह की यह भावना श्रीमद्भागवत में भी स्थान-स्थान पर मिलती है।

दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन

हम पहले कह चुके है कि ये तीनों मानसिक भाव हैं और भक्ति-रस के उत्पादक है। प्रेम-भक्ति की दो अवस्थाएँ होती हैं—प्रेमावस्था और भावावस्था। जब कृष्ण के प्रति भक्त का

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद १
२ वही, पद ६४
३ वही, पद ३०८
४ हरि भक्ति-रसामृत सिन्धु पूर्व विभाग २।२७
५ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ३७०-३७१

चिद्विषयक रतिभाव सान्द्र हो जाता है, तब उसे प्रेम कहते है। रूप-गोस्वामी ने मुख्य रूप पाँच भक्ति रस मानकर इन तीनों भावो को उन्ही के अन्तर्गत मान लिया है। यों तो भक्ति के अनेक मानसिक भाव हैं और वे सभी भगवान् के सम्बन्ध से अलौकिक हो जाते है, परन्तु प्राधान्य इन्ही पाँच भावों का है। इन भावों के अनुकूल भक्ति के भी पाँच प्रकार हो जाते है। इन्ही को दृष्टि में रखते हुए हम सूर की भक्ति-भावना का विवेचन करेंगे।

शान्ता भक्ति

'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' मे भक्ति-विषयक पाँचों रसों का सांगोपांग विशद विवेचन हुआ है और इनके स्थायी भाव, विभाव, सात्विक और संचारी भावों पर भी प्रकाश डाला गया है। यद्यपि सूरदास ने शास्त्रीय ढंग से कहीं इसका विवेचन नहीं किया है (क्योंकि उनका काव्य लक्षण-काव्य नही है) तथापि उसमें उनके भक्त हृदय से निकली हुई स्वाभाविक उक्तियों मे इनके अनेक चिन्ह मिल जाते है। शान्त-रस का स्थायीभाव निर्वेद है, वह निर्वेद, जो तत्त्व-ज्ञान से उत्पन्न होता है। वैराग्य, दैन्य, विनय आदि भावों से प्रेरित होकर सूर ने जो पद लिखे है, उन्हे शान्ता भक्ति-विषयक पद कहा जा सकता है। संसार से वे पहले ही विरक्त हो गये थे, जिसके फलस्वरूप हमें उनमे दो प्रकार की चेष्टाएँ दीख पड़ती है। एक ओर तो कवि संसार के नाना रूपों और व्यवहारों का तिरस्कार करता दीख पड़ता है और दूसरी ओर भगवान् की अनुकम्पा और भक्त-वत्सलता का वर्णन करता, तथा अपनी हीनता का परिचय देता हुआ दिखाई देता है। भक्त के शान्त और दास्य दोनों ही भाव समन्वित होकर चलते हैं। उसे संसार से विरक्ति ही नही, आत्म-ग्लानि भी है, जिसके कारण वह कातर होकर प्रभु को पुकारता है, "हे नाथ मेरी रक्षा करो।" साथ ही साथ वह अपनी उद्योग-हीनता और भगवान् की भक्त-वत्सलता का तुलनात्मक विवेचन भी करता है।[1] वल्लभाचार्य के 'अन्तःकरण प्रबोध' में दास्य-भक्ति में आत्मदीप-प्रकाशन, विनय-याचना, दीनता आदि भावों का समावेश है। सूर के विनय-पदों में इस प्रकार के भाव भरे पड़े हैं। यह कहना कि सूर की दास्य अथवा शान्ता भक्ति वल्लभाचार्य से पहले की है, उचित प्रतीत नही होता, क्योंकि आचार्य वल्लभ ने स्वयं दास्य-भक्ति को महत्व दिया और सूर ने विनय के पदों के अतिरिक्त भी कई स्थलों पर भक्त का दैन्य प्रकट किया है। द्वादश स्कन्ध मे रुक्मिणी का भक्ति भाव तथा नवम स्कन्ध मे राम-स्तुति इसके उदाहरण हैं। जहाँ-जहाँ सूर ने भक्तों के चरित्र का वर्णन किया है, वहाँ भगवान् की भक्तवत्सलता का भी विवेचन किया है। प्रह्लाद-चरित्र, कालिय दमन, चीर-हरण, गोवर्द्धन-लीला आदि प्रसंगो मे भगवान् की भक्तवत्सलता और भक्त के दैन्य का साथ-साथ वर्णन है।

सख्य भक्ति

पुष्टि सम्प्रदाय में सख्य-भाव की भक्ति का बड़ा महत्व हैं। अष्ट-छाप के आठों कवियों ने भी सख्य भाव को ही अपनाया था। सूरदास के सखा भाव मे यह विशेषता है कि उसमे एक ओर तो मनोवैज्ञानिक रूप से मानवीय सम्बन्धों का निर्वाह किया गया है और दूसरी ओर भक्ति भाव की पूर्ण तल्लीनता और भावात्मकता की अनुभूति भी की गई है। कृष्ण की ओर से सखाओं के प्रति प्रकटित आत्मीयता और घनिष्टता स्वाभाविक है, जिसके स्नेह की मधुरिमा बाल-सुलभ-

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद १२८

चापल्य-प्रेरित क्षुद्र विवाद के बाद और भी अधिक आस्वाद्य हो उठती है तथा जिनमे क्रीड़ाओं की तरलता के साथ कर्तव्य की भावना का गौरव भी स्पष्ट रूप से झलक मारता दिखाई देता है। सूर का सख्य वर्णन विश्व-साहित्य में बेजोड़ है। ग्वाल-सखाओ में कृष्ण के प्रति भगवान् की भावना अथवा उनके विहित कार्यों के प्रति भक्ति-भाव सूर ने बहुत कम स्थलो पर दिखाया है, उधर भगवान् कृष्ण स्वयं सखाओं को अपने गौरव मे आक्रान्त नही करना चाहते। उनके पराक्रम-पूर्ण कृत्यों को देखकर सखाओं के हृदय में आने वाले विस्मय तथा आतंक के भाव क्षणिक है, अतएव शीघ्र ही उन्हें भूलकर गोप-बालक पुनः कृष्ण के साथ सखावत् घुल-मिल जाते है। सूर-सागर में बाल लीलाएँ, गोचारण-लीलाएँ और सुदामा-दारिद्र्य-विदारण, ये तीनों स्थल सख्य-भक्ति के है। कृष्ण के सखाओ मे सूर ने सुबल, सुदामा और श्रीदामा का विशेष रूप से उल्लेख किया है। उनके बड़े भाई हलधर भी उनके सखाओ में ही है। कुछ तो कृष्ण के सखा ऐसे है, जो आयु में उनसे बड़े है और जो हलधर के साथी होने के कारण कृष्ण से स्नेह करते है, और विनोद के लिए उन्हे चिढ़ाते भी हैं। कुछ सखा उनसे छोटे है जो उनके स्नेह पात्र है। ये दोनों ही प्रकार के सखा कृष्ण की गोपी-केलियो के सहयोगी नही है। उनके समवयस्क सखा ही उनके पूर्ण विश्वास पात्र है, जो उनके साथ सब प्रकार की केलियों में रहते है और उनके सभी रहस्यों को जानते है। ये सम-वयस्क सखा ही भगवान् के सच्चे भक्त है। इनकी संयोग और वियोग दोनो ही अवस्थाओं का वर्णन कवि ने किया है। इस सखा-भाव में भी सूरदास जी ने कही-कही भक्ति-भाव दिखाया है। वृन्दावन के धेनु-चारण का वर्णन करते हुए सूरदास जी कहते है, "भगवान् कृष्ण वृन्दावन में गौवें चराते है और सब ग्वाल-सखाओं के साथ आनन्द से खेलते है। वे अपने धाम को बिसार कर मानों इन सुख की क्रीड़ाओं के लिए ही वृन्दावन मे पधारे है।"[१] १६६८ वे पद मे ग्वाल-बाल भक्ति-भाव से कृष्ण से प्रार्थना करते है, "हे श्याम, तुम हमें भुला न देना, जहाँ-जहाँ तुम देह धारण करो वहाँ-वहाँ हमे अपने चरणों से अलग न करना।" इन ग्वाल-बालों के सख्य-भाव और उनके प्रति कृष्ण के प्रेम को देखकर ब्रह्मा का भी गर्व नष्ट हो जाता है और वे कृष्ण की स्तुति करते हुए ब्रज-वासियों के भाग्य की सराहना करते है और स्वयं भी यही कामना करते है कि वे ब्रज मे ही उत्पन्न हों और ग्वालों के झूठे अन्न से ही उन्हें पेट भरना पड़े।[२] जैसा कि हम पहले कह चुके है कि कृष्ण के सख्य-भाव मे सबसे बड़ी विशेषता उसमें स्वाभाविकता का समावेश है, जिसके दर्शन हमें कृष्ण की प्रत्येक अलौकिक लीला से पहले होते हैं। कालिय-दमन-लीला, गोवर्द्धन लीला, वृषभासुर-बध-लीला, माखन-लीला आदि सभी स्थलों पर सूर के सखा कृष्ण के अलौकिकत्व को भूले हुए हैं।

दान-लीला में उन्होने अपने कुछ सखाओं को साथ लिया है। इससे स्पष्ट है कि वे अपनी रासलीलाओं में भी सखाओं का परामर्श लेते थे। राधा और कृष्ण की गोपनीय लीलाओं से भी ये सखा अनभिज्ञ नहीं थे। स्वयं राधा ने कृष्ण से इस बात की शिकायत करते हुए कहा, "तुम मुझे सखाओं में लज्जा से क्यों मारे डालते हो?" गोपसखा मोहन की मुरली से भी अत्यन्त प्रभावित है। मुरली की ध्वनि सुनने के लिए वे लालायित हो उठते है और कहते है, "छबीले मुरली नैंकु बजाउ।"[३] आचार्य हजारीप्रसाद जी ने इस पद की विवेचना करते हुए लिखा है:

१ सूरसागर (सभा) पद १०६६

२ सूरसागर (सभा) पद ११०३ से ११०६

३ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद १८३४

"इस गान में ग्वाल-बालों को उपलक्षण करके सूरदास की आत्मा अपनी आकुलता प्रकट करती है।"……"अगर हम से कोई पूछे कि 'सूरसागर' का 'सेन्ट्रल थीम' क्या है तो बिना किसी हिचकिचाहट के चिल्ला उठेंगे, 'छबीले मुरली नैंकु बजाउ।' निःसदेह सखाओं के ब्याज से सूर ने स्वयं अपने मनोभाव को प्रकट किया है।"

संयोग मे ही नहीं, वियोग मे—कृष्ण के ब्रज से मथुरा चले जाने पर और राजा हो जाने पर—भी सूर ने सख्य भाव को बनाए रखा है। बाल्य-काल के सहचर अपनी मित्रता के मार्ग में पद अथवा स्थान के व्यवधान को उत्पन्न ही नही होने देते। कृष्ण के समवयस्क उन्हें सखा ही मानते है; भले ही वे आज महाराज हो गये हों, पर उनके लिए तो यशोदानन्दन, ब्रजमोहन, माखनचोर, मुरलीधर श्याम ही हैं।

वात्सल्य

सख्य-भाव की भक्ति के समान ही सूर की वात्सल्य-भक्ति भी बड़ी महत्वपूर्ण है। यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो वात्सल्य-भक्ति अन्य सब प्रकार की भक्तियों से उच्च प्रतीत होगी, क्योंकि वात्सल्य-भाव में किसी भी प्रकार के स्वार्थ की गन्ध तक नही होती; अतएव इसे हम निष्काम भक्ति का पोषक कह सकते हैं। यह एक व्यापक भाव है, क्योंकि इसकी स्थिति प्राणिमात्र में होती है। सूर का वात्सल्य-भाव भी विश्व-साहित्य में अपना विशेष स्थान रखता है। यदि यह कहा जाय कि सूर ने पुरुष होते हुए भी माता का हृदय पाया था, तो असंगति नही समझनी चाहिए; क्योंकि कृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं का यशोदा के साथ साक्ष्य करने वाला यह प्रज्ञाचक्षु सन्त भक्ति-भाव के अतिरेक से अपने अस्तित्व को उसके व्यक्तित्व मे घुला-मिला देता था और यशोदा की आँखों से कृष्ण-लीला का आनन्द लेता था। सूर के वात्सल्य पर प्रकाश डालते हुए आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी लिखते हैं, "यशोदा के वात्सल्य मे वह सब कुछ है, जो 'माता' शब्द को इतना महिमाशाली बनाये हुए है।"[1] इससे आगे वे फिर कहते हैं—"यशोदा के बहाने सूरदास ने मातृ-हृदय का ऐसा स्वाभाविक, सरल और हृदयग्राही चित्र खीचा है कि आश्चर्य होता है। माता संसार का ऐसा पवित्र रहस्य है, जिसे कवि के अतिरिक्त और किसी को व्याख्या करने का अधिकार नही। सूरदास जहाँ पुत्रवती जननी के प्रेमपेलव हृदय को छूने मे समर्थ हुए हैं, वहाँ वियोगिनी माता के करुणा-विगलित हृदय को भी छूने मे समर्थ हुए हैं।"[2] परन्तु सूरदास के वात्सल्य-भाव का आश्रय केवल यशोदा ही नहीं है—यद्यपि इसकी पूर्ण निष्पत्ति यशोदा मे ही दिखाई गई है और अन्य पात्रों का वात्सल्य तो मानो तुलना के द्वारा यशोदा के वात्सल्य भाव की पूर्ण अनुभूति के लिए ही चित्रित किया गया है—नन्द वात्सल्य-भाव के दूसरे पात्र है। ब्रज की वयस्क नारियो में भी इस भाव के दर्शन होते हैं। वसुदेव-देवकी में भी इस भाव की थोड़ी-सी छाया है किन्तु उसमें इतनी अधिक सघनता नहीं; क्योंकि उनके भाव का आश्रय शिशु कन्हैया न होकर ऐश्वर्यशाली, प्रतापवान् पुत्र कृष्ण है। यशोदा मे ही वात्सल्य की परिपक्वता है, जो भक्ति-रस की कोटि तक पहुँचा है। केवल वात्सल्य ही भक्ति का सर्व शुद्ध भाव है, जिसमे न तो विरक्ति की भावना है और न इन्द्रिय-सुख की कामना ही। लोक-धर्म का भी उल्लंघन इसमे नही है। वात्सल्य-भाव के आलम्बन बालकृष्ण है और उनकी लीलाएँ उद्दीपन का कार्य करती हैं

१ सूर-साहित्य
२ वही, पृष्ठ १२९-१३०

क होने के कारण आश्रय में भाव की दृढ़ता स्वतः करती जाती है। वात्सल्य के ाग और वियोग—पक्षो मे रखकर कवि ने यशोदा को देखा है। ब्रज मे हरि के प्रकट ही साथ सूर ने आनन्द का ऐसा वातावरण प्रस्तुत किया है, जिसमे स्वय पाठक भी नन्द, यशोदा, गोप, गोपियों आदि के साथ अपने आपको भूल कर विचरण करने लगता है। कृष्ण के मथुरा जाने तक यशोदा मे सयोगात्मक भाव की दृढता होती चली जाती है और मथुरा-गमन की सूचना से ही वियोग की अनुभूति का प्रारम्भ हो जाता है। वह पागल-सी होकर कहती है, "यह सुफल्क सुन हमारा बैरी है, यह हमारी सम्पत्ति को लूटे ले जा रहा है, अरे ! ब्रज मे हमारा कोई हितू है, जो मेरे जाते हुए गोपाल को रोक ले।"[1] जब नन्द कृष्ण को मथुरा पहुँचाकर वापस लौटे तो यशोदा ही उन्हें लिवाने के लिए सर्व प्रथम पहुँची, क्योंकि उनका अनुमान था कि उनका गोपाल भी नन्द के साथ आया होगा। पर जब उन्होंने नन्द को अकेले ही देखा तो यशोदा आपे मे न रही और नन्द पर बरस पड़ी। सुत-वियोग-विक्षिप्ता यशोदा की पूज्य पति के प्रति भी वक्तव्यावक्तव्य विचार-मूढता उनके वात्सल्य के उमडते ज्वार की सूचक है। पुत्र के खान-पान, रहन-सहन आदि की कितनी ही समुचित व्यवस्था हो, उसकी देख-रेख का प्रबन्ध कैसे ही सुयोग्य हाथों मे क्यों न हो और उसका सम्बन्ध कैसे ही उदार हृदयों से क्यो न स्थापित हो गया हो, फिर भी स्नेहातिरेक-वश माता को उसी की चिन्ता रहती है। वह विश्वास ही नहीं कर सकती कि उसके समान उसके 'लाल' की देखभाल कोई अन्य व्यक्ति कर सकता है ? यह एक शाश्वत, सार्वभौम, मनोवैज्ञानिक तथ्य है, जिसका अभिव्यंजन सूर ने निम्नलिखित पदों मे कितनी खूबी के साथ किया है :—

> सँदेसौ देवकी सों कहियौ।
> हौ तो धाइ तिहारे सुत की, दया करत ही रहियौ।
> जदपि टेव तुम जानति ह्वै हौ, तऊ मोहि कहि आवै।
> प्रात होत मेरे लाल लड़ैतै, माखन रोटी भावै।
> तेल उबटनो अरु तातौ जल, ताहि देखि भजि जाते।
> जोइ-जोइ माँगत सोइ-सोइ देती, क्रम-क्रम करि कै न्हाते।
> सूर पथिक सुनि, मोहि रैनि दिन, बढ्यौ रहत उर सोच।
> मेरौ अलक लड़ैतौ मोहन, ह्वै है करत सँकोच।[2]

इस प्रकार यशोदा के वात्सल्य में सूर ने इतनी तन्मयता और मनोवैज्ञानिकता भर दी है कि कृष्ण के अतिप्राकृत कार्यों को प्रत्यक्ष देखते हुए भी उस भाव में परिवर्तन अथवा विकार नहीं आने पाया। यशोदा के वात्सल्य भाव में हृदय का पूरा सयोग है।

मधुर-भक्ति

सूर के समकालीन रूप-गोस्वामी ने मधुर-भक्ति-रस का विशद वर्णन किया है। केवल इसी रस का वर्णन करने के लिये उन्होंने 'उज्ज्वल नीलमणि' नामक ग्रन्थ की रचना की। यद्यपि इस भक्ति को वल्लभ-सम्प्रदाय में स्थान मिला है, तथापि इसका शास्त्रीय विवेचन उस समय नही हो पाया था। विट्ठलनाथ जी के समय में इसे बहुत महत्व दिया गया। सम्भवतः इसीलिये

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ३५९०-३५९८
२ वही ,, ,, पद ३७९३

अष्टछाप के कवियों ने इसका क्रियात्मक स्वरूप विशेष रूप से दिखाया। अपने ग्रन्थ 'शृंगार-मण्डन' मे विट्ठलनाथ जी ने इस भक्ति का प्रतिपादन किया है। युगल-उपासना का महत्व भी सम्प्रदाय मे उन्ही के समय से बढ़ा। माधुर्य भाव की भक्ति शृगार-प्रेम की भक्ति कही जा सकती है। लौकिक प्रेम के जितने स्वरूप हो सकते हैं, वे सभी मधुर-भक्ति मे आ जाते है, अन्तर केवल इतना है कि लोक से हटाकर उन्हें ईश्वर से जोड़ दिया जाता है। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने भक्त के मन को ऐन्द्रिय विषयों मे हटाने के लिये यह एक उत्तम साधन वताया है, इसीलिये मधुर-भक्ति के सम्बन्धों में अच्छे-बुरे का ध्यान नहीं रहता। सभी सम्बन्ध परमात्मा के साथ हो सकते है। लोक-पक्ष मे जिसे हम शृंगार रस कहते है, भक्ति-पक्ष मे वही मधुर-रस कहलाता है। इतना अन्तर अवश्य है कि आलंकारिकों के मत से अनौचित्यपूर्ण रति में शृगार-रसाभास होता है, जब कि भक्ति-रस में औचित्य-अनौचित्य का विचार ही नही होता। उसमे स्वकीया, परकीया दोनों भावों की रति है एवं संयोग और वियोग दोनों पक्ष भी शृंगार-रस की भाँति होते है। इस भक्ति-रस मे कान्तारूपा प्रीति कामरूपा भी हो सकती है और सम्बन्धरूपा भी। सूरदास जी की भक्ति भी ऐसी ही है। यही कारण है कि हम भक्त सूरदास की अन्तरात्मा का अन्तर्भाव राधा में देखते है। उन्होंने स्त्री-भाव को तो प्रधानता दी हैं, परन्तु परकीया की अपेक्षा स्वकीया-भाव को अधिक प्रश्रय दिया है और उसी भाव से कृष्ण के साथ घनिष्ठता का सम्बन्ध स्थापित किया है। कृष्ण के प्रति गोपियों का आकर्षण ऐन्द्रिय है, इसीलिये उनकी प्रीति को सूर ने कामरूपा माना है। सूर की भक्ति का उद्देश्य भक्त को संसार के ऐन्द्रिय प्रलोभनों से बचाना है, यही कारण है कि उनकी भक्ति-भावना स्त्री-भाव से ओतप्रोत है, जिसका प्रतिनिधित्व गोपियाँ करती है: वे कृष्ण में इतनी तल्लीन हैं कि उनकी कामरूपा प्रति भी निष्काम है। इसलिए संयोग-वियोग दोनों ही अवस्थाओं में गोपियों का प्रेम एक-रूप है। आत्म-समर्पण और अनन्यभाव मधुर-भक्ति के लिए आवश्यक है, जो सूरसागर की दानलीला, चीरहरण और रास-लीला में पूर्णता को प्राप्त हुए है। सूर की दान-लीला में मधुर रति की परम-परिणति कही गई है। मधुर-भक्ति का जैसा वर्णन सूर ने किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। गोपियों के पूर्वराग से प्रारम्भ करके मधुर-भक्ति का क्रमिक विकास सूर ने चित्रित किया है। पूर्वराग की अवस्था में गोपियों ने कुल-मर्यादा का अतिक्रमण किया है। इसके पश्चात् संयोग-रति की पूर्णावस्था मिलन में दिखाई पड़ती है।

वल्लभाचार्य ने विरह की अवस्था को प्रेम-भक्ति के आध्यात्मिक साधन में बड़ा महत्व दिया है। सूर का विरह संयोग से भी अधिक उज्ज्वल और प्रबल हैं। मधुर-भक्ति की आश्रय-स्वरूपा गोपियाँ कृष्ण में इतनी तल्लीन है कि उद्धव द्वारा प्रतिपादित ज्ञान-योग-साधन उन्हें निरर्थक प्रतीत होते है और वे उनका मजाक उड़ाती हैं। सूर ने ज्ञान, योग, यज्ञ, पूजा आदि की अपेक्षा माधुर्य-भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। गोपियों की इन्द्रियों के व्यापार, कृष्ण की रूप माधुरी के आस्वादन और सरस लीला में लग चुके है, इसीलिये सूर उन्हें विषय-विमुख कर विरक्त का उपदेश नही देते, प्रत्युत उसके महत्व का ही प्रतिपादन करते है। इस प्रकार माधुर्य-भाव की भक्ति का पूर्णतया निरूपण कर सूर ने कृष्ण के संयोग-विप्रयोगात्मक शृंगार-रसरूप इष्टदेव की उपासना को ही प्राधान्य दिया। सूर की यह भक्ति-भावना उनकी वैराग्य-समन्वित भक्ति-भावना से नितान्त भिन्न है। इससे प्रमाणित होता है कि वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् उन्होंने अपना भक्ति-विषयक दृष्टिकोण ही परिवर्तित कर दिया था।

हम पहले कह चुके है कि सूर पर तत्कालीन वृन्दावन के सम्प्रदायो का भी प्रभाव पडा था। चैतन्य-सम्प्रदायों के अतिरिक्त राधावल्लभीय और निम्बार्क सम्प्रदाय मे भी युगल-उपासना को महत्व दिया गया है। राधावल्लभीय सम्प्रदायों मे तो राधा और कृष्ण की युगल-लीलाओं की उपासना सखीभाव से की जाती है। सूर ने युगल-मूर्ति के अनेक चित्र खीचे है।

आत्म-निवेदन

आत्म-निवेदन माधुर्य-भाव की अन्तिम सीढी है। इसी का एक पक्ष शरणागति है। सूरदास जी की भक्ति-साधना मे शरणागति का बड़ा महत्व है। विनय के पदों मे इस प्रकार के अनेक पद है।[1] सूर ने श्याम के चरणो मे आत्म-निवेदन किया है। यों तो उनकी आस्था अन्य लीलावतारों तथा देवों में भी थी किन्तु आत्म-निवेदन उन्होंने श्रीकृष्ण के प्रति ही किया है। उन्होंने विद्या, जाति आदि सभी का अभिमान त्याग कर भगवान् को अनन्यभाव से भजा है। यही आत्म-निवेदन का शुद्ध स्वरूप है।

प्रेम-भक्ति

हम पहले कह चुके हैं कि सूरदास जी की प्रेम-भक्ति माधुर्य-भाव की भक्ति है और गोपियाँ उसका प्रतिनिधित्व करती हैं। इस प्रेम-भक्ति की अविगति सूर ने नवधा भक्ति द्वारा ही मानी है। वल्लभ-सम्प्रदाय में प्रेम-भक्ति की प्राप्ति का साधन हरि-कृपा अथवा प्रभु-अनुग्रह बताया गया है। सूरसागर में प्रेम-भक्ति-सम्बन्धी अनेक पद आये हैं। प्रेम-भक्ति की महिमा का बखान करते हुए वे कहते हैं—

प्रेम-भक्ति बिनु मुक्ति न होय नाथ, कृपा कर दीजै सोइ।
और सकल हम देख्यौ जोइ तुम्हारी कृपा होइ सो सोइ।[2]

वास्तव मे प्रेम की बड़ी महत्ता है। प्रेम से ही ऐहिक और पारलौकिक कार्य सिद्ध होते हैं; इस प्रेम का मूल ही प्रेम ही है। प्रेम से ही प्रेम की उत्पत्ति होती है—

प्रेम-प्रेम ते होइ प्रेम ते पारहि पइये।
प्रेम बँध्यौ ससार प्रेम परमारथ लहिये।
एकै निश्चय प्रेम को जीवन-मुक्ति रसाल।
साँचौ निश्चय प्रेम को जेहिते मिले गोपाल।[3]

सूरदास जी ब्रजधाम के वास को ही प्रेम-भक्ति का फल मानते है, जिसके प्राप्त होने पर भक्त को और प्राप्य नही रहता और न ही उसकी कोई अन्य कामना रहती है। उन्होंने इस लक्ष्य की ओर संकेत किया है। प्रेमी भक्त उस महान् वस्तु को प्राप्त कर लेने के पश्चात् और किसी वस्तु की इच्छा नही करता। इस भक्ति के प्राप्ति होने पर सूर को भी समस्त ससार कृष्णमय

---

१ (i) सरण आए की प्रभु लाज धरिए।
सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ११०
(ii) शरण गये कौ को न उबारयौ। वही पद १४
(iii) सरन परि मन वच कर्म विचारि। वही पद ५५९
(iv) सरन अब राखि लै नँददाता। वही पद १४८२
(v) सरन गये जो होय सोइ।

२ वही पद ४६१९

३ सूरसागर (वेंकटेश्वर प्रेस) पृष्ठ ५६३

दीख पड़ता था। उनकी गोपियाँ उद्धव जी से कहती हैं, "हमारे मन में कोई स्थान अविशिष्ट नहीं है। हमारे हृदय मे नन्द-नन्दन के होते हुए और किसको स्थान मिल सकता है ? हमारा हृदय तो कृष्ण के प्रेम से लबालब भरा है।"[१] "मन दस-बीस तो होते ही नही, एक था सो वह श्याम के साथ चला गया। अब ईश की आराधना—योग की साधना—कौन से मन से की जाय ?"[२] प्रेम की गति विचित्र होती है, वह किया नहीं जाता, हो जाता है। प्रिय के असाधारण गुणो पर ही रीझ कर प्रेम होता हो ऐसी बात भी नही है। उससे भी अधिक गुणवान् वस्तु हो सकती है पर वह प्रेमी के हृदय को नही लुभा सकती। संसार मे कितनी ही सुन्दर और मधुर वस्तुएँ हो सकती है पर जिस व्यक्ति को जो वस्तु अच्छी लगती है, वही उसके लिए सुन्दर है।[३] वही प्रेम की अनन्यता है, जो सूर की गोपियो मे देखी जाती है तभी तो वे उद्धव से कहती है—

ऊधौ मन माने की बात।
दाख छुहारा छाँड़ि अमृत फल विषकारा बिष खात।
× × × ×
सूरदास जाको मन जासों ताको सोइ सुहात।[४]

नारद जैसे ज्ञानी भक्त भी ब्रज-बालाओं को प्रेमी भक्तों मे शिरोमणि मानने के लिए विवश है, क्योकि उनका तन, मन, धन, सब श्रीकृष्ण को अर्पित था और वे अहर्निश उन्ही का चिन्तन करती थी। उनका प्रेम किसी भी वाद की झञ्जा मे हिमालय से समान अटल खड़ा रह सकता है। उद्धव के लाख बार समझाने पर भी प्रेममयी गोपियों का मानस स्नेह-रस से पूर्ण लहराता रहा।

प्रेम-भक्ति की प्राप्ति का मुख्य साधन हरिकृपा और सत्संग ही है। इसलिए सूर ने स्थान-स्थान पर इस बात को दुहराया है कि भगवान के सभी अवतार उनकी भक्तवत्सलता और कृपा के प्रमाण हैं, उनकी कृपा के आगे सब कुछ तुच्छ है। जिस पर हरि कृपा करते हैं उसी की जीत होती है, किसी को व्यर्थ अभिमान नहीं करना चाहिए।[५] रामावतार की कथा, कालिय-दमन, गोपियों के प्रति कृष्ण का प्रेम-दर्शन, रासलीला, कुब्जा-उद्धार, सुदामा का दारिद्रय-दमन आदि प्रसंगों में हरिकृपा का वर्णन सूर ने किया है। भक्ति-पथ में साधन स्वरूप सत्संगति की प्रशंसा और बाधक रूप कुसंगति की निन्दा सूर ने स्थान-स्थान पर की है। भक्ति के अंगों में वे हरि-स्मरण, गुरु-सेवा, मधुवन-वास, भागवत-श्रवण और हरि-भक्ति-सेवा की गणना करते है।[६] इसी प्रकार काम-क्रोध-मद-लोभ और मोह का त्याग करने, सांसारिक विषयों से विरक्त रहने, हरि-विमुखों का संग छोडने, सत्संग और हरिभजन करने का उपदेश उनके पदो में प्राप्त होता है।[७] सत्संग का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—"जिन दिन संत पाहुने आते है, उस दिन कोटि-तीर्थ-स्थान का फल उपलब्ध होता है। प्रतिदिन साधुओं की संगति मे रहने से संसार के दुःख नष्ट हो

---

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ४३५०
२ वही, पद ४३४४
३ दधि मधुर मधु मधुर द्राक्षा मधुरा सितापि मधुरैव।
तस्य तु तदेव मधुर यस्य मनो यत्र सलग्नम्। अज्ञात
४ सूरसागर (सभा पद) ४६३९
५ सूरसागर पद ४३५, ४३६
६ सूरसागर पद १५५
७ वही, पद ३०९, ३११, ३३६, ३५६

जाते हैं और उनकी संगति से भगवत्प्रेम की उत्पत्ति होती है।[1] उनकी प्रेमभक्ति-साधना में अष्टाङ्ग योग व्यर्थ है, मनःकामना बाधक है, केवल सत्संगति का विशेष महत्व है। भगवान् कपिलदेव द्वारा सूर ने देवहूति को यही उपदेश दिलाया है, "नित्य सतो की संगति करनी चाहिए और पाप-कर्म को मन से त्याग देना चाहिए।"[2]

'नारद-भक्ति-सूत्र' मे वर्णित प्रेम-भक्ति के स्वरूप का पूर्ण विवेचन हमे सूरसागर में मिलता है। महर्षि नारद ने सत्संगति के समान ही सदाचार को भी महत्व दिया है। सूरसागर मे भी सदाचार की विशेषताओं का प्रतिपादन स्थान-स्थान पर हुआ है। नहुष,[3] इन्द्र और अहिल्या[4] की कथाओ और पुरुरवा के वैराग्य के प्रसंग[5] में नारी के कुसग को छोड़कर हरि-भक्ति की शिक्षा दी है। राजा अम्बरीष की कथा मे भी सदाचार का महत्व स्वीकार किया गया है। गोपियों के सम्बन्ध में लोक-लाज और कुल-मर्यादा का उल्लंघन है, वह कृष्ण के प्रति अनन्यता स्थापित करने के लिए है, अन्यथा कवि ने स्थान-स्थान पर लोक-व्यवहार और सदाचार की आवश्यकता बताई है। यही कारण है कि सूर ने परकीया भाव को इतना प्रश्रय नही दिया, जितना स्वकीया भाव को। रास-लीला में स्वयं युवतियों ने पति को भगवान् की तरह मानने का उपदेश दिया है। गोपियाँ तो सांसारिकता से बहुत ऊँची उठ चुकी है। वे तो प्रेम-भक्ति की चरमावस्था को पहुँच चुकी हैं, इसलिये सामान्य व्यवहार की दृष्टि से उनका विवेचन नही किया जा सकता। कवि का लक्ष्य तो उन्हें आत्म-समर्पण की अन्तिम कोटि तक ले जाना है, जो प्रेम-भक्ति का सर्वोच्च रूप है। सूर की प्रेम-भक्ति अपने आप मे पूर्ण है। गोपियों का विरह-प्रेम की उसी पूर्णावस्था का प्रतीक है। वे उद्धव से कहती हैं :

ऊधौ विरहौ प्रेम करै।
ज्यौं बिनु पुट पट गहत न रंग कौ, रंग न रसहिं परै।
ज्यौं घर दहै बीज अंकुर गिरि तौ सत फरनि फरै।
ज्यौं घट अनल दहत तन अपनौ, पुनि मय अमी भरै।
ज्यौं रन सूर सहै सर सन्मुख, तो रवि रथहु अरै।
सूर गुपाल प्रेम पथ चलि करि क्यों दुःख सुखनि डरै।।[6]

भागवत की भाँति सूर की प्रेम-भक्ति साधन नही, साध्य है, जिसकी प्राप्ति के पश्चात् कुछ प्राप्य ही नही रह जाता। सूर ने स्थान-स्थान पर भक्ति प्राप्ति की ही प्रार्थना की है। वे भगवान् से प्रार्थना करते हैं—"हे भगवान् ? मैं प्रत्येक स्थिति में आपकी भक्ति की ही इच्छा करता हूँ।"[7] गोपियो के मुख से भी उन्होने भक्ति की महत्ता का बखान कराया है और इस प्रकार भक्ति का स्वतः पूर्णरूप प्रतिष्ठित किया हैं। भक्ति के लिए किसी फल की आवश्यकता नही, उनकी लीला सुनने-सुनाने से प्रेम-भक्ति की प्राप्ति होती है।[8]

---

१ सूरसागर (सभा) पद ३६०
२ सूरसागर पद ३९४
३ वही, पद ४१८
४ वही, पद ४१९
५ वही, पद ४४६
६ वही, पद ४६०४
७ सूरसागर पद ३५५
८ जो यह लीला सुनै सुनावै, सूर सो प्रेम-भक्ति को पावै। सूरसागर (सभा) पद ४९३१

यह प्रेम रूपा भक्ति एक होकर भी ग्यारह प्रकार की आसक्तियों पर आधारित होने से ग्यारह प्रकार की कही जा सकती है। सूरसागर में भी इन आसक्तियों का स्वरूप मिल जाता है, जैसे उन पदों मे जहाँ उन्होंने कृष्ण के अलौकिक गुण और शक्तियों का वर्णन किया है, गुण माहात्म्यासक्ति मिलती है। विनय के पद, बालभाव के प्रसंग और दुष्टों की संहार लीला मे भी इसी प्रकार की आसक्ति है। रूपासक्ति के तो सूरसागर में अनगिन उदाहरण मिलते हैं। सूरदास जी बाह्यरूप से श्रीनाथ जी के रूप पर और आन्तरिक रूप से कृष्ण के रूप पर मुग्ध थे। भगवान् के रूप-वर्णन के अनेक पद सूरसागर में बिखरे पड़े हैं जो कृष्ण की बाल्य, पौगण्ड और कैशोर्य अवस्थाओं से सम्बन्ध रखते है। पूजासक्ति में भगवान् कृष्ण की स्तुतियाँ नवधा-भक्ति आदि सम्मिलित है। इसी प्रकार स्मरणसक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्म-निवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और कान्तासक्ति सभी सूर के पदों मे मिल जाती है। ग्यारहवीं आसक्ति, जो परम विरहासक्ति कहलाती है, सूरसागर में बहुत महत्वपूर्ण है। यह आसक्ति, कई प्रकार से प्रकट होती है, परन्तु इसके मुख्य रूप दो ही है—मातृ-विरहासक्ति तथा दाम्पत्य-विरहासक्ति।

जब हम सूर की भक्ति की तुलना श्रीमद्भागवत की भक्ति से करते है तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्रीमद्भागवत के भक्ति-पक्ष की जितनी समानता सूर के भक्ति-पक्ष से है, इतनी और किसी पक्ष की नहीं है, केवल इतना अन्तर है कि श्रीमद्भागवत एक दर्शन-परक भक्ति-ग्रन्थ है, जिसका दृष्टिकोण समन्वयात्मक है। इसीलिये उसमें वेदान्त सूत्रों की व्याख्या की गई है। फलस्वरुप उससे ज्ञान-योग, भक्ति-योग कर्म-योग, सभी का प्रतिपादन हुआ है। सूरदास एक विशिष्ट सम्प्रदाय में दीक्षित भक्त कवि थे। उनकी दृष्टि न तो समन्वयात्मक ही थी और न विरोधात्मक ही। अपने भावों को सीधे और सच्चे रूप मे ही प्रकट करने का उनका आग्रह था। यही कारण है कि उनके भक्ति-प्रवाह में गम्भीरता और अगाधता भागवत की अपेक्षा अधिक है। भागवतकार ने भक्ति की धारा को मर्यादा और अलौकिकता के बाँधों मे बाँधकर बहाया है, पर सूरसागर में तो अनन्त भक्ति-भाव लहरियाँ इस तट से उस तट तक स्वच्छ रूप से क्रीड़ा करती हुई दीख पडती हैं।

श्रीमद्भागवत में भक्ति का विवेचन दो प्रकार से हुआ है, वैधी-भक्ति के रूप मे और साधारण भक्ति के रूप में। भागवतकार ने पराभक्ति को ही साध्य माना है, परन्तु उसकी विशद व्याख्या नहीं की है। साधारण रूप से ही भक्ति का जो विवेचन भागवत में हुआ है, वही परा-भक्ति का विवेचन कहा जा सकता है। सूरदास जी का लक्ष्य प्रेम-भक्ति-विवेचन का है। उनसे पहले भक्ति-रस का पर्याप्त निरूपण हो चुका था और जैसा कि हम पहले कह चुके है, स्वयं वल्लभाचार्य ने भक्ति का यथेष्ट विवेचन किया था तथा उन्ही के समकालीन वृन्दावन के गोस्वामियों ने इस दिशा में और भी अधिक कार्य किया। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने भक्ति के इस स्वरूप को पुष्टि-मार्ग के साँचे में ढाला और इस प्रकार सूर के सम्मुख भक्ति का पुष्ट एव समुज्ज्वल रूप आया। वल्लभ-सम्प्रदाय मे दीक्षित होने से पहले सूर की भक्ति भागवतकार की भक्ति के समकक्ष थी, परन्तु दशम स्कन्ध में भक्ति का जैसा प्रकाश सूर ने दिखाया है, उसके सामने भागवतकार का भक्ति-दीपक फीका-सा पड़ गया है।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, भागवतकार कृष्ण की लीलाओं मे अलौकिकत्व का समावेश करने के पक्ष में रहे हैं, जिसके कारण उनकी भक्ति मे आध्यात्मिकता होने से वह आदर्श मात्र-सी प्रतीत होती है। उनके वात्सल्य और सख्य-भाव अतिप्राकृत भगवान् कृष्ण के प्रति होने के कारण

अलौकिक तथा अव्यावहारिक से लगते है, पर सूरदास उन भावों को मानवता से तो सम्बद्ध करते ही है, साथ ही उनमे मनोवैज्ञानिकता और स्वाभाविकता के भी इतने अवसर रखते है कि जन-साधारण उन्हें अपनी आस्वाद्य वस्तु समझने लगते है। भागवत के प्रभाव में आकर जहाँ उन्होंने इन भावों में अलौकिकत्व दिखाने का प्रयत्न किया है, वहाँ या तो उनकी वृत्ति ही नही रमी या अस्वाभाविकता आ गई है।

भागवतकार के वैधी-भक्ति निरूपण मे लोक-मर्यादा का महत्व ऊपर से ठूँसा हुआ-सा प्रतीत नही होता। परन्तु सूरसागर मे जहाँ कही ऐसे पद मिलते है, वे प्रक्षिप्त से ही प्रतीत होते है। स्वकीया भाव को प्राधान्य देने का प्रयत्न भी अस्वाभाविक-सा लगता है। जिस प्रेम-भाव का वर्णन उन्होंने सूरसागर मे किया है वह पूर्णतया 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' और 'उज्ज्वल नीलमणि' के मेल का है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी भक्ति की पृष्ठभूमि तो चैतन्य-सम्प्रदाय की है और साँचा वल्लभ-सम्प्रदाय का।

श्रीमद्भागवत में भक्तों के चरित्र और अवतारों का जो वर्णन है, वह भागवत में प्रतिपाद्य भक्ति-वैशिष्ट्य के ज्ञापन मे पूर्णरूपेण सहायक है। उन्हे यदि भागवत से निकाल दिया जाय, तो भक्ति की पूर्ण-प्रतिष्ठा सम्भव नही है। सूरसागर में बात इसके बिल्कुल विपरीत है। उसमे तो ये कथाएँ भरती की सी ज्ञात होती है।

भागवत में परा-भक्ति का स्वरूप सूत्र रूप से चित्रित किया है, परन्तु सूरसागर मे उसका क्रियात्मक स्वरूप है और गोपियों की कामरूपा प्रीति का पूर्ण विवेचन किया गया है। अनेक नवीन लीलाओं की कल्पना करके सूर ने उस प्रेम को चरम सीमा तक पहुँचा दिया है।

अब तक के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शास्त्रीय रूप से तो सूर ने भक्ति का वही रूप ग्रहण किया, जो भागवत में है। उनके पदो में भक्ति के वे सभी प्रकार मिल जाते है, जो भागवत में आये हुए है, किन्तु सूर की भक्ति मे सामयिक प्रभाव और मौलिकता का भी पुट है। सामयिक प्रभाव के अतिरिक्त सूर की भक्ति मे भक्ति के शताब्दियो से चले आते हुए उस रूप के भी दर्शन होते है, जो समाज मे प्रचलित लोक गीतों और परम्पराओं में विद्यमान था। राधा और कृष्ण, कृष्ण और गोपियो की शृङ्गारिक चेष्टाओ के पीछे से भक्ति का वह रूप झाँकता हुआ स्पष्ट दिखाई देता है। एक युगजीवी की भाँति सूर ने धार्मिक पक्ष में भी अपने युग का प्रतिनिधित्व किया है। उनकी भक्ति मे जहाँ एक ओर विभिन्न वैष्णव-सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का समावेश हुआ है, वहाँ दूसरी ओर अन्य प्रचलित मत-मतान्तरों का भी प्रभाव पडा है।

सूर उच्च-कोटि के भक्त थे। उनकी भक्ति अन्तःकरण की प्रेरणा और हृदय की अनुभूति थी। भक्त होने के साथ-साथ वे कवि भी थे, इसलिए उनकी भक्ति में कवि-सुलभ कल्पना का योग भी स्वाभाविक ही था। विनोदी प्रकृति के होने के कारण हास्य और व्यग का पुट भी उनके भक्ति-सम्बन्धी पदों मे आ गया है और संगीत के प्रकाण्ड पाण्डित्य ने लय, स्वर, तान आदि का उचित ध्यान रख उनके पदों को गेय बना दिया। वे आशुकवि थे और कीर्तनाचार्य भी।

भक्ति और साहित्य के उन्मुक्त वायु-मण्डल मे सूर की कल्पना ने व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव के पंख खोलकर इतनी ऊँची और लम्बी उड़ान भरी है कि दर्शको को कभी-कभी तो यह आभास हो जाता है कि यह किसी अन्य लोक की यात्रा कर रही है, परन्तु सत्य यह है कि इतने ऊँचे पर उडते हुए भी उसकी दृष्टि सदैव धरा पर ही लगी रही है।

दशम अध्याय
पुष्टि–सम्प्रदाय और भक्त सूरदास

पुष्टि-सम्प्रदाय

श्री वल्लभाचार्य जी ने जिस मत का प्रचार किया, वह 'पुष्टि सम्प्रदाय' कहलाता है। वल्लभाचार्य तैलंग ब्राह्मण थे और उन्होंने काशी मे रहकर वेद, वेदान्त और दर्शनों का अध्ययन किया था। उन्होंने दस वर्ष की आयु मे ही शास्त्रों में निपुणता प्राप्त करली थी और काशी में प्रसिद्ध हो गये थे। अपने पिता के गोलोकवास के पश्चात् उन्होंने समस्त भारतवर्ष की कई बार यात्राएँ कीं और उन यात्राओं मे उन्होंने मायावाद का खण्डन और ब्रह्मवाद तथा भक्तिवाद का प्रचार किया। उनकी यात्राओं और शास्त्रार्थों के समय के विषय में मतभेद है। वल्लभाचार्य ने विजयनगर में, जिसे विद्यानगर भी कहते है, पहली बार शुद्धाद्वैत मत का प्रतिपादन किया था। कहा जाता है कि विद्यानगर मे पण्डितों की एक विशाल सभा का आयोजन हुआ था, जिसमे एक ओर सभी वैष्णव सम्प्रदायों के विद्वान् थे तथा दूसरी ओर अद्वैतवादी शंकर मतानुयायी विद्वान् थे। शास्त्रार्थ मे जब वैष्णव-पक्ष गिरने लगा तो वल्लभाचार्य जी ने उस पक्ष को प्रबल करके अद्वैतवादियों तथा अवैष्णवों को पराजित किया। उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर ही विष्णु सम्प्रदाय के आचार्यों ने उन्हें उस सम्प्रदाय की गद्दी पर बिठाया। विष्णु स्वामी ने शुद्धाद्वैत मत का प्रतिपादन किया था, किन्तु वल्लभाचार्य जी ने इस मत के प्रचार और प्रसार मे बहुत सहायता दी। वल्लभाचार्य से पहले विष्णु स्वामी सम्प्रदाय की गद्दी पर विल्व-मंगल नामक एक आचार्य थे। 'सम्प्रदाय कल्पद्रुम' मे भी बिल्व-मंगल का उल्लेख है। विद्यानगर के शास्त्रार्थ की तिथि के विषय में मतभेद है। यह शास्त्रार्थ राजा कृष्णदेवराय के समय मे हुआ था, जिसका शासन सम्वत् १५६५ से प्रारम्भ होता है। इस शास्त्रार्थ के पश्चात् ही शुद्धाद्वैत सिद्धान्त का वल्लभाचार्य ने शास्त्रीय ढंग से प्रचार किया। वल्लभाचार्य ने तीन बार भारतवर्ष की यात्रा की और पुष्टि-सम्प्रदाय का प्रचार किया। पुष्टि-सम्प्रदाय मे ये यात्राएँ पृथ्वी प्रदक्षिणाएँ कहलाती है। ब्रज की प्रथम यात्रा उन्होंने सं० १५५० में की। उसी समय गोवर्द्धन पर्वत पर एक भगवत् स्वरूप का प्राकट्य हुआ। वल्लभाचार्य जी ने ही उसका नाम श्रीनाथ जी रक्खा था और उन्हीं की प्रेरणा से श्रीनाथ जी का पक्का मन्दिर बना। वल्लभाचार्य जी ने बंगाली वैष्णवों को श्रीनाथ जी की सेवा का भार सौंपा।

प्रारम्भ से ही वल्लभाचार्य जी की प्रवृत्ति शास्त्र चिन्तन की ओर थी। उनके समय मे अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे। शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त का विरोध करने के लिए वैष्णव धर्म चार सम्प्रदायों मे बँट गया था। इन सम्प्रदायों मे भक्ति को महत्व दिया गया और मुक्तजीव को ब्रह्म न मानकर वैकुण्ठवासी भगवान की सेवा करने वाला बताया। वल्लभाचार्य जी ने भी अन्य वैष्णवाचार्यों की भाँति शंकर के मायावाद का खण्डन किया; क्योंकि उसमे भक्ति के लिए तत्वतः कोई स्थान नहीं था और उस समय भक्ति-भावना की बडी आवश्यकता थी। सिद्धान्त रूप से वल्लभाचार्य जी ने जिस मत का प्रचार किया, उसे शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद या 'अविकृत परिणामवाद' कहते है; साधना की दृष्टि से वह 'पुष्टि-मार्ग' कहलाता है। सिद्धान्त पक्ष के लिए वल्लभाचार्य

विष्णु स्वामी के ऋणी कहे जा सकते है, परन्तु साधना पक्ष उनका अपना है, उसकी व्यवस्था उनकी अपनी है। 'सम्प्रदाय-प्रदीप' के अनुसार वल्लभाचार्य जी को उस व्यवस्था के लिए आन्तरिक प्रेरणा हुई थी। 'सम्प्रदाय-प्रदीप' मे लिखा है, "अन्य सम्प्रदायों (रामानुज, मध्व निम्बार्क) मे नारद, पांचरात्र, वैखानसादि-शास्त्र प्रतिपादित दीक्षा-पूजा का प्रचार होने से यद्यपि विष्णु स्वामी सम्प्रदाय में आत्म-निवेदनात्मन भक्ति की स्थापना की गई है, तथापि वह मर्यादामार्गीय है। अब आपके इस सम्प्रदाय में पुष्टि (अनुग्रह) मार्गीय आत्म-निवेदन द्वारा प्रेम-स्वरूप निर्गुण भक्ति का प्रकाश करना है। सम्प्रति भक्ति मार्गानुयायी जन-समाज शंकर-सिद्धान्त से पथ-भ्रष्ट हो रहा है।"[1]

इस प्रकार वल्लभाचार्य जी ने अपने पुष्टि-सम्प्रदाय की स्थापना मर्यादा-मार्गीय सम्प्रदाय से भिन्न रूप में की और उन्होंने अपने सम्प्रदाय के नामकरण की प्रेरणा श्रीमद्भागवत से प्राप्त की। श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध दशम अध्याय के चतुर्थ श्लोक मे "पोषणं तदनुग्रहः" कहा है, जिसका अर्थ होता है कि 'भगवान् के अनुग्रह को ही पोषण या पुष्टि कहते है,' इसीलिए इस मत का नाम पुष्टि रखा गया है। भगवान् के अनुग्रह से ही भक्त के हृदय मे भक्ति का उदय होता है, इसीलिए भक्त को अपना सब कुछ भगवान् को ही समर्पण करना पड़ता है। जिससे भगवान् के प्रति अनन्यता हो सके, वही पुष्टि-मार्ग कहलाता है। वल्लभ-सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन हम पहले कर चुके हैं। इस प्रकरण मे हम उसके साधन अथवा भक्ति-पक्ष पर ही विचार करेंगे।

वल्लभाचार्य का पुष्टि-सम्प्रदाय विष्णु स्वामी के सम्प्रदाय से भिन्न है। विष्णु स्वामी-सम्प्रदाय में भक्ति का स्वरूप सगुण और तामस बताया गया है, जबकि पुष्टि-भक्ति का स्वरूप प्रेमलक्षण निर्गुण भक्ति है। इसीलिए दोनो मे सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए ही वल्लभाचार्य जी ने अपने सम्प्रदाय में विशिष्ट सेवा-मार्ग का निरूपण किया। यह सेवा-मार्ग वल्लभ-सम्प्रदाय की अपनी अलग विशेषता है, जिसका वर्णन हम आगे करेगे। वल्लभाचार्य जी ने अपने मत के प्रचार के लिए अनेक साधन ग्रहण किये। जहाँ वे जाते थे, अपने सिद्धान्तो का प्रचार करने के लिए अपनी शिष्य-मण्डली को छोड़ जाते थे। ऐसे शिष्यो की सख्या एक लाख चौरासी हजार बताई जाती है। जहाँ-जहाँ आचार्य जी भागवत का पारायण करते थे, वहाँ स्थायी बैठके बनवादी जाती थी। ऐसी बैठकें भारतवर्ष मे चौरासी है। इसके अतिरिक्त उन्होने अपने सिद्धान्तो के प्रचार के लिये अनेक छोटे-बडे ग्रन्थो की रचना की। उनमे तीस ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध है। पुष्टि-सम्प्रदाय की विशेष उन्नति गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी के समय मे हुई और उन्होंने ही इस सम्प्रदाय की साङ्गोपाङ्ग व्यवस्था की। पुष्टि-मार्गीय सेवा-भाव को विस्तार से क्रियात्मक रूप देने का काम गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने किया। श्रीनाथ जी की सेवा-विधि मे भी उन्होंने परिवर्तन किया। वल्लभाचार्य के समय में तो श्रीनाथ जी का शृंगार केवल पाग और मुकट द्वारा होता था, किन्तु विट्ठलनाथ जी ने आठ शृंगारों, झाँकियों तथा उत्सवों आदि का भी नियमित कीर्तन के लिए आठ संगीताचार्य कीर्तनकार नियुक्त किये और वे अडैल छोड़कर स्थायी रूप से गोकुल मे रहने लगे। इस प्रकार सम्प्रदाय की उचित व्यवस्था और वास्तविक उन्नति गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने ही की। अपने पिता की भाँति उन्होंने भी अनेक यात्राएँ कीं, और अपने मत का प्रचार किया। उन्होंने अपने पिता जी के ग्रन्थों पर टीकायें लिखी, तथा कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे। उनके रचित ग्रन्थ बारह है, जिनमे 'विद्वन्मण्डन' विशेष उल्लेखनीय है; क्योंकि उसमें साम्प्रदायिक

१ सम्प्रदाय प्रदीप

सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया है। विट्ठलनाथ जी के पश्चात् सम्प्रदाय के आचार्य उनके ज्येष्ठ पुत्र गिरधर जी हुए, किन्तु सम्प्रदाय को बढाने की दृष्टि से उनके चतुर्थ पुत्र स्वामी गोकुलनाथ जी का नाम उल्लेखनीय है। गोकुलनाथ जी के पश्चात् विट्ठलनाथ जी के पौत्र हरिराय जी ने भी बहुत कार्य किया। हरिराय जी के पश्चात् इस सम्प्रदाय मे और भी अनेक विद्वान् हुए, जिनमे गोपेश्वर जी और पुरुषोत्तम जी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

पुष्टि-मार्गीय भक्ति

पुष्टि-मार्गीय भक्ति के विवेचन में हम केवल वल्लभाचार्य जी के ग्रन्थों का आश्रय लेगे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वल्लभाचार्य जी के तीस ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनमे अणुभाष्य सुबोधिनी तत्वदीप-निबन्ध तथा षोडश-ग्रन्थ अधिक महत्वपूर्ण है, तत्वदीप-निबन्ध के तीन प्रकरण है—शास्त्रार्थ प्रकरण, सर्वनिर्णयाख्य प्रकरण तथा भागवतार्थ प्रकरण। शास्त्रार्थ प्रकरण मे सात्विक जीवन की भगवत्-सेवा में प्रवृत्ति कराने के लिए जड़, जीव, अन्तर्यामी के स्वरूप का वर्णन किया गया है तथा यह बात सिद्ध की है कि भगवान् का भजन ही ऐहिक तथा पारलौकिक फल को देने वाला है विशेषकर इस प्रकरण मे वल्लभ के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन हुआ है। सर्वनिर्णयाख्य प्रकरण में प्रमाण, प्रमेय, फल, साधन के द्वारा ज्ञान, कर्म, उपासना तथा जगत के पदार्थो का यथार्थ स्वरूप बतलाया गया है। इस प्रकरण में पहले श्रुति-स्मृति-विहित तत्वों का निरूपण किया गया है तथा भक्ति को ज्ञान और कर्म से श्रेष्ठ बताया गया है, फिर भक्ति मार्ग का वर्णन करके भगवान् की प्राप्ति के साधनो का वर्णन है। अन्त मे श्रीमद्भागवत का महत्व बताया गया है। भागवतार्थ प्रकरण सबसे बड़ा है, जिसमे श्रीमद्भागवत की लीलाओं के तात्पर्य तथा स्कन्धों, प्रकरणो और अध्यायों के अर्थ दिये गये है। इसका उद्देश्य भक्त के हृदय में भक्ति-भाव को दृढ करना है। अणुभाष्य उनका एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसमें उन्होंने ब्रह्मसूत्र का भाष्य किया है और अपने शुद्धाद्वैत मत का प्रतिपादन किया है। सुबोधिनी श्रीमद्भागवत् की टीका है, जिसके प्रथम, द्वितीय, तृतीय, दशम तथा एकादश स्कन्ध ही प्राप्त है। षोडश—ग्रथ के छोटे-छोटे सोलह ग्रन्थ है, जिनमें वल्लभाचार्य ने अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। इन ग्रन्थो पर बहुत-सी टीकाएँ हुई है और टीकाकारों ने उन सिद्धान्तों का बड़ा विस्तार किया है। इन षोडश-ग्रन्थो का उद्देश्य पुष्टि-मार्ग के सिद्धान्तों को सर्व सुलभ बनाना है। अणुभाष्य तथा सुबोधिनी विस्तृत ग्रन्थ हैं, इसलिए वे साधारण व्यक्ति के लिए सरल नही है। इन ग्रन्थो में सिद्धान्त-मुक्तावली, पुष्टि प्रवाह-मर्यादा-भेद, सिद्धान्त-रहस्य, भक्ति-वर्धिनी और सेवाफल मुख्य है। सिद्धान्त-मुक्तावली मे वल्लभाचार्य जी ने नवधा-भक्ति का उल्लेख करके उसका पुष्टि-मार्गीय तनुजा सेवा मे समावेश किया है और फिर तनुजा और वित्तजा सेवा को भगवद्-भक्ति मे साधक बताया है। पुष्टि प्रवाह-मर्यादा-भेद में तीन मार्गो की व्याख्या की है। सिद्धान्त-रहस्य बड़ा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है; क्योंकि इसमे पुष्टि-सम्प्रदाय के आत्म-निवेदन की व्याख्या की है। आत्म-निवेदन के बिना भगवत्-सेवा का अधिकार प्राप्त नही होता। यही बताने के लिये महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने सिद्धान्त-रहस्य की रचना की। भक्ति-वर्द्धनी ग्रन्थ मे भक्ति को उत्पन्न करने और बढाने के उपाय बतलाये हैं और सेवा का फल बतलाया है। हम सक्षेप मे इन ग्रन्थो का सार प्रस्तुत करते हैं—

पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा-भेद में आचार्य जी ने जीव, देह और क्रिया-भेद से तथा फल-परम्परा से तीन मार्गों का निरूपण किया है—पुष्टि-मार्ग, प्रवाह-मार्ग और मर्यादा-मार्ग :

"पुष्टि-प्रवाह मर्यादा विशेषण पृथक्-पृथक् ।
जीवदेहक्रियाभेदैः प्रवाहेण फलेन च ।[1]

वल्लभाचार्य जी ने इन तीनों मार्गों की स्थिति को श्रुति, गीता, वेदान्त-सूत्र तथा भागवत आदि के प्रमाणों से सिद्ध किया है । तत्वदीप-निबन्ध मे उन्होंने लिखा है—

"वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि ।
समाधिभाषाव्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम् ।
एतद्विरुद्धं यत्सर्वं न तन्मान्यं कथंचन ।[2]

श्रीमद्भागवत के 'पोषणं तदनुग्रहः के आधार पर निबन्धकार ने भागवतार्थ प्रकरण मे लिखा है—

'कृष्णानुग्रहरूपाहि पुष्टिः कालादिबाधका', अर्थात् कालादि के प्रभाव को रोकने वाली श्रीकृष्ण की कृपा ही पुष्टि है । अणुभाष्य मे लिखा है कि पुष्टि-मार्ग केवल अनुग्रह से ही साध्य है :

"पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्यः ।[3]

इसी प्रकार सिद्धान्त-मुक्तावली के अठारहवें श्लोक मे "अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितः " कहा है । यह अनुग्रह लौकिक दौर अलौकिक, दोनों प्रकार के फल देने वाला है । इसमे प्रत्यक्ष प्रमाण न होते हुए भी भगवान् की कृपा का फल-विशेष से अनुमान कर लिया जाता है । सुबोधिनी में भी भगवान् के इस अनुग्रह को पुष्टि बताया है । उसमे महापुष्टि का लक्षण इस प्रकार दिया है, "बलवत्प्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वक स्वापादावाप्ति साधकत्वम्", अर्थात् बलवती रुकावट को दूर करते हुए अपनी मूलवस्तु की प्राप्ति की साधकता की महापुष्टि कहते हैं । श्रीमद्भागवत् मे शुकदेवजी ने परीक्षित से कहा है, "हे परीक्षित ? जिस प्रकार अश्वत्थामा के अस्त्र से आहत होने पर भी तुम नहीं मरे, उसी प्रकार भगवान् की कृपा से दिति के गर्भ का भी नाश नही हुआ ।"

वल्लभाचार्य जी ने पुष्टि-भक्ति को साधारण-भक्ति से भिन्न माना है। हरिराय जी ने हरिराय-वाङ मुक्तावली (भाग १) मे पुष्टि-मार्ग के लक्षण इस प्रकार दिये हैं :

सर्वसाधनराहित्यं फलाप्तौ यत्र साधनम् ।
फलं वाँ साधनं यत्र पुष्टिमार्ग. स कथ्यते ॥१॥
अनुग्रहेणैव सिद्धिर्लौकिकी यत्र वैदिकी ।
नयत्नादन्यथा विघ्नः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥२॥
सम्बन्धः साधनं यत्र फलं सम्बन्ध एव हि ।
सोऽपि कृष्णेच्छया जातः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥१०॥
यत्र वा सुखसम्बन्धो वियोगे संगमादपि ।
सर्वलीलानुभवतः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥१५॥
समस्तविषयत्यागः सर्वभावेन यत्र वै ।
समर्पणं च देहादेः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥१६॥

अर्थात्—जिस मार्ग मे लौकिक तथा अलौकिक, सकाम अथवा निष्काम, सब साधनों का अभाव ही श्रीकृष्ण की स्वरूप प्राप्ति मे साधन है, अथवा जहाँ जो फल है, वही साधन है, उसे पुष्टिमार्ग कहते हैं और जिस मार्ग में सर्व सिद्धियों का हेतु भगवान् का अनुग्रह ही है, जहाँ देह के

१ पुष्टि-प्रवाह मर्यादा-भेद १
२ त० दी० निबन्ध शास्त्रार्थ प्रकरण
३ अणुभाष्य, चतुर्थ अध्याय, चतुर्थ पाद, सूत्र ९

अनेक सम्बन्ध ही साधन रूप बनकर भगवान् की इच्छा के बल पर फलरूप सम्बन्ध बनते हैं, जिस मार्ग में भगवत्-विरह-अवस्था मे भगवान् की लीला के अनुभव मात्र से संयोगावस्था का सुख अनुभूत होता है और जिस मार्ग मे सर्वभावों मे लौकिक विषय का त्याग है और उन भावों के सहित देहादि का समर्पण है, वह पुष्टि-मार्ग कहलाता है।[1] इस प्रकार हरिराय जी ने बड़े विस्तार से पुष्टि-मार्ग का विवेचन किया है। इस मार्ग में जीवात्मा की योग्यता का विचार नही किया जाता है; जैसा कि हरिराय जी ने लिखा है :

"केवलेन हि भावेन गोप्यः गावः खगाः मृगाः"

इन्ही सिद्धान्तो का विवेचन वल्लभाचार्य जी के 'षोडश-ग्रन्थ' मे हुआ है। बालबोध नामक ग्रन्थ में पुरुषार्थ के स्वरूप को बताकर उन्होने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ माने है, जिनमें से काम और मोक्ष को प्रधानता दी है। अन्त में ब्रह्मा, विष्णु और शिव, तीनो को फलप्रद देवता मानकर अन्त में श्रीकृष्ण को ही सेव्य और आश्रय मानने का उपदेश दिया है। 'सिद्धान्त मुक्तावली' मे जैसा कि हम पहले कह चुके है, श्रीकृष्ण की भक्ति के साधनो का विवेचन करते हुए मानसिक सेवा के प्रामुख्य का ज्ञापन किया गया है और उसी को सच्ची सेवा माना है। भगवान् कृष्ण मे चित्त की एकाग्रता को जो शरीर और मण्डान आदि द्रव्य के द्वारा प्राप्य है, सेवा कहा गया है। इसी सेवा से दु.ख की निवृत्ति तथा ब्रह्म का ज्ञान होता है। इसके पश्चात् ब्रह्म का विवेचन किया गया है और अन्त मे यह बताया है कि जब तक जगत मे हमारी आसक्ति है तब तक कृष्ण मे हमारी सच्ची भक्ति हो ही नही सकती। भक्ति से ही संसार से विरक्ति होती है। आत्म-स्वरूप का ज्ञान बहुत कठिन है, इसीलिये वल्लभाचार्य जी ने मनुष्यों के लिए पुष्टिमार्ग का निर्देश किया है :

"ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत्पूजोत्सवादिषु।"[2]
"अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः।"[3]

'सिद्धान्त मुक्तावली' मे वल्लभाचार्य ने मर्यादा-मार्गी और पुष्टि-मार्गी—दो प्रकार के भक्त बतलाये हैं। मर्यादा-मार्गी भक्त लौकिक कामनाओं से प्रयोजन रखते हुए श्रीकृष्ण की सेवा मे तत्पर होते हैं, इसलिये उन्हे कष्ट होता है। परन्तु पुष्टि-मार्गी भक्त सब प्रकार से भगवान् को आत्म-समर्पण कर अहंता और ममता से दूर रहकर भगवान् कृष्ण की उपासना मे लगा रहता है। इस प्रकार वल्लभाचार्य जी ने ज्ञान-मार्ग से भक्ति-मार्ग और उसमे भी मर्यादा-मार्ग से पुष्टि-मार्ग की श्रेष्ठता प्रदान करते हुए बताया है कि—भक्ति के अभाव मे जीव नष्ट हो जाता है। 'पुष्टि-प्रभाव-मर्यादा' नामक ग्रन्थ में आचार्य जी ने भक्ति-मार्ग की अनिर्वचनीयता स्थापित करके पुष्टि-मार्ग के अतिरिक्त प्रवाह-मार्ग और मर्यादा-मार्ग भी भक्ति के क्षेत्र में माने है। उनका कथन है कि श्रीमद्भगवद्गीता मे दो प्रकार की सृष्टि मानी है, इसलिए प्रवाह-मार्ग की भी सिद्धि होती है और कर्म आदि की व्यवस्था करने वाले वेदों के कारण मर्यादा-मार्ग भी अनादि काल से चला आ रहा है। गीता में भगवान् के इस वचन से कि—मेरा भक्त मुझे प्रिय है; भक्ति का उत्कर्ष सिद्ध होता

---

१ हरिराय वाङ्मुक्तावली भाग १ (१, २, १०, १५, ३६)
२ सिद्धान्त मुक्तावली १७
३ वही १८

है और इसलिये उसे पुष्टि-मार्ग कहते है।[1] इस मार्ग की बडी प्रशंसा की गई है। पुष्टि-मार्ग को लोक और वेद से परे बताकर पुष्टि-मार्गीय जीव, देह और उनकी क्रियाएँ भी अलग ही बताई गई है और श्रुति के प्रमाणो से उसकी नित्यता भी सिद्ध की गई है। श्री हरि ने इच्छा होने पर प्रवाह-मार्ग की सृष्टि मन से, मर्यादा-मार्ग की वाणी से, और पुष्टि-मार्ग की अपने स्वरूप से स्वय रमण करने के हेतु की है। इन तीनों प्रकार की सृष्टि-रचना की पुष्टि श्रुति-वचनों से की गई है। प्रवाह-मार्ग मे सृष्टि का क्रम सतत प्रवाहित रहता है, मर्यादा-मार्ग मे वेदोक्त फलो की प्राप्ति होती है तथा पुष्टि-मार्ग मे निजस्वरूप से फल-प्राप्ति होती है। इन तीनो प्रकार के जीवो की गति भी पृथक्-पृथक् है। पुष्टि-मार्गीय जीव अन्य दोनो प्रकार के जीवों से भिन्न है। उनकी सृष्टि तो प्रभु की सेवा के लिए ही होती है। यद्यपि भगवान् और भक्त के स्वरूप मे विशेष अन्तर नहीं माना गया है, तथापि रमण-रूप कार्य की सिद्धि के लिए भगवान् के भक्तों मे भेद की स्थापना की है। ये पुष्टि-मार्गीय जीव शुद्ध और मिश्र भेद से दो प्रकार के होते है, जिनमे से मिश्र—प्रवाह, मर्यादा और पुष्टि के भेद से प्रवाह-मिश्र, मर्यादा-मिश्र और पुष्टि-मिश्र तीन प्रकार के होते है। प्रवाह-मिश्र कर्म मे प्रीति रखने वाले, मर्यादा-मिश्र भगवद्गुणो को जानने के इच्छुक और पुष्टि-मिश्र केवल भगवान् से प्रेम करने वाले होते है। इन पुष्टि-मिश्र जीवो से उच्च कोटि के जीव, जिन पर भगवान् का विशेष अनुग्रह रहता है, शुद्धि-पुष्टिजीव कहलाते है। इस अवस्था की प्राप्ति बहुत दुर्लभ है। इन चार प्रकार के भक्तों को क्रमशः प्रवाह-पुष्ट, मर्यादा-पुष्ट, पुष्टि-पुष्ट तथा शुद्धा-पुष्ट भक्त कहा गया है। मिश्र-भक्ति वाले जीव संकर और ससृष्टि भेद से नौ प्रकार के बताये गये है और उनके कर्मो का भी अलग-अलग विवेचन किया गया है। इन भक्तों के कर्म का फल केवल भगवत्प्राप्ति है। जब इन जीवों मे आसक्ति अथवा अहंकार का समावेश हो जाता है, उस समय भग[illegible] के मिश्र-भाव को मिटाने के लिए तथा शुद्ध प्रेमी बनाने के लिए शाप भी दिला देते है; परन्तु फिर भी वे जीव लोक, वेद और भक्ति-मार्ग के विरुद्ध नही होते तथा न ही वे रोगादि ग्रस्त होते है, प्रवाही-जीव आसुरी-जीव भी कहलाते है। इनके भेद है—अज्ञ और दुर्ज्ञ। इन जीवों की मुक्ति सत्संग अथवा भक्ति द्वारा ही सम्भव है। पुष्टि-मार्गीय जीव तो प्रवाह मे आकर इन जीवों से नही मिलते और मर्यादा-मार्गीय जीव भी इनसे पृथक् रहते है।[2]

इस प्रकार जीव-सृष्टि का वर्णन करके वल्लभाचार्य जी ने 'सिद्धान्त-रहस्य' नामक ग्रन्थ में भक्ति-मार्ग का रहस्य प्रकट किया है। इसमे उन्होंने बताया है कि आत्म-निवेदन रूपी ब्रह्म-सम्बन्ध-दीक्षा से ही समस्त दोषों की निवृत्ति होती है और प्रभु सेवा करने की योग्यता प्राप्त होती है। यह आत्म-निवेदन जीव का सहज परमधाम है। जीव बहुत काल से भगवान् से विमुक्त होकर अहंता-ममता से प्राप्त हो अपने परम स्वामी को भूलकर दुःखी रहता है और फिर भगवदनुग्रह से ही भगवत्प्रदत्त समस्त पदार्थ भगवदर्पण कर सुखी रह सकता है। समर्पण के बिना दोष निवृत्ति सम्भव नही : ब्रह्म-सम्बन्ध दीक्षा लेकर प्रभु-सेवा-परायण रहना, असमर्पित वस्तु का परित्यग करना एवं अर्द्धभुक्त वस्तु ठाकुर जी को निवेदित न करना; इत्यादि मर्यादाओं का पालन उचित है।

---

१ द्वौ भूतसर्गावित्युक्तेन प्रवाहिऽपि व्यवस्थितः।
वेदस्य विद्यमानत्वात्यमर्यादापि व्यवस्थिता।
कश्चिदेव हि भक्तो हि या मद्भक्त इतीरणात्।
सर्वत्रोत्कर्ष कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चय। पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा श्लोक ३, ४

२ देखिये आचार्य वल्लभ कृत 'पुष्टि,प्रवाह-मर्यादा'

यही पुष्टि-मार्ग की मर्यादा है। जिस प्रकार गंगाजल मे मिलने से सब प्रकार के जल की मलिनता एवं अपवित्रता नष्ट होकर वह गगा-जलस्वरूप हो जाता है, उसी प्रकार आत्म-निवेदन रूप शरणागति के अनन्तर जीव के गुण-दोषादि ब्रह्ममय हो जाते है। इसलिये आचार्य जी ने 'नवरत्न' नामक ग्रन्थ मे लिखा है, "जिन भक्तों ने आत्मसहित आत्मीयवस्तुओ को भगवदर्पण कर दिया है, वे भगवान् के अनुग्रह मे स्थिर हो चुके हैं और उन्हें किसी प्रकार की चिन्ता नही करनी चाहिए।" पुष्टि-मार्ग मे मन्त्र, जप आदि गौण है, क्योंकि इनकी आवश्यकता तो उन्ही आचार्यों को होती है, जिन्हें अपने शिष्यो को 'मन्त्र' देने पडते है। वैष्णवों के लिए तो स्मरण, निवेदनादि ही मुख्य है। आत्म-निवेदन करने के पश्चात् जीव को निश्चिन्त हो जाना चाहिये। ऐसे जीव भगवत्कृपा से आसक्ति-मुक्त हो जाते है, लोक और वेद के कार्य तो उन्हे केवल साक्षी रूप से करने चाहिए। सब प्रकार से सब स्थितियों में श्रीकृष्ण को ही समक्ष मानकर पुष्टि-भक्तो को कार्य करना चाहिए :

तस्मात्सर्वात्मिना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम।
वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः।[1]

भक्ति की पुष्टि के लिये आचार्य जी ने 'विवेक धैर्याश्रम' नामक ग्रन्थ मे विवेक, धैर्य और आश्रय की व्याख्या की है। भगवान् की सेवा करते समय भक्त को यह भावना रखनी चाहिये कि हरि को सर्वत्र सब वस्तुएँ प्राप्त हैं तथा उनमे सब वस्तुये देने की सामर्थ्य है। श्रीहरि अपनी अथवा अपने भक्तों की इच्छा से ही सब कुछ करेंगे, इसी का नाम विवेक है। धन के संकोच में ऋण आदि लेकर भगवान् की सेवा का आग्रह न करना तथा श्रुति-स्मृति-विहित भागवत-धर्म के बलाबल को विचार कर अपने अधिकारानुसार कार्य करना विवेक है। म[illegible]त सर्वदैव आधिभौतिक आध्यात्मिक, आधिदैविक—तीनों प्रकार के दुःखों को सहन क[illegible]ा धैर्य है। शरीर में मोह न करना, इन्द्रियों का दमन करना, भगवान् की सेवा के लिये भाई-बन्धु, पुत्रादि द्वारा अपमान तक सहना भक्त का कर्तव्य है। प्रभु मे सब प्रकार से विश्वास करना, सब काल एवं परिस्थितियों मे वही रक्षक है, यह भावना रखना और मुख से इसी प्रकार के वचनों का उच्चारण करना चाहिये। इस प्रकार सब प्रकार से हित-साधक भगवान् कृष्ण ही आश्रय है। विशेषकर कलियुग मे, जबकि वेदोक्त मार्ग लुप्त हो गये है और गंगा आदि तीर्थों का महत्व कम हो गया है।

'भक्ति-वर्द्धनी' नामक पुस्तक मे आचार्य जी ने पुष्टि-मार्गीय भक्ति की वृद्धि के उपाय बतलाए है। भगवान् के अनुग्रह से प्रेम की उत्पत्ति एवं दृढ़ता, तदनन्तर श्रवण, कीर्तन आदि के द्वारा भक्ति की वृद्धि होती है। गृहस्थाश्रम मे रहकर वर्णाश्रम-धर्म का पालन एवं श्रवण-कीर्तन द्वारा श्रीकृष्ण की तनुजा तथा वित्तजा सेवा करनी चाहिए। वर्णाश्रम-धर्म-पालन के असामर्थ्य के कारण श्रवण-कीर्तन को नही छोड़ना चाहिए, क्योंकि इसी से प्रभु प्रेम की दृढ़ता आसक्ति तथा व्यसन होते हैं। व्यसन होने के अनन्तर ही भक्त को फलरूपा भक्ति प्राप्त होती है, जिससे भक्त घर-गृहस्थी को त्यागकर भगवान् की सेवा मे तत्पर होगा और पवित्र वैष्णव-तीर्थो मे वास करने लगेगा। यदि गृह-त्याग के पश्चात् हरि-स्थान में रहने मे प्रभु-प्रेम मे कोई प्रतिबन्ध दीख पड़े तो भक्त को घर नही छोडना चाहिये। इस प्रकार पुष्टि-मार्ग मे आचार्य जी ने गृह-त्याग आवश्यक

---

१ षोडश ग्रन्थ, सिद्धान्त रहस्य, श्लोक ६

नही बताया है। संन्यास-निर्णय मे उन्होंने इस बात की ओर भी पुष्टि की है और साधन-सम्पत्ति के लिए संन्यास को आवश्यक नही बताया है यदि उन्होने किन्ही अंशो मे संन्यास का पोषण किया है, तो केवल भगवद्-विरह के अनुभवार्थ।

"विरहानुभवार्थं तु परित्यागः सुखावहः।
स्वीया-बंध-निवृत्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा।"[1]

अर्थात्—भगवान् के विरह का अनुभव करने के लिए गृहादि-त्याग उत्तम है और यदि इसलिए कोपीन, दण्ड, कमण्डलु आदि धारण करने पड़े, जिससे स्त्री-पुत्रादि का बन्धन दूर हो जाय तो यह वेष भी धारण करने योग्य है, अन्यथा नही। ज्ञानमार्ग में आचार्य जी ने संन्यास की महत्ता अवश्य अंगीकार की है परन्तु आगे चलकर उसका भी निषेध कर दिया है। वे लिखते है :

ज्ञान च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम्।
अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा।
पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञानेन सन्यसेत्।
सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितम्।[2]

अर्थात्—वेद मे चित्तशुद्धि के लिए भी निष्काम यज्ञादि करने की आज्ञा है, इसलिये ज्ञान-मार्ग मे भी साधन की अपेक्षा है। कलियुग मे वे साधन पूर्ण होने कठिन है, इसलिये सन्यास केवल पश्चात्ताप-फल ही देने वाला है। फिर कलियुग में बहुत से दोषों के कारण सन्यासी को पाखण्डी होने का भय है, इसलिये ज्ञान-मार्ग में भी संन्यास निषिद्ध है। भक्ति-मार्ग का संन्यास तो दूसरे ही प्रकार का है। वह केवल भगवत्प्रेम स्वरूप है और प्रभु के विरह की भावना का उन्नायक है। पुष्टि-भक्ति में निरोध का बड़ा महत्व है। स्त्री-पुत्रादि को भूलकर प्रभु के प्रति आसक्ति ही निरोध है [illegible]खात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार की हो सकती है; अर्थात्—संयोग मे सुखात्मक [illegible] वियोग मे दुःखात्मक। निरोध के विषय मे आचार्य जी कहते हैं—

अह निरुद्धो रोधेन निरोधपदवी गतः।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते॥[3]

अर्थात्—जो जीव भगवान् के द्वारा निरुद्ध है—भगवान् ने अपनाये है—वे अहर्निश उसी का गुण-गान करते हुए आनन्द मग्न रहते है; और जिन जीवों की भगवान् उपेक्षा करते है, वे अहता, ममता, रूप संसार सागर में डूब कर जन्म-मरण आदि के प्रवाह मे पड़े रहते हैं। इसलिए भगवान् का स्वरूप ही ध्यान मे रखना चाहिये और उन्ही के गुणों का श्रवण-कीर्तन आदि करते रहना चाहिये। यह ही निरोध का सबसे बड़ा मन्त्र है।

पुष्टि-मार्ग में प्रभु-सेवा को ही लक्ष्य माना गया है। पुष्टि-मार्ग मे जहाँ कही पूजा का उल्लेख है, वहाँ वेदोक्त अथवा तन्त्रोक्त पूजा न समझकर पुष्टि-मार्गीय सेवा-विधि समझनी चाहिये, जिसके दो रूप हैं—क्रियात्मक और भावनात्मक। माहात्म्य-ज्ञान-पूर्वक प्रभु से अनन्य प्रेम करना ही पुष्टि-भक्ति का मूल मन्त्र है—

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ़ः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्य था।[4]

---

१ सन्यास-निर्णय, श्लोक ७
२ वही, श्लोक १५, १६
३ निरोध लक्षण, १०
४ त० दी० नि० शास्त्रार्थ प्रकरण, ज्ञानसागर बम्बई, श्लोक ४६, पृ० १२७

अर्थात्—भगवान् के प्रति माहात्म्य-ज्ञान-पूर्वक सर्वाधिक दृढ़ स्नेह ही भक्ति है और उसी से मुक्ति की उपलब्धि हो सकती है, अन्य प्रकार से नहीं। दूसरे, यह भक्ति केवल प्रभु के अनुग्रह से ही प्राप्त होती है। तीसरे, इस भक्ति मे ब्रह्म-सम्बन्ध अथवा आत्म-निवेदन का विशेष महत्व है, जिसके द्वारा भक्त को भगवान् का अनुग्रह प्राप्त होता है और संसार की अहंता-ममता भी टूट जाती है। चौथे, नवधा-भक्ति का भी पुष्टि-मार्ग में महत्व है, परन्तु प्रभु-कृपा की प्राप्ति के पूर्व ही और इन नौ प्रकार के साधनों में भी आत्म-निवेदन सर्वोपरि है। पाँचवें, वल्लभाचार्य के मत मे सेवा का बड़ा महत्व है और तनुजा, वित्तजा तथा मानसिक सेवाओं मे मानसिक सेवा ही सर्वश्रेष्ठ है।

श्रीमद्भागवत में पुष्टि-तत्व

वल्लभाचार्य जी ने श्रीमद्भागवत को वेद, सूत्र और गीता की भाँति ही प्रमाण माना है, और अपने सभी सिद्धान्त-ग्रन्थों मे भागवत का आधार लिया है। पुष्टि भक्ति का नामकरण भी उन्होंने भागवत के आधार पर ही किया है, यह हम पहले लिख चुके है। 'सिद्धान्त रहस्य' नामक ग्रन्थ की विवृत्ति में हरिराय जी ने लिखा है कि पुष्टि, मर्यादा और प्रवाह-भेद से भक्ति तीन प्रकार की होती है। इनमे प्रवाह-भक्ति तो वेद और पुराणों से प्रतिपादित हुई है, शेष मर्यादा और पुष्टि भक्ति के निरूपण के लिए श्रीमद्भागवत ग्रन्थ का प्रादुर्भाव हुआ और इसलिए भगवान् का व्यासावतार हुआ। अभिप्राय यह है कि श्रीमद्भागवत मे मर्यादा-भक्ति और पुष्टि-भक्ति का विवेचन हुआ है। मर्यादा-भक्ति का फल है प्रभु-स्नेह, जो पुष्टि-भक्ति का आधार है। श्रीमद्-भागवत में पुष्टि-भक्ति का विवेचन छठे स्कन्ध में हुआ है। भगवान् का अनुग्रह गूढ़ होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं है, इसलिए लोक मे व्यक्ति विशेष को उत्तम [illegible] प्राप्ति देखकर उसकी कल्पना की जाती है। भागवत के छठे स्कन्ध में इस भगवदनुग्रह का [illegible]त वर्णन है। भागवत में भगवान् ने अनेक स्थलों पर अपने आपको भक्त के आधीन बताया है। नवम स्कन्ध में भगवान् नारद से कहते है, "हे नारद, मैं अस्वतन्त्र की भाँति भक्त के अधीन हूँ।" पुष्टि-मार्ग मे भी भक्ति को ही सर्वोपरि माना है। वल्लभाचार्य जी ने 'तत्व-दीप-निबन्ध' के भागवतार्थ-प्रकरण मे सब स्कन्धों और अध्यायों को प्रकरणों मे विभाजित किया है और उसके भाँति-भाँति के अर्थ किये है। छठा स्कन्ध 'पुष्टि-स्कन्ध' बताया है और उन्होंने अपनी पुष्टि-भक्ति का सूत्र इसी स्कन्ध से ग्रहण किया है। इस स्कन्ध में १९ अध्याय है और प्रत्येक अध्याय मे पुष्टि-मार्ग के सिद्धान्तों का किसी न किसी प्रकार से विवेचन है। प्रथम अध्याय मे ही शुकदेव जी ने नौ साधनों के द्वारा मन, वाणी और शरीर के द्वारा किये गए पापों का क्षय बतलाया है, परन्तु आगे वे कहते है—

"भगवान् की शरण मे रहने वाले भक्तजन, जो विरक्त होते है, भक्ति द्वारा ही अपने पापो को ऐसे भस्म कर देते हैं, जैसे कुहरे को सूर्य। पापी मनुष्य की जैसी शुद्धि भगवान् को आत्म-समर्पण करने और उनके भक्तो का सेवन करने से होती है, वैसी तपस्या आदि के द्वारा नही होती। संसार मे यह भक्ति-पथ ही भय-रहित और कल्याण-स्वरूप है, क्योंकि इस मार्ग पर भगवत्परायण सुशील साधुभजन चलते है।[1] पुष्टि-भक्ति का भी यही तत्व है। अजामिल का आख्यान भागवत मे भवन्नाम-महिमा से पाप-नाश होने के उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

---

१ भागवत ६। १। १५, १६, १७

दूसरे अध्याय मे सत्संग, भगवत्-संकीर्तन आदि का फल बताया है। फिर तीसरे अध्याय में शुकदेव जी परीक्षित से कहते हैं, "हे परीक्षित, बड़ी से बड़ी पाप-वासनाओ को भी निर्मूल करने वाला प्रायश्चित्त यही है कि—भगवान् के गुणों, लीलाओं और नामो का कीर्तन किया जाय, इसी से हृदय मे प्रेमरूपी भक्ति का उदय होता है और उस भक्ति से जैसी आत्म-शुद्धि होती है, वैसी चान्द्रायण आदि व्रतों से भी नहीं होती।[1]

छठे स्कन्ध में पुष्टिमार्गीय भक्ति के तत्व का निरूपण करने वाला उपाख्यान इन्द्र और वृत्रासुर का है। भगवान् की कृपा से ही इन्द्र की रक्षा हुई और दिति का गर्भ नष्ट नही हुआ। इस स्कन्ध के एकादश अध्याय में इन्द्र के साथ युद्ध करते हुए वृत्रासुर ने भगवान् का प्रत्यक्ष अनुभव किया और उनसे प्रार्थना की। वृत्रासुर की प्रार्थना के चार श्लोक पुष्टि-सम्प्रदाय में बड़े महत्व के हैं, क्योंकि पुष्टि-भक्ति का समग्र आधार ये चार श्लोक मान जाते है, जिनका साधारण अर्थ इस प्रकार है, वृत्रासुर भगवान् से प्रार्थना करते है—

"हे प्रभो, आप मुझ पर ऐसी कृपा कीजिए कि अनन्य भाव से आपके चरण-कमलों के आश्रित सेवकों की सेवा करने का अवसर मुझे अगले जन्म मे भी प्राप्त हो। मेरा मन आपके मंगलमय गुणों का स्मरण करता रहे। मेरी वाणी उन्ही का गान करे और मेरा शरीर आपकी सेवा में ही संलग्न रहे। मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मलोक, भूमण्डल का साम्राज्य, रसातल का एकच्छत्र राज्य, योग की सिद्धियाँ—यहाँ तक कि मोक्ष भी नही चाहता। जैसे पक्षियों के पंखहीन बच्चे अपनी माँ की बाट जोहते रहते है और भूखे बछड़े अपनी माँ का दूध पीने के लिए आतुर रहते हैं, और जैसे वियोगिनी पत्नी अपने प्रवासी प्रियतम से मिलने के लिए उत्कण्ठित रहती है, वैसे ही [illegible]ल-नयन, मेरा मन आपके दर्शन के लिये छटपटा रहा है। प्रभो मै मुक्ति नहीं चाहत[illegible]र्मों के फलस्वरूप मुझे बार-बार जन्म-मृत्यु के चक्कर मे भटकना पड़े, इसकी परवाह नही, परन्तु मैं जहाँ-जहाँ जाऊँ, जिस-जिस योनि में जन्मूँ, वहाँ-वहाँ भगवान् के प्यारे भक्त-जनो से मेरी प्रेम-मैत्री बनी रहे। स्वामिन्, मैं केवल यही चाहता हूँ कि जो लोग आपकी माया से देह-गेह और स्त्री-पुत्र आदि में आसक्त हो रहे हैं, उनके साथ मेरा कभी किसी प्रकार का भी सम्बन्ध न हो।"[2]

पुष्टि-मार्ग में इन श्लोकों को भगवत्कृपा के फल बतलाने वाले कहते है। भगवान् की पुष्टि-लीलाओं का वर्णन इसी स्कन्ध में है। ये चार श्लोक वृत्रासुर-चतुःश्लोकी के नाम से कहे जाते है। इन चारों श्लोकों में पुष्टि-मार्गीय धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का वर्णन है। प्रथम, द्वितीय और तृतीय स्कन्ध की व्याख्या करके जब वल्लभाचार्य दशम स्कन्ध की व्याख्या करने लगे, तो उन्होंने उससे पहले श्रीमद्भागवत मे पुष्टि-तत्व का विवेचन आवश्यक समझा। उन्होंने एक कारिका लिखी, "पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यम्" आदि। अर्थात्—पुष्टि-मार्ग मे भगवान् का दास्य ही सर्वप्रधान है। इसी कारिका के आधार पर इन चारों श्लोकों की सुबोधिनी मे व्याख्या की गई है। इस सुबोधिनी पर भी श्री हरिराय जी ने तथा श्री वल्लभ गोस्वामी जी ने टिप्पणियाँ की है और इसी चतुःश्लोकी पर श्री पुरुषोत्तम जी का 'प्रकाश' है। चतुःश्लोकी से पहले वृत्रासुर ने इन्द्र से कहा है, "हे इन्द्र, जिस पक्ष में भगवान् श्री हरि रहते है—उधर ही विजय, लक्ष्मी और सारे गुण निवास करते हैं। जो पुरुष भगवान् से अनन्य प्रेम करते है, वे उनके निज-जन है। वे

१ भागवत ६।३।३१, ३२

२ भागवत-षष्ठ स्कन्ध, अध्याय १२, श्लोक २४ से २७

उन्हें स्वर्ग, पृथ्वी अथवा रसातल की सम्पत्तियाँ नहीं देते, क्योंकि उनसे परमानन्द की उपलब्धि तो होती ही नही—उलटे द्वेष, उद्वेग, अभिमान, मानसिक पीडा, कलह, दुःख और परिश्रम ही हाथ लगते है। हमारे स्वामी अपने भक्त के लिए धर्म एवं काम-सम्बन्धी प्रयास को व्यर्थ कर दिया करते हैं और सच पूछो तो इसी से भगवान् की कृपा का अनुमान होता है, क्योंकि उनका ऐसा कृपा-प्रसाद अकिंचन भक्तों के लिए ही अनुभवगम्य है, दूसरों के लिए अत्यन्त दुर्लभ है।"[1]

इसके पश्चात् वह चतुःश्लोकी है, जो पुष्टि-मार्ग की सिद्धान्त-सूचिका कही जा सकती है। इसमें हरिकृपा का फल बताया है। इन चार श्लोकों मे पहले श्लोक मे पुष्टि-भक्ति-मार्गीय धर्म का निरूपण है। इसमे हरिनाम-स्वरूप-स्मरण, हरिगुण कीर्तन, तथा प्रेम-सेवा—इन तीनों कर्मों की प्रार्थना की गई है और यह सूचित किया गया है कि भक्त को दास-भाव से स्वीकार करने में हरि की कृपा ही साधन है। वृत्रासुर ने इस लोक में अपना दैन्य प्रकट करके अपने को दास्य-भक्ति का उत्तराधिकारी बताया है।

दूसरे श्लोक मे पुष्टि-मार्गीय अर्थ का निरूपण किया गया है। प्रकृति के सत्व, रज और तम—तीन गुण होते है। इसलिए इन तीनों के आधार पर लौकिक और वैदिक अर्थ तीन-तीन प्रकार के होते हैं। ये छः प्रकार के लौकिक और वैदिक ऐश्वर्य ही भगवान् के ऐश्वर्यादि छः गुण है। तीन लौकिक ऐश्वर्य ये है—सत्व-प्रधान स्वर्ग, रजोगुणवती पृथ्वी तथा तमः प्रधान रसातलादि। वैदिक ऐश्वर्य इस प्रकार है—शुद्ध तत्वसाध्य मोक्ष, रजोगुण साध्य ब्रह्मलोक, तथा तमोगुण साध्य योग-सिद्धि। वृत्रासुर ने इस श्लोक में छओं प्रकार के ऐश्वर्यो का निरादर किया है। ये लौकिक और वैदिक ऐश्वर्य, सुखभोग भगवान् के एक-एक गुण के बिन्दुमात्र अंश स्वरूप हैं। भगवान् सर्वात्मा हैं और ऐश्वर्यादि षड्-गुणों से पूर्ण हैं, इसलिए लौकिक और वैदिक ऐश्वर्य भगवान् के सामने हेय हैं।

तृतीय श्लोक मे पुष्टि-मार्गीय काम की प्रार्थना की है। पुष्टि-मार्गीय काम का यह स्वरूप है कि मन में सदा श्रीपति के सौन्दर्य-दर्शन की इच्छा बनी रहे। यहाँ वृत्र ने तीन दृष्टान्तों से इसकी पुष्टि की है। इनमें दो दृष्टान्त लौकिक रीति से सम्बन्ध रखते है और तीसरा दृष्टान्त लौकिक और भक्ति-रस शास्त्रोक्त रीति से सम्बन्ध रखता है, क्योंकि तीसरा दृष्टान्त उपाधि-रहित तथा अन्याश्रय-रहित है और केवल एक शृङ्गार रस-रूप अपने प्रिय की ही कामना से सम्बन्ध रखने वाला है। यही दृष्टान्त अलौकिक प्रभुस्वरूप मे घटता है। पक्षियों के पक्षहीन बच्चों का दृष्टान्त तथा भूखे बछड़ों का दृष्टान्त लौकिक काम को प्रकट करता है। परन्तु पुष्टि-मार्गीय भक्त के प्रभु शृङ्गार रस-स्वरूप है, इसलिए तीसरा दृष्टान्त ही प्रभुस्वरूप सम्बन्धी अलौकिक कामना का दृष्टान्त कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त तीसरे दृष्टान्त मे एक-वचन का प्रयोग किया है, इसलिए वह भगवान् में ही घटता है। चतुर्थ श्लोक में पुष्टि-मार्गीय मोक्ष का निरूपण है। इस श्लोक मे गौण और मुख्य भेद से दो प्रकार का मोक्ष बताया है। श्लोक के पूर्वार्द्ध मे पुष्टि-मर्यादा-मोक्ष का अर्थ बताया गया है। इसका अन्वय वल्लभाचार्य जी ने इस प्रकार किया है।

"हे नाथ, स्वकर्मभिः संसारचक्रे भ्रमतः मम उत्तमश्लोकजनेषु सख्यं भूयात्। आत्माऽऽत्मजदारगेहेषु आसक्तचित्तस्य मम उत्तमश्लोक जनेषु सख्यं न भूयात्।"

इस श्लोक के उत्तरार्द्ध मे पुष्टि-पुष्ट मोक्ष का वर्णन है। उसका अन्वयार्थ इस प्रकार है :

---

१ भागवत—षष्ठ स्कन्ध, अध्याय ११, श्लोक २१, २२, २३

"हे नाथ, त्वन्मायया आत्माऽऽत्मजदारगेहेषु उत्तमश्लोक जनेषु आसक्तचित्तस्य मम आत्माऽऽत्मजादिषु सख्य भूयात् । किन्तु स्वकर्मभिः ससारचक्रे भ्रमतो मम आत्माऽऽत्मजादिषु सख्यं न भूयात् ।"

इस श्लोक की सुबोधिनी व्याख्या बड़ी कठिन है। इसलिए श्री हरिराय जी की टिप्पणी तथा श्री पुरुषोत्तम जी का 'प्रकाश' इस श्लोक पर विस्तार के साथ लिखे गए है। वल्लभाचार्य ने इन्ही श्लोकों के आधार पर पुष्टि-मार्गीय धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के स्वरूप को इस कारिका में स्पष्ट किया है :

"पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोऽर्थो हरिरेव हि।
कामो हरेर्दिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्य चेद्ध्रुवम् ॥"[1]

अर्थात्—पुष्टि-मार्ग में ब्रजाधिपति श्रीकृष्ण की सर्वात्मभाव से सदा सेवा करना ही परमधर्म है, अन्य कोई धर्म कर्त्तव्य नही। यही धर्म है, यही काम है और यही मोक्ष है।

इसी प्रकार श्रीमद्भागवत के षष्ठ स्कन्ध मे परिकर-सहित पुष्टि के स्वरूप का वर्णन किया गया है। श्रीमद्भागवत की सुबोधिनी में आचार्य वल्लभ ने भागवत की पुष्टि-मार्गीय भक्ति का विवेचन किया है और उसकी टीका उन्होंने पुष्टि-मार्ग के तत्वों का विवेचन करने के लिये ही की है। श्रीमद्भागवत की भक्ति का विवेचन हम पीछे कर चुके है। उस भक्ति के स्वरूप मे पुष्टि-मार्ग के सभी तत्व आ जाते है। आगे चलकर पुष्टि-मार्ग के आचार्यो ने सम्प्रदाय के सभी सिद्धान्तों की सगति श्रीमद्भागवत से ही लगाई है और इसलिए पुष्टि-सम्प्रदाय में भागवत की बहुत मान्यता है। आचार्य जी ने 'तत्वदीप-निबन्ध' में भागवत की उपयोगिता और श्रेष्ठता पर विशेष प्रकाश डाला है।

पुष्टि-मार्गीय सेवा

पुष्टि-सम्प्रदाय मे सेवा का बड़ा महत्व है और वास्तव मे सेवा-विधि सम्प्रदाय की अपनी मौलिकता है। सेवा के महत्व पर वल्लभाचार्य जी ने स्थान-स्थान पर लिखा है। 'सिद्धान्त-मुक्तावली' में, जैसा कि हम पहले कह चुके है, आचार्य जी ने लिखा है :

"कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परामता।"[2]

अर्थात्—कृष्ण की सेवा करनी चाहिये, सेवा वह मानसी होनी चाहिये, जो परा; अर्थात्—फल स्वरूपा है। फिर दूसरे श्लोक में सेवा का स्वरूप बतलाते हुए आचार्य जी कहते है, कि 'चेतस्तत्प्रवणं सेवा', अर्थात्—'हरि में चित्त का पिरोना ही सेवा है।' यह सेवा तन से और धन से करनी चाहिये। इससे अहंता, ममता-स्वरूप संसार की निवृत्ति और भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान होता है। फिर सत्रहवे श्लोक मे आचार्य जी कहते हैं कि—'पुष्टि-मार्गीय भक्त को शुद्ध सेवा-भाव मे युक्त होकर भगवान् के पूजोत्सवादि के स्थान पर रहना चाहिये।'[1] इस प्रकार सेवा का महत्व वल्लभाचार्य जी ने स्थान-स्थान पर दिखाया है। उनके 'सेवाफल' नामक ग्रन्थ मे सेवा के तीन फल बतलाये है, अर्थात्—सेवा एक है, और फल तीन हैं। इसलिये सेवा के भी तीन प्रकार हैं। जो जिस प्रकार की सेवा करेगा, उसको वैसा ही फल प्राप्त होगा। वल्लभाचार्य जी लिखते हैं :

---

१ सुबोधिनी, दशम स्कन्ध

२ सिद्धान्त मुक्तावली, १

'यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।'[1]

सर्वोत्तम सेवा से प्रभु की अलौकिक सामर्थ्य से गौण और मुख्य सभी कामनाशादि फल प्राप्त होते हैं। मध्यम प्रकार की सेवा का फल सायुज्य है। सायुज्य के दो अर्थ है—१—प्रभु मे ऐक्य होना, और २—प्रभु के साथ गोप-पार्षद की तरह सहयोग। तीसरे प्रकार की सेवा से अधिकार-फल की प्राप्ति होती है। सेवोपयोगी अक्षरात्मक देह को अधिकार-फल कहते है। सेवा के समय यदि विघ्न उपस्थित हो और लौकिक भागो में आसक्ति बनी रहे, तो उन्हे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि प्रयत्न करने पर भी विघ्न दूर न हो, तो समझ लेना चाहिये कि प्रभु ही हमे फल देना नही चाहते है। ऐसी अवस्था मे भागवतादि का आश्रय लेकर ज्ञान-मार्ग मे ही रहना श्रेयस्कर है अथवा यह समझ लेना चाहिये कि अभी प्रभु संसार मे ही रखना चाहते हैं। प्रभु जिस प्रकार से रखें, उस प्रकार से रहना भक्त का धर्म है।[2]

पुष्टि-मार्गीय सेवा के विषय पर हरिराय जी ने विशेष प्रकाश डाला है। श्री हरिराय मुक्तावली मे हरिराय जी लिखते है, "तीन प्रकार की प्रभु-सेवा मे मानसी सेवा ही फल-रूपिणी है और जो निरोध-रूपा भी है तथा वह ब्रज भक्तों मे दिखाई देती है।[3] हरिराय जी ने मानसी सेवा को भावात्मक माना है। शारीरिक सेवा में भक्त अपना शरीर भगवान् के लिये अर्पण करता है और वित्तजा में वह अपनी धन-सम्पत्ति को भगवान के अर्पण कर देता है, परन्तु मानसी सेवा के विषय मे हरिराय जी लिखते है—

वाह्यास्फूर्तौ वियोगेन रसे हृदयदेशगे।
रसात्मकप्रभोस्तत्र प्रादुर्भावःस्वतो भवेत्।[4]

अर्थात्—जब भक्त के हृदय में भगवान् से मिलने की विकलता के कारण विप्रयोग उत्पन्न होता है, तब प्रभु हृदय में सम्पूर्ण लीला का अनुभव कराते हैं और फिर स्वतः ही रसात्मक प्रभु का प्रादुर्भाव हृदय में हो जाता है। इसी ग्रन्थ में हरिराय जी ने आगे लिखा है कि सेवा दो प्रकार की होती है—एक त्याग से और दूसरी अत्याग से। अत्याग वाली सेवा मे भक्त धर्मानुसार अनासक्त भाव से गृहस्थाश्रम का पालन करता है और यथायोग्य प्राप्त द्रव्य से भगवान् की पूजा करता है। सेबा और पूजा; दोनो का भेद भी हरिराय जी ने स्पष्ट किया है—

सेवायां लौकिकी युक्तिस्तथा स्नेहो नियामकः।
पूजाया तु विधिः स्नेहविरुद्ध इति निश्चयः।[5]

अर्थात्—सेवा मे स्नेह के साथ लौकिक युक्ति से परिचर्या होती है तथा पूजा मे शास्त्रानुकूल अर्चना की जाती है इसलिए दोनो मे अन्तर है। सेवा का एक अंग गुरु-सेवा भी माना गया है। हरिराय जी ने सेव्यं के लक्षण बतलाए है कि वह भक्तिमार्ग का अनुसरण करने वाला हो, कृष्ण-सेवा-परायण हो, भागवत के तत्व को जानने वाला हो तथा दम्भ इत्यादि से रहित हो। इस प्रकार हरिराय जी ने स्वमार्गीय सेवाफल, स्वरूप-निर्णय तथा स्वमार्गीय शरण समर्पण, सेवादि-निरूपण मे सेवा के स्वरूप का पूरा विवेचन किया है। श्री वल्लभाचार्य जी का सेवा-विधि पर

---

१ सेवाफल, १

२ शेनाफल, षोड्श-ग्रन्थ, रामनाथ शास्त्री

३ स्वर्गीय सेबाफल रूप निर्णय, श्रीहरिराय वाड्मुक्तावली।

४ वही, श्लोक ५

५ वही, श्लोक ४८

कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ प्राप्त नही है। सेवा-विधि की सांगोपांग व्यवस्था गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने ही की, उन्होने वल्लभाचार्य जी के अन्तरंग शिष्य दामोदर हरसानी से सेवा-विधि का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया था। 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' मे यह बात विस्तार के साथ कही गई है। वल्लभाचार्य जी के समय मे श्रीनाथ जी की सेवा का विधि-विधान बहुत साधारण था। शृंगार केवल पाग और मुकुट के द्वारा होता था। विट्ठलनाथ जी ने आठ शृगारों की व्यवस्था की; अर्थात्—पाग, फेंटा, दुमाला, पागा, कूल्हे, सेहरा, पिटारा तथा मुकुट। इन शृङ्गारों के साथ भाँति-भाँति के वस्त्र और आभूषणों की भी व्यवस्था की गई और अनेक प्रकार के उत्सव भी प्रचलित हुए, जिनमे ठाकुर जी की झाँकी कराई जाती थी। भगवान् के स्वरूप के शृंगार के अतिरिक्त उनके भोग का भी विस्तार के साथ वर्णन हुआ। इसलिए अन्नकूट और छप्पन भोग जैसे उत्सव प्रचलित हुए। शृङ्गार और भोग के अतिरिक्त राग के विस्तार की भी व्यवस्था हुई। ऋतु एवं समय के अनुसार आठों झाँकियों में कीर्तन की व्यवस्था हुई, जिसके लिये उन्होंने अष्टछाप की व्यवस्था की। पुष्टि-सम्प्रदाय के प्रचार मे अष्टछाप का बड़ा महत्व है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध मे लिखा है—

हे स्तोक कृष्ण हे अंशिद् श्रीदामन् सुबलार्जुन।
विशालर्षभ तेजस्विन् देवप्रस्थ वरूथप ॥[1]

अर्थात्—श्रीकृष्ण के आठ प्रधान सखा थे। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने अष्टछाप के आठों कवियो को ठाकुर जी के आठों सखाओं के रूप में माना और आठों झाँकियों मे भगवान् की कीर्तन-सेवा करने का आदेश दिया। इन आठों कीर्तनकारों के साथ आठ-आठ झालरिया भी रहते थे। इस प्रकार पुष्टि सम्प्रदाय के साहित्य की गोस्वामी जी के काल में खूब वृद्धि हुई। अन्त समय में गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने श्रीकृष्ण की सात देव-मूर्तियों को जो उन्हें अपने पिताजी से सप्तनिधि के रूप में प्राप्त हुई थी। अपने सातों पुत्रों में विभाजित कर दिया, जिन्होंने उनकी पृथक-पृथक सेवा आरम्भ की। इन्हीं सात स्वरूपों के कारण पुष्टि-सम्प्रदाय के सात गृहों अथवा सात पीठों का नामकरण हुआ है। विट्ठलनाथ जी के पश्चात् श्री गोकुलनाथ जी और श्री हरिराय जी ने सेवा पद्धति का विस्तार से लेखन किया। हरिराय जी ने सेवा-विधि पर दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे, 'आह्निक' तथा 'भावना'। मथुरा निवासी मुखिया श्री रघुनाथ जी शिवजी ने श्री वल्लभ-सम्प्रदाय के पुष्टि-मार्गीय सातों घरों की सेवा-विधि का पूरा विवेचन 'श्री वल्लभ पुष्टि-प्रकाश' नामक ग्रन्थ में किया है। इस ग्रन्थ के चार भाग हैं और सभी प्राचीन ग्रन्थों से सहायता लेकर इसका संकलन किया गया है। सक्षेप मे पुष्टि-मार्गीय सेवा-विधि का क्रम हम इस प्रकार कह सकते हैं:

१—पुष्टि-मार्ग के अनुसार सेवा के दो प्रकार हैं—नाम सेवा और स्वरूप सेवा। स्वरूप सेवा तीन प्रकार की है—तनुजा, वित्तजा और मानसी। मानसी सेवा भी दो प्रकार की है—मर्यादा-मार्गीय और पुष्टि-मार्गीय। मर्यादा-मार्गीय मानसी सेवा में शास्त्रानुकूल मर्यादा-मार्ग पर चलते हुए भक्त भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा और आराधना करता हुआ अपनी अहंता और ममता को दूर करता है। इसमे पहले आत्म-ज्ञान की प्राप्ति आवश्यक है। पुष्टि-मार्गीय मानसी सेवा करने वाला प्रारम्भ से ही भगवान् के अनुग्रह की इच्छा करता है और शुद्ध प्रेम के द्वारा भगवान् की भक्ति करता हुआ भगवान् के अनुग्रह से ही सहज में अपने अभीष्ट को प्राप्त कर लेता है।

२—पुष्टि-सम्प्रदाय की सेवा का अभिप्राय साधारण उपासना अथवा पूजा नही है। साधारण उपासना मे तो श्रुति, स्मृति-विहित, कर्म-काण्ड करने का प्राधान्य होता है और पुष्टि-

---

१ भागवत, दशम स्कन्ध अध्याय २२, श्लोक ३१

मार्गीय सेवा में भावना का प्राधान्य। इसलिये इस सेवा के दो स्वरूप है—एक क्रियात्मक और दूसरा भावात्मक। पुष्टि मार्ग में क्रियात्मक सेवा पर भी पूरा बल दिया गया है।

३—पुष्टि-मार्गीय सेवा-विधि के दो क्रम है—नित्य सेवा-विधि तथा वर्षोत्सव की सेवा-विधि। प्रातःकाल से शयन पर्यन्त की नित्य सेवा-विधि और विशेष अवसरों पर की वर्षोत्सव की सेवा-विधि कही जाती है। नित्य सेवा-विधि में वात्सल्य भक्ति की ही प्रधानता है और उसके लिए आठ समय बताये गए है—(१) मंगला, (२) शृङ्गार, (३) ग्वाल, (४) राजभोग, (५) उत्थापन, (६) भोग, (७) संध्या आरती, और (८) शयन। वर्षोत्सव की सेवा-विधि मे श्रीकृष्ण के नित्य और अवतार-लीलाओं के उत्सव, छः ऋतुओं के उत्सव, लोक-व्यवहार वैदिक पर्वों के उत्सव तथा अन्य अवसरों की जयन्तियाँ सम्मिलित हैं।

४—नित्य और वर्षोत्सव; दोनों प्रकार की सेवा-विधियो के तीन मुख्य अङ्ग है—शृङ्गार, भोग और राग। साधरणतया मनुष्य इन्ही तीनों ससारिक विषयों मे फँसा रहता है। उनसे मुक्ति पाने लिए वल्लभाचार्य जी ने इन तीनों ही विषयों को भगवान् मे लगा देने का उपदेश दिया, जिससे ये भगवान् स्वरूप हो जायँ।

५—सेवा का मौलिक रूप वल्लभाचार्य जी ने बताया था, परन्तु उसकी व्यवस्था और विस्तार गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने किया। पुष्टि-मार्गीय सेवा के सेव्य श्रीकृष्ण है और श्रीनाथ जी को साक्षात् परब्रह्म माना गया है, क्योंकि श्रीनाथ जी में भगवान् श्रीकृष्ण के गोवर्द्धनधारी स्वरूप की भावना है। वल्लभाचार्य तथा गोस्वामी विट्ठलनाथ ने भगवान् के श्री नवनीत प्रिया स्वरूप को अपना आराध्य माना। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के अनन्तर भागवान् कृष्ण के सात और सेव्य-रूप सम्प्रदाय में प्रचलित हुए—(१) श्री मथुरेश जी, (२) श्री विट्ठलनाथ जी, (३) श्री द्वारकाधीश जी, (४) श्री गोकुलनाथ जी, (५) गोकुल चन्द्रमा जी, (६) बालकृष्ण जी, (७) मदन मोहन जी।

६—पुष्टि-सम्प्रदाय में जमुना जी का भी बड़ा महत्व है। वल्लभाचार्य जी ने 'यमुनाष्टक' में श्री यमुना जी के स्वरूप और माहात्म्य का वर्णन किया है। श्री यमुना जी ब्रज-जनों के चतुर्थ यूथ की स्वामिनी है। प्रभु का जो स्वरूप और उसमे जो गुण है, वे ही श्री यमुना जी मे माने गये हैं। वे प्रभु की परम प्रिया हैं, इसलिये यमुना जी को कृष्ण मे रति बढ़ाने वाली माना गया है।

सूरदास और पुष्टि-मार्ग

हम पहले कह चुके है कि पुष्टि-सम्प्रदाय के दो पक्ष है—सिद्धान्त-पक्ष, और सेवा-पक्ष। सिद्धान्त-पक्ष में ब्रह्म, जीव, जगत्, संसार, मोक्ष आदि का विवेचन होता है। वल्लभ-सम्प्रदाय मे उसे शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त कहा गया है। सेवा-पक्ष में तीन स्वरूप माने गए है—गुरु-सेवा, सन्त-सेवा और प्रभु-सेवा। गुरु-सेवा और सन्त-सेवा से सम्बद्ध पद सूरसागर में बहुत हैं। गुरु की आवश्यकता सूरदास ने अनिवार्य बतलाई है और गुरु का स्थान भक्ति-धर्म में अत्यन्त उच्च माना है। गुरु-भक्ति भगवद्-भक्ति का प्रधान लक्षण है। सूर कहते हैं—

नर तैं जनम पाइ कह कीनों।

× × × ×

श्रीमद्भागवत सुनि नहिं स्रवननि गुरु गोविन्द नहिं चीनों।[1]

---

१ सूरसागर (सभा) पद ६५

जनम तौ बादिहि गयौ सिराइ ।
हरि सुमरन नहिं गुरु की सेवा मधुवन बस्यौ न जाइ।[1]

सद्गुरु का उपदेश ही हृदय मे धारण करना चाहिये, क्योंकि वह सफल भ्रम का नाशक होता है—

सतगुरु कौ उपदेश हृदय धरि, जिन भ्रम सकल निवार्‌यौ ।
हरि भज विलम्ब छाडि सूरज सठ, ऊँचै टेरि पुकार्‌यौ ।[2]

संसार मे माया रूपी भुजङ्गिनी बडा उत्पात मचाये हुए है। इसने मनुष्यों को डसकर अपने तीक्ष्ण विष का घातक प्रभाव डाला है। कोई मंत्र काम नही कर सकता, केवल गुरु रूपी गारुडि कृष्ण रूपी मन्त्र के द्वारा विष को दूर कर सकता है—

अजहूँ सावधान किन होइ ।
माया विषम भुजंगिनी कौ विष उतर्‌यौ नाहिन तोहि ।
कृष्न सुमन्त्र जियावन मूरी, जिन जन मरत जिवायौ ।
बारम्बार निकट सुवननि ह्वै गुरु गारुडी सुनायौ ।[3]

पुरञ्जन की कथा के अन्त मे सूरदास जी ने गुरु-महिमा का उल्लेख किया है और कहा है कि 'अपनापन अपने में ही प्राप्त हुआ, 'सतगुरु' ने भेद बताया तो शब्दरूप ब्रह्म का शब्द से ही उजाला हो गया।[4] इन्द्र और वृत्रासुर कथा के अनन्तर भी सूर ने गुरु-महिमा का प्रतिपादन किया है, कवि कहता है कि हरि और गुरु एक ही स्वरूप हैं और गुरु के प्रसन्न होने से हरि प्रसन्न होते हैं। गुरु के बिना सच्ची कृपा करने वाला कौन है ? गुरु भवसागर में डूबते हुए को बचाने वाला और सत्पथ का दीपक है।[5] बाल-वत्स-हरण लीला के प्रसंग मे भी सूर ने गुरु के ऋण को स्वीकार किया है—

हरि-लीला अवतार पार सारद नहिं पावै ।
सतगुरु कृपा प्रसाद कछुक तातें कहि आवै ।[6]

रास-प्रसंग मे भी कवि ने गुरु के महत्व को स्वीकार किया है और जब अक्रूर को कृष्ण ने अपने अलौकिक रूप के दर्शन कराये है, उस समम भी कवि ने गुरु का ऋण स्वीकार किया है। इस प्रकार सूर ने गुरु-सेवा और सन्त-सेवा का, जो पुष्टि-मार्गीय सेवा के महत्वपूर्ण अंग हैं, विवेचन किया है। जहाँ तक प्रभु-सेवा का सम्बन्ध है, उसके दोनों ही रूप अर्थात्—नाम स्मरण और रूप-सेवा सूर मे मिल जाते हैं। स्वरूप-सेवा के भी क्रियात्मक और भावात्मक दोनों रूप सूरसागर में पाये जाते है। हम पहले कह आये हैं कि वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित होने के अनन्तर सूरदास जी निरन्तर रूप से गोवर्द्धन पर श्रीनाथ जी के मन्दिर मे कीर्तन करते रहे। इसलिये पुष्टि-मार्गीय सेवा का जितना विकसित रूप हमे सूर मे मिलता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। हमने यह भी कहा था कि पुष्टि-मार्ग मे क्रियात्मक सेवा भी दो प्रकार की होती है—तनुजा और वित्तजा। भावात्मक सेवा को ही मानसी सेवा कहा गया है, जिसका उद्देश्य कृष्ण मे ही अपने आप को पूर्णतया लगा देना है। पहले क्रियात्यक सेवा होती है, जिससे ब्रह्म-भावना में दृढ़ता और मानसिक सेवा की सिद्धि होती है। गुरु-सेवा, सन्त-सेवा, आत्म-निवेदन; ये सब क्रियात्मक सेवा के

१ सूरसागर (सभा) पद ११५
२ वही, पद ३३६
३ वही, पद ३७५
४ सूरसागर (सभा) पद ४०७
५ वही, पद ४१६-४१७
६ वही, पद ११९०

ही रूप है, क्योंकि कृष्ण-सेवा से पहले उनके गुण, स्वरूप और माहात्म्य का ज्ञान आवश्यक है, उसके लिये सेवा के इस क्रियात्मक रूप की आवश्यकता है। भक्त को गुरु और ईश्वर के प्रति अभेद बुद्धि होनी चाहिये और सूरदास की बुद्धि इस उत्कर्ष पर पहुँच चुकी थी। इसलिये अन्तकाल मे चतुर्भुजदास ने कहा है—"जो सूरदास जी परमभगवदीय है और सूरदास जी ने श्रीठाकुर जी के लक्षावधि पद किये है, परन्तु सूरदास जी श्री आचार्य जी महा-प्रभु कौ जस-बरनन नाही कियो है।" इसको सुनकर सूरदास जी ने कहा है—

"जो मैं तौ सगरौ जस श्री आचार्य जी कौ ही बरनन कियौ है, जो मै कछु न्यारौ करतौ। पर तैने भी सौ पूछी है, सो मै तेरे पास कहत हौ। सो या कीर्तन के अनुसार सगरे कीर्तन जानियौ। सो पद-राग विहागरौ—

भरोसौ दृढ़ इन चरनन केरौ।
'श्रीवल्लभ नखचन्द छटा बिनु सब जग माँह अँधेरौ।
साधन और नही या कलि मे, जासो होत निबेरौ।
सूर कहा कहै दुविधि आँधरौ बिना मोल को चेरौ।"[1]

इस प्रकार सूरदास ने गोवर्द्धनधारी भगवान् कृष्ण और गुरु के स्वरूप मे कोई भेद अंगीकार नहीं किया है। आत्म-निवेदन और शरणागति भी पुष्टि-सेवा के क्रियात्मक रूप है, जिनका वर्णन हम पहले कर चुके है। पुष्टि-मार्ग मे नित्य सेवा-विधि और वर्षोत्सव-विधि का बड़ा महत्व है। नित्य सेवा-विधि प्रातःकाल से लेकर शयनपर्यन्त तक की होती है, जिसके आठ समय होते है, जिनका उल्लेख हम पहले कर आये है। हमने पीछे सूरसागर के दो संस्करणों का उल्लेख किया है—संग्रहात्मक तथा द्वादश स्कन्धात्मक का। आजकल जितने कीर्तन संग्रह प्राप्त है, वे प्रायः संग्रहात्मक रूप में मिलते है जिनमें अष्टछाप के कवियो के कीर्तन-पदों का सग्रह, आठों झाँकियों के क्रम से दिया है। सूरसागर का संग्रहात्मक संस्करण भी प्रायः इसी क्रम पर है, जिसकी सूची हम दूसरे प्रकरण में दे चुके है। सूरदास जी के लिखे हुए सेवाफल नामक एक पद का भी उल्लेख मिला है, जिसे डा० दीनदयालु गुप्त ने सूरकृत ही माना है। हम इस पद को ज्यों का त्यो उद्धृत करते हैं—

भजो गोपाल भूलि जिनि जावौ, मनुषा देह कौ यहि है ल्हावौ।
गुरु सेवा भक्ति कमाई, कृपा भई तव मन में आई।
यही देह सों सुमरो देवा, देह धारि करिए यह सेवा।
सुनो सन्त सेवा की रीति, करै कृपा मन राखै प्रीति।
उठि कें प्रात गुरुन सिर नावे, प्रात समैं श्रीकृष्णहिं ध्यावे।
जोई फल माँगे सोई फल पावे, हरि चरनन में जो चित लावे।
जिन ठाकुर कौ दरसन कियौ, जीवन जनम सुफल करि लियौ।
जो ठाकुर की आरति करै, तीन लोक वाके पायन परै।
जो ठाकुर को करें प्रनाम, विष्णु लोक तिनको निजधाम।
जो हरि आगे वाद्य बजावै, तीन लोक रजधानी पावै।
जो जन हरि को ध्यान करावै, गरभ वास मे कबहुँ न आवै।
जो हरि को नित करे सिंगार, ताकौ पूरन है अंगीकार।

---

1 सूरदास की वार्ता (अग्रवाल प्रेस, मथुरा) पृष्ठ ६०

जो दरपन ठाकुरहि दिखावै, चन्द सूर्य ताको सिर नावै।
जो ठाकुरहि सुतुलसी चढ़ावै, ताकी महिमा कहत न आवै।
जो कीर्तन ठाकुरहि सुनावै, ताको ठाकुर निकट बुलावै।
हरि-मन्दिर मे दीपक धरै, अन्ध कूप मे कबहु न मरै।
जो ठाकुर की सेज बिछावै, निज पद पाय दास सो कहावै।
पलना जो ठाकुरहि झूलावै, वैकुण्ठ सुख अपने घर लावै।
जो ठाकुरहि झुलावै डोल, नित लीला मे करे कलोल।
उत्सव करि मन आरती करे, ता आधीन रहें श्री हरे।
जो ठाकुर को भोग धरावे, सदा परम नित आनन्द पावे।
जो पद दीन्ह यशोदा मात, ता सुख की कछु कही न जात।
ग्वालन सहित गोपाल जिमावें, सो ठाकुर के सखा कहावे।
जो ठाकुर को स्वाद करावे, सो ताको फल तब ही पावे।
गोवर्द्धन की लीला गावे, चरन कमल रज तब ही पावे;
श्री जमुना जल करे जो पान, जो ठाकुर के रहे सन्निधान।
जहाँ समाज वैष्णवी होवे, ताकी संगति नित प्रति जोवे।
श्रीभागवत सुनै आनन्दकरि, ताके हृदै बसे नित श्रीहरि।
जो ठाकुर को देह समर्पै, उत्तम श्रेष्ठ जानि कैं अरपै।
जिन हरि की गागर भरिआनी, तिन वैकुण्ठ अपनी स्थिति ठानी।
जो ठाकुर को मन्दिर लेपे, माया ताको कबहुँ न लेपे।
जो ठाकुर को सीधो बीने; जितने तीरथ तितने कीने।
जो ठाकुर की माला पोवै, सोई परम भक्त नित होवै।
जो ठाकुर को चन्दन लावै, त्रिविध ताप संताप मिटावै।
जो ठाकुर के पात्रन धोवै, सदा सरवदा निरमल होवै।
जो हरि कीर्तन सुख सों करै, मुक्ति चारि हू पायन परै।
सेवा में जो आलस करै, कूकर ह्वै के फिर फिर मरै।
मनसा जो सेवा आचरै, तब ही सेवा पूरी परै।
सेवा कौ आश्रय करि रहै, दुःख-सुख वचन सब के सहै।
जो सेवा मे आलस लावै, सो जड जनम प्रेत को पावै।
वेद पुरानन में यों भाख्यौ, सेवा-रस ब्रजगोपिन चाख्यौ।
सेवा की यह अद्‌भुत रीति, श्रीविट्ठलेश सों राखो प्रीति।
श्री आचार्य प्रभु प्रकट बनाई, कृपा भई तब मन मे आई।
सेवा कौ फल कह्यौ न जाई, सुख सुमेर श्री वल्लभराई।
सेवा कौ फल सेवा पावै, सूरदास प्रभु हृदै समावै।[1]

इस पद में सूरदास जी ने क्रियात्मक, भावनात्मक और भावात्मक; दोनों ही सेवाओं का उल्लेख किया है और क्रियात्मक सेवा को मानसिक सेवा का साधन माना है तथा मानसिक सेवा का फल मानसिक सेवा ही है।

१ नाथद्वार, निज पुस्तकालय की पोथी न० ४६ । ५
तथा कांकरौली विद्या-विभाग की पोथी न० ४२ । १० सूरदासकृत सेवाफल

जिन आठों झाँकियों का हमने ऊपर उल्लेख किया है, उनका 'वल्लभ-पुष्टि-प्रकाश' मे विस्तार के साथ विवेचन हुआ है। मंगला-झाँकी में गुरुस्मरण तथा वन्दना आदि के पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप को जगाया जाता है, फिर उनको कलेऊ कराया जाता है, जिसे मंगल-भोग कहते है। अनन्तर मगला आरती होती है। यशोदा जी की भावनाओं से भावित होकर ये सब क्रियाएँ की जाती हैं। 'वल्लभ-पुष्टि-प्रकाश' ग्रन्थ मे ऋतु के अनुकूल वस्त्र और सामग्री आदि का भी वर्णन है।

श्रृङ्गार की झाँकी मे मंगला आरती के अनन्तर भगवान् के स्वरूप को उष्ण जल से स्नान कराया जाता है और फिर तैलादि लगाकर वस्त्र-आभरण आदि से स्वरूप को सुसज्जित किया जा सकता है, जिसके अनन्तर श्रृङ्गार-भोग होता है।

उसके पश्चात् ग्वाल-भाव से घैया अरोगाई जाती है, जैसा कि 'वल्लभ-पुष्टि-प्रकाश' में लिखा है, "पाछे पूर्वोक्त रीति सों ग्वाल की घैया की तवकढी अरोगाय के डबरा धरके सद्यः फेन समर्पिये।"[1]

ग्वाल के अनन्तर राजभोग की झाँकी है। शीतकाल में भगवान् कृष्ण नन्दादिक के साथ घर मे भोजन करते है और उष्ण काल मे यशोदा वन मे भोजन-सामग्री भेजती है, जिसे छाक भी कहते है। इनके अनन्तर राज-भोग आरती है।

छः घडी दिन रहे जब प्रभु को जगाया जाता है, तो उसे उत्थापन कहते है तथा जगाने के अनन्तर जब फल-फूलादि का भोग आता है, तब वह भोग की झाँकी होती है। संध्या आरती की झाँकी मे वन से गौओ को लेकर श्रीकृष्ण घर आते हैं। इसके अनन्तर आठवी झाँकी शयन की है। पहले व्यास-शयन-भोग आता है, फिर दर्शन आरती होती है और इसके पश्चात् श्रीकृष्ण को पौढ़ाया जाता है। सूरदास जी ने इन आठो समय की झाँकियों को आधार मानकर अनेक भेद लिखे हैं और सूरसागर का सग्रहात्मक संस्करण तथा नित्य-कीर्तन के संग्रह इस प्रकार के पदो के भण्डार है।

नित्य सेवा-विधि की भाँति वर्षोत्सव-विधि भी पुष्टि-मार्ग में मान्य है। वर्षोत्सवों का क्रम हम पीछे दे चुके है। वर्षोत्सव-विधि पर भी सूरदास के अनेक पद है। सूरसागर में राम, नृसिंह और वामन-जयन्तियों का पूरा-पूरा वर्णन है।

पुष्टि-मार्गीय सेवा के तीन अंग है। भोग, राग और श्रृङ्गार। भोग का अभिप्राय यह है कि खान-पान आदि के उत्तम-उत्तम पदार्थ तैयार करके विधि-पूर्वक श्रीकृष्ण को समर्पित करना। भोग के अनन्तर वह पदार्थ प्रसाद हो जाता है। वल्लभाचार्य ने श्रीमद्भागवत के आधार पर ही इन अंगों को महत्ता दी है और इन अंगों से व्याप्त जीवन के सब क्रिया-कलापो को भगवान् को समर्पित कराया है, जिससे वे भगवद्भक्त हो जाते है। श्रीमद्भागवत मे लिखा है—

> कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
> नित्यं हरो विदधतो यान्ति तन्मयतां हिते।[2]

अर्थात्—काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य, सौहार्द; इनमें से कोई भाव यदि हरि के साथ लगाया जाय तो वह लौकिक रूप छोड़कर ईश्वरमय हो जाता है। सूर ने भोग की विविध सामग्रियों और प्रकार का विशद विवेचन किया है। सूरसागर के पद १०१४ मे इन सामग्रियो की एक सूची दी हुई है।

---

१ वल्लभ-पुष्टि-प्रकाश (वेंकटेश्वर प्रेस) पृष्ठ ५४
२ श्रीमद्भागवत, १०। २६। १५

भोग की भाँति राग सगीत, जो कीर्तन-भक्ति का मुख्य अंग है, सूरदास मे अद्वितीय है। अपने सूरसागर मे उन्होने अनेक राग-रागनियों का प्रयोग किया है। 'सूरसारावली' मे तो रागो की एक सूची ही दी गई है, जिसमे ललित, पंचम, षट्, मालकोस, मेघमालव, सारंग, नट, भूपाली आदि ३८ राग गिनाये है।

हम पहले संकेत कर आये है कि गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने भगवान् के आठ श्रृङ्गारों की कल्पना की है, परन्तु वे आठों श्रृङ्गार भगवान् के मस्तक के है। कण्ठ, हस्त, कटि, चरण और मुखादि अंगो की भी कल्पना की गई। श्रृङ्गारो के अतिरिक्त सम्प्रदाय में वस्त्रो का भी वर्णन है। सूरसागर में भगवान् कृष्ण के आठो श्रृगारों से सम्बन्ध रखने वाले पद मिलते है। कुछ पद सामूहिक श्रृङ्गारो के भी है। निम्नलिखित पद उदाहरण रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है:

एक हार मोहि कहा दिखावति।
नख-सिख लौ अंग-अंग निहारहु, ये सब कतहिं दुरावति।
मोतिनि माल जराइ कौ टीको, करनफूल नकबेसरि।
कंठसिरी दुलरी तिलरी तर, और हार इक नौसरि।
सुभग हमेल कटाव की अँगिया, नगिन जरित की चौकी।
बहुँटा कर-कंकन बाजूबन्द, एते पर है तौकी।
छुद्र घँटिका पद नेपुर जेहरि, पग बिछिया सब लेखौ।
सहज अंग शोभा सब न्यारी, कहत सूर ये देखौ॥[1]

पुष्टि-मार्ग की क्रियात्मक सेवा में सदाचार का भी महत्व है। सूर के पदों मे स्थान-स्थान पर सत्संगति और सदाचार का वर्णन मिलता है। जहाँ कवि ने गुरु-सेवा और सत्संगति की महिमा का वर्णन किया है, वहाँ सदाचार का महत्व भी बताया है। शुद्धाचरण के बिना हरि की भक्ति सम्भव नहीं, इसलिये कवि ने विधि-निषेध मे सदाचार का उपदेश दिया है। किन्तु विधि-निषेधमयी शिक्षाओ को सूर साधना-पथ की शिक्षाएँ मानते है, इसलिये वे भगवत्कृपा को सदाचार से अधिक महत्व देते हैं। यही कारण है कि दशम स्कन्ध मे जहाँ कवि ने कृष्ण और गोपियों के रति-व्यापारो का वर्णन किया है, वहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि मानो सूरदास जी ने सदाचार की ओर से आँखे मूँद ली है, परन्तु प्रेम भक्ति-रस-विभोर भावुक भक्त का हृदय यह कभी नहीं मान सकता। भक्त का व्यापक उद्देश्य भक्ति को ही साध्य मानना है, साधनों को साध्य नही। हम यह भी बता चुके है कि दशम स्कन्ध में कवि का भक्ति-विषयक दृष्टिकोण परिवर्तित-सा दिखाई देता है, और इसलिये सदाचार आदि का जितना विवेचन सूर ने विनय के पदों या पहले स्कन्धों में किया है, उतना दशम स्कन्ध में नहीं। फिर भी पुष्टि-मार्गीय परम्परा के अनुकूल उन्होंने सदाचार-तत्व को अपनाया है। मनःकामना को जीते बिना सूरदास जी योग, यज्ञ, व्रत आदि को व्यर्थ मानते हैं और स्नान, तीर्थ, भजन और प्राणायाम को निरर्थक। अष्टांग योग आदि का खण्डन भी सूरदास ने सदाचार के आधार पर किया है।[2] वे कहते है, "मनुष्य के लिये कटु-वचन पर-निन्दा, कुसंग, पाप से धन-सञ्चय, गुरु, ब्राह्मण, सन्त, सुजन का संग न करना, भगवद्भजन न करना और पर-पीडन करना, कुटुम्ब-सहित डूबने के कारण है।[3] नहुष और इन्द्र-अहिल्या की

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) २१५८
२ सूरसागर, (सभा) पद ३६२, ३६३, ३६४
३ वही, पद ३५८

कथाओं मे उन्होंने पर-स्त्री-प्रेम का दुष्परिणाम दिखाया है तथा सदाचार की शिक्षा दी है।[1] मोहिनी रूप वाले प्रसंग तथा राजा पुरुरवा के वैराग्य की कथा मे भी सूरदास जी ने नारी कुसंग की निन्दा की है, फिर राजा अम्बरीष की कथा मे भक्त के सदाचारपूर्ण कार्य-क्रम का उल्लेख किया है।[2] दशम स्कन्ध मे सदाचार का उपदेश नगण्य-सा है। जहाँ कही श्रीकृष्ण ने गोपियो को सदाचार-पूर्ण मर्यादा-मार्ग अनुसरण करने का उपदेश दिया है, वहाँ उन्हे मुँह की खानी पड़ी है। गोपियाँ मर्यादा-मार्ग का प्रत्याख्यान करती है और दीनता पूर्वक भक्ति-भाव से कृष्ण की कृपा की याचना करती है। वास्तव मे गोपियों द्वारा सूर ने भक्ति की अनन्यता एव चरम-उत्कर्ष का प्रदर्शन कराके यह सिद्ध किया है कि भक्ति पाप-पुण्य की परिभाषाओ से परे है। कर्तव्य और अकर्तव्य का ध्यान तभी तक आवश्यक है, जब तक कि भक्ति की पूर्ण-आत्म-समर्पण वाली स्थिति प्राप्त नही होती। दशम स्कन्ध मे सूरदास जी ने भक्ति की इसी पूर्ण स्थिति की ओर संकेत किया है। यही कारण है कि कृष्ण ने पातिव्रत-धर्म की ओर गोपियो का ध्यान आकर्षित करके उनकी परीक्षा ली और जब उन्हे उत्तीर्ण समझा, तभी उनके साथ रासलीला की। इसलिये गोपियों का जो सदाचार-अतिक्रमण दशम स्कन्ध मे मिलता है, उसे हम सामान्य दृष्टि से नही देख सकते।

पुष्टि-मार्गीय भक्ति मे प्रभु-सेवा से सम्बन्ध रखने वाले और भी कई अङ्ग है। हरिनाथ-स्मरण का विवेचन पीछे हो चुका है। अनन्याश्रयत्व और भगवान् की भक्तवत्सलता भी इसी के अङ्ग है। भगवान् की भक्तवत्सलता का वर्णन गत पृष्ठों मे हो चुका है। सत्संग का महत्व भी सूर की भक्ति-साधना मे बताया जा चुका है। जहाँ तक अनन्याश्रयता का सम्बन्ध है, सूरदास जी अनन्य भाव से श्रीकृष्ण के उपासक थे। यद्यपि उनकी आस्था भगवान् के सभी लीलावतारों तथा देवों में थी, और उन्होंने कृष्ण के अतिरिक्त राम, नृसिह और वामन आदि अवतारों का भी गुणगान किया है, तथापि उनका पूर्ण आत्म-समर्पण कृष्ण के प्रति ही हुआ है। उनके अनन्याश्रय के भाव को प्रकट करने वाले पदों में से हम केवल दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

> मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
> जैसे उड़ि जहाज को पंछी, फिर जहाज पै आवै।
> कमल नैन को छाँड़ि महातम और देव को धावै।
> परम गंग को छाँड़ि पियासो दुर्मति कूप खनावै।
> जिन मधुकर अम्बुज-रस चाख्यो क्यो करील फल खावै।
> सूरदास प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै ?[3]

तथा—

> मन में रह्यो नाहिन ठौर।
> श्री नन्द-नन्दन अछत कैसे आनिये उर और।
> चलत चितवत और जागत सपने सोवत राति।
> हृदय से वह मदन-मूरति छिन न इत उत जाति।
> कहत कथा अनेक ऊधौ लोग लोभ दिखाय।
> कहा करौ मन प्रेम पूरन, घट न सिन्धु समाय।

---

१ सूरसागर (सभा) पद ४१८-४१६
२ वही, पद ४४८
३ वही, पद १३८

स्याम गात सरोज आनन ललित मृदु मुख हास।
सूर उनके दरस कारन, मरत लोचन प्यास।[1]

पुष्टि-मार्गीय भक्ति मे श्री वल्लभाचार्य और विट्ठलनाथ जी ने जाति-पाँति का कोई भेद नही रखा था। सूरदास जी ने भी अनेक पदो मे ऐसे भाव प्रकट किये हैं कि भगवान् की भक्ति का द्वार सब के लिये उन्मुक्त है। वहाँ छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष और जाति-पाँति का कोई ध्यान नही। श्रीपति के दरबार मे कोई जाति-पाँति नही पूछता। वे तो ऐसे पारस पत्थर है, जिनके स्पर्श से लोहे का खोट मिट जाता है। वे तो भाव के ग्राहक है।

सूरदास के पदों मे दीनता भी स्थान-स्थान पर प्रदर्शित की गई है। पुष्टिमार्ग मे हरि को सन्तुष्ट करने का एकमात्र उपाय दीनता है। सूरदास जी के विनय के पदों मे दैन्यभाव का निर्मल स्रोत बहाने वाले अनेक पद हैं।

क्रियात्मक सेवा के पश्चात् भावनात्मक मानसी सेवा का प्रारम्भ होता है। इसका प्रारम्भ समर्पण क्रिया के पश्चात् मानना चाहिये, क्योंकि इसकी सिद्धि तनुजा और वित्तजा सेवा द्वारा एकादश इन्द्रियों और मन के विनियोग होने के अनन्तर हो सकती है। इसमे विशुद्ध प्रेम की प्रधानता है, इसलिये इसका नाम प्रेम-लक्षणा-भक्ति, निर्गुणा-भक्ति, परा-भक्ति या शुद्ध-पुष्टि कहा गया है। गोपियाँ विशुद्ध प्रेम की प्रतीक हैं। इस प्रेम-भक्ति में आत्म-निवेदन के द्वारा ब्रह्म-सम्बन्ध कराया जाता है और फिर भक्त के लिए भगवान् के अतिरिक्त कुछ नहीं रहता इसलिए, सम्बन्ध-स्थापन, आत्म-निवेदन और शरण-गमन—इन तीनों के एकीकरण को ब्रह्म-सम्बन्ध कहा गया है। हम पहले कह आये है कि नवधा-भक्ति प्रेमलक्षण-भक्ति में साधन है तथा प्रेम की सिद्धि विरह से होती है, क्योंकि विरह मे भक्ति की अनन्यता की पुष्टि हो जाती है। सूरदास जी ने नवधा-भक्ति का जो विवेचन किया है, उसका वर्णन हम पीछे कर चुके है। इनका विरह-वर्णन भी हिन्दी-साहित्य में बेजोड़ है।

पुष्टि-मार्ग मे जो तीन अवस्थाएँ मानी गई है, उनका वर्णन भी सूरदास के पदों में मिलता है। वे तीन अवस्थाये हैं—स्वरूपासक्ति, लीलासक्ति और भावासक्ति। भावासक्ति और स्वरूपासक्ति का विवेचन हम ग्यारह आसक्तियो मे कर चुके है। लीलासक्ति का अभिप्राय कवि के उन लीला-वर्णनो से है, जिनमे कवि ने अपनी पूरी तल्लीनता दिखलाई है। वास्तव मे सारा सूरसागर भगवान् के लीला-सम्बन्धी पदो का संग्रह है। सूरदास जी को वल्लभाचार्य जी ने लीला पद गाने का उपदेश दिया और उन्होने नन्दालय से लेकर भगवान् की सारी ब्रज-लीलाओं का वर्णन किया है। भगवान् कृष्ण की विविध लीलाये भक्त की तन्मयता के सुलभ और स्वाभाविक साधन है, जिनमे इन्द्रियो की वृत्तियाँ केन्द्रीभूत हो जाती है। सूरदास की गोपियाँ आदर्श भक्त हैं और कृष्ण के रूप-माधुर्य तथा उनकी विविध लीलाओं का वर्णन उनके काव्य का प्रधान विषय है। भगवान् के लीलाधाम में सूर की इतनी आसक्ति है कि उसे छोड़कर अन्यत्र नही जाना चाहते और वास्तव में वे ब्रजधाम को छोड़कर अन्यत्र कही नही गए।

जहाँ तक सूर की भक्ति का सम्बन्ध है, उसके विविध अंगों पर हम पिछले प्रकरण में प्रकाश डाल चुके है। इस प्रकार सूर में पुष्टि-मार्गीय भक्ति के प्रायः सभी तत्व मिल जाते हैं, यद्यपि सूरसागर में स्पष्ट रूप से पुष्टि-मार्ग का उल्लेख नही है। द्वारिकादास परीख ने अपने 'सूर निर्णय' नामक ग्रन्थ मे लिखा है—

---

१ सूरसागर (सभा) पद ४३५०

"सूरदास जी की प्रायः समस्त रचनाये पुष्टि-मार्गीय सिद्धान्तो के अनुकूल है। ऐसा होने पर भी कुछ विद्वानों ने आश्चर्यपूर्वक लिखा है कि सूरदास ने पुष्टि-मार्ग का प्रत्यक्ष उल्लेख नही किया है। हिन्दी-साहित्य के अनेक विद्वानों ने सूरदास की रचनाओं का भली-भाँति अध्ययन नही किया है, इसलिए उनका सूरदास-विषयक मत कभी-कभी भ्रमात्मक हो जाता है।"[1]

सूर-निर्णय के लेखको ने सूरदास के एसे पदों को उद्धृत भी लिखा है, जिनमे पुष्टि-मार्ग का स्पष्ट उल्लेख है। उनमे से एक पद नीचे दिया जाता है—

हरि मैं तुम सों कहा दुराऊँ।
जानत की पुष्टि पथ मोसो कहि-कहि प्रगटाऊँ।
मारग-रीति उदर के काजें सीख सकल भरमाऊँ।
अति आचार चारु सेवा करि नीके करि-करि पंच रिझाऊँ।[2]

लेखक महोदयों ने इस प्रकार के उदाहरण देकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि सूरदास जी ने अपनी रचनाओं मे पुष्टि-मार्ग का प्रत्यक्ष उल्लेख किया है तथा यह भी सिद्ध करने की चेष्टा की है कि सूरदास की समस्त रचनायें पुष्टि-मार्ग के सिद्धान्त के अनुकूल है। हम उनकी बातों से सहमत नही है। सूरदास जी के जो उद्धरण उन्होंने दिये है, उनके हम सूरदास जी के होने में ही सन्देह करते है। दूसरे, सूरदास जी को पुष्टि-मार्ग का प्रत्यक्ष उल्लेख अपनी रचनाओं में करने की आवश्यकता भी नहीं थी। पुष्टि-मार्गीय सेवा उनका परम धाम था और उनका जीवन स्वयं पुष्टि-मार्ग की व्याख्या था। इसलिये उनकी रचनाओं में पुष्टि-मार्ग का उल्लेख होने अथवा न होने से अन्तर नही पडता। जहाँ तक रचनाओं का प्रश्न है, हमें यह मानना ही पड़ेगा कि उनकी बहुत सी रचनायें पुष्टि-मार्ग मे दीक्षित होने से पहले की भी है; परन्तु इसमे कोई सन्देह नहीं कि सूरदास जी की रचनाओं में सभी पुष्टि-मार्गीय तत्व आ गये है। श्रीनाथ जी, नवनीत प्रिय जी और मथुरेश जी, जो पुष्टि-मार्ग के प्रधान स्वरूप है, सभी का वर्णन सूर की रचनाओं मे मिल जाता है। इस प्रकार सूरदास जी पुष्टि-मार्ग के स्तम्भ कहे जा सकते है। 'वार्ता साहित्य' में हमें इस बात का साक्ष्य मिल जाता है कि सम्प्रदाय में सूरदास जी की बड़ी मान्यता थी। वे 'अष्टसखान' में से एक थे, अष्टछाप के आठों महानुभाव श्रीनाथ जी के अन्तरंग सखा माने गये है, जो उनकी नित्य-लीला में सदा उनके साथ रहते है। पुष्टि-सम्प्रदाय मे ऐसी मान्यता है कि जब संवत् १५३५ मे श्रीनाथ जी का प्राकट्य हुआ, तभी से सखा भी उनकी सेवा करने के लिए भूतल पर प्रकट हुए। श्री हरिराय जी ने 'अष्टसखान वार्ता पर 'भाव-प्रकाश' नामक टिप्पणी लिखी है, जिसमे उन्होने अष्टसखान के साम्प्रदायिक महत्व का विवेचन किया है। 'अष्टछाप-परिचय' मे इस विषय मे यह लिखा है :

"गिरिराज तलहटी नित्य-लीला भूमि है। यहाँ श्रीनाथ जी स्वामिनी-सहित नित्य-लीला करते हैं और ये आठों सखा उनकी लीलाओं मे आठों पहर उनके साथ रहते है। अष्ट सखाओं के लीलात्मक स्वरूपों की दो प्रकार की स्थिति है, वे दिन में ठाकुर जी के सखा रूप से उनकी वन-लीला का सुख प्राप्त करते है और रात में स्वामिनी जी की सखा रूप से निकुञ्ज लीला के सुख का अनुभव करते है। गिरिराज नित्य निकुंज के आठ द्वार हैं और अष्टछाप के आठो सखा इनके अधिकारी है। वे इन द्वारों पर रहते हुए ठाकुर जी की सेवा सदैव करते रहते है। लौकिक लीलाओं

१ सूर-निर्णय (अग्रबाल प्रेस, मथुरा) पृष्ठ १६६
२ सूर-निर्णय से उद्धृत।

मे ये भौतिक शरीर से उन द्वारों पर स्थित रहते है और लौकिक लीला की समाप्ति पर अपने भौतिक शरीर को त्यागकर अलौकिक रूप से नित्य-लीला में विराजमान रहते हैं। पुष्टि-सम्प्रदाय की भावना के अनुसार अष्टछाप की लीलाओ का उभय स्वरूप, उनकी लीलासक्ति और उनके अधिकृत द्वारों का विवरण इस प्रकार है :

सं०	अष्ट-सखा	लीलात्मक रूप	लीलासक्ति	अधिकृत द्वार
१	कुम्भनदास अर्जुनसखा,	विशाखा सखी	निकुज-लीला	आन्यौर
२	सूरदास कृष्णसखा;	चंपकलता सखी	मान-लीला	चन्द्र सरोवर
३	परमानददास लोकसखा,	चन्द्रभागा सखी	बाल-लीला	सुरभि कुण्ड
४	कृष्णदास ऋषभसखा,	ललित सखी	रास-लीला	बिलछू कुण्ड
५	गोविन्द स्वामी श्रीदामा सखा,	भामा सखी	आँख मिचौनी	कदम खण्ड
६	छीतस्वामी सुबल सखा,	पद्मा सखी	जन्म लीला	अप्सरा कुण्ड
७	चतुर्भुजदास विशाला सखा,	विमला सखी	अन्नकूट लीला	रुद्रकूट
८	नन्ददास भोजसखा,	चन्द्ररेखा सखी	किशोर लीला	मानसी गगा[1]

पुष्टि-सम्प्रदाय के ये आठों महानुभाव दैवी जीव माने जाते है। वार्त्ता से यही ज्ञात होता है कि उनको श्रीनाथ जी का साक्षात्कार भी प्राप्त था। उत्थापन-झाँकी के प्रमुख कीर्तनकार सूरदास जी थे। उनका इन सब सखाओ में विशेष महत्व है। साहित्य और कला की दृष्टि से परमानन्द स्वामी और सूरदास जी को सम्प्रदाय मे सागर बताया गया है, परन्तु अष्टछाप का वास्तविक गौरव सूरदास के कारण ही है। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने सूरदास को पुष्टि-मार्ग का जहाज बताया है। सूरदास की वार्त्ता में लिखा है :

"सो तब श्री गुसाईं जी आप श्रीमुख सो सगरे वैष्णवन सों आज्ञा किये—जो पुष्टि मारग को जहाज जात है, जो जाको कछु लेनो होइ सो लेउ और उहाँ जायके सूरदास जी को देखो।"[2]

हरिराय जी की भावना के अनुकूल जहाज का आशय यह है कि जिस प्रकार किसी जहाज मे कोई व्यापारी व्यापार के लिए अनेक वस्तुओ को भरता है, उसी प्रकार सूरदास जी के हृदय मे नाना प्रकार की अलौकिक वस्तुएँ भरी है। श्री चतुर्भुजदास जी ने अन्त समय मे सूरदास जी से पूछा है :

"जो सूरदास जी तुम बिन अलौकिक भाव कौन दिखावै, जो अब थोरे मे श्री आचार्य जी को यह पुष्टि-मारग है ताको सरूप सुनावो, सो कौन प्रकार सो पुष्टि-मारग के रस को अनुभव करियै। वा समय सूरदास जी ने यह पद गायौ। सो पद

राग सारंग

भज सखि भाव भावकि देव।
कोटि साधन करौ कोऊ, तौऊ न मानै सेव।
धूमकेतु कुमार माग्यौ, कौन मारग प्रीति।
पुरुष ते तिय भाव उपज्यौ, सबै उलटी रीति।
वसन भूषन पलटि पहर, भाव सों सजोय।
उलटि मुद्रा दई अङ्कन, वरन सूधे होय।

१ अष्ठ छाप-परिचय (अग्रवाल प्रेस, मथुरा) पृष्ठ ३८, ६६
२ सूरदास को वार्त्ता प्रसङ्ग ११ (अग्रवाल प्रेस, मथुरा)

वेद विधि कौ नैम नहि, जहाँ प्रेम की पहिचान ।
ब्रज बधू बस कियौ मोहन, सूर चतुर सुजान ।
सो पद सूरदास जी ने सारे वैष्णवन को सुनायौ ।[१]

अन्तकाल मे गुसाई विट्ठलनाथ जी ने स्वयं सूरदास जी से पूछा, "हे सूरदास जी, इस समय आपकी चित्तवृत्ति कहाँ है ?" उस समय सूरदास जी ने ये पद गाये :

राग विहागरौ

बलि-बलि हौ कुँवरि राधिका, नन्द सुवन जासों रति मानी ।
वे अति चतुर तुम चतुर सिरोमनि, प्रीत करी कैसे रही छानी ।
वै जु धरति तन कनक पीतपट, सो तौ सब तेरी गति ठानी ।
ते पुनि स्याम सहज वे शोभा, अम्बर मिस अपने उर आनी ।
पुलकित अङ्ग अब ही ह्वै आयौ, निरखि देखि निज देह सयानी ।
सूर सुजान सखी कै बूझै, प्रेम प्रकास भयौ विहसानी ।

तथा

राग विहागरी

खञ्जन नैन रूपरस माते ।
अतिसै चारु चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते ।
चलि-चलि जात निकट स्रवननि के, उलट-पलटि ताटँक फँदाते ।
सूरदास अञ्जन गुन अटके, नतर अबहि उडि जाते ।[२]

इन पदों के गाने के अनन्तर सूरदास जी ने युगल स्वरूप का ध्यान करके इस लौकिक शरीर को छोड दिया । इस प्रकार सूरदास जी की वार्त्ता के अन्त मे लिखा है :—

"या प्रकार सूरदास जी मानसी सेवा मे सदा मगन रहते । ताते इनके माथे श्री आचार्य जी ने भगवत्सेवा नांही पधराये । सो कहे तें जी सूरदास को मानसी सेवा मे फल रूप अनुभव है । सो ये सदा लीला-रस में मगन रहत है ।"[३]

सूरदास जी की वार्ता में दैन्य और परोपकार का बड़ा महत्व बताया है और अन्तः साक्ष्य और वाह्य-साक्ष्य से स्वतः ही सिद्ध हो जाता है कि सूरदास जी मे पुष्टि-मार्ग के सभी तत्व विद्यमान थे और उन्होंने अपने गुरु वल्लभाचार्य जी के वचनो का अनुसरण करके उनकी भक्ति-भावना को स्पष्ट करने के लिए अधिकांश पदों की रचना की ।

पुष्टि-मार्गीय तत्वों की दृष्टि से श्रीमद्भागवत को सूरसागर की तुलना मे नही रखा जा सकता । यह बात अवश्य है कि वल्लभाचार्य जी ने पुष्टि-मार्गीय भक्ति का सूत्र श्रीमद्भागवत से ही ग्रहण किया था और भागवत के दस लक्षणों को बताते हुए भागवतकार ने 'पोषणं तदनुग्रहः' कहा भी है । इस अनुग्रह का वर्णन, जैसा कि हम पहले कह चुके है, विशेष रूप से भागवत के छठे स्कन्ध मे हुआ है । इसलिए इस स्कन्ध का पुष्टि-सम्प्रदाय में विशेष महत्व है । पुष्टि-सम्प्रदाय के सभी तत्व भागवत मे मिल जाते है, परन्तु उनका स्वरूप इस प्रकार साम्प्रदायिक नहीं है, जैसा कि वल्लभ-सम्प्रदाय में । भागवत की भक्ति का विवेचन करते हुए हमने प्रायः उन सभी तत्वों का

१ सूरदास की वार्त्ता प्रसङ्ग ११ (अग्रवाल प्रेस, मथुरा)
२ वही ११ (अग्रवाल प्रेस, मथुरा) पृष्ठ ६३, ६४
३ वही पृष्ठ ६५

विवेचन किया है, जो पुष्टि-मार्ग मे गिनाये गये हैं। पुष्टि-मार्ग मे भागवत की भाँति भगवान् श्रीकृष्ण को ही सेव्य माना है। अन्तर केवल इतना है कि पुष्टि-मार्ग मे भगवान् कृष्ण के संयोग-वियोगात्मक-श्रृंगार-रसरूप को महत्व प्रदान किया गया है और यशोदोत्संग-लालित श्रीकृष्ण पुष्टि-मार्गीय भक्त के आराध्य देव माने गये है। पुष्टि-मार्ग मे इन्हीं स्वरूपों की सिद्धि पूर्णतया की गई है और श्री स्वामी जी को रमण का मुख्य साधन माना है तथा उनके अनन्तर उनकी सखियों को। श्रृगांर-रस की उद्दीपन-सामग्री वृन्दावन-गोवर्द्धन, यमुना तट आदि को माना है। पुष्टि-मार्ग मे सारस्वत-कल्प की लीला का महत्व दिया है, क्योंकि कहा जाता है कि सारस्वत कल्प मे ही श्रीकृष्ण का पूर्णावतार था। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश श्वेत बाराह-कल्प मे दिया था। उस कल्प मे पुरुषोत्तम का आविर्भाव संकर्षण व्यूह मे माना गया है। सारस्वत कल्प की लीला को पुष्टि-मार्ग के अनुकुल भागवत मे माना गया है और पुष्टि-मार्ग की उत्पत्ति श्रीमद्-भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत से मानी है। यह पुष्टि-मार्ग फलरूप है। 'तत्वार्थदीप-निबन्ध' के भागवतार्थ-प्रकरण' में वल्लभाचार्य ने अलग-अलग प्रकरण मानकर भागवत की व्याख्या की है।

पुष्टि-मार्ग की स्वरूप-भावना, लीला-भावना तथा भाव-भावना—तीनों भावनाओं की संगति श्रीमद्भागवत से लगाई गई है। स्वरूप-भावना का अर्थ स्वरूप-स्थिति-भावना है। श्री जी स्वरूपात्मक और श्रीमद्भागवत पुस्तक लीलात्मक मानी गई है। भागवत के प्रथम और द्वितीय स्कन्ध दो चरणारविन्द, तृतीय और चतुर्थ स्कन्ध दो ऊरु, पंचम और षष्ठ स्कन्ध दो जंघाएँ, सप्तम स्कन्ध दक्षिण हस्त, अष्टम और नवम स्कन्ध दोनों स्तन, दशम स्कन्ध हृदय, एकादश स्कन्ध मस्तक, द्वादश स्कन्ध वाम हस्त तथा श्री जी दक्षिण हाथ की मुठ्ठी बाँधकर अँगूठे का प्रदर्शन कराती हैं, जिससे भक्तों के मन का आकर्षण करती है। 'वल्लभ-पुष्टि-प्रकाश' के तृतीय भाग मे भगवान् के सब स्वरूपों की विस्तृत व्याख्या की गई है और उनकी संगति श्रीमद्भागवत से लगाई गई है।

हम पहले कह चुके है कि पुष्टि-मार्ग में प्रेम-भक्ति ही साध्य है और वैधी-भक्ति साधन-स्वरूपा है। श्रीमद्भागवत में प्रेम-भक्ति को ही परा-भक्ति कहा गया है। इसलिए पुष्टि-भक्ति के प्रेम-तत्व के सूत्र का आधार श्रीमद्भागवत् ही कहा जा सकता है।

सत्संग-महिमा, भक्त-महिमा, गुरु-महिमा आदि का वर्णन श्रीमद्भागवत मे स्थान-स्थान पर हुआ है, परन्तु सेवा-पक्ष और विशेषकर सेवा-विधि पुष्टि-सम्प्रदाय की अपनी है। पुष्टि-सम्प्रदाय मे सेवा-विधि के विस्तार का एक और भी कारण था। उस समय मुगलों के वैभव-पूर्ण तथा विलासी जीवन के कारण हिन्दू-समाज अवनति की ओर जा रहा था, पुष्टि-सम्प्रदाय की सेवा-पद्धति ने हिन्दुत्व को रखने मे बड़ी सहायता दी। इस वैभव के समक्ष हिन्दू-समाज ने यवन वैभव को भी तुच्छ समझा और अपने स्वाभिमान को ठेस न लगने दी। श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध मे भगवान् की पूजा-विधि का वर्णन हुआ है। हम उस पूजा-विधि को सेवा का रूप न देकर उपासना का ही रूप देंगे। वल्लभाचार्य के समय मे और सम्प्रदायो मे भी सेवा-विधियाँ प्रचलित थी। ब्रज में ही कुछ ऐसे सम्प्रदाय थे, जिनमें सेवा का बड़ा महत्व था। वल्लभाचार्य जी ने अपनी सेवा-विधि में प्रायः सभी का समन्वय प्रस्तुत किया और उनके अनन्तर उनके सुपुत्र विट्ठलनाथ जी ने उसको व्यवस्थित रूप दिया।

सूरदास जी की भक्ति-साधना जहाँ एक ओर भागवत की भक्ति से प्रभावित है, वहाँ दूसरी ओर कवि वल्लभ सम्प्रदाय की मर्यादा का भी यथावत् पालन करती है। वह स्वय एक उच्च

कोटि का भक्त है और समाज पर पड़े विदेशी विलासिता के प्रभाव से वह अनभिज्ञ नहीं है। इसके अतिरिक्त अनेक मत मतान्तरों और सम्प्रदायो के जाल भी उसकी दृष्टि से ओझल नही है। सूरदास की रचनाओ में इन सभी परिस्थितियों और मर्यादाओं का समन्वय है। पुष्टि-मार्गीय तत्वों का उन्होंने बड़ा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। कृष्ण-चरित्र मे अत्यधिक अतिमानवता का स्वभाव से ही निषेध करके कवि ने पुष्टि मार्गीय भक्ति को सर्व साधारण के लिये सुगम बनाने का प्रयत्न किया है, इसलिये सूरदास न तो वैष्णव आलकारिकों के बन्धन मे बंधे, न ही उन्होंने भागवत का ही गुण-गान किया और न ही वल्लभाचार्य जी द्वारा प्रतिपादित पुष्टि-भक्ति का विवेचन अपना कर्तव्य समझा। इसलिये सूरदास पुष्टि-सम्प्रदाय मे दीक्षित होते हुए भी साम्प्रदायिकता से बहुत दूर थे और भागवत का अनुसरण करते हुए भी भागवत-निरपेक्ष थे। उनका अपना अलग व्यक्तित्व है। उनका काव्य एक महान सागर है, जिसमे अनेक प्रकार के रत्न छिपे है। मरजीवा बनकर कोई चाहे तो उन्हें निकालने का प्रयत्न कर सकता है।

———

एकादश अध्याय

सूर का काव्य-पक्ष

आलोचना का सामान्य रूप

आजकल प्रत्येक कवि के काव्य को आलोचना की कसौटी पर कसने का रिवाज-सा हो गया है। आलोचना के जो मानदण्ड निर्धारित किये गये हैं, उनमें प्राधान्य पाश्चात्य प्रणाली का ही है। यद्यपि काव्य-शास्त्र की परम्परा भारतवर्ष में भी पूर्णता को पहुँची हुई थी, तथापि इस बात को अस्वीकार नही किया जा सकता कि समालोचना के क्षेत्र में पाश्चात्य विद्वानों की विशेष देन है। आलोचना का रूप यूनानियों से तथा उसका श्रीगणेश 'होमर' से प्रारम्भ हुआ। होमर ने आलोचना-क्षेत्र मे पथ-प्रदर्शन के लिये अनेक संकेत और सिद्धान्त निश्चित किये। साहित्य का उद्देश्य मनुष्यों को सत् की ओर प्रवृत्त करना बतलाया गया। प्लेटो ने साहित्य को उपदेशात्मक मान कर समालोचना में आदर्शवादिता का समावेश किया। वह लौकिक सत्य को अलौकिक सत्य की ही छाया मानता था और उसी कला को उत्कृष्ट मानता था, जो नैतिक और दार्शनिक सत्य पर आधारित हो। अरस्तू ने कल्पना का संयोग करके कला का स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित किया। प्लेटो ने उसमें सुन्दर और शिव का समन्वय किया था, अरस्तू ने सुन्दर को शिव से अधिक महत्व दिया और कला के सत्य को भाव का सत्य बताया। इस प्रकार कला में रूप-सौष्ठव की प्रतिष्ठा हुई। रोम वालों ने यद्यपि यूनानियों का अनुकरण किया, तथापि उन्होंने कला की उपयोगिता पर विशेष बल दिया। रोम के आलोचकों मे 'होरेस' का नाम उल्लेखनीय है, जिसने साहित्य को ही प्रधान हित माना है। मध्य-युग के विचारकों ने कविता और कला को विशेष महत्व नही दिया। काव्य को उन्होंने केवल बुद्धि का विलास बताया और उसे पद्यकृत कल्पित-कथा कहकर चलते बने। सन्त आगस्टिन, डाँटे आदि इसी प्रकार के आलोचक हैं। डाँटे ने रूप-सौष्ठव पर विशेष बल दिया और पद्य की अपेक्षा गद्य को ही भाषा की आन्तरिक शक्ति का प्रतीक माना है।

पुनरुत्थान काल मे यूरोप में अन्य विचारों के प्रसार के साथ-साथ आलोचना को भी नई गति मिली। इस क्षेत्र में इटली ने नेतृत्व किया। फ्रांस मे समालोचना का रूप भी व्यवस्थित हुआ और वहाँ शास्त्रीय आलोचना का श्रीगणेश हुआ। वहाँ के आलोचकों ने साहित्य के विभिन्न अगों को लेकर विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की। आलोचना के इस शास्त्रीय पक्ष का प्रभाव अँग्रेजी-आलोचना पर भी पड़ा और इंगलैड में भी आलङ्कारिकता, रूप-शैली, भाषा, पद-योजना आदि पर विचार किया गया। अँग्रेजी आलोचकों में सिडनी, पेन जानसन और बौब के नाम उल्लेख योग्य हैं। फ्रांसीसी आलोचको मे बोयलों, रेपिन और लैबोस्यू विशेष प्रसिद्ध हुए। १८वी शताब्दी में इसी प्रकार की आलोचना का उत्थान जर्मनी में भी हुआ; कान्ट और गेटे ने इस ओर विशेष महत्वपूर्ण कार्य किया। कान्ट, सौन्दर्य को विशेष महत्व देता है और उपयोगिता से उसका सम्बन्ध नही बताता, जबकि गेटे कला और कविता में व्यक्तित्व को ही प्रधानता देता है और शैली को ही लेखक की अन्तरात्मा की अभिव्यक्ति बताता है। इसके साथ-साथ श्रेष्ठ कविता में उसने वास्तविकता को महत्व दिया है और उसका वाह्य संसार से भी सम्बन्ध बताया है। अठारहवीं

शताब्दी मे यूरोप में आलोचना-क्षेत्र में एक क्रान्ति हुई और उसके सिद्धान्त मे एक-रूपता न रही। आलोचना की शास्त्रीय पद्धति का विरोध हुआ, कलाकार के लिये कोई बन्धन स्वीकार न किया गया तथा कला और प्रकृति का सम्बन्ध स्थापित किया। उन्नीसवी शताब्दी तक आते-आते आलोचना का और भी विकास हुआ। कार्लाइल, रस्किन, पेटर आदि उन्नीसवी शताब्दी के मुख्य आलोचक है। इन आलोचको ने एक प्रकार से अपने पूर्ववर्ती सिद्धान्तों का समन्वय किया तथा रोमान्सवाद व शास्त्रीयता के सामञ्जस्य की पृष्ठ-भूमि पर आलोचना के सिद्धान्त आधारित किये।

आधुनिक आलोचना-शास्त्र पर सर्वाधिक प्रभाव आई० ए० रिचर्ड्स और क्रोचे का है। क्रोचे ने अपने 'Principles of Literary Criticism' नामक ग्रन्थ मे अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। उन्होने काव्य के सत्य, शिव और सुन्दर की व्याख्या की है। क्रोचे और रिचर्ड्स बहुत-सी बातों मे एक-मत है, परन्तु भावों की प्रेषणीयता के प्रश्न पर उसका मत-वैभिन्य है।

भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा वैदिक काल से ही मानी जाती है, क्योकि वेद-मन्त्रो में भी हमे अलंकारो, प्राकृतिक दृश्यों तथा व्यंग्यात्मक शैली आदि के दर्शन होते है। भरत के नाट्य-शास्त्र मे रस-सिद्धान्त और गुण-अलकारादि का विवेचन हुआ है। नाट्य-शास्त्र की रचना से प्रतीत होता है कि उससे पहले भी काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों की सृष्टि हो चुकी थी, निरुक्त मे तो कहीं-कहीं गुण-दोष-निरूपण की पद्धति के दर्शन होते ही हैं। पुराणों मे भी काव्य-शास्त्र के नियमों का उल्लेख मिलता है। ईश्वीय सन् ६०० के पश्चात् तो वहाँ काव्य-शास्त्र विषयक अनेक ग्रन्थ लिखे गये, जिनमें भामह का काव्यालंकार, दण्डी का काव्यादर्श, उद्‌भट का अलंकार-सार-संग्रह, वामन का काव्यालंकार-सूत्र, रुद्रट का काव्यालकार, आनन्द-वर्द्धन का ध्वन्यालोक, राजशेखर, की काव्य-मीमासा, कुन्तक का वक्रोक्तिजीवित, धनञ्जय का दश-रूपक, मम्मट का काव्य-प्रकाश, रुय्यक का अलंकार-सर्वस्व, विश्वनाथ का साहित्य-दर्पण और पण्डितराज जगन्नाथ का रस-गंगाधर प्रसिद्ध है। भारतीय-परम्परा में आलोचना को पाश्चात्य ढंग से विभाजित नही किया गया है। यहाँ के आचार्यों ने काव्य की परिभाषा, प्रयोजन, गुण-दोष तथा विविध अंगों पर विचार किया है। रस और अलंकारों को विशेष महत्व दिया गया है तथा मूल-प्रवृत्ति काव्य की परिभाषा की ओर रही है। भामह ने 'शब्दार्थौ सहितं काव्यम्', मम्मट ने 'तददोषी शब्दार्थौ', विश्वनाथ ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' माना है। इन परिभाषाओं में वाह्य अन्तर होते हुए भी वास्तविक अन्तर नही है; क्योंकि प्रायः सभी आचार्यों ने रस को ही काव्य की आत्मा अंगीकर किया है और छंद को उसका सहायक तथा गुणों को उत्कर्ष-हेतुक माना है।

अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये विशिष्ट ढंग के पदों का प्रयोग करने को 'रीति' संज्ञा दी है, जो वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली-भेद से तीन प्रकार की मानी गई है। गुणों की संख्या के विषय में मतभेद है, परन्तु आचार्य मम्मट द्वारा प्रतिपादित माधुर्य, ओज और प्रसाद—ये तीन गुण ही अधिक मान्य हैं। रीति को ही आधुनिक युग मे 'शैली' कहा गया है। काव्य का निर्दोष होना आवश्यक है। दोष वही है, जिससे मुख्य अर्थ का अपकर्ष हो। शब्द, रस और अर्थ-विषयक अनेक प्रकार के दोष माने गये है। काव्य के प्रयोजन के प्रश्न पर भी प्रायः सभी आचार्य एकमत है और मम्मट के स्वर मिलाकर मानते हैं :

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।

अर्थात्—काव्य की रचना, यश की प्राप्ति, धन की अधिगति, व्यवहार-ज्ञान, अमंगल-निवारण, श्रवणानन्तर तत्क्षण ही अलौकिक आनन्द की प्राप्ति और कान्तावत् मधुर प्रभावोत्पादक उपदेश के लिए होती है, किन्तु मध्ययुगीन सन्त-कवि यश, अर्थ आदि के प्रलोभनों से प्रेरित नही थे। उस युग के प्रतिनिधि कवि तुलसी ने स्पष्ट लिखा है :

'स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबन्ध मतिमञ्जुल मातनोति।'

तत्कालीन सभी सन्त कवियों के विषय में यह उक्ति पूर्णतया चरितार्थ होती है। उनका एकमात्र उद्देश्य अपने प्रभु का गुणगान करना था, फिर भी हम प्रचलित परिपाटी के अनुसार काव्याङ्गों को दृष्टिकोण मे रखते हुए सूर के काव्य का विवेचन करेंगे।

काव्य-कला के विषय में पाश्चात्य और पूर्वीय दृष्टिकोणो में विभिन्नता है। प्राचीन यूनान में काव्य-कला में नैतिक दृष्टिकोण को महत्व दिया गया और काव्य को कुछ उपदेशक जैसे रूप में स्वीकार किया गया तथा काव्य मे जीवन के सत्य का स्वच्छ प्रतिबिम्ब बताया गया था। अरिस्टोटिल ने काव्य के सम्बन्ध में अनुकरण को महत्व दिया, परन्तु काव्यात्मक अनुकरण को भावना मे स्वीकार किया। रोमन आलोचकों ने भी कविता को जीवन का अनुकरण माना है। इटली मे आलोचकों ने प्रकृति के अनुकरण को प्रश्रय दिया और प्राकृतिक सत्य और आदर्शो का अनुगमन काव्य-कला के लिए आवश्यक माना। धीरे-धीरे काव्य-कला में कल्पना को प्रधानता मिलती गई। बेकन ने कल्पना को मानसिक शक्ति के अर्थ में प्रयुक्त किया है और उसे काव्यात्मक सूझ की जननी बताया है। आधुनिक आलोचकों ने कल्पना की अनेक प्रकार से व्याख्या की है। वर्तमान काल के प्रसिद्ध आलोचक आई० ए० रिचर्ड्स ने कल्पना के छः अर्थ किये है और कालरिज के अनुसार कवि को संसार को नाना प्रकार की अनुभूतियों का सामंजस्य करने वाला माना गया है। भारतीय मत से कवित्व को जन्मसिद्ध बताया गया है और ईश्वर-प्रदत्त शक्ति, निपुणता, शास्त्र-काव्य आदि ग्रन्थों का पर्यवेक्षण, काव्यज्ञों से शिक्षा-ग्रहण एवं पुनः-पुनः अभ्यास; इन सब को समन्वित रूप से उसका हेतु माना गया है।[1] कवित्व को सस्कार-जन्य स्वीकार किया गया है। 'काव्य-मीमांसा' मे राजशेखर ने शक्ति को काव्य का हेतु माना है, जो समाधि और अभ्यास से उद्भूत होती है। मन की एकाग्रता को समाधि और बार-बार एक ही क्रिया के अवलम्बन को अभ्यास कहते है। वास्तव में कवि पहले अपनी असाधारण सूझ से बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् का निरीक्षण करता है और फिर कल्पना, बुद्धि और भाव-तत्वों के सहारे उस निरीक्षण को कविता का रूप देता है। उसकी मानसिक अनुभूति ही कविता का रूप धारण करती है। इटली के आधुनिक मीमांसक 'क्रोचे' ने कवि की आन्तरिक अभिव्यक्ति को बहुत महत्व दिया है, जबकि 'फ्रायड' स्नायु-व्यतिक्रम के शोध को ही कलात्मक रचना मानता है। युँग और एडलर भी चेतन और अचेतन के व्यापारों के समन्वय में कविता के रूप को देखते है। इस प्रकार काव्य-कला का आधार अब ज्ञानात्मक की अपेक्षा भावात्मक अधिक माना जाने लगा है। वास्तव मे सच्ची कविता में हृदय और मस्तिष्क दोनों ही का संयोग रहता है। भारतीय परम्परा के अनुकूल तो भाव ही रस से परिणत होता है।

---

१ शक्तिर्निपुणता लोक शास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे। काव्य-प्रकाश, प्रथम उल्लास

भक्त-कवि सूरदास का अध्ययन करते समय यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनके पदों का आधार भाव ही है। भक्ति-भाव से प्रेरित होकर ही वे कविता के क्षेत्र में प्रवृत्त हुए। कवि की रचना मे उसके व्यक्तित्व की छाप रहती है। उसका व्यक्तित्व उसकी शैली से साफ झलक जाता है। सूर के भाव-विधान में मनोवैज्ञानिकता को विशेष स्थान मिला है। उनका वात्सल्य और विरह का चित्रण तो विश्व-साहित्य में अपना जोड़ नही रखता। आलोचना के नवीनतम सिद्धान्तों की कसौटी पर भी जिसके अनुसार मनोविश्लेषण का बड़ा महत्व है, उनकी कविता खरी उतरती है और भारतीय आलोचना-पद्धति के अनुसार भी सूरदास महान् कवि ठहरते हैं। काव्य के भाव-पक्ष और कला-पक्ष दोनो मे ही वे अनुपम है। इन्ही दोनों पक्षों को अनुभूति-पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष भी कहा जाता है। पाश्चात्य समीक्षकों द्वारा प्रतिपादित रागात्मक-तत्व, कल्पना-तत्व, बुद्धि-तत्व और शैली-तत्व तथा भारतीय आलोचकों के भाषा, शैली, रस और अलंकार-विधान आदि तत्वों का समाहार इन्हीं दोनो के अन्तर्गत हो जाता है। अभिव्यक्ति में शैली ही प्रधान तत्व है। यद्यपि शैली एक प्रकार से अभिव्यक्ति का ही ढंग है, जिसका सम्बन्ध आकार से ही प्रतीत होता है फिर भी हम उसे वस्तु अथवा भाव से अलग नहीं कर सकते। भारतीय काव्य-शास्त्र के अनुकूल शैली का सम्बन्ध कवि के व्यक्तित्व से है। दण्डी और कुन्तक ने इसका समर्थन किया है। जिस प्रकार शक्तिमान् व्यक्ति और उसकी शक्ति में भेद नही किया जा सकता, उसी प्रकार व्यक्ति और शैली का भी भेद नही किया जा सकता। यही कारण है कि भारतीय आचार्यों ने शैली का सम्बन्ध काव्य की आत्मा—रस से माना है, और रीतियों को गुणों के आश्रित बताया है। इससे स्पष्ट है कि शैली का सम्बन्ध केवल भाषा से ही नहीं है। अब हम पहले सूर की शैली पर ही विचार करेंगे।

गेय पद शैली

काव्य-शास्त्रियों ने विषयानुसार शैली पर बड़ा बल दिया है और इसी दृष्टिकोण से वर्णों में माधुर्य आदि गुणों के अस्तित्व की कल्पना की है। वर्णो का यह गुण-विभाग उनके द्वारा श्रवणेन्द्रिय के माध्यम से उपलब्ध मानसिक आनन्द की मात्रा पर निर्भर है और मानसिक उल्लास की मात्रा वर्णों के उच्चारण-स्थान, प्रयत्न आदि से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। वर्णों में भी स्वरों का स्थान प्रमुख है। स्वरों मे स्वयं कोमलता और माधुर्य रहता है। यही कारण है कि स्वर-हीन संयुक्त वर्णो का प्रयोग कोमल भावों की व्यंजना में साहित्य के आचार्यों ने स्पृहणीय नही माना है। स्वरों के उच्चारण-काल को दृष्टिकोण में रख कर उनका ह्रस्व और दीर्घ श्रेणियों मे विभाजन किया गया, जिनके आधार पर लय को ध्यान में रखते हुए, स्वरों के आरोह-अवरोह के तारतम्य से और भी अधिक श्रुतिसुखदाता का समावेश कर अनेक छन्दों की कल्पना की गई। यद्यपि मात्रिक छन्द के अतिरिक्त अनेक वर्णिक छन्द भी पिंगल शास्त्र में बताये गये है, परन्तु उनका यह भेद औपचारिक ही प्रतीत होता है। वास्तविक बात तो यह है कि वर्णिक छन्दों में भी गुरु, लघु का स्थान-क्रम निश्चित रहता है और यह गुरु-लघु का भेद स्वरों की उच्चारण-काल की मात्रा से ही सम्बद्ध है। संस्कृत के पिंगल शास्त्र में छोटे-बड़े अनेक वर्णिक और मात्रिक छन्द मिलते हैं, जिनमें अधिकांश विरासत के रूप मे हिन्दी-साहित्य को भी प्राप्त हुए। वर्णिक छन्दों की अपेक्षा मात्रिक छन्दों में कवि को उपयुक्त शब्दों का प्रयोग करने में अधिक सुविधा और स्वतन्त्रता रहती है, क्योंकि उसमे ह्रस्व और दीर्घ मात्राओं के स्थान-क्रम का उतना ध्यान रखना अपेक्षित नहीं होता, जितना वर्णिक छन्दों में। यही कारण

है कि हिन्दी-साहित्य मे मात्रिक छन्दों का ही अधिक प्रयोग हुआ है। धीरे-धीरे अनेक मात्रिक छन्दों की सृष्टि हुई भी। यद्यपि वृत्तों का श्रुतिसुख द्वारा मानसिक आनन्द में योग देने का कार्य अनुपेक्षणीय है, तथापि भावात्मकता ही काव्यानन्द का प्रधान मूल है, जिसके ऊपर आनन्द में केवल सहयोग देने वाले छन्द को प्राधान्य नही दिया जा सकता। परन्तु जब शनैः शनैः लोगों ने आत्मा की अपेक्षा शरीर को महत्व देना प्रारम्भ किया—आध्यात्मिकता से भौतिकता को महत्वपूर्ण समझा—तो भाव की अपेक्षा शैली, भाषा और छन्द को ही मुख्य समझा जाने लगा; फलस्वरूप ऐसी रचनाओं को भी साहित्य-साम्राज्य में कदम रखने का साहस हो उठा, जो वृत्त के लम्बे-चौड़े क्षेत्र में विभिन्न वर्णों की सिस्टमैटिक कवायद ही कही जा सकती है। छन्द के बंध में तुक का हुक डालकर खींचातानी होने लगी और ठोक-पीटकर कविराज बनने की धुन बहुतों को सवार हुई। इस काण्ड की प्रतिक्रिया के रूप मे इस नवीन युग मे राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि दासताओं से मुक्त होने के साथ ही साथ छन्द के बन्धन से भी मुक्त होने की बात कवियों को सूझी, प्रयत्न हुए और आखिरकार कवि ने छन्द को दूर से ही नमस्कार किया। अपनी समझ में तो उन्होने छन्दो से छुटकारा पा लिया, परन्तु छन्द के भूत ने उनका पीछा फिर भी न छोड़ा। उनकी रचना की पंक्तियाँ कही तो लज्जा, भय और संकोच से ठिठक कर अपने आप मे ही स्वयं को दुहराती हुई संकीर्ण विचारों वाली कुलबधू-सी प्रतीत होती है, तो कही अपने क्षेत्र से भी चार कदम आगे हाथ मारती हुई स्वच्छन्द प्रकृति की अत्यन्त फार्वर्ड लेडी का रूप धारण कर लेती है। ऐसी रचना को बहुत से लोग 'कविता का कार्टून' कह सकते है, पर छन्द प्रेमियों को तो वहाँ भी 'रबड' छन्द और 'केंचुआ' छन्द के लक्षण परिलक्षित हो ही जाते हैं। अस्तु, साहित्य-क्षेत्र मे छन्द के निर्वासन में परिणत होने वाली इस 'रक्तहीन' क्रांति का क्या प्रभाव हुआ या होगा, इसका विवेचन करना हमारा विषय नहीं है। हम तो यही कहना चाहते है कि जिस प्रकार निर्मल आत्मा और स्वस्थ शरीर का समन्वय सुखद होता है, उसी प्रकार भाव और शैली—जिसके अन्तर्गत छन्द भी हैं—का उचित समन्वय भी। कहने की आवश्यकता नही कि सूर की रचना मे यह सामञ्जस्य पूर्णतया सन्तुलित रूप मे मिलता है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि स्वरों के आरोह-अवरोह से काव्य में श्रुति-सुखदाता का संचार होता है और स्वरों के उतार-चढ़ाव का चरमोत्कर्ष राग-रागनियों मे मिलता है। यही कारण है कि हृदय के कोमलतम भावों की अभिव्यंजना के लिए कवियों ने प्रायः गीत-शैली का ही आश्रय लिया है। हृदय की रागात्मिका-वृत्ति के योग से जब सुख और दुख की अनुभूति तीव्रतम होकर अनेक भावों की उमड़ती हुई धारा में समस्त पुरुषता और कलुषता का प्रक्षालन करती हुई अकस्मात् कल-कल ध्वनि से कवि के कण्ठ से फूट पडती है तो उसे 'गीत' की संज्ञा प्राप्त हो जाती है। तभी तो कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने कहा है।

> वियोगी होगा पहला कवि, आह से निकला होगा गान।
> उमड़ कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान।।

'पहला कवि' वियोगी रहा हो या न रहा हो, पर उसका गान 'आह' से ही निकला था; उसकी कविता चुपचाप न सही, आँखों से ही बही थी और अनजान बही थी। सब मानते हैं कि आदि कवि का शोक ही श्लोकत्व को प्राप्त हुआ था।

भगवान् के शील, शक्ति और सौन्दर्य मे से हमारे कवि ने उनके सौन्दर्य-रस की मादकता में मस्त होकर 'अनजान' जो गीत गाये, उनमें न तो तुलसी के काव्य के समान शील-पालन-दृढ़ता

की कठोरता है और न चारण कवियों के काव्य के समान 'शक्ति' की उद्धतता और विकटता; केवल आँखों से चुपचाप बहती हुई भावधारा है, जो आराध्य के रूपदर्शन से उद्वेलित होकर मोतियों के रूप मे झर-झर ध्वनि से उसी के चरणों पर ढुलक जाती है—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये ।

बाबू गुलाबराय जी ने अपने 'सिद्धान्त और अध्ययन' मे प्रगीत का लक्षण देते हुए लिखा है—

"संक्षेप मे प्रगीत-काव्य के तत्व इस प्रकार है—संगीतात्मकता और उसके अनुकूल सरस प्रवाहमयी कोमल-कान्त पदावली, निजी रागात्मकता (जो प्राय: आत्म-निवेदन के रूप मे प्रकट होती है), संक्षिप्तता और भाव की एकता, यह काव्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक अन्त: प्रेरित (Spontaneous) होता है और इसी कारण इसमें कला होते हुए भी कृत्रिमता का अभाव रहता है।"[१]

सूर की रचना में गीत-काव्य के ये सभी लक्षण पाये जाते हैं। वास्तव में यह कोई नई शैली नही थी, अपितु भारतीय साहित्य में युग-युगान्तर से चली आती हुई एक परम्परा थी, जिसमे विशेष विभूतियों द्वारा समय-समय पर परिवर्तन, परिवर्द्धन और संशोधन होते रहे है। इस गीत-शैली का उद्भव कब हुआ, यह निर्णय करना अत्यन्त दुष्कर है, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि गीतों का इतिहास इतना ही पुराना है, जितना स्वयं भाषा का, तथा भाषा के मूल तत्वों मे गीत के भी मूलतत्व निहित मिल सकते हैं। मनुष्य भाषा का आधार लिये बिना ही स्वान्त: सुखाय कुछ गुनगुनाता प्राय: देखा जाता है। अपने भावों को प्रकट करने के लिए स्वर और लहजे में हम अब भी परिवर्तन कर ही लेते हैं—विशेषकर जब भाषा को अपनी मानसिक दशा की सूचना देने में असमर्थ पाते है। कदाचित् इसी स्वर-परिवर्तन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर शनै:-शनै: मानव-जाति के विकास के साथ-साथ मनुष्य ने संगीत के स्वरों की कल्पना की और फिर उनका श्रेणी-विभाग कर व्यवस्थित रूप दिया और विकसित होते-होते इसने स्वतन्त्र कला का रूप धारण कर लिया। प्रारम्भ में गीत वैयक्तिक रूप से मनोरंजन के साधन के रूप में प्रचलित रहे होंगे और फिर धीरे-धीरे वे सामाजिक रूप से जनता का मनोरंजन करने मे प्रयुक्त होने लगे होगे। विशेष अवसरों और उत्सवों पर लोकगीतों का आयोजन अत्यन्त प्राचीनकाल से चला आ रहा है। वैदिक काल मे अनेक प्रकार के यज्ञ प्रचलित थे, जिनमे 'रथन्तरादि' अनेक प्रकार के गीत गाने की प्रथा थी। अन्य सामाजिक कार्यों और पर्वों पर भी इसी प्रकार के गीत गाये जाते रहे और मनुष्य मे जैसे-जैसे सामाजिकता बढती गई, वैसे-वैसे ही गीत भी उत्तरोत्तर सामाजिकता की विस्तृततर परिधि में स्थान पाते रहे। इन गीतों का प्रारम्भिक रूप धार्मिक रहा होगा, क्योंकि प्राचीन भारतीय जीवन के प्रत्येक पहलू पर धर्म की छाप लगी हुई थी; प्रत्येक वस्तु का मापदण्ड धर्म था, जिसका आचरण मुख्य समझा जाता था, और अन्य क्रियाएँ आनुषंगिक। समाज की प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब कला और साहित्य मे झलकना स्वाभाविक है, अत: प्राचीन शान्तिप्रिय, आध्यात्मिकतापर और सरल-प्रकृति समाज के व्यक्ति भी शान्ति और विरक्ति के गीत गाते हुए चले। समय-चक्र के परिवर्तन के साथ-साथ समाज मे भी परिवर्तन हुआ, जीवित रहने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को संघर्ष मे पड़ना आवश्यक हो उठा और शक्तिशाली ही जीने का अधिकारी माना जाने लगा, तो संघर्ष और उग्रता का समावेश गीतों में भी हो गया।

---

१ 'सिद्धान्त और अध्ययन' प्रथम संस्करण, पृष्ठ १०८

हम यह कह आये हैं कि गीत-शैली हृदय की कोमल भावनाओं को व्यक्त करने के लिए नितान्त उपयुक्त है, क्योंकि गीत लय की मधुर लहरियों को स्वरों के रेशमी सूत्र मे बाँध कर चलते है। यही कारण है कि प्राचीन गीतों मे अधिकतर शृङ्गार, करुण और शान्त रसों की ही अभिव्यक्ति हुई है और वीर-रस के गीत बहुत कम मिलते हैं। धीरे-धीरे भाषा का विकास हुआ, और ओजोमय शब्दों को भी गीतों में ढालने का प्रयास कवि-गण करने लगे। वीरगाथा-काल में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिल सकते है। राजस्थानी कवियों के गीत इस दिशा में कदाचित् भारत के अन्य प्रदेशों में प्रचलित गीतों में सबसे आगे है। आजकल प्रगतिवादी कवियों के उद्बोधनात्मक गीतो में भी पर्याप्त ओज मिलता है, परन्तु उत्तरकालीन संस्कृत-साहित्य मे विशेषकर मुक्तक पद्यों में—शृङ्गार की ही भरमार मिलती है। बात यह है कि मनोरजन को हेय समझकर अनवरत आत्म-चिन्तन मे रत रहने वाले आर्य जब आभीर जाति के सम्पर्क में आये, तो उनकी मनोवृत्ति कुछ परिवर्तित हुई। आभीर जाति "खाओ, पियो, मौज उड़ाओ"—वाले सिद्धान्त में विश्वास रखती थी। अनेक प्रकार के मनोरंजन-प्रधान शृङ्गारिक गीत इस जाति में प्रचलित थे। उन लोगों की साधना में भी माधुर्य की चाँस थी, वे बालगोपाल की पूजा एवं भक्ति और उसी की मधुर लीलाओं का गान करते थे। संसार को अनित्य मानकर भी उसके लौकिक सुखद पक्ष का यावज्जीवन उपभोग करने के पक्षपाती थे। आर्य जाति पर भी इसका प्रभाव पड़ा, बाल-गोपाल की पूजा होने लगी और मनोरंजन-प्रधान शृङ्गारिक गीतो की रचना भी।

संस्कृत-साहित्य की यह प्रवृत्ति संस्कृत से अलग होकर स्वतन्त्र रूप से विकसित होती हुई प्रान्तीय भाषाओं में भी आई। सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सुसंगठित, एकच्छत्र साम्राज्य के अभाव में देश की राजनीतिक स्थिति डावाँडोल हो गई। छोटे-छोटे विभिन्न राज्यों के शासक युद्धों में रत हो गये। आठवीं शताब्दी में मुसलमानों के भी कुछ आक्रमण सिन्ध की ओर हुए। इस समय अपभ्रंश भाषा का पर्याप्त विकास हो चुका था और देश-भाषाओं में उसे साहित्यिक भाषा का पद भी प्राप्त हो चुका था। इस काल के साहित्य पर जहाँ एक ओर उत्तरकालीन संस्कृत-साहित्य की शृङ्गारिक परम्परा का प्रभाव पड़ा, वहाँ तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक स्थिति का प्रभाव पड़ने के कारण वीर-रस का भी समावेश हुआ। यही कारण है कि अपभ्रंश साहित्य में वीर और शृंगार—दोनों ही रस समानान्तर चले। वीरगाथा-काल में भी यही स्थिति रही, जिसके फलस्वरूप शृंगार और वीर-रस के तत्कालीन अनेक गेय पद हमे प्राप्त है।

इसी बीच में भागवत में प्रतिपादित भक्ति समयानुसार अपना रूप-परिवर्तन करती हुई शङ्कर के मायावाद से टक्कर लेती हुई आगे बढ़ रही थी, यह हम बता चुके है। साहित्य में परम्परा से चली आती हुई शृङ्गार और प्रेम की भावना के साथ अनेक कवियो ने भगवत्प्रेम का समन्वय किया। अपने उपास्य का शृङ्गार और प्रणय-वर्णन करने में अनेक कवि भाव-विभोर होने लगे। अपने वर्णनों के लिये इन्होने गीत-शैली को ही चुना। शृङ्गार, भक्ति और वात्सल्य की त्रिवेणी का अपने पदों मे समावेश कर इन कवियों ने पग-पग पर प्रयाग का सृजन किया, जिसकी यात्रा करके साधारण जनता भी मन का मैल धोने लगी। जयदेव का 'गीत-गोविन्द' इस सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसके गीत आज भी उत्तर-प्रदेश के पूर्वी सीमान्त तथा बिहार मे साधारण गायक और भजनीकों द्वारा गाये जाते हुए सुने जाते हैं। इधर मैथिल-कोकिल विद्यापति ने भी अपने राधाकृष्ण विषयक शृंगारिक गीतो की ऐसी तान छेड़ी, जिसकी कूक विविध-कवि-विहगवृन्द की कल-कल ध्वनि को पराभूत कर मिथिला के आम्रकुंज-पुंजों को गुंजित करती हुई

दक्षिण की ओर से प्रवृत्त भक्ति-समीर का आधार ले उत्तर की ओर बढ़कर ब्रज में कालिन्दी कूलस्थ कदम्बो को आन्दोलित करती हुई वृन्दावन के 'कोटिनहू कलधौत के धाम' से भी सुन्दर करीर कुंजवृन्दों में गूंजने लगी। 'नाथ' और 'सिद्ध' सम्प्रदाय के बानियों ने भी अपनी बानियाँ लोकभाषा के पदों में ही जनता को सुनाई और उनके उत्तराधिकारी सन्त कवियों ने राम की 'बहुरिया' बनकर इस गीत-शैली के माध्यम से अपनी प्रेम-भावना को प्रकट किया।

इस प्रकार अपनी भक्ति-भावना को व्यक्त करने के लिये सूर को एक परम्परागत विकसित गीत-शैली प्राप्त थी, परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों का अन्धानुसरण किया है। उनके पदों पर न तो वीरगाथा-कालीन चारण और भाटों का ही प्रभाव लक्षित होता है और न नाथ और सिद्ध-सम्प्रदायों के प्रचारकों का ही; हाँ 'निर्गुनिये' सन्त कवियो का प्रभाव अवश्य दीख पड़ता है। उनके विनय के पदों के भाव, भाषा, पद-विन्यास; सभी सन्त-काव्य से प्रभावित हैं। बात यह है कि ये पद आचार्य वल्लभ द्वारा पुष्टि-सम्प्रदाय मे दीक्षित किये जाने से पूर्व ही सूर ने लिखे थे। तब तक उनकी भक्ति-भावना में स्थिरता न आ पाई थी। कभी तो वे सन्तों की भाँति साकार और निराकार के बीच मे खड़े हुए, कभी इस ओर और कभी उस ओर झुकते और कभी तुलसी की भाँति "प्रभु हौं सब पतितन कौ टीकौ" कह कर प्रभु के चरणों में सिर टेक देते थे; कभी परमात्मा को भीतर और कभी बाहर खोजते थे। परन्तु पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् जब वे स्थितप्रज्ञ होकर "सब विधि अगम विचारहि तातै सूर सगुन-लीला पद गावै" कहकर भगवान् कृष्ण का चरित-गान करने बैठे, तो उनके पदों का चोला भी बदल गया और उनकी गीत-शैली जयदेव और विद्यापति की शृङ्गार भावना और कोमल-कान्त पदावली को आत्मसात् करती हुई (साथ ही अपने व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता की रक्षा करती हुई) विकसित हुई। सूर ने केवल भाव-पक्ष मे ही नहीं, गीत-शैली के कलेवर भी में नवीनता का संचार किया है। आचार्य मुन्शीराम इस विषय में लिखते हैं।

"इस गायन में ऐसी कौनसी रागिनी है, जो सूरसागर मे न आई हो? कहा जाता है कि सूर के गान ऐसे राग और रागनियों मे हैं, जिनमें से कुछ के तो लक्षण भी अब प्राप्त नही हैं। ऐसी राग-रागनियाँ या तो सूर की अपनी सृष्टि है या अब उनका प्रचार नही है।"[१]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत भी इस विषय में उल्लेखनीय है :

"सूरसागर में कोई राग या रागिनी छूटी न होगी। इससे वह संगीत-प्रेमियों के लिये भी बड़ा भारी खजाना है"[२]

सूरदास जी का काव्य प्रबन्ध-काव्य नही है, उसमे कथा के प्रवाह का निर्वाह नहीं मिलता; भावात्मक स्थलों का ही मनोरम वर्णन मिलता है और कथा का तारतम्य जारी रखने के उद्देश्य से उन्हें जोड़ने के लिये यत्र-तत्र एकाध पद में घटनाओं का वर्णन भी कर दिया गया है। घटना-वर्णन में कवि की प्रवृत्ति रमी ही नही है। सत्य तो यह है कि सूर का उद्देश्य घटना-वर्णन अथवा कथा कहना नहीं था। उनका उद्देश्य था—अपने प्रभु के प्रेम में मस्त होकर उनके सौन्दर्य का वर्णन करते हुए मानस-भाव-रसामृत को पदों के प्रवाह मे बहा देना, जिससे सिक्त होकर जन-मनोभूमि में भगवद्-भक्ति का अंकुर फूट निकले। वे 'स्वामिनः सुखाय' नही, 'स्वान्तः सुखाय' रचना करते

१ सूर-सौरभ, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ३८३

२ आ० शुक्ल 'सूरदास' तृतीय संस्करण, पृष्ठ, २००

थे। महाकवि तुलसी के अनुसार वाणी का उपयोग प्रभु-गुणगान करना ही है। प्राकृतजन का गुणगान करने से तो सरस्वती भी सिर धुनकर पछताने लगती है।

आत्माभिव्यञ्जन के लिये मुक्तक-काव्य ही अधिक उपयुक्त है, क्योकि कथा के बन्धन मे बँधे हुए कलाकार के भाव बहुत दिनों से पिंजरे मे बन्द रहने वाले तोते के समान होते हैं, जो मुक्त कर दिए जाने पर भी अधिक दूर या ऊँचाई तक नहीं उड़ सकता और शीघ्र ही पुनः स्वयं पिंजरे में ही आ जाता है। इसलिये सूर ने मुक्तक-काव्य ही लिखा है। आत्माभिव्यंजन और मुक्तक-काव्य दोनो की दृष्टि से गीत-शैली ही अधिक उपयुक्त है। भाव-सुमन सौरभ के सुन्दर संचार के लिये, पवित्र-प्रेम-प्रवाह के प्रसार के लिये, शृङ्गार मञ्जुमंजरी के मधुमय विकास के लिये और कविता-कामिनी के कौतुकमय विलास के लिये गीत-शैली के सिवा और कौनसी शैली उपयुक्त हो सकती है? दूसरे, वे पुष्टि-मार्ग मे दीक्षित थे, जिसमे कीर्तन-गान को विशेष महत्व प्रदान किया गया है। वे श्रीनाथ जी के प्रधान कीर्तनकार थे, उनसे पहले शायद कुम्भनदास इस पद को सुशोभित करते थे। श्रीनाथजी की आठो समय की सेवा के अवसर पर कीर्तन के पद गाने की परिपाटी थी। इस प्रकार पुष्टि-मार्गीय भक्ति-पद्धति मे आरती और कीर्तन की परम्परा के साथ संगीत का भी सामंजस्य हो गया था। इस दृष्टि से भी सूर की रचना गेय होनी आवश्यक थी। इन्ही कारणों से हमारे भावुक भक्त-कवि ने अपने भाव गीत-शैली मे ही प्रकट किये है। काव्य और संगीत का जैसा सामंजस्य सूर के पदों मे मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। श्री शिखरचन्द जैन अपने 'सूर : एक अध्ययन' में लिखते है :

"संगीत-विषयक इस ज्ञान की कसौटी पर जब सूर कसे जाते है, तब वह बहुत ऊँचे उठ जाते हैं। वास्तव में यदि काव्य और संगीत का सच्चा समन्वय कोई प्रकृत रूप से कर सका है, तो वह सूर ही है।"[1]

तुलसी हिन्दी-साहित्य के सम्राट् हैं, उन्होंने भी गीत-शैली मे 'गीतावली' और 'विनय-पत्रिका' की रचना की है, परन्तु सूर जितनी सफलता उन्हे भी प्राप्त नही हुई। सूर और तुलसी की तुलना करते हुए इस विषय मे श्री जैन आगे कहते हैं :

"जहाँ तुलसी की पदावली संगीत के माधुर्य को किन्हीं अंशों मे कम कर देती है, वहाँ सूर की प्रकृत रूप से प्रस्तुत होने वाली शब्द-लहरी स्वाभाविकता, सादगी, अल्हड़पन और प्रसाद को मानस रूप से लिये हुए आगे बढ़ती है। तुलसी के अनावश्यक रूप से प्रयुक्त बड़े-बड़े रूपक भी संगीत-लहरी मे अवरोध उपस्थित करते है, पर सूर के रूपक—छोटे, आवश्यक फबते हुए, सरल, आकर्षक और संगीत के लिये उपयुक्त हैं। इसलिये तुलसी संगीत का वह माधुर्य न ला सके, जो उसका शृङ्गार है। ऐसा करने मे सूर समर्थ हो सके हैं। उन्होने संगीत की स्वर-लहरी को सरलता, भावुकता, प्रवणता और दक्षता के साथ प्रवाहित किया है।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह गीत-शैली सूर के हाथों में पड़कर मँज-सी गई है। जितनी सफलता के साथ सूर ने विभिन्न गेय छन्दों का प्रयोग किया है, उतनी सफलता के साथ अन्य कोई कवि नहीं कर सका है। उनके पदो की संगीतात्मकता सर्वतोभावेन स्तुत्य है। उनके समस्त पद संगीतमय हैं, प्रत्येक पद के साथ उसमें प्रयुक्त राग के नाम का उल्लेख; इस बात का प्रमाण है।

हम पहले कह आये हैं कि आभीर जाति में बाल-गोपाल की उपासना प्रचलित थी और यह जाति जीवन की सरसता में विश्वास रखती हुई मनोरंजन को पर्याप्त प्रश्रय देती थी। अपने

1 सूर : एक अध्ययन (शिखरचन्द जैन) पृष्ठ ३७

उपास्य की लीलाओं के गीत ये लोग गाते रहते थे । यह परम्परा चलती रही और सूर को भी इससे सम्बद्ध अनेक गीत प्राप्त होंगे । सूर की भक्ति भावना में भावों की प्रवणता, अनुभूति की तीव्रता और विश्वास की असन्दिग्धता का चरमोत्कर्ष है, जिसके कारण उनके पदों में गीत की स्वस्थ आत्मा की प्रतिष्ठा हो सकी है । सूर के विशाल मानस में भाव-रस का इतना उद्रेक था कि वह हठात् वाणी के बाँध को तोड़ता हुआ फूट पड़ा है । कृष्ण के सौन्दर्य, हाव-भाव और व्यापारों के चित्रण में, ब्रजवासी नर-नारियो की भावनाओं के प्रकाशन मे; गोप-बालकों के बालसखा-सुलभ केलि-कौतुक के अङ्कन मे; किशोरी, युवती और वृद्धाओं के चापल्य औत्सुक्य, वात्सल्य आदि के अभिव्यंजन में अपनी बन्द आँखों और उन्मुक्त कल्पना से भावजगत् के द्रष्टा और सृष्टा सूर ने वह कमाल हासिल किया कि हिन्दी के ही नही, विश्व-भाषाओं के गीतकार मात हैं । उनके पदों में उनकी 'सूरता' छिपाये नही छिपती । वैयक्तिकता और आत्माभिव्यंजन, जो गीत-काव्य का सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख लक्षण हैं, सूर के गीतों मे अथ से लेकर इति तक व्याप्त है । भाव की एकात्मकता, अनुभूति की स्वतःपूर्णता और अव्याहत व्याप्ति, जो मुक्तक-काव्य की प्राणवायु है, सूर के गीतों मे संचार करती हुई पाठक और श्रोता के हृदय पर अमिट चिन्ह बना जाती है । उनका एक-एक राग, एक-एक गीत अपने आप मे पूर्ण और रस-सृष्टि मे समर्थ है । आकार की दृष्टि से कही-कहीं सूर के पद गीत-काव्य की मर्यादा का उल्लंघन कर गये है, परन्तु ऐसा उन्हीं स्थलो पर हुआ है, जहाँ कवि कथा के तारतम्य को अक्षुण्ण रखने के लिये घटनाओं का वर्णन करता है । ऐसे पद अधिक सख्या मे है भी नही । दूसरी बात, जो सूर के पदों से खटकती है, वह पौराणिक प्रसंगों के सकेतों की भरमार तथा वर्ण्य विषय, भाषा आदि की पुनरावृत्ति है । कही-कही आवश्यकता से अधिक अलङ्कारों के भार से दबी हुई उनकी भारती अपनी वीणा के तारों को झंकृत करने मे भी अपने आपको असमर्थ-सी पाती है, परन्तु उसके उस गतिरोध में भी चित्रोपम सौन्दर्य है, जिसमे मूक जीवन का संचार स्पष्ट दीख पड़ता है । इन दोषो की धूमिल कालिमा 'सूरसागर' के जगमगाते रत्नो के प्रकाश को अधिकाधिक देदीप्यमान बनाने मे सहायिका ही प्रतीत होती है । भाव, कल्पना और सौन्दर्य का जैसा समन्वय सूर के पदों में है, ऐसा अन्यत्र दुष्प्राप्य है । भावपूर्ण गीत-शैली के शास्त्रीय परिष्कार मे सूर ने सचमुच बहुत बडा योग दिया है ।

महाकवि सूरदास की गेय-पद शैली मे हमें विविधता और विचित्रता दोनों के ही दर्शन होते हैं । यों तो उनसे पहले सन्त कवियों ने भी अपनी भावात्मक अनुभूति को व्यक्त करने के लिये इसी गेय-पद शैली का अनुशरण किया है और उनसे पहले गोरखबानी मे भी इस शैली के दर्शन होते है, परन्तु जैसा कि हम पहले कह चुके है, सूर के हाथों में पडकर इस शैली का रूप निखर आया है । एक ओर तो उन्होंने सन्त परम्परा से प्राप्त शैली का अनुसरण किया, और दूसरी ओर उनके काव्य से हमें उस शैली के भी दर्शन होते है, जो रागात्मक तत्वों से ही ओत-प्रोत है । ऐसे स्थल 'सूरसागर' में वे है, जहाँ सूर अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओ का वर्णन करते हैं या रतिनागर, रसिकेश्वर, गोपीवल्लभ कृष्ण की रति-क्रीड़ाओं का चित्रण करते है अथवा उनके विरह से सन्तप्त गोपियों के हृदय की भावनाओं का अभिव्यंजन करते है । इन तीनों ही स्थलों पर कवि भावोन्मुख हो उठता है और अपनी कल्पना की उड़ान में 'निरंकुशा हि कवयः' वाली उक्ति को चरितार्थ करता हुआ प्रतीत होता है । ऐसे स्थलों पर पुनरावृत्ति काव्य का दूषण न होकर भूषण हो जाती है । (कृष्ण और गोपियों के चरिण-चित्रण मे हम उन स्थलों का उल्लेख कर चुके हैं ।) एक छोटी-सी बात को लेकर भक्ति-भावना में तल्लीन कवि न जाने कितनी व्यापार-

योजनाएँ प्रस्तुत करता है ? कितने संचारियों की उद्भावना करता है और सूक्ष्म से सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तथ्यों का उद्घाटन करता है ? यशोदोत्संग-लालित बालकृष्ण सूर के परम इष्ट है। इन प्रसंगों में आनन्दवर्धनाचार्य की व्यंजना, कुन्तक की वक्रोक्ति और विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ की रसानुभूति—मानो दाँव-पेच से अपना-अपना सिक्का जमाने की धुन मे है। व्यजना के गहन से गहन अद्भुत व्यापार, वक्रोक्ति की विदग्ध जन-मनोरंजक शब्द-क्रीड़ा तथा रसों की सहृदय-वेद्य अनुभूति मानो साक्षात् रूप धारण करके अभिव्यजित होती है। यशोदा का हरि को पालने मे झुलाना यों ही उडती नजर से देखे जाने योग्य दृश्य नही है, इसमें मातृ-हृदय की विशालता की झाँकी है, जिसके दर्शन मात्र से हृदय पवित्र हो जाता है। हरि और यशोदा की चेष्टाएँ आज के मनोवैज्ञानिक के लिये नूतन भावों को प्रस्तुत करने वाली है :

जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै, दुलराय मल्हावै, जोइ-सोई कछु गावै।
मेरे लाल कौं आउ निदरियाँ, काहै न आन सुलावै।
तू काहैं नहिं बेगहिं आवै, तोको कान्ह बुलावै।
कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत है, कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै कै रहि, करि-करि सैन बतावै।
इहि अन्तर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरै गावै।
जो सुख सूर अमर-मुनि दुरलभ, सो नन्द भामिनि पावै।[1]

'हलरावै दुलराय मल्हावै' में शब्दों मे कैसा मनोवैज्ञानिक क्रम है? हलरावै मे कैसी अद्भुत व्यंजना है, और पूरे पद में बालसुलभ चपलता और विनोदपूर्ण सरल चेष्टाओं का कितना सुन्दर और स्वाभाविक तारतम्य है ? इस प्रकार बाल्य-वर्णन का प्रत्येक पद नवीन भाव, नवीन अभिव्यक्ति और नवीन कला का द्योतक है। तभी तो आचार्य शुक्ल ने कहा है :

"जितने विस्तृत और विशद रूप में बाल्य, जीवन का चित्रण इन्होने किया है उतने विस्तृत रूप में और किसी कवि ने नहीं किया। शैशव से लेकर कौमारावस्था तक के क्रम से लगे हुए न जाने कितने चित्र मौजूद हैं ? उनमें केवल बाहरी रूपों और चेष्टाओ का ही विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन नही है, कवि ने बालकों की अन्तःप्रकृति मे पूरा प्रवेश किया है, और अनेक भावों की सुन्दर स्वाभाविक व्यंजना की है।"[2]

सूर के इस बाल्य-वर्णन से ही वात्सल्य रस की सार्थकता सिद्ध होती है। आगे चलकर ग्वाल बालों के साथ कृष्ण का खेलना; गोचारण; गोपियों से बाल-बिहार आदि का वर्णन भी भावात्मक गेयपद-शैली में हुआ है। इन्हीं प्रसंगों मे सूर के वे गीतात्मक कथानक हैं, जिनमे भावात्मकता की अपेक्षा प्रबन्धात्मकता अधिक है। ऐसे प्रसंग या तो कृष्ण के अलौकिक कार्यों से, जैसे—राक्षसों का वध, वत्स-हरण आदि— से सम्बन्ध रखते हैं अथवा उनकी प्रेम-लीलाओं; जैसे—चीरहरण, दान-लीला, मानलीला आदि—से सम्बद्ध हैं। इन प्रसंगों में सरलता, स्वाभाविकता और सजीवता के ही विशेष दर्शन होते हैं। श्रीकृष्ण के विशिष्ट-क्रीड़ा-विषयक जो पद है, उनसे इन्हें अलग करके देखा जा सकता है, क्योंकि क्रीड़ा-विषयक पदों में रूपचित्रण के साथ-साथ संश्लिष्ट योजना और आलंकारिकता भी है। वास्तव में ऐसे ही पदों के लिये आचार्य शुक्ल की यह उक्ति चरितार्थ होती है :

---

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद, ६६१

२ सूरदास (आचार्य शुक्ल) पृष्ठ १७७

"वर्ण्य विषय की परिमिति के कारण वस्तु-विन्यास का जो संकोच सूर की रचना में दिखाई पड़ता है, उसकी बहुत कुछ कसर अलंकार रूप में लाये हुए पदार्थों के प्राचुर्य्य द्वारा पूरी हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रस्तुत रूप मे लाये हुए पदार्थों की संख्या बहुत अधिक है। यह दूसरे प्रकार की (आलंकारिक) रूप-योजना या व्यापार-योजना किसी और (प्रस्तुत) रूप के प्रभाव को बढ़ाने के लिए ही होती है।"[१]

मुरली-विषयक पदों को भी इसी कोटि मे रखा जा सकता है। विरह के पदों में कवि विशेष रूप से मुखर हो उठा है, और उसकी गेयपद-शैली अन्तर्मुखी हो गई है। यही कारण है कि इन पदों मे कवि के व्यक्तित्व की पूरी छाप मिलती है। सूर का विरह-वर्णन रीतिकालीन कवियों का विरह-वर्णन नही है, उनमे हमें भक्त की अन्तरात्मा के दर्शन होते है। काव्य-शास्त्र की दृष्टि से तो यह विरह-वर्णन शृङ्गार का रस-राजत्व प्रतिपादित करता ही है भक्ति-भावना की दृष्टि से भी हमें इसमें भक्त की विह्वल आत्मा के दर्शन होते हैं। वल्लभ और वैष्णव—दोनो ही सम्प्रदायों मे विरह को भक्ति का सोपान माना है, और कहना न होगा कि महाकवि सूरदास ने अपने विरह-वर्णन में इस तथ्य का पूर्णरूप से प्रतिपादन किया है।

दृष्टिकूट-पद शैली

सूरदास जी ने दृष्टिकूट-पद भी गेय शैली में लिखे है। इनमे स्वाभाविकता की अपेक्षा चमत्कारिकता, और सरलता की अपेक्षा दुरूहता अधिक है। 'साहित्य-लहरी' के पद तो दृष्टिकूट कहलाते ही हैं। 'सूरसागर' में भी इस प्रकार के पद मिलते है, जिनका उल्लेख हम 'सूरदास जी का साहित्य' अध्याय मे कर आये है। जिस प्रकार सत कवि भक्ति-भाव की अभिव्यक्ति के लिए साधारण गेयपद शैली को अपनाते थे, उसी प्रकार रहस्यात्मक भावो को प्रकट करने के लिए वे दृष्टिकूट-पदशैली का अनुसरण करते थे। आत्म-चिन्तन के गूढ़ विषयो को रहस्यात्मक भाषा मे प्रकट करने की परम्परा भारत में प्राचीन काल से ही चली आ रही थी। ऋग्वेद मे बहुत कुछ प्रतीक रूप में कहा गया है, उपनिषद् तो गुह्यविद्या का ही मुख्यरूप से प्रतिपादन करते हैं। इस शैली में जहाँ एक ओर गूढ़ विषय का प्रतिपादन होता था, वहाँ दूसरी ओर आलंकारिकता भी स्वाभाविक थी। आगे चलकर सस्कृत-काव्यो मे तो यह आलकारिकता और चमत्कारवादिता इतनी अधिक प्रिय हुई कि एक-एक अक्षरों के श्लोक बनाये गये और अन्वयमात्र से भिन्नार्थ रखने वाले काव्यों का प्रणयन हुआ। संस्कृत साहित्य में यह प्रवृत्ति 'नैषध-काव्य' तक चलती रही।

सिद्धों ने अपनी बानियों मे इसी रहस्यात्मक प्रवृत्ति को अपनाया। नाथपंथी हठयोगियों और कबीर-पंथियों ने भी इस प्रणाली को ग्रहण किया। कबीर की उलटबाँसियाँ तो प्रसिद्ध ही है। उधर चन्द्रवरदायी ने भी अपने 'रासो' में इसी प्रकार के पद लिखे है। अमीर खुसरो की पहेलियों को भी हम इसी श्रृङ्खला की कड़ी मानते हैं। इस परम्परा में रहस्यात्मक भावनाओ के साथ-साथ पाण्डित्य-प्रदर्शन की लालसा के भी दर्शन होते है।

भक्ति-साहित्य में इस शैली का सर्वप्रथम प्रयोग मैथिल-कोकिल विद्यापति ने किया। मलिक मुहम्मद जायसी के 'पद्मावत' में भी कहीं-कहीं हमे इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार होता है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी इस शैली में अनेक दोहे लिखे हैं, किन्तु इस शैली का परिमार्जित साहित्यक रूप हमें सूरदास जी के दृष्टिकूट पदों में मिलता है। साहित्य-लहरी इस शैली की प्रौढ़ रचना कही जा सकती है। सूरदास जी के पदों में जहाँ एक ओर चमत्कार की सृष्टि हुई है,

---

१ सूरदास (आचार्य शुक्ल) पृष्ठ १७०-१७१

वहाँ दूसरी ओर रहस्यात्मक सौन्दर्य का निरूपण भी हुआ है। सूर ने इस शैली को विद्यापति की भाँति केवल विरह के प्रसङ्गों में ही अपनाया है, अपितु अन्य प्रसङ्गों का वर्णन भी उन्होंने इस शैली में से किया है। सूरदास जी ने इस शैली मे राधा-कृष्ण की अनेक भंगिमाओं, मुद्राओं और रीति-कीड़ाओं का वर्णन किया है। साधारण पाठक की दृष्टि से यह अश्लीलतापरक ही है, परन्तु सूरदास जी ने तो उन्हे सहज समाधि के पद कहा है। इन पदों में यमक, श्लेष तथा रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकारों का प्रयोग हुआ है। साथ ही कुछ रूढ शब्द भी इन पदों में प्रयुक्त हुए है। ज्योतिष के ग्रन्थों की भाँति गणनापरक शब्दों का व्यवहार भी इन पदों में हुआ है।

वर्णनात्मक शैली

सूरदास जी ने एक और शैली का प्रयोग किया है, जिसे हम वर्णनात्मक शैली कह सकते हैं। इस शैली का प्रयोग कवि ने उन स्थलों पर किया है, जहाँ रूप, भाव अथवा कर्म-व्यापार का चित्रण न करके किन्ही आख्यान और पौराणिक प्रसंगों की ओर संकेत किया है अथवा आचारादि का उपदेश दिया है।

भागवत के वर्णनात्मक आख्यान

श्रीमद्भागवत के कथा-प्रसङ्गों पर आधारित अनेक पद सूरसागर मे बिखरे पड़े हैं, जिनकी संख्या अन्य स्कन्धो में नवम तथा दशम स्कन्धों की अपेक्षा अधिक है। ये ही पद इस कथन के आधार हैं कि—'सूरसागर की रचना भागवत के आधार पर हुई है।' इन कथा-प्रसंगों की शैली गेयपदों की शैली से भिन्न है। इस शैली में न तो कवि के व्यक्तित्व का ही प्रतिबिम्ब लक्षित होता है और न वर्णन का विस्तार अथवा संश्लिस्ट चित्रण ही पाया जाता है। काव्य-सौष्ठव का तो ऐसे स्थलों पर अभाव ही है, क्योंकि कवि की वृत्ति इन प्रसंगो में रमी नहीं। जान पड़ता है, जैसे कवि शीघ्रता से जैसे-तैसे वर्ण्य वस्तु का वर्णन करके अपने फर्ज से फारिग होने की धुन मे है और जल्दी से इस शुष्क मार्ग को काट कर सुरम्य भावपूर्ण स्थल पर पहुँचना चाहता है, जहाँ उसका मन रम सके। यही कारण है कि इन पदो से कवि की मानसिक स्थिति का परिचय प्राप्त नहीं होता, उसके मानस की गहराई का पता नहीं चलता, और न ही ये पद उनकी काव्य-प्रतिभा, भावुकता, बहुज्ञता और कला के सच्चे प्रतिनिधि हैं उनकी शैली मे कोई आकर्षण नही, छन्द भी चौपाई, चौबोला आदि काम चलाऊ ही प्रयुक्त हुए हैं।

दृश्य तथा वर्णन-विस्तार

सूरसागर में अनेक स्थल ऐसे भी हैं जहाँ कवि ने उत्सवों और दृश्यों का वर्णन किया है। कृष्ण के अन्नप्राशनादि संस्कार तथा भोजन आदि नित्य कर्मों से सम्बद्ध अनेक वर्णन उपलब्ध होते हैं, जिसमें व्यापारों और वस्तुओं की लम्बी-लम्बी सूचियों के अतिरिक्त और कुछ नही दीख पड़ता। बसन्त, होली-लीला, हिण्डोल-लीला आदि ऐसे ही प्रसङ्ग हैं। इन स्थलों पर कवि की कलाकारिक तल्लीनता और गम्भीरता न जाने कहाँ विलीन हो गई हैं ?

वर्णनात्मक कथानक

ब्रह्मा द्वारा बाल-वत्स-हरण, कालिय दमन-लीला, गोवर्द्धन-लीला, रास-लीला आदि वर्णनात्मक कथानकों में भी कवि का हृदय अनुरक्त नही हुआ। श्रीकृष्ण-विवाह के अतिरिक्त ये सभी वर्णन उन कथानकों की वर्णनात्मक शैली में आवृत्ति करने के लिए ही कदाचित् किये भी गये हैं, जिन्हें कवि गेयपद शैली मे सुना चुका है। इसका उद्देश्य शायद कथा को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत

करने का ही था। कवि का हृदय न रमने के कारण यद्यपि इन पदों मे द्रुतगामिता आ गई है, फिर भी कवि की आगे चलने की उतनी अधीरता द्योतित नही होती जितनी भागवत के छायानुवाद वाले स्थलों मे। इन प्रसङ्गों में छन्दो की नवीनता और रमणीयता के कारण शैली के सौन्दर्य मे वृद्धि अवश्य हो गई है, परन्तु भावों का मार्मिक चित्रण नही मिलता, फिर भी उस ओर संकेत करना कवि भूला नही।

भागवत से सूरसागर की तुलना करते हुए हमने उन प्रसंगों को उल्लेख किया है, जहाँ सूर ने पौराणिक आख्यानों की वर्णनात्मक शैली मे पदबद्ध किया है। इन प्रसङ्गों मे कवि ने इतिवृत्तात्मकता का ही आश्रय लिया है। इनकी घटनाओं के क्रम में संक्षिप्तता ही नहीं शैली की शिथिलता भी है। प्रायः तत्सम शब्दों का प्रयोग ही इन प्रसगों में हुआ है। संग्रहात्मक प्रतियो को ही प्रामाणिक मानने वाले विद्वान् तो इन प्रसंगों को प्रक्षिप्त ही मानते है। जहाँ कही कवि को सिद्धान्त-प्रतिपादन अभीष्ट है, वहाँ भी उनसे वर्णनात्मक शैली का ही अनुसरण किया है। कवित्व की दृष्टि से इस शैली का कोई विशेष महत्व नही है, क्योंकि न तो इसमे रूप-कल्पना का योग है, और न ही रागात्मक तत्व का समावेश। इन प्रसगों मे उसी प्रकार की द्रुतगामिता है, जैसी तुलसी के—"आगे चले बहुरि रघुराई, ऋष्यमूक पर्वत नियराई", जैसे स्थलो में। दशम स्कन्ध में आये हुए वर्णनात्मक पद अधिक ऊबाने वाले नहीं है, क्योंकि वहाँ तो अनेक गेयपदों के अनन्तर एकाध वर्णनात्मक पद भूषण का ही कार्य करता है। परन्तु और स्कन्धों में तो इस प्रकार के पदों की इतनी भरमार है कि पाठक ऊब-सा जाता है। सूरसागर की प्रबन्धात्मकता यत्किञ्चित् रूप मे इसी प्रकार के पदों पर आधारित है।

अलंकार-योजना

भारतीय काव्य-शास्त्र में अलंकारों की चर्चा रस से भी प्राचीन है। वास्तव में साहित्य-विद्या को प्राचीन आचार्यों ने अलंकार-शास्त्र के नाम से ही अभिहित किया है। आचार्य राजशेखर ने तो अलंकार-शास्त्र को वेदांग ही माना है और उसकी उत्पत्ति भगवान् शकर से बताई है। अलकार-शास्त्र की परम्परा शङ्करसे प्रारम्भ होकर ब्रह्मा के भरत, नन्दकिशोर, विषण तथा उपमन्यु नामक चार शिष्यों द्वारा प्रवृत्त हुई। इन आचार्यों का उल्लेख आगे के काव्य-शास्त्रों मे भी कहीं-कही मिलता है, परन्तु शास्त्रीय ढंग से अलंकार-शास्त्र की चर्चा भरत (ईसापूर्व प्रथम शताब्दी) से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ (ईसा की १७ वी शताब्दी) तक सस्कृत वाङ्मय मे चलती रही। इस दीर्घकाल मे कई सम्प्रदाय चले, परन्तु काव्य के लिये किसी न किसी रूप में अलंकार का महत्व सभी ने स्वीकार किया। रस-सम्प्रदाय, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि-सम्प्रदायो के अनेक आचार्य हुए है। प्राकृत और अपभ्रंश होती हुई यह परम्परा हिन्दी मे भी आई, यद्यपि हिन्दी के आदियुग मे कोई इस प्रकार का उल्लेखनीय अलंकार-ग्रन्थ नहीं मिलता। स्वयम्भू आदि प्राचीन कवियो के आधार पर चन्द की रचनाओ में काव्य-शास्त्र के कुछ उल्लेख मिलते हैं। चन्द की कविता से प्रतीत होता है कि वे रस-सिद्धान्त के पोषक थे, परन्तु उनकी रचना में अलकारों की कमी नही है। विद्यापति की रचना मे तो अलंकारों को स्पष्ट रूप से महत्व मिला ही है। सादृश्य-मूलक अर्थालंकारों की तो उनके काव्य में प्रचुरता है ही, शब्दालकारों की संख्या भी कुछ कम नही है। निर्गुण-सम्प्रदाय के सन्त कवियों को काव्य की दृष्टि से यद्यपि कुछ नही लिखा, तथापि उनकी वानियो मे अन्योक्ति, रूपक, उपमा आदि अलंकार पर्याप्त संख्या मे स्वय ही आ गये है, प्रेममार्गीय कवियों—विशेषकर जायसी—की अलंकार-योजना तो दर्शनीय ही है। सगुण भक्त

कवियों मे जहाँ एक ओर हिन्दी की पूर्व-प्रचलित काव्य-शैलियो के परिपक्व और परिनिष्ठत रूप के दर्शन होते है, वहाँ दूसरी ओर उनकी अलंकार-योजना भी कम महत्व की नही है। चैतन्य महाप्रभु के वृन्दावन निवासी छः शिष्यों ने रस और अलंकारों को किस प्रकार भक्ति के साँचे में ढाला है, इसका पहले उल्लेख कर चुके है। अष्टछापी कवि नन्ददास के विषय मे तो प्रसिद्ध ही है :

'औरै सब गढ़िया, नन्ददास जड़िया।'

काव्य में अलङ्कारो का महत्व तो है, परन्तु उसका स्थान क्या होना चाहिये ? यह बड़ा ही विवादग्रस्त विषय रहा है। आज के युग में अलंकारो को सर्वप्रथम स्थान तो नहीं दिया जाता, पर उनकी नितान्त अवहेलना भी साहित्यकार नही कर सके है। वे उन्हे भावों के उत्कर्ष-हेतु और सौन्दर्य-बोध में सहायक के रूप में ही ग्रहण करते हैं। किन्तु साधन पर ही दृष्टि केन्द्रित कर उसे साध्य रूप में देखने वाले 'भामह', 'उद्भट' आदि आचार्यों ने अलकार को भी काव्य में सर्व प्रमुख स्थान दिया। डण्डी ने उन्हें काव्य की शोभा का कारण ही माना।[1] किन्तु 'चन्द्रलोककार' ने तो यहाँ तक आक्षेप किया कि—यदि कोई काव्य को अलंकार रहित मानता है, तो अपने आपको पण्डित मानने वाला यह व्यक्ति अग्नि को उष्णता-रहित क्यों नही मानता—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥

हिन्दी मे रीति युग के प्रवर्त्तक केशवदास ने भी इन्ही आचार्यो के सुर में सुर मिला कर घोषणा कर दी कि—"भूषण बिनु नहिं राजई कविता वनिता मित्त।" वास्तव मे अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति ही (अलंकरोति इति अलंकारः, जो अलंकृत करे) इस बात का प्रमाण है कि—'अलंकार स्वयं साध्य न होकर, साधन है।' अग्नि-पुराण मे स्पष्ट कहा है—

"वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि सर एवात्र जीवितम्।"

जीवन-रहित शरीर पर अलंकारों की सज्जा हृदय में आह्लाद उत्पन्न करेगी या ग्लानि ? इसी प्रकार रस और भाव से हीन तुकबन्दी में यदि काट-छांट कर अलंकार जड़े जाये तो अपनी चमक-दमक से एक बार द्रष्टा की आँखों में चकाचौंध भले ही उत्पन्न कर दें, उसके मानस में स्पन्दन नही भर सकते। वास्तव में यदि कविता भावपूर्ण है और उसमे स्वाभाविक सौन्दर्य है, तो प्रभावोत्पादकता के लिये उसे अलंकारो का मुखापेक्षी नही बनना पड़ता। ऐसी कविता के लिए तो सीधी-सादी उक्ति भी अलंकार बन जाती है, 'किमिव हि मधुराणां मण्डन नाकृतीनाम्'।

सूर का काव्य भावों का उड़ता हुआ सागर है, जिसमें रस की थाह नहीं पायी जा सकती। भक्ति और वात्सल्य के भावों को रस कोटि तक पहुँचाने का श्रेय सूर को ही प्राप्त है, क्योकि इन भावों का ऐसा तीव्र एवं व्यापक अभिव्यंजन, जो रस के सारे शास्त्रीय अङ्गों से पुष्ट है, सूर के अतिरिक्त किसी कवि से हो नहीं पाया। जिस प्रकार उमड़ती हुई सरिता अपने कूल-नियमित सरल पथ में प्रवाहित होने में असमर्थ होकर नवीन-नवीन मार्ग खोज लेती है, इसी प्रकार अनुभूति और भावुकता के चरम विकास की स्थिति में कवि के कण्ठ से निकली हुई भाव-रस-धारा सीधी सरल भाषा के कूलों मे न समाती हुई चमत्कारपूर्ण वक्र कथनों के विस्तृत क्षेत्र मे फैल जाती है। असाधारण भावोद्रेक के कारण वर्णन में, वर्णन-शैली मे वक्रता और चमत्कृति आ ही जाती है, यह स्वाभाविक है। उन पाण्डित्य-प्रदर्शन-परायण कवियों की बात दूसरी है, जिन्हें भाव और अनुभूति के स्थान को चुन-चुन कर सजाये हुए शब्दों और

१ काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते, काव्यादर्श।

अलंकारों से भरकर कविता-कामिनी को हृदय-रहित प्रस्तर प्रतिमा के रूप में प्रस्तुत करने का व्यसन है। रससिद्ध कवियों की अलंकृत शैली उनके भाव-रत्नों की जगमगाहट से परिपूर्ण होने के कारण ही चमत्कारपूर्ण होती है, ऊपरी मुलम्मे वाली वस्तु के समान वाह्य चमक-दमक का मिथ्या आडम्बर ही नही रखती। सूर की रचना मे जैसी भाव-प्रवणता है, वैसी ही चमत्कृति भी। उनकी अलंकार-योजना मे न तो केशवदास के समान काव्यशास्त्र-ज्ञान-प्रदर्शन की प्रवृत्ति है, और न जायसी के समान एक-एक पंक्ति में कई-कई अलंकार ठूंसकर संकर और संसृष्टि करने का आग्रह ही। जहाँ रीतिकालीन कवि अनेक अलंकारों से सजाने की धुन में अपनी कविता-नागरी को ग्राम्य रूप देकर 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' वाली उक्ति को चरितार्थ कर आलोचकों के उपहास्य बने, वहाँ सूर ने भाव और कलापक्ष का उचित सन्तुलन रखकर अपनी कला को 'कला' ही बना दिया। आचार्य शुक्ल का कथन है—"सूर में जितनी सहृदयता है, उतनी ही वाग्विदग्धता।"

वास्तव मे सूर का वाग्वैदग्ध्य सहृदयता से समन्वित है। यही कारण है कि उनके काव्य में अलंकारों के घटाटोप के दर्शन नहीं होते और वे अपने रूप-चित्रण मे सर्वत्र सवेदनाशील दीख पड़ते है। उन्होंने अलकारों का प्रयोग विशेषकर सौन्दर्य-बोध के लिये ही किया है। किसी वस्तु के साक्षात्कार से जब कवि की सौन्दर्यानुभूति सजग हो उठती है, हृदय तल्लीन हो जाता है, तो उसकी कल्पना उस वस्तु के सौन्दर्य को अधिक हृदयग्राही और प्रभावोत्पादक बनाने के लिये अप्रस्तुत-व्यवहार योजना का सन्निवेश करने लगती है; उस समय कवि की रचना में अलंकारों का समावेश स्वतः हो जाता है। यही कारण है कि सूर की रचना मे हमें उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, प्रतिवस्तूपमा आदि अलंकारों के ही दर्शन होते हैं। उन्होंने अपनी अप्रस्तुत योजना में मानव और मानवेतर सभी व्यापार लिये है। इस प्रकार उनकी अलंकार-योजना मे सहज ही प्रकृति से तादात्म्य हो गया है। जहाँ कवि सांसारिकता से ऊबकर खिन्नमय से ऐसा स्थान खोजने को प्रयत्नशील होता है, जहाँ ऐहिक राग-विराग, मानापमान, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वो का अभाव हो वहाँ स्वाभाविक रूप से ही अन्योक्ति अलकार आ गया है।

सूर के काव्यों में शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का ही प्रयोग अधिक और स्वाभाविक हुआ है, क्योंकि शब्दालकार तो वर्ण-सौन्दर्य को ही विशेष रूप से प्रस्फुटित करते है। रूप-सौन्दर्य के लिये उनका इतना महत्व नही, जबकि सूर का उद्देश्य रूप-सौन्दर्य चित्रण और उसके द्वारा भाव-सौन्दर्य का पोषण करना था। यही कारण है कि शब्दालंकार विशेष रूप से 'साहित्य-लहरी' के अतिरिक्त अन्यत्र नही मिलते। 'साहित्य-लहरी' की रचना सम्भवतः शब्दालंकारो के प्रदर्शन के लिए ही हुई। शब्दालंकारों मे उन्होंने यमक, अनुप्रास, श्लेष, वीप्सा और वक्रोक्ति का विशेष प्रयोग किया है। श्लेष और यमक दृष्टिकूट पदो मे प्रचुर मात्रा मे मिलते है। अनुप्रास का प्रयोग तो सूर-काव्य मे अत्यन्त ही स्वाभाविक है, क्योंकि अनुप्रास द्वारा जहाँ एक ओर ध्वन्यात्मक सौन्दर्य का विधान होता है, वहाँ दूसरी ओर उससे वातावरण की सृष्टि भी। वीप्सा अलकार कवि के हृदय की भक्ति-भावना का ही परिचायक कहा जा सकता है, क्योंकि उसका प्रयोग उन्होने राधा और कृष्ण के अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य-रस-पान से तृप्त न होकर बार-बार स्वरूप वर्णन मे किया है। वक्रोक्ति का प्रयोग व्यंग्योक्तियों मे है। व्यंग्य को शृङ्गार रस का सर्वस्व कहा जा सकता है और शृङ्गार के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों में प्रेमी और प्रेमिकाओं द्वारा इसका आधार ग्रहण किया जाता है। सूर के काव्य में व्यंग्य को भी महत्वपूर्ण

स्थान मिला है। उसके वात्सल्य मे भी हमें व्यंग्य के दर्शन होते हैं। विरहिणी गोपियों की उक्तियाँ तो उनके भावो के साथ व्यग्य को भी लेकर निकलती हैं, इसलिए उनमें वक्रोक्ति के सुन्दर उदाहरण भरे पड़े है।

सूरसागर में अलंकार-रत्नों की भी कमी नहीं है। यदि कोई गोता लगाने का साहस कर सके तो चाहे जितने अलंकार निकाल सकता है। किन्तु हमारा अभिप्राय यहाँ पर अलंकारो का विस्तृत विश्लेषण और विवेचन नही है, केवल कतिपय अलंकारो का उल्लेख हम यहाँ करेंगे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, महाकवि सूर ने अपनी रचना मे अनेक अप्रस्तुत व्यापारों का आयोजन किया है, जिसके कारण उनमें सादृश्य-मूलक अलंकारो का प्राचुर्य है। सांगरूपक का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है, जिसके उदाहरण 'सूरसागर' मे भरे पड़े है। निम्नलिखित पद में शाही ठाट से सुशोभित पतितों के राजा 'सूर' को शायद पहिचान भी न सके।

हरि हौं सब पतितन कौ राजा।
निन्दा परमुख पूरि रह्यौ जग, यह निसान नित बाजा।
तृष्ना देश अरु सुभट मनोरथ, इन्द्री खड्ग हमारी।
मन्त्री काम कुमति दीबे कौ, क्रोध रहत प्रतिहारी।
गज अहंकार चढ्यौ दिगविजयी, लोभ छत्र करि सीस।
फौज असत-संगति को मेरे, ऐसौ हौ मैं ईस।
मोह-मय बन्दी गुन गावत, मागध दोष अपार।
सूर पाप कौ गढ़ दृढ़ कीन्हौं, मुहकम लाइ किवार।[1]

सांसारिक विषयों के चक्र मे पड़कर नट का वेश धारण कर नाचते-नाचते सूर थक गये और वे अपने आराध्य से प्रार्थना करते हैं कि इस माया-नृत्य से पीछा छुड़ायें :

अब हौं नाच्यौ बहुत गुपाल।
काम क्रोध कौ पहरि चोलना कंठ विषय की माल।
महा मोह के नूपुर बाजत निन्दा-शब्द रसाल।[2]

केवल उपमान का वर्णन कर उपमेय के गुणों की ओर सकेत करने से उक्ति में जो चमत्कार आ जाता है, उसे अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत का प्रशंसन करने के कारण अप्रस्तुत प्रशंसा कहते है। वर्ण्य वस्तु का नाम तक लिए बिना उसकी विशेषताओं के उद्घाटन का यह सीधा-सादा ढंग है। निम्नलिखित पद में गाय के वर्णन द्वारा प्रस्तुत अविद्या (माया) का सुन्दर वर्णन सूर ने किया है :

माधौ जू यह मेरी इक गाय।
अब आज तैं आप आगैं दई, लै आइयै चराइ।
यह अति हरहाई, हटकत हूँ, बहुत अमारग जाति।
फिरति बेद-वन ऊख उखारति, सब दिन अरु सब राति।
हित करि मिलै लेहु गोकुलपति, अपने गोधन माँह।
सुख सोऊँ सुनि बचन तुम्हारे, देहु कृपा करि बाँह।

१ सूरसागर (सभा) पद १४४
२ वही पद १५३

निधरक रहौ सूर के स्वामी, जनि मन जानौ फेरि।
मन-ममता रुचि सौं रखबारी, पहिलै लेहु निबेरि।[1]

सौन्दर्य की अनुभूति की पराकाष्ठा में सीधी-सादी भाषा में अभीष्ट प्रभाव की अभिव्यक्ति नही होती, तो कवि को कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है और वह अपनी सूक्ष्म दृष्टि से अनेकानेक उपमान खोज लाता है, जब इतने पर संतोष नही होता तो कल्पना द्वारा प्रस्तुत वस्तु के समान धर्म वाली वस्तुओं की सृष्टि कर उनसे उसका तादात्म्य स्थापित करता है। इस प्रकार उत्प्रेक्षा के अनेक रूप उसकी रचना मे आ जाते है। सूर ने उत्प्रेक्षा का बहुत ही अधिक प्रयोग किया है। कृष्ण के मुख की छवि का वर्णन देखिये :—

मुख छवि कहा कहौ बनाइ।
निरखि निसिपति बदन-सोभा गयौ गगन दुराइ।
अमृत अलि मनु पिवन आए, आइ रहे लुभाइ।
निकसि सर तै मीन मानौ, लरत कीर छुराइ।[2]

उत्प्रेक्षा के न जाने कितने उदाहरण सूर में भरे पड़े है।[3] रूप-चित्रण में दृष्टान्त और उपमा का भी सूर ने खूब प्रयोग किया है। उपमा का एक उदाहरण देखिये :—

हरि दरसन की साधु मुई।
उड़ियै उड़ी फिरति नैननि संग, कर फूटें ज्यों आक रुई।
× × × ×
सूखति सूर धान-अंकुर सी बिनु बरसा ज्यौं मूल तुई।[4]

मुरली मनोहर श्याम के सौन्दर्य का गोपियों पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ा है, जिसको द्योतित करने के लिए कवि उल्लेख अलंकार का आश्रय लेता है :—

हरि-प्रति-अंग नागरि निरखि।
दृष्टि रोमावली पर रही, बनत नाहीं परखि।
कोउ कहति यह काम-सरनी, कोउ कहत नहिं जोग।
कोउ कहति अलि-बाल-पंगति, जुरी एक संजोग।
कोउ कहति अहि काम पठयौ, डसै जिनि यह काहु।
स्याम रोमावली की छवि सूर नहिं निबाहु।[5]

इन्ही प्रसगों मे प्रतीप, सन्देह, अतिशयोक्ति, सभावना, व्यक्तिरेक, अपन्हुति आदि अलंकारो के उदाहरण भी द्रष्टव्य है :

प्रतीप—

देखि री हरि के चंचल नैन
× × ×
राजिवदल इंदीवर सतदल, कमल कुसेसय जाति।
निसि मुद्रित प्रातहिं वै विकसित, ये विकसित दिनराति।[6]

---

१ सूरसागर (सभा) पद ५१
२ वही पद ६७०
३ वही पद २७३, ७२२, ६६८
४ वही पद २४७३
५ वही पद १२५४
६ वही पद २४३१

सन्देह—

गोपी तजि लाज, संग स्याम-रंग भूली।
पूरन मुखचन्द देखि, नैन-कोई फूली।
कैधौ नव जलद स्वाति, चातक मनलाए।
किधौ वारि बूंद सीप हृदय हरष पाए।
रवि-छवि कैधौ निहारि, पंकज विकसाने।
किधौ चक्रवाकि निरखि, पतिही रतिमाने।
कैधौ मृग-जूथ जुरे, मुरली-धुनि रीझे।
सूर स्याम-मुख-मंडल-छवि, के रस भीजे।[1]

अतिशयोक्ति—

नन्द-नन्दन मुख देखौ माई।
× × ×

रूपकातिशयोक्ति—

खंजन, मीन, भृङ्ग, वारिज, मृग पर दृग अति रुचि पाई।

सम्बन्धातिशयोक्ति—

स्रुतिमंडल कुण्डल मकराकृत, विलसित मदन सदाई।[2]

भेदकातिशयोक्ति—

सखी री सुन्दरता कौ रंग।
छिन-छिन माँह परति छबि औरै कमल-नैन के अंग।
परमिति कर राख्यौ चाहति हैं, लागी डोलति संग।
× × × ×
सूरदास कछु कहत न आवै, भई गिरा-गति पंग।[3]

संभावना—

बडौ निठुर विधना यह देख्यौ।
जब तै आजु नन्द-नन्दन छबि, बार-बार करि पेख्यौ।
नख, अँगुरी, पग, जानु-जंघ, कटि रचि कीन्हौ निरमान।
हृदय, बाहु, कर, अंस, अंग-अंग, मुख सुन्दर अतिबान।
अधर, दसन, रसना, रस-बानी, स्रवन, नैन अरु भाल।
सूर रोम प्रति लोचन दे त्यौं, देखत बनत गुपाल।[4]

व्यतिरेक—

उपमा नैन न एक रही।
कवि जन कहत-कहत सब आए, सुधि करि नाहिं कही।
कहि चकोर विधु-मुख बिनु जीवत, भ्रमर नही उडि जात।

---

१ सूरसागर (सभा) पद १२६०
२ वही पद १२४४
३ सूरसागर पद १२५८
४ वही पद १२६१

हरि-मुख-कमल-कोष बिछूरे तैं, ठाले कत ठहरात।
ऊधौ बधिक व्याध ह्वै आये, मृग सम क्यों न पलात।[1]

× × ×

अपन्हुति—

चातक न होइ कोउ विरहिनि नारि।
अजहुँ पिय-पिय रजनि सुरति करि झूँठेहिं माँगत वारि।[2]

तथा रूपकगर्भित-अपन्हुति—

मधुकर हम न हौहिं वै बेलि।
जिन भजि तजि तुम फिरत और रंग करत-करत कुसुम-रस केलि।[3]

भगवान् के गुणानुवाद में अतिशयोक्ति, स्वभावोक्ति, अन्योक्ति और विरोधाभास अलंकारों का अधिक प्रयोग हुआ है। अर्थान्तिरन्यास और उदाहरण भी जहाँ-तहाँ पाये जाते है—चकई, भृंगी, सूआ आदि के प्रति कहे हुए पदों मे अन्योक्ति अलंकार के सुन्दर उदाहरण निहित हैं। भगवान् अकारण ही भक्तों और दीन जनों पर कृपा करते हैं, ऐसे भावों के प्रकाशन में विभावना अलंकार है।

प्रेम-गोपन के लिये सन्देह, विस्मयोत्पत्ति के लिये असंगति, असम्भव और विषय आदि अलंकारों का आश्रय लिया गया है। शिव और कृष्ण के रूप-वर्णन में सांगरूपक और श्लेष के साथ साथ अपन्हुति का भी प्रयोग हुआ है। राधा और कृष्ण के सौन्दर्य-वर्णन में व्यतिरेक का प्राचुर्य है प्राकृतिक दृश्यो के वर्णन में उत्प्रेक्षा और सांगरूपक का तथा संसार की असारता, यौवन की क्षण-भगुरता, भगवत्प्रेम आदि के वर्णन में उपमा के साथ-साथ अर्थान्तिन्यास का विशेष प्रयोग हुआ है।

अलंकारों के अतिरिक्त काव्य की कलात्मकता में छन्दों का महत्व हम पहले ही बता चुके हैं। सूरदास जी की गेयपद शैली मे राग-रानियों का ही विशेष स्थान है, परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि छन्दों की परम्परा भी प्राचीन काल से चली आ रही थी और प्रत्येक कवि छन्दोमयी कविता को ही कविता समझता था। लय और छन्द से कविता की व्यंजकता भी समझी जाती थी, क्योकि लय आन्तरिक वेग को प्रकट करने का साधन है। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में भी इसको महत्व दिया गया है। हमारे यहाँ तो छन्दों की सृष्टि ही लय और स्वर के आधार पर हुई। लय के विषय मे श्री लीलाधर गुप्त अपने 'पाश्चात्य साहित्यालोचन-शास्त्र' ग्रन्थ में लिखते हैः—

"लय की उत्पत्ति अन्तर्वेग से है और अन्तर्वेग को उत्तेजित करने की उसमें विशेष क्षमता है। लय हमे हँसा सकती है; लय हमें रुला सकती है; लय हमें अपकृष्ट कर सकती है; लय हमें उत्कृष्ट कर सकती है; लय हमे सुला सकती है; लय हमे जगा सकती है; लय हमें शान्त कर सकती है; लय हमें उन्मत्त कर सकती हैं; लय हमें संसार में अनुरक्त कर सकती हैं; लय हमें उदासीन कर सकती है; लय हमें हमारा सच्चा रूप दिखा सकती है; लय हमें ब्रह्म-प्राप्ति की ओर उन्नत कर सकती है। लय हमारे शरीर में हरकत कर देती है, हम ताल देने लगते है, हम नाचने लगते हैं। लय हमारे हृदय, हमारे फेफड़े, हमारी नाड़ियों को प्रभावित कर देती है। लय के

---

१ सूरसागर पद ४१६०
२ सूरसागर (वें० प्रे०) पृष्ठ ४६६
३ सूरसागर (सभा) पद ४१२६

प्रभाव के हेतु लय का विवेकपूर्ण प्रयोग होना चाहिये। भाव की जहाँ जैसी गति हो, वहाँ वैसी ही लय होनी चाहिये।"[१]

आगे चल कर गुप्त जी पद्य की लय पर प्रकाश डालते हुए कहते है :

"पद्य की लय मे एकरूपता और नियमितता होती है। उसमे लय और पद का ढाँचा भी होता है। ऐसा व्यवस्थित ढाँचेदार पद ही छन्द होता है। छन्द का काव्यात्मक मूल्य और भी अधिक है। छन्द प्रवेक्षण (एण्टीसीपेशन) की प्रवृत्ति को उत्तेजित करके शब्दो का एक दूसरे से सम्बन्ध घनिष्ट कर देता है। छन्द विस्मय द्वारा चेतना को धीमा करके मोहन-निन्द्रा-सी ले आता है और सुविकारिता, सूचकता और सवेदनशीलता की वृद्धि करता है। छन्द अपनी गति और ध्वनि से अर्थ-प्रकाशन करता है। यदि अन्तर्वेग अति तीव्र हो, तो छन्द उसकी तीव्रता कम कर देता है और यदि अन्तर्वेग अति मन्द हो, तो छन्द उसको उत्कृष्ट कर देता है। छन्द कविता का वातावरण उपस्थित कर देता है, काव्यात्मक अनुभव को छन्द साधारण जीवन के रागो से पृथक् कर देता है। छन्द काव्यात्मक अनुभव की अभिव्यक्ति को स्थिर और परिभाषित कर देता है। छन्द कल्पना को प्रज्वलित कर कवि को ऐसी दृश्यमान और श्रोतव्य प्रतिमाएँ प्रदान करता है, जिनसे उसके अनुभव की अभिव्यक्ति स्पष्ट और प्रेरक हो जाती है।"[२]

गायत्री, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्, जगती आदि वैदिक छन्द और मन्दाक्रान्ता, द्रुतविलम्बित, शार्दूल विक्रीडित, शिखरिणी, आदि लौकिक संस्कृत के छन्द इसी लय के आधार पर बनाये गये हैं। राग-रागिनियों के मूल मे भी वे लय, गति और स्वर ही हैं। हिन्दी के छन्द प्राकृत और अपभ्रंश के छन्दों के रूपान्तर है। कुछ छन्द तो विशिष्ट कवियों की रचनाओं के आधार पर ही गढ़ लिये जाते हैं। हमारे कवि सूरदास जी की रचना गेयपद-शैली मे हुई है। उनके अधिकांश पद कीर्तन के रूप में हैं, इसलिये छन्दोविधान का कोई विशेष स्थान उनके काव्य मे नही है। पिंगल शास्त्रीय छन्दों की अपेक्षा संगीत शास्त्रीय राग-रागिनियाँ ही उनके काव्य में पायी जाती हैं। उन्होने जिन राग-रागिनियों का प्रयोग किया है, उनमे से बहुतों का तो अभी तक नामकरण भी नहीं हुआ। वे भावानुकूल राग-रागिनी का प्रयोग करन मे सिद्धहस्त थे और यही उनकी विशेषता थी। उनके पदों को छन्द-शास्त्र की कसौटी पर कसना उपयुक्त प्रतीत नही होता, फिर भी काव्य की कलात्मकता दिखाने के लिये छन्दो का निर्देश करना आलोचना की एक पद्धति-सी हो गई है। डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने अपने 'सूरदास' मे सूर के छन्दोविधान पर विशेष रूप से विचार किया है और 'सूरसागर' के वर्णनात्मक एवं गेय सभी अशो का विश्लेषण छन्दों की दृष्टि से किया है। उन्होने जिन छन्दों को 'सूरसागर' मे दिखाया है, उनमे मुख्य-मुख्य निम्नलिखित है :

वर्णनात्मक प्रसंगों के छन्द

१—चौपई, चौपाई, दोहा, रोला आदि तथा उनसे निर्मित नवीन छन्द।[३]

२—अन्य छन्द।

'सूरसागर' मे चरणों के आकार के विचार से छोटे और लम्बे सब तरह के छन्द पाये जाते हैं। जिन छन्दो का ऊपर उल्लेख हो चुका है, उनके अतिरक्ति कवि द्वारा प्रयुक्त—चन्द्र (१०,७) भानु (६,१५) कुँडल (१२,१०) सुखदा (१२,१०) राधिका (१३,६) उपमान (१३,१०)

१ पाश्चात्य साहित्य-लोचन के सिद्धान्त (लीलाधर गुप्त) पृष्ठ २२६-२२७

२ वही पृष्ठ २२८

३ 'सूरदास' (ब्रजेश्वर वर्मा) पृष्ठ ५७२

हीर (६, ६, ११) तोमर (१२,१२) शोभन (१४,१०) और रूपमाला (१४,१०) की गणना छोटे छन्दो में हो सकती है तथा गीतिका (१४,१२) विष्णु पद (१६,१०) सरसी (१६,११) हरि पद (१६, ११) सार (१६,१२) लावनी (१६,१४) वीर (१६,१५) समान सवैया (१६,१६) मत्त-सवैया (१६,१६) हंसाल (२०,१७) और हरिप्रिया (१२,१२,१०) को लम्बे छन्दों मे गिना जा सकता है।[1]

सूर की भाषा

शैली के विवेचन मे हम बता चुके हैं कि सामंजस्य और समन्वय ही रचना की सफलता का मूलमन्त्र है। कलाकार कला के विभिन्न अंगों का समन्वय करके आधारभूत वस्तु को हृदयग्राही और प्रभावोत्पादक बनाने का प्रयत्न करता है, परन्तु उसकी शैली का सौन्दर्य; विशेषकर भाषा की समृद्धि पर ही आधारित होता है। वह शब्दों का प्रयोग इस प्रकार करता है कि हमारे भावों और विचारों को व्यवस्थित कर देते है। उत्तम कलाकार भाषा को अपने आन्तरिक अनुभव के समकक्ष बना लेता है और उसकी भाव-प्रेषणीयता को द्विगुणित कर देता है। इसलिये अर्थ में चित्रोपमता और सजीवता लाने के लिये कवि अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना की सहायता से शब्दों को विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त करता है। कवि के हाथों मे पडकर शब्द मे एक विशेष योग्यता आ जाती है और वह अर्थ-विशेष का वाहक बन जाता है। वास्तव में शब्द का मूल्य भी अनुभूति पर आधारित है। इसलिये एक ही शब्द की व्यंजकता भिन्न-भिन्न कवियों की रचना मे विविध रूप मे परिलक्षित होती है। यूनानी आलोचक लॉन्जायनस ने सुन्दर शब्दों को भावों और विचारों का प्रकाशन माना है। शब्द-चयन करता हुआ कवि किसी एक प्रकार की ही शब्दावली की सीमा मे आबद्ध नही रहता उसके लिये तो मुख्य वस्तु भावों का अभिव्यञ्जन ही है। जिसके अनुकूल वह भावानुकूल शब्दों का प्रयोग करता है, कभी प्राचीन मृत शब्दो को जीवन प्रदान करता है; कभी उपभाषाओं और बोलियों के शब्दों को ग्रहण करता है और कभी विदेशी शब्दों का भी उदारता के साथ स्वागत करता है। भारतीय शास्त्र में तो शब्द को बड़ा ही महत्व दिया गया है और उसे ब्रह्म की पदवी तक पहुँचाया है। 'विष्णु-पुराण' मे शब्द को विष्णु का अंश माना है और 'महाभाष्य' मे पतञ्जलि ने लिखा है कि—'भली-भाँति जाना हुआ सम्यक् रूप से प्रयुक्त शब्द लोक और परलोक दोनो मे अभीष्ट फलदायक होता है।'

भाषा शब्दों का ही समुदाय है, परन्तु कविता भाषा को भावों और विचारों का प्रतिनिधि बनाने का प्रयास करती है। कविता के लिये भाषा के श्रोतव्य और दृश्यमान दोनों ही चिन्ह अपेक्षित है। श्रोतव्य चिन्ह से कविता मे गति, लय, वेग, कोमलता आदि गुण आते हैं और इसलिये साहित्य-शास्त्र मे जहाँ तक और छन्दों को महत्व दिया है, वहाँ दूसरी ओर माधुर्य, ओज और प्रसाद—तीनों के गुणों के लिए पृथक्-पृथक् अक्षर और शब्द निर्दिष्ट किये गए है। भाषा के दृश्यमान चिन्ह से चक्षुरिन्द्रिय के माध्यम से भावों को हृदय तक पहुँचाया जाता है, इसलिये किसी कवि के मूल्यांकन में उसकी भाषा का विवेचन भी विशेष महत्व रखता है।

सूरदास जी ने अपने काव्य के लिए अपने इष्टदेव की विहार-भूमि ब्रज की ही भाषा को अपनाया। उनकी रचना मे हमे ब्रज-भाषा का जो परिनिष्ठत और साहित्यक रूप मिलता है, उसको देखकर यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि ब्रज-भाषा शताब्दियों से काव्य की भाषा रही होगी, सूर ने तो उसको सुसंस्कृत बनाकर साहित्यिक रूप देने मे ही योग दिया होगा। खेद

१ 'सूरदास' (ब्रजेश्वर वर्मा) पृष्ठ ५७६

है कि आज हमें सूर के पूर्ववर्ती कवियों की वे रचनाएँ नही मिलती, जिनसे सूर की रचना का तारतम्य जोडा जा सके। आज जो साहित्य हमें उपलब्ध है, वह या तो अपभ्रंश मिश्रित डिंगल में है या सधुक्कडी भाषा में। कबीर आदि संत कवियों की बानी मे ब्रज-भाषा का जो रूप मिलता है, वह तो भाषा का खिचडी रूप ही कहा जा सकता है। खुसरो की भाषा अवश्य सुसंस्कृत देशी-भाषा का स्वरूप सामने रखती है लेकिन उसकी प्रामाणिकता असंदिग्ध नही कही जा सकती। हलवाई कृत भागवत-भाषा मे भी ब्रज-भाषा का साहित्यिक रूप नही है। जो कोमल-कान्त पदावली भावानुकूल शब्द-चयन, सार्थक अलंकार योजना, धारावाही प्रवाह, संगीतात्मकता और सजीवता सूर की भाषा में है, उसे देखकर यही कहना पड़ता है कि सूर ने ही सर्व प्रथम ब्रज-भाषा को साहित्यिक रूप दिया। संगीतात्मकता तो ब्रज-भाषा की थाती है। यह शौरसेनी अपभ्रश का विकसित रूप है और बारहवी शताब्दी से ही इसे साधु-सन्तों और संगीतज्ञों ने अपना लिया था। वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों और भक्तों ने जब इस भाषा को अपनाया तो इसकी आशातीत सफलता हुई और यह समस्त भारत की राष्ट्र-भाषा नहीं, तो धर्म-भाषा तो बन ही गई। पश्चिमी हिन्दी वाले प्रान्तों में अब भी गीतों की भाषा ब्रज-मिश्रित ही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी-साहित्य के इतिहास' में लिखा है—

"यहाँ इस बात की ओर ध्यान दिला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि 'काव्य-भाषा' का ढाँचा अधिकतर शौरसेनी या पुरानी हिन्दी का ही बहुत काल से चला आता था। जिन पश्चिमी प्रदेशों की बोलचाल खड़ी होती थी, उनमे भी जनता के बीच प्रचलित पद्यों, तुकबन्दियों आदि की भाषा ब्रज-भाषा की ओर झुकी रहती थी। अब भी यह बात पाई जाती है। इसी से खुसरो की हिन्दी रचनाओं में भी दो प्रकार की भाषा पाई जाती है। ठेठ खड़ी बोलचाल, पहेलियो और दो सखुनों में ही मिलती है, यद्यपि उनमे भी कहीं-कहीं ब्रज-भाषा की झलक है, पर गीतों और दोहों की भाषा ब्रज या मुख-प्रचलित काव्य भाषा ही है।"[1]

परन्तु खेद है कि ब्रज-भाषा के विकास पर अभी तक हिन्दी विद्वानों की दृष्टि नही गई है और न ब्रज-भाषा के सम्बन्ध में कोई प्राचीन पुस्तक ही उपलब्ध है। ब्रज-भाषा के साहित्य के इतिहास की भी आवश्यकता अभी बनी हुई है। आधुनिक विद्वानों मे डा० धीरेन्द्र वर्मा ने 'ब्रज की भाषा' नामक एक पुस्तक फ्रेञ्च भाषा मे लिखी थी, किन्तु उनके पश्चात् भाषा-सम्बन्धी कोई वैज्ञानिक कार्य नही हुआ है। कहा जाता है कि शाहजहाँ के समय मे 'सुन्दर' नाम के किसी विद्वान् ने ब्रज-भाषा पर एक पुस्तक लिखी थी, किन्तु वह अभी तक हमे देखने को नही मिली है। डा० दीनदयालु जी से पता चला है कि उसकी एक प्रति किसी म्यूजियम मे सुरक्षित है। ब्रज-भाषा के सम्बन्ध में एक और पुस्तक प्राप्त है, जो मिर्जा खाँ ने सन् १६७६ मे लिखी थी और जिसका सम्पादन सन् १९३५ ई० में श्री जियाउद्दीन ने "A Grammar of the Brij Bhakha" नाम से किया है। यह पुस्तक 'विश्व-भारती' से प्रकाशित भी हो चुकी है। इस पुस्तक का नाम फारसी में 'तुहफतुए-हिन्द' है। इस पुस्तक का सबसे पहले हवाला सन् १७८४ में 'सर विलियम जौन्स' ने अपने लेख "On the Musical Modes of the Hindus" में दिया है। इस पुस्तक की पाण्डुलिपि इण्डिया ऑफिस के पुस्तकालय मे सुरक्षित है। यह पुस्तक कई दृष्टिकोणों से बड़ी महत्वपूर्ण है। इसमें हिन्दी-साहित्य की कई शाखाओं पर विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त जब फारसी के प्रभाव से उर्दू-भाषा फारसीमय होने लगी तो मिर्जा खाँ

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास (रामचन्द्र शुक्ल) पृष्ठ ५४

ने प्रचलित हिन्दी अथवा भाखा को इस पुस्तक के द्वारा मुसलमानों के अधिक निकट लाने का प्रयत्न किया और भाखा-साहित्य के अध्ययन का साधन प्रस्तुत किया। इस पुस्तक मे जो शब्दकोष दिया है, उसमें प्रायः बोलचाल के शब्दों की ही अधिकता है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी यह पुस्तक बड़े महत्व की है, क्योंकि इसमें हिन्दी, अरबी और फारसी वर्णों का तुलनात्मक उच्चारण भी दिया है। जहाँ तक हो सका है, हिन्दी के शब्दों का सही उच्चारण देने का प्रयास किया है। इस पुस्तक में 'हिन्दी' और 'भाखा' दोनों शब्दों को पर्याय माना है। जबकि आगे चलकर इन्शाअल्ला खाँ ने अपनी 'रानी केतकी की कहानी' में 'हिन्दवी' और 'भाखा' शब्दों का भिन्न अर्थ में प्रयोग किया है। 'भाखा' का क्षेत्र निश्चित करते हुए मिर्जा खाँ कहते हैं कि 'भाखा' विशेष रूप से ब्रज प्रान्त और उसके आसपास की बोली है। एक दूसरे स्थल पर ग्वालियर और चँदवार जिलों को भी भाखा के प्रान्त माना है।[1]

गंगा और यमुना के दोआब की भाषा को उसने प्रभावशाली भाषा कहा है और चूँकि वह भाखा को ही प्रभावशाली मानता था, इसलिए ब्रज-भाखा का प्रसार दोआब मे भी काफी दूर तक था। संगीत वाले पाठ में उसने पंजाबी, राजपूती, खैराबादी, गुजराती का उल्लेख किया है और भाखा में प्राकृत और संस्कृत को छोड़कर प्रायः सभी बोलियों का समावेश बताया है। प्राकृत की उत्पत्ति भी भाखा और संस्कृत के मेल से बताई है। मिर्जा खाँ ने भाखा को ही सगीत के उपयुक्त बताया है और उसे कवियों और सभ्य मनुष्यों की भाषा कहा है। डा० ग्रियर्सन ने लिखा है :

"The Hindi poetry in the Western Hindi language is almost all in Brijbhakha."[२]

संगीत के विषय मे भी इस पुस्तक मे विस्तार से लिखा गया है और छन्दों का भी विस्तृत विवेचन किया गया है। सबसे पहले ७५ मात्रिक छन्द सोदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं। फिर छप्पय शब्दों के ७१ भेद और वर्णिक छन्दों के १२१ भेद बताये है, अन्त में संस्कृत के आठ छन्द और हिन्दी के १४ नवीन छन्दों की विवेचना है। लेखक ने अपने हिन्दी-कोष मे तीन हजार शब्द दिये हैं।

इस प्रकार यह पुस्तक भूमिका के अतिरिक्त छः अध्यायो मे लिखी गई है और दूसरे भाग मे हिन्दी-शब्दकोष के साथ भाखा के व्याकरण पर विचार किया गया, जिसमें दस अध्याय हैं। ब्रज-भाषा की दृष्टि से यह पुस्तक बड़े महत्व की है। जैसा कि डा० ग्रियर्सन ने लिखा है :

"I am not aware of any other earlier attempt at a grammar of the Hindi or Hindustani language other than that of Mirza Khan's. John Joshua Katelaer wrote his grammar of the Hindustani in about 1715 A.D., which was published by David Millius in 1743 A.D. Lalluji Lal of Agra (1803 A.D.) is mentioned by Sir A. G. Grierson as the author of a grammar, entitled Masadir-i-Bhakha. Mirza Khan's Dictionary is again the first attempt at anything like a dictionary of the Hindi language. The

1 Candwar, Chandwar, Janwar is a district 25 miles east of Agra on the route from Mathura to Etawa, on the river Jamna, and is mostly occupied by Chauhan tribes. (Jarrat's Ain-i-Akbari, II p. 183)

2 The Indian antiquary for January, 1903; Page 16.

dictionary of the Hindustani language by Fracıscus M. Turonesis, referred to by J. C. Amadutinus, was written ın 1704 A. D., regarding which he says that it could be seen in the Propaganda Library of Rome till 1761 A.D. Daya Ram Tripathı wrote a dictionary of Hindi in about 1741 A.D.[१]

ब्रजभाषा-व्याकरण की कसौटी पर सूर की भाषा खरी नही उतरती, क्योंकि उन्होने ब्रजभाषा के ही शब्दों को नही तोड़ा-मरोड़ा, प्रत्युत अन्य भाषाओं के शब्दों को भी अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा की है, इसलिये इनकी भाषा शुद्ध परिमार्जित भाषा नही कही जा सकती। यद्यपि इस भाषा का पूर्णरूप से परिष्कार रीतकालीन कवियों ने किया, तथापि बोलचाल की भाषा को साहित्यक रूप देने का सूर का प्रयास नितान्त सराहनीय है। सस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दो से तो उनकी भाषा का ढाँचा बनने में सहायता मिली ही है, अन्य देशी भाषाओं और अरबी-फारसी आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों का भी महत्वपूर्ण योग है। इस प्रकार चलती हुई ब्रजभाषा को व्यापक और प्रभावशाली बनाने का स्तुत्य कार्य सूर ने ही सबसे पहले किया। भावानुकूल भाषा का प्रयोग करना ही अच्छे कवि की पहली विशेषता होती है, जिसके दर्शन सूरदास मे सर्वत्र होते है। उनकी भाषा पात्र और परिस्थिति के अनुकूल ही है। हाँ, जहाँ कही विशेष राग-रागिनियो की तुकबन्दी मे उन्होंने शब्दों की तोड़-मरोड की है, वहाँ अवश्य कुछ खटक होती है, परन्तु ऐसे स्थल बहुत अधिक नहीं है। प्रायः अन्त्यानुप्रास के लोभ मे ही तोड-मरोड की गई है। विनय तथा भक्ति-सिद्धान्त-प्रतिपादन के पदों मे संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का ही अधिक प्रयोग हुआ है, रूप-चित्रण और प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में भी ऐसे ही शब्दों का प्राचुर्य है। सस्कृत के तत्सम शब्दों में यह बात लक्ष्य करने की है कि उन्होंने उन शब्दो को ब्रजभाषा की ध्वनि के अनुकुल ही बना दिया है। सस्कृत के कर्णकटु शब्दों में ब्रजभाषा के उच्चारण के आधार पर यत्किञ्चित् परिवर्तन कर उनमें उन्होंने माधुर्य लाने का प्रयास किया है। उनकी भाषा में तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव शब्दों का आधिक्य है, और कही-कही तो मूल तद्भव शब्दों से ही नये शब्द भी गढ़ लिये गये है। संस्कृत की तत्सम व तद्भव पदावली के अतिरिक्त खड़ी-बोली, अवधी, बुंदेलखण्डी और पंजाबी के शब्दों की कमी नहीं है। अवधी भाषा की सम्बन्ध-सूचक विभक्तियो को देखकर कभी-कभी तो सूर के पदों की पाठ-शुद्धि मे भी सन्देह होने लगता है।

देशी भाषाओं के अतिरिक्त अरबी, फारसी के भी शब्दों का प्रयोग सूर की भाषा मे पर्याप्त अधिकता के साथ हुआ है, परन्तु उन्होने उन शब्दों को उसके मौलिक रूप में प्रयुक्त न करके प्रचलित रूपो मे ही प्रयुक्त किया है। मुसलमान सम्पर्क के कारण देशी भाषाओं मे अनेक मुसलमानी शब्दों का प्रवेश हो गया था और जन-साधारण द्वारा वे अपना भी लिये गए थे। यह प्रक्रिया शताब्दियों तक चलती रही। आज भी पश्चिमी हिन्दी के जिलों में अरबी-फारसी के शब्दों का इतना बाहुल्य है कि उनका एक अलग कोष बनाया जा सकता है, परन्तु ध्वनि आदि की दृष्टि से वे अपना रूप बदलकर हिन्दी-शब्दों में इतने घुलमिल गये है कि साधारणतया विदेशी प्रतीत ही नही होते। ऐसे शब्दों का तो सूर ने खुलकर प्रयोग किया ही है, साथ ही साथ और भी नवीन शब्दों को अपनी भाषा के साँचे में ढालकर ग्रहण किया है। सूर की भाषा-विषयक यह उदारता ब्रजभाषा समृद्धिशालिनी प्रभावशाली बनाने में बड़ी सहायक सिद्ध हुई। कुछ विदेशी शब्दों को तो

१ The Modern Vernacular Literature of Hindostan P. 101, 103, 75 and 76. The Indian Antiquary for January 1903 P. 19

उन्होंने नामधातु बनाकर प्रयुक्त किया है। अन्य देशी और विदेशी भाषाओं के शब्दों की संख्या सूर-साहित्य मे प्रचुर मात्रा मे मिलती है।

सूर की भाषा मे लोकोक्तियों और मुहावरों का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है। लोकोक्तियो और मुहावरों द्वारा भाषा की व्यंजनाशक्ति कितनी बढ जाती है और साथ ही साथ सजीवता और प्रभावोत्पादकता भी आ जाती है, वह सब जानते हैं। किसी भाव की हृदय पर ठीक-ठीक छाप बिठाने के लिये मुहावरे अपना जोड़ नही रखते और जन-साधारण मे प्रयुक्त लोकोक्तियाँ किसी अनुभव-विशेष के स्पष्टीकरण मे रामबाण हैं। कहना न होगा, सूरदास जी ने दोनो का ही आश्रय लिया है और एक-एक मुहावरे अथवा लोकोक्ति द्वारा वह प्रभाव उत्पन्न कर दिया है, जो कई-कई पदों से भी सम्भव नही।

डॉ० दीनदयालु गुप्त के निर्देशन मे 'ब्रजभाषा-सूर-कोष' लिखा जा रहा है, जिसके चार खण्ड लिखे जा चुके है। ब्रजभाषा की दृष्टि से वह कार्य महत्वपूर्ण है। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा ने भी अपने 'सूरदास' मे प्रयुक्त देशी तथा विदेशी शब्दों की सूची दी है, परन्तु इस क्षेत्र में पृथक् रूप से विस्तृत कार्य की आवश्यकता है। यहाँ हम 'सूरसागर' मे प्रयुक्त कुछ शब्दों की बानगी प्रस्तुत करते है। सुविधा के लिये प्रत्येक शब्द के आगे उस पद की सख्या भी दे दी गई है, जिसमे उस शब्द का प्रयोग हुआ है। यह पद-संख्या नागरी प्रचारणी सभा द्वारा प्रकाशित 'सूरसागर' के अनुसार है :

तत्सम शब्द

अहिपति (२९) अंगीकार (३८) अम्बुज (४१) अधोमुख (५७) अनायास (१०५) अभिराभ (४६६) अजिर (४६९) अपरिमित (४७०) अभिलाष (५१४) अवज्ञा (५२३) अवली (७२६) अनुभवति (१०९) आमिष (१०२) आयुध (३२१) आविर्भाव (४५९) आयुध (६२३) इन्दीवर (२४३१) कालिमा (५८) करभ (६९) कामता-कानन (१८७) कमल-दल-लोचन (२५०) कलत्र (३६८) कलेबर (४४०) कौतुक (६३३) कुन्तल (७७२) कोविद (७७२) कनीनिका (९८२) क्वासि (३०७०) खगपति (२५५) गृह (४) ग्राह (२१) गह्वर (४८३) चिबुक (७२४) जलज (७१९) डिम्भ (७३५) तनया (३१) दारा (८०) दाहक (१६३) दम्पति (७१६) निरालम्ब (२) नासिका (७७) नारिकेल (७८) नृपति (२२७) प्रहारी (३१) पतित-पावन (१२८) पुनीत (४५६) पिनाक (४७२) प्रतीति (४८६) पन्नग (५०८) परिवेश (२४१४) भगिनी (१७३) मनोरथ (६०) मार (२२९) मम (२४६) महाबल (२५४) मुकुलित (३०७) रसना (३५९) राका (२१०) रुचिर (६९१) रजनीचर (८१७) वसुधा (४४०) समर (२७८) सरसिज (४५५) संघात (५२१) संकुचित (६८३) सत्वर (३७८९) सायक (२९) हाटक (७६९) त्राहि-त्राहि (२४९)।

अनेक तत्सम शब्दों के उच्चारण की कठिनता को स्वर्भक्ति अथवा कुछ अन्य ध्वनि परिवर्तनो से दूर किया गया। ऐसे शब्दों को अर्ध-तत्सम कह सकते है। सूर की भाषा में इस प्रकार के शब्दों की भी बहुत बड़ी संख्या है। यथा :

अँबोधि (१५५) अपजस (२०३) अम्रित (२४२) अँसुमान (४५३) आरत (२५१) कलेस (२५३) कृष्ना (२८५) गनिका (१९०) धिरत (२९०) जनम (२०८) जोजन (५१९) तीरथ (२०८) तंदुल (२९७) दुरबासा (१४) पुंस्चली (१०४) परतीति (१३४) पदुम (३३०) प्रापत (४४८) पारषद (४५९) परभात (५२७) परमोधत (११७८) तूनीर (४८८) निस्चै (२५७) बिस्राम (५७) बिरध (३२९) भच्छि (१४०) भिनुसार (११३८) भरमत (५२०) मरजाद

(५३७) मरकट (३३२) विसकर्मा (६५८) स्वारथ (५) स्रवन (२१) सूकर (४१) स्वान (४१) सरबस (६४) सुमृति (१८७) सांति (२३०) सुरसरि (२७४) समरपे (४५१) सृङ्ग (४४३) साच्छात् (२८१) सुरूप (२८४) हरता (२१५)।

परन्तु सूर के काव्य का सौन्दर्य बहुत कुछ तद्भव शब्दों के ऊपर है। ब्रज-भाषा के स्वाभाविक माधुर्य ने सूर की भाषा को अत्यन्त मधुर बना दिया है। उनके काव्य का ढाँचा तद्भव शब्दों से ही बना हुआ है। विशेषकर भ्रमरगीत में, गोपियों की सहज व्यंग्यात्मक उक्तियों में भाषा की सरलता और सरसता पराकाष्ठा को पहुँच गई है—

तद्भव

अँचरा (६६४) अजमरी (६३२) अनलहते (३२६) अनभावत (६४६) आहि (४८६) उचाढ़ी (१३५४) आखर (६५८) अटारी (५४४) औसर (४०) उछंग (६०६) काठ (४८६) कुरुखेत (२६) कांदों (६४५) कापरा (६५८) कोखि (६२२) केहरि (५०२) कोरा क्रौड (६७१) कोह (८७१) खंभ (३२) खई (२६८) खिन (५०६) गुसाईं (३) घरनी (५१७) चबाई (१४०) चकचौधी (१३६२) छहियां (४६३) जुगति (२) जदपि (२१०) जोति (२१०) जीभ (५२३) टूटी (२३६) तिय (२०३) तरुनाई (३२६) तमचुर (८२०) ढीठ (५४०) दूब (६३७) दीठि (८१८) थार (६३६) थनु (६४८) पाइतरी (२६८) परसना (२६५) पनहियाँ (४६३) पयान (४७७) पखारना (४८५) पांवरी (४६८) तुरत (४४१) बियौ (३८) बूड़त (८२) बीता (२६१) बनिज (३१०) बीनऊँ (६१८) बियाहन (८११) भाँडौ (१४६) भौदू (१८६) भूंजब (४८३) भौन (६६८) भुवाल (६२२) मूठि (४५५) मसान (३७८६) विलम (५५८) बौडर (६६६) लच्छा (४) रुखा (१८६) साँवरो (५) सियार (४१) सीवाँ (२२६) सराय (२२८) मीत (२५६) बछल (२६७) सेज्या (२६८) सतिभाए (२८४) सजनी (४८८) गीध (५०६) राकस (५२३) सरिस (५२७) साँझ (६१३) सकात (८१४) सिकहरै (८४५) बिज्जु (७००) लिलार (६४२) मोल (२४१०) मूसे (२५४६)।

इनके अतिरिक्त अति-प्रचलित ग्रामीण शब्दों का प्रयोग भी सूरदास ने बहुलता के साथ किया है। कुछ ग्रामीण शब्द ऐसे भी हैं, जिनका प्रयोग अब या तो होता ही नहीं, या विरल रूप में होता है। कुछ प्रचलित शब्द ये हैं :

औचट (६) करतूति (४६४) करनी (२४६८) खुनुस (१६८) ख्याय (२०२) खचेरै (२०६) औघट (२०८०) ऐंडावत (८६०) घीच (६७८) गोड़ियाँ (७६६) चिरिया (२३४) चुटिया (७८०) चुचकारे (८०१) झुगियाँ (२४४) डहकावै (२३३) डाटे (५४०) ढोरत (२८४) टूकटूक (६०३) टकटोरत (७६२) टूकी (३४६६) तलबेली (२५८३) धुकधुकी (७६२) नेरैं (२०६) नौआ=नाई (७६८) बगदाइ (६०) बिरियाँ (१८८) बकोटनि (८५०) बोहनी (२०८२) बिगोवै (२८४६) भभंकत (५७३) मूड़ (७) मोट (१८४) मांडी (२४३४) लटबाँसी (१८६) लाहा (३१०) सासना (३८) सौंज (१३०) सठिया (१६२)।

तुक मिलाने के लिए और छन्द के अनुरोध के कारण सूर ने 'निरंकुशाः कवयः' के अनुसार अपने अधिकार का बराबर उपयोग किया है और शब्दों को पर्याप्त रूप में विकृत कर दिया है; यथा—बीकें=बिकें, पक्कौरी=पकौरी (८०१) बघना=बघनखा (७२१) आदि।

कुछ शब्द उन्होंने स्वयं गढ़ भी लिये है; यथा—ज्योतिक=ज्योतिषी (३५५५) नील-कण्ठीर=नीलकण्ठ (७७६) अर्थात् मोर, मसानी=मसिपात्र (१८३) उपाधा (२४७७) विचवाना (२४२५) उतजोग=उद्योग (२५४०) आदि।

विदेशी शब्द

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, राजनीतिक, सामाजिक आदि परिस्थितियों के अनुरोध से सूर के समय मे अनेक अरबी, फारसी आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों का भी जन-साधारण मे खूब प्रचार हो गया था। सूरदास ने इस प्रकार के शब्दों को स्वतन्त्रता पूर्वक ग्रहण किया है, परन्तु उनके मौलिक रूप मे नहीं अपितु अपनी भाषा की ध्वनियों के अनुसार समुचित परिवर्तित रूप मे। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित पद विशेषरूप से द्रष्टव्य हैं :

साँचौ सो लिखनहार कहावै।
काया-ग्राम मसाहत करि कै, जमा बाँधि ठहरावै।
मन-महतो करि कैद अपने में, ज्ञान-जहतिया लावै।
माँडि-माँडि खरिहान क्रोध कौ, पाता भजन भरावै।
बट्टा काटि कसूर भरम कौ, फरद तने लै डारै।
निहचै एक असल पर राखै, टरै न कबहू टारै।
करि अवारजा प्रेमप्रीति कौ, असल तहाँ खतियावै।
दूजे करज दूरि करि दैयत, नैंकु न तामैं आवै।
मुजमिल जोरै ध्यान कुल्ल कौ हरिसों तहँ लै राखै।
निर्भय रूपै लोभ छाँडि कै सीई वारिज साखै।
जमा-खरच नीकै करि राखै, लेखा समुझि बतावै।
सूर आप गुजरानि मुहासिन लै जवाब पहुँचावै।[1]

तथा

हरि हौं ऐसौ अमल कमायौ।
साविक जमा हुती जो जोरी, मिनजालिक तल ल्यायौ;
वासिल घाकी स्याहा मुजमिल, सब अधर्म की बाकी।
चित्रगुप्त सु होत मुस्तौफी, सरन गहूँ मै काकी?
मोहरिल पाँच साक्ष करि दीने, तिनकी बड़ी विपरीति।
जिम्मैं उनके माँगैं मोतै, यह तौ बड़ी अनीति।
पाँच-पच्चीस साथ अगवानी, सब मिली काज बिगारे।
सुनी तगीरी बिसरि गई सुधि, मो तजि भए नियारे।
बढ़ौ तुम्हार बरामद हूँ कौ, लिखि कीनौ है साफ।
सूरदास की यहै बीनती, दस्तक कीजै माफ।[2]

तथा

जनम साहिबी करत गयौ।
काया नगर बड़ी गुञ्जायश, नाहिन कछु बढ़यौ।

१ सूरसागर (सभा) पद १४२
२ वही (,,) पद ६४

हरि कौ नाम, दाम खोटे लौ, कि झकि-झकि डारि दयौ।
विषया-गाँव अमल को टोटो हँसि-हँसि कै उमयौ।
नैन-अमीन अधर्मिनि कै बस जहँ को तहाँ छयौ।
दगाबाज कुतवाल काम रिपु, सरबस लूट लयौ।
पाप उजीर कह्यौ सोई मानौ, धर्म-सधुन लुटयौ।
चरनोदक कौ छाँड़ि सुधा-रस, सुरा-पान अँचयौ।
कुबुधि-कमान चढ़ाइ कोप करि, बुधि-तरकस रितयौ।
सदा सिकार करत मृग-मन कौ, रहत मगन भुरयौ।
घेरयौ आइ कुटुम-लसकर मैं, जम-अहदीं पठयौ।
सूर नगर चौरासी भ्रमि-भ्रमि, घर-घर कौ जु भयौ।[1]

इन पदों से यह स्पष्ट है कि प्रायः राज और राजस्व-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्द विदेशी है, जो मुसलमानी शासन होने के कारण उस समय अवश्य ही जनता में प्रचलित रहे होगे। इन शब्दों के अतिरिक्त अन्य भी बहुत से विदेशी शब्दों का प्रयोग मिलता है :

गरीबनि (१६) दरबान (२६) ख्वारी (३४) खाक (८६) अबाज (६६) जहाज (६६) सिरताज (६६) बाज आना (६६) नकीब (१४१) खवास (१४१) नौबत (१४१) जमानति (१६६) सोर (२५३) नफा (२६७) तरवारि (४५५) सहनाई (४७३) पियादे (४८८) दगा (५८८) रुक्का (६१६) बकसीस (६५७) खराद (६५८) रेशम (६५६) गुमान (६१७) गौर (६४१) सिकदार (६४७) सहर (१२२५) बकस्यौ (६४७) सिरपाव (१२०४) दर (१२६५) खसम (१३५२) लायक (१३८६) हजूर (१८८७) ज्वाब (२०६०) जुहार (२०६१) फबी (२०७६) बजार (२१८२) हजार (२३६२) साबित (२४४७) दह (२४५६) करमात (२४६४) दिवानी (२५१६) सन्दूक (२५६२) नेजा (२६०४) अपसोस (३८५३) आखिर (२८७०) महल (२१७३) फौज (३२७५) जौहर (३७०१) दागना (३७१५) हद (३८५३) साज (३६६६) खबर (४०७१) जहर (४२३४) गुनहगार (४२४२) सरकार (४५२७) ताख=ताक (४५५५) मुरद=मुर्दा (४६८०)।

इतना ही नहीं लौनहरामी (२८७०) और फौजपति जैसे द्विज शब्दों की सृष्टि भी उदाराशय सूर ने कर ली है। कहीं-कहीं फारसी के समास के ढंग समास भी किए है—भूषनसिया=सिया का भूषण, सूकसीपज; अर्थात्—मोतियों की माला। पेला (२५६१) ढोरी (२५५६) आदि गुजराती और झहरना (२५३८) आदि बुन्देली शब्द भी जहाँ-तहाँ मिल जाते है। तत्सम, अर्द्धतत्सम, विदेशी और ग्राम्य-विशेषण शब्दों का निम्नलिखत पद में एक साथ प्रयोग हुआ है :

प्रभु जु हौं तो महा अधर्मी।
अपत, उतार, अभागौ, कामी, विषयी, निपट कुकर्मी।
घाती, कुटिल, ढीठ, अति क्रोधी, कपटी, कुमति, जुलाई।
औगुन की कछु सोच न संका, बड़ौ दुष्ट, अन्यायी।
बटमारी, ठग, चोर, उचक्का, गाँठिकटा, लठबाँसी।
चचल, चपल, चबाइ, चौपटा, लिये मोह की फाँसी।
चुगुल, ज्वारि, निर्दय, अपराधी, झूठौ, खोटौ-खूटा।
लोभी लौद, मुकरवा, झगरू, बड़ौ पढैलो, लूटा।

---

1 सूरसागर (सभा) पद १४६

लंपट, धूत; पूत दमरी को कौड़ी कौड़ी जोरै।
कृपन, सूम नहिं खाइ खवावै, खाइ मारि कै औरै।
लगर ढीठ, गुमानी, टूंडक, महा मसखरा रूखा।
मचला, अकलै-मूल, पातरौ, खाँउ-खाँउ करै भूखा।
निर्धन, नीच, कुलज, दुर्बुद्धी, भौंदू नित कौ रोऊ।
तष्णा हाथ पसारे निसदिन, पेट भरे पर सोऊ।
बात बनावन की है नीकौ, बचन-रचन समुझावै।
खाद-अखाद न छाँडै अब लौं सब मैं साधु कहावै।
महा कठोर, सुन्न हिरदे कौ, दोष देन कौ नीकौ।
बड़ौ कृतघ्नी और निकम्मा वेधन, राँकी फीकौ।
महामत्त बुद्धि-बल कौ हीनौ, देखि करै अँधेरा।
बमनहिं खाइ, खाइ सो डारै, भाषा कहि-कहि टेरा।
मूक, निन्द, निगोड़ा, भौंड़ा, कायर काम बनावै।
कलहा, कुष्टी, मूष रोगी अरु काहूँ नैकु न भावै।
पर-निन्दक, परधन कौ द्रोही पर संतापनि बोरौ।
औगुन और बहुत है मोमैं कह्यौ सूर मैं थोरौ।'[1]

यह जहाँ-तहाँ से एकत्र किये हुए शब्द-सूत्रों का वाग्जाल नहीं है, दैन्य की पुनीत अनुभूति में भक्त-कवि के अन्तःकरण से उमड़कर फूट निकलने वाली भाव-धारा है जिसे किसी एक सँकीर्ण दिङ्मार्ग में आबद्ध होकर प्रवाहित होने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता, अपितु जो अपनी व्यापकता में चारों ओर अपना रास्ता बनाती हुई चलती है। केवल किसी एक ही प्रकार के शब्दों के प्रयोग का आग्रह न कर, सचमुच सूर ने अपनी भाषा को एकदेशीय अथवा पंगु होने से बचा लिया है। हमारे भाव-सम्राट् कवि ने मनोदशा-विशेष के चित्रण मे भाषा को भाव के समानान्तर लाने के लिए स्तुत्य प्रयास किया है। भाषा को प्रवाह और प्रभाव प्रदान करने वाली मिली-जुली शब्दावली उसी प्रयास का एक अङ्ग और सूर की उस समन्वयवादी प्रवृत्ति का प्रतीक है, जिसका स्पष्ट प्रस्फुटन 'हरिहर संकर नमोनमः'[2] वाले पद मे हुआ है।

मुहावरे और लोकोक्तियाँ

भाषा को प्रौढता प्रदान करने में मुहावरे और लोकोक्तियों का कितना हाथ है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। इन सीधी और सरल उक्तियों में मानव-समाज का चिरकाल का अनुभव संचित है, इनका आधार मनोवैज्ञानिक है; अतएव देश और काल की सीमा से ये परे हैं और मानव मात्र के हृदय को समान रूप से स्पर्श करने की क्षमता रखती हैं। आश्चर्य होता है उस अन्धे कवि की सूक्ष्मदर्शिता और विस्तृत निरीक्षण पर, जिसने अपनी शब्दावली में अनेक सूक्ति-रत्नों को गूँथकर वाणी का अपूर्व शृङ्गार किया है। सूर द्वारा प्रयुक्त कुछ मुहावरे और लोकोक्तियो यहाँ दिये जाते हैं :

---

१ सूरसागर (सभा) पद १८६
२ सूरसागर (सभा) पद ७८६

मुहावरे

अँगुरी गहत गह्यौ जिहिं पहुँचौ (१६२३) अपने ही सिर लादना (२४४६) अपनी सी करना (२६६८) आँख धुर सी दीन्हीं (१३१२) आँख बरसना (३८२७) आँख बरति है मेरी (४१४६) इतनौ कहा गाँठि को लागत (३१८८) उपजे ओछे नछत्र के (३०१४) उनहिं हाथ कर पाऊँ (१५१३) एकहु अंग न काची (१६४८) एक बात की बीस बताई (३२५०) एक डाल के तोते (४२१३) ओछे बासन (२६३०) कर मीड़े सहचरि पछिताई (१३६६) कछू मूँढ़ि पढ़ि परज्यौ (२८६५) कैसे मन दै बैसी (१८७७) एक दुःख दूजै हाँसी (४६४१)।

गाढ़े दिन के मीत (३१) गंगे गुर की रसा गई ह्वै (३१४७) गगन में कूप खोदना (४२१८) खेरे की दूब होना (४६०७) जाति-पाँति उघटना (१८५३) ज्यों-ज्यो करि (२८७६) जिय मे सूल रही (३६१७) जन्म बिगाड़ना (३६५६) जरे पर जारत (४५२१) झखत रहत दिन-राती (४२६६) चाम के दाम चलावत तुम तो (४६५४) घर के चोर (२८८७)।

टाँका न लगना (११३) ठगमूरी खाई (१६१६) ठगौरी लाई (२६८६) कहा ठगी सी ठाड़ी (३०३३) ढोल बजाइ ठगी (३८८३) ठग मोदक होना (४०१६)।

तारे गिनना (३६२७) तेरौ कह्यौ पवन कौ भुस भयौ (४१५८) तिनका तोड़कर डालना (२७५२) दई परर्‍यौ (१२१३) दई की घाली (१६२१) द्वै कौड़ी के (३८७२) देत जरे पर लोन (४१४०) नाच नचाना (४२) नैन लगना (२०७५) नन्द महर की कानि करत हौं, नतु करती मह-मानी (२०६७) ना जानों किहि घाट तरे री (२८१२) निपट दई कौ खोयौ (४१५८) धुर ही ते खाटौ खायौ है (४५८३)।

पाठ पढ़ाना (१६०६) पोच करना (२४४६) पीछे-पीछे फिरना (२८६२) पराए होना (३०११ पलक न पड़ना (३८६५) पैड़े पड़ना (४२३३) फिरत धतूरा खाए (४६५८) फुटि गईं तब चार्‍यौ (१०१) बदति नहिं काहू (१८५६) बातें गढि-गढि बानत (२६२८) बोहित के काग (२६३०) बारह बाने (४१३८) भयौ हाथ पाथरतर का (२५३४) नैना भये बजाइ गुलाम (२८५७) भाँवरि सी परि फिरै (२८२१) भौंह तानना (२६२८) भुस पर की भीति (३८०२) मनो गढ़े दोउ एकहिं साँचे (४२०७) मनमानी कहना (४१३६) महमानी कछु खाते (४१३४) मूठ मारना (३६५६) मन की मन ही माँझ रही (३८६८) मरत लोचन प्यास (३८४६) मूँछहि पकरि अकरतौ (२०३) मूँछहिं ताव दिखायौ (३०१) मीठी-खाठी कहना (८७२) मुँह सम्हार तू बोलत नाहीं (११५५) मूँड़ चढ़ाना (१८८८) मामी पीना (२१०६) मिली दूध ज्यों पानी (२५१६) मन मिलना (२६१८) मधु तोरे की माखी (३७७८) बाल खसना (३७)।

रंग झुलाने (१८२२) लीक खींचकर कहना (२५१५) लेन न देन (२६६८) रतन छोरि दियौ माटी (४२१३) सीस चढ़ा लेना (२४८६) हंस काग का संग भयौ (४०३६) लाम्बी मेल दई है तुमकौ (४१५८) मन तौ रह्यौ पंषि सूरज प्रभु माटी रही धरी (३८६८) कौ द्वै नाव चढ़त है (१६०५) मुरी डोर ज्यों तोरी (३८७६)।

लोकोक्तियाँ

अपने स्वारथ के सब कोऊ (४५६३) अपनौ दूध छाँड़ि को पीवै, खार कूप कौ वारी (४५८३) इतकी भई न उतकी सजनी (२६३५) एक आँधरौ हिय की फूटी दौरत पहिरि खराऊँ ४७४४) ओछोई इतरात (१८८८)कंचन खोइ, काँच लै आए (३१२६) काटहु अम्ब बबूर लगावहु,

चन्दन की करि बारि (४५२७) कहा कथत मौसी के आगे, जानत नानी नानन (४५६४) गढ़ी जारी विधना की, जैसी-तैसी ताहि (१८६७) खाटी मही कहा रुचि मानै, सूर खवैया खी की (४४७६) काकी भूख गई मन लाडू (४४७६) ।

जाके हाथ पेड़ फल ताको (१६५१) जाको मन मानत है जासों, सो तहँ ही सुख मानै (१६२२) जो बुनिये, सोई पुनि लुनिये (२४०३) जो छोटी तेई है खोटी (२६५६) जोइ लीजै सोई है अपनी (२८८३) जाकी बान परी सखि जैसी सो तहिं टेक रह्यौ (२६३२) जूठे खैये मीठै कारन (२८५६) जोबन रूप दिवस दस ही के (३२१०) जाहि लगै सोई पै जानै (३६५५) ज्यों ऊजर खेरे की पुतरी को पूजै को मानै (४६६२) जैसे बास बसत है कोऊ तैसो होत सयानों (४६४५) जे भयभीत होंहि मृग देखे क्योऽव छुवहि अहि कारो (४३६०) जल बूड़त अवलम्ब फेन को (४२३८) ताको कहा परेखौ कीजै जानै छाछ न दूधौ (४५०८) तुमसों प्रेमकथा का कहिबौ मनों काटिबौ घास (४५७८) दियौ अपनो लहै सोहि (२४४८) धान का गाँव पयार तै जानो (४२१८) धोखे ही बिरवा लगाइ कै काटत नाहिं बहोरी (४५८२) नीर नारी नीचे ही कौ चलै जैसे धाय (१८८६) ।

मारे कौं मारत हैं बढे लोग भाई (२६२१) बाजी ताँति राग हम बूझौं (४२६७) बैद आगै भेद कैसे (४४८३) लौडी की डौंडी जगबाजी (४२७०) लेवा देई धराधरि में है कौन रग को भूप (४३८७) मूरो के पातन के बदलै को मुक्ताहल दैहै (४२८२) प्रेमकथा सोई पे जानै जापै बीती होई (४१६०) कही कौन पैं कहै कनूका जिन हठि भुसी पछोरी (४१७१) ।

सूर सुकत हठि नाव चलावत ये सरिता हैं सूखी (४१७५) सूर सु वद कहा लै कीजै कहै न जानै रोग (४२०८) सूरदास गय खोटो, काहैं पारखि दोष धरै ? (२६५८) स्वान पूँछ कोउ कौटिक लागै, सूधी कहुँ न करी (४१४४) सूर सु बहुत कहे न रहै रम, गूलर को फल फोरे (४२१६) सूर परेखौ काको कीजे, बाप कियौ जिन दूजी (४२६८) सूरदास जे मन के खोटे, अवसर परै जाहि पहचाने (४३६६) सूर स्वभाव तजै नहिं कारौ, कीजै कोटि उपाय (४६१७) राजपंथ तै टारि बतावत, ऊजर कुचल कुपैंडो (४५४३) सूरदास प्रभु सीख बतावैं, सहद लाइ कै चाटो (४५४०) सूरदास सो समाइ कहाँ लौं छेरी बदन कुम्हेंडो (४५४३) सूरदास जिहिं सब जग डहक्यौ, ते उनको डहँकात (४६७०) ।

लोक-प्रचलित उपमाओं, मुहावरों और लोकोक्तियों का आश्रय लेकर सूर ने अपनी भाषा को अभीष्ट भावों की अभिव्यक्ति के लिये कितनी उपयुक्त बना लिया है, यह निम्नलिखित पद से स्पष्ट हो जायेगा, जिसमे प्रेम-विह्वला-ब्रजबालाएँ असदृश उपदेश देने वाले उद्धव पर सीधी-सादी भाषा में ऐसा चुटीला व्यंग्य करती हैं कि वे अवाक् रह जाते हैं—

आए जोग सिखावन पाँड़े ।
परमारथी पुराननि लादे ज्यौं बनजारे टाँड़े ।
हमरे गति-पति कमल-नयन की, जोग सिखैं ते राँड़े ।
कहौ मधुप कैसे समाहिंगे, एक म्यान दो खाँड़े ।
कहु षट्पद कैसें खैयतु है, हाथिनि के सँग गाँडे ।
काकी भूख गई बयारि भषि, बिना दूध घृत माँड़े ।
काहै कौं झाला लै मिलवत, कौन चार तुम डाँड़े ।
सूरदास तीनौ नहिं उपजत, धनिया, धान, कुम्हाँड़े ।[1]

---

[1] सूरसागर (सभा) पद ४२२२

भाव और रस

मानव-मन की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपनी अनुभूतियो को व्यक्त करने के लिये आकुल रहता है। दूसरे को सुनने और अपनी कहने की इस चाट के कारण ही मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहा जाता है। अभिव्यक्ति की अदम्यता के साथ ही साथ उसमें सौन्दर्य के प्रति आकर्षण भी स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहता है, जिसके कारण वह अपनी प्रत्येक वस्तु को सौन्दर्य-समन्वित देखना चाहता है, अतएव वह अपने भावों को सुन्दरतम रूप मे प्रकट करने को उत्सुक होता है। इसी आधार पर काव्य के दो पक्ष हो जाते है—भाव-पक्ष और कला-पक्ष। इन दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध है। यों तो आचार्यों ने प्रायः भाव-पक्ष को ही प्रमुखता दी है, परन्तु वास्तविक बात यह है कि दोनों के सन्तुलित सामंजस्य मे ही कला का उत्कर्ष है।

भाव-पक्ष पर विचार करना सरल कार्य नही है, क्योकि मानव-मन की वृत्तियाँ बड़ी जटिल और अगम्य है, जिससे उनकी विचित्रता और विविधता में एक-रूपता का अन्वेषण बड़ा दुष्कर कार्य है। ये भाव हमारे मानसिक जीवन के अभेद्य अंग बनकर उसमे तिलो मे तेल की भाँति व्याप्त रहते है तथा प्रत्येक प्रकार के ज्ञान के मूल कारण होते है। भाव प्रत्येक व्यक्ति अन्तस् का एक धर्म है, इसलिये वर्णनातीत हैं और केवल अनुभवगम्य हैं।

इन भावों की संख्या भी अनन्त है, फिर भी विशिष्ट-विशिष्ट लक्ष्यों को दृष्टिकोण में रखकर विचार करने से हम उन्हें तीन श्रेणियों मे विभाजित कर सकते हैं—इन्द्रिय-जन्य, प्रज्ञात्मक और गुणात्मक। इन्द्रिय-जन्य भाव—इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान से उत्पन्न होते है। किसी मधुर फल के आस्वादन से हमें सुख की उपलब्धि होती है और कटुफल-भक्षण से दुःख की। प्रज्ञात्मक भाव—वर्तमान, भूत या भविष्यत् के अनुभव के आधार पर इन्द्रिय-जन्य भावो को उद्दीप्त करते हैं। हमारे हाथ के कटने से उत्पन्न हुआ शारीरिक दुःख भावी कार्यों के अवरोध-विषयक निश्चय से उद्भूत मानसिक दुःख से युक्त होकर और भी अधिक हो जाता है। भाव किसी स्थूल वस्तु के सम्बन्ध से प्रकट होते है। जिस वस्तु से वे अभिव्यक्त होते है, उसे विभाव कहते हैं, जो दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन-विभाव वे होते हैं, जो मन मे किसी चित्र का उदय करते हैं तथा कल्पना की सहायता से उपस्थित होते है। उद्बुद्ध भावों को उद्दीप्त करने वाले विभाव उद्दीपन-विभाव कहलाते है।

गम्भीरता की मात्रा की दृष्टि से भाव दो प्रकार के होते है—संचारी-भाव और स्थायी-भाव। संचारी-भाव वे होते हैं जो तरङ्गों के सदृश उठ-उठकर तनिक-सी देर में विलीन हो जाते हैं, परन्तु जो भाव रसास्वादन पर्यन्त मन मे ठहरते हैं, उन्हें स्थायी-भाव कहा जाता है। संचारी-भाव स्थायी-भाव के पोषक के रूप मे ही आ सकते हैं, उससे बढ़कर नहीं हो सकते। वे स्थायी-भाव के रूप में ही मिल जाते हैं और इस तादूप्य के लिये स्थायी-भाव ही मूल सामग्री उपस्थित करता है।

संचारी-भावों की संख्या संस्कृत आचार्यों ने ३३ मानी है। देव ने 'छल' को भी संचारियों में गिनकर यह संख्या ३४ तक बढ़ाई। स्थायी-भावों की संख्या भरत ने ८ मानी है जिनका उल्लेख मम्मट ने अपने 'काव्य-प्रकाश' में इस प्रकार किया है :

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः।[1]

---

१ काव्य-प्रकाश, चतुर्थ समुल्लास

अर्थात्—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय; स्थायी-भाव बताये गये है।

[१] रति—स्त्री-पुरुष के पारस्परिक दाम्पत्य प्रेम को 'रति' कहते है।

[२] हास—किसी की वाणी, अंग आदि की विकृति से जनित मानसिक उत्फुल्लता को 'हास' कहते हैं।

[३] शोक—किसी प्रियजन के अनन्त वियोग के कारण उत्पन्न व्याकुलता ही 'शोक' है।

[४] क्रोध—बहुत बडा अहित करने वाले दोषी को दण्ड देने के हेतु उत्तेजना देने वाला मनोवेग 'क्रोध' कहलाता है।

[५] उत्साह—दान, वीरता आदि के प्रसंग से उसमें प्रवृत्त होने की प्रेरणा देने वाली उत्तरोत्तर उन्नतिशील मनोवृत्ति 'उत्साह' है।

[६] भय—प्रबल अनिष्ट के कारणों-को देखकर मन मे उत्पन्न हुई व्याकुलता 'भय' है।

[७] जुगुप्सा—घृणोत्पादक वस्तुओं का अवलोकन कर, उनसे दूर रहने के लिये बाध्य करने वाली वृत्ति 'जुगुप्सा' है।

[८] विस्मय—असाधारण वस्तु के अवलोकन से उत्पन्न आश्चर्य ही 'विस्मय' कहलाता है।

'काव्य-प्रकाशकार' ने निर्वेद को स्थायी-भाव मानकर नवम शांत नामक रस को मानने वाले आचार्यों का समर्थन किया है।

निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः[१]

सूर का भाव-पक्ष

विभावों द्वारा स्थायी-भाव के उद्दीप्त होने पर आन्तरिक भावों के जो चिह्न वाह्य आकृति और चेष्टाओं के रूप मे दीख पड़ते हैं, वे अनुभाव कहलाते हैं। इन स्थायी भाव, अनुभाव, विभाव और संचारी भावों के योग से रस की निष्पत्ति होती है। किस प्रकार होती है? इस प्रकार का उत्तर विभिन्न आचार्यो ने अपने-अपने शास्त्र के ढंग पर दिया है। हमारा उद्देश्य यहाँ रस-विवेचन नही है। हमे तो यह कहना है कि हमारे चरित नायक सूर आचार्यो द्वारा गिनाये हुए इन भावों और अनुभावो मे ही बँधकर नहीं चले। उन्होने दाम्पत्य-रति के अतिरिक्त भगवद्विषयक रति और वात्सल्य रति को भी रस की कोटि तक पहुँचाया है और आचार्यो द्वारा प्रतिपादित शृङ्गार रस-सम्बद्ध सञ्चारियों के अतिरिक्त अन्य कितनी ही मनोदशाओं की अभिव्यक्ति कर शृङ्गार को रस-राजस्व प्रदान किया है। यही तो सूर का सूरत्व है। यों तो कृष्ण-कथा पाँच सहस्र से भी अधिक वर्षो से अनेक वक्ताओं के मुख से कही जाती रही है और इस कारण पिष्टपेषित-सी प्रतीत होती है; किन्तु सूर ने उसमे अपने भावरस का सम्मिश्रण कर कल्पना के दिव्य साँचे मे ढालकर उसे इतने सुन्दर रूप में जनता के सम्मुख रखा कि वह उनके आराध्य युगल की दिव्य सौन्दर्यमयी सफल प्रतिकृति प्रतीत होती है, जिसके हृदय मे प्रेम की अनन्त उत्ताल तरंगें उठती हैं, पर कोलाहल नही होता; परन्तु ओठों में स्पन्दन नहीं होता। जहाँ आग्रह के साथ सकोच, औत्सुक्य के साथ सन्तोष, किशोर चपलता के साथ यौवन की गम्भीरता, और साधना के साथ साध का असाध्य सामजस्य है।

१ काव्य-प्रकाश, चतुर्थ समुल्लास

भगवान् की शील, शक्ति और सौन्दर्य-विभूतियों से सूर ने केशव सौन्दर्य का ही चित्रण किया है, उन्होने केवल बाल्य और यौवन से सम्बद्ध जीवन-झाँकियाँ ही दिखाई है, तुलसी की भाँति समस्त जीवन का, विविध अवस्थाओं का और विभिन्न परिस्थितियो का चित्रण उन्होंने नही किया। यही कारण है कि सूर का वर्ण्य-विषय सीमित है; क्योकि इन्ही दोनों अवस्थाओं से सम्बद्ध वात्सल्य और शृंगार रसों की अभिव्यक्ति—बाल्य और यौवन अवस्थाओ के भावों और व्यापारों के चित्रण से ही उन्होंने सरोकार रखा है। उन्हें न समाज से कुछ मतलब था, न लोक-मर्यादा का ध्यान। जनता को उपदेश देने की सन्त कवियो वाली प्रवृत्ति भी नही थी। वे तो ऐकान्तिक साधक थे। उनकी मथुरा तीन लोक से न्यारी थी; जिसमे कृष्ण, गोपियाँ, उनकी क्रीडाएँ, बाल-सुलभ चापल्य, नन्द और यशोदा का वात्सल्य, मुरली, रास, यमुना, वृन्दावन, कालिन्दी-तट के निकुञ्ज आदि ही सम्मिलित थे। प्रेम की साँकरी गली में सूर और उनके ब्रज-भाषा-वल्लभ श्याम के अतिरिक्त कोई अन्य समा ही कैसे सकता था। उन्होने सखा बन कर कृष्ण की लीलाओ को साक्षात् देखा। संसार से सम्बन्ध त्याग कर ही वे प्रभु के इतने विश्वासपात्र बन सकते थे। उनके आराध्य का जीवन भी उतना सामाजिक नहीं था, जितना तुलसी के राम का। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इस विषय में यह कथन है—

"पारिवारिक और सामाजिक जीवन के बीच हम सूर के बालकृष्ण को ही थोड़ा बहुत देखते हैं। कृष्ण के केवल बालचरित का प्रभाव नन्द, यशोदा आदि परिवार के लोगों और पड़ो-सियों पर पडता दिखाई देता है। इसी बाललीला के भीतर कृष्ण का लोकपक्ष अधिकतर आया है; जैसे—कंस के भेजे हुए असुरों के उत्पात से गोपों को बचाना, काली नाग को नाथकर लोगों का भय छुड़ाना। कृष्ण के चरित में जो यह थोड़ा बहुत लोकसंग्रह दिखाई पड़ता है, उसके स्वरूप मे सूर वृत्ति लीन नहीं हुई है। जिस शक्ति से बाल्यावस्था मे ऐसे प्रबल शत्रुओं का दमन किया गया, उसके उत्कर्ष का अनुरंजनकारी और विस्तृत वर्णन उन्होंने नहीं किया, जिस ओज और उत्साह से तुलसीदास जी ने मारीच, ताड़का, खरदूषण आदि के निपात का वर्णन किया है, उस ओज और उत्साह से सूरदास जी ने बकासुर, अघासुर और कंस आदि के बध और इन्द्र के गर्व-मोचन का वर्णन नही किया है। कंस और उसके साथी असुर भी कृष्ण के शत्रु के रूप में ही सामने आते हैं, लोक-शत्रु या लोक पीड़क के रूप में नहीं"[1]

बात यह है कि शुक्ल जी तुलसी को आदर्श मानकर काव्य को लोक-मर्यादा और लोक-मंगल की दृष्टि से ही देखते थे। उनका अपना निजी दृष्टिकोण था, परन्तु जैसा कि हम निवेदन कर चुके है, सूर व्यक्तिगत साधना के कायल थे। उन्हें शहर के अन्देशे से दुबला होना इष्ट नही था। इसके अतिरिक्त सूर का काव्य मुक्तक प्रगीत-काव्य है, जिसमे प्रबन्ध-काव्य के महान् कान्तार में उन्मुक्त रूप से विकसित होती हुई घटना-वल्लरियों और व्यापार-पादपों की शाखाओं के प्रसार का आतङ्कमय स्वरूप नहीं मिलता, पर नियमित भावसुमन-वाटिका के मनोहारी दृश्य की रमणीयता अवश्य मिलती है। अपने सीमित क्षेत्र में ही सूर की कला ने ऐसी कमनीय 'कला' का प्रदर्शन किया है कि अन्य कलाकार हेच है। उनकी कल्पना को उड़ने के लिये भले ही लम्बा क्षेत्र नही मिला है, पर वह पाठक को अपने साथ इतना ऊँचा उड़ा ले जाती है जहाँ पहुँचकर उसे अन्य कवियों की कल्पनाएँ अत्यन्त क्षुद्र दीख पड़ती हैं। वात्सल्य और शृंगार के रस की जो धारा उन्होंने बहाई उसका प्रसार जितना कम है, गम्भीरता उतनी ही अधिक है। स्वय आचार्य शुक्ल का मत यहाँ उल्लेखनीय है—

---

१ सूरदास, (आचार्य शुक्ल) पृष्ठ १७२-१७३

"वात्सल्य और श्रृंगार के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बन्द आँखों से किया, उतना किसी अन्य कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना-कोना वे झाँक आए। उक्त दोनों के प्रवर्त्तक रति-भाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके, उतनी का और कोई नहीं। हिन्दी-साहित्य में श्रृङ्गार का रस-राजत्व यदि किसी ने पूर्णरूप से दिखाया है—तो सूर ने।"[1]

वल्लभ-सम्प्रदाय मे वात्सल्यासक्ति और दाम्पत्यासक्ति को बड़ा महत्व दिया गया है। नन्द, यशोदा और राधा के साथ अपने हृदय का तादात्म्य स्थापित कर कृष्णभक्त कवि प्रेममत्त रहते थे और फिर भला उनके हृदय के भावों को वे कैसे न निकाल लाते ? सूर ने वात्सल्य और दाम्पत्य—दोनों प्रकार की रति का बड़ा ही मर्मस्पर्शी अभिव्यंजन किया है, जिनमे सयोग और वियोग—दोनों पक्षों के अनेक हृदयग्राही चित्र है। नन्द के घर खेलते, डोलते, नाचते कृष्ण का एक चित्र देखिये :

> बलि गइ बाल-रूप मुरारि।
> पाइ पैंजनि रटति रुन-झुन, नचावति नन्द नारि।
> कबहुँ हरि कौं लाइ अँगुरी, चलन सिखवति ग्वारि।
> कबहुँ हृदय लगाइ हित करि, लेत अञ्चल डारि।
> कबहुँ हरि कौ चितै चूमति, कबहुँ गावति गारि।
> कबहुँ ले पाछे दुरावति ह्याँ नहिं बनवारि।
> कबहुँ अंग भूषनि बतावति, राइ-लोन उतारि।
> सूर सुर-नर सबै मोहे, निरखि यह अनुहारि।[2]

वात्सल्य रस के समस्त तत्व इस पद में मिल सकते हैं। कृष्ण आलम्बन हैं; यशोदा आश्रय; कृष्ण की अनुपम छवि, रुनक-झुनक पैंजनियाँ बजाते हुए चलना, नाचना आदि उद्दीपन है। यशोदा का हरि को देखना, चूमना, आँचर में छुपाना, पीछे की ओर दुराना आदि अनुभव हैं, और हर्ष संचारी-भाव।

एक उदाहरण और लीजिये। बालक कृष्ण मणिमय आँगन में अपने प्रतिबिम्ब को पकड़ने की कोशिश मे हैं। कभी वे अपनी छाँह को पकड़ना चाहते हैं और कभी किलक-किलक कर अपनी दँतुलियों का सौन्दर्य दिखाते हैं। यशोदा सुत की क्रीड़ाओं को देखकर फूली नहीं समाती। वह बार-बार नन्द को इस सुख मे शामिल होने के लिए बुलाती हैं। नारी की मातृत्व-भावना स्वयं अकेले ही वात्सल्य का अनुभव कर संतुष्ट नही होती, उसकी पूर्ण संतुष्टि—वात्सल्य का पूर्ण आस्वादन—यहाँ भी पति का योग चाहती है। मातृत्व के साथ दाम्पत्य की यह संयोग-कामना नारी हृदय का गूढ़ रहस्य है, जिसका उद्घाटन सूक्ष्म निरीक्षण करने वाले सुकवि ही कर सकते हैं। क्षणिक हवाइयाँ छोड़ने वाले कविम्मन्यों के बस की यह बात कहाँ :

> किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत।
> मनिमय कनक नन्द कैं आँगन बिम्ब पकरिबै धावत।
> कबहुँ निरखि हरि आपु छाँह कौं कर सौं पकरन चाहत।
> किलकि हँसत राजत द्वै दँतियाँ, पुनि-पुनि तिहिं अवगाहत।

---

१ सूरदास (आचार्य शुक्ल) पृष्ठ १६७

२ सूरदास (सभा) पद ७३६

कनक भूमि पर कर-पग-छाया, यह उपमा इक राजति ।
करि-करि प्रतिपद प्रतिमनि बसुधा, कमल बैठकी साजति ।
बालदसा सुख निरखि जसोदा, पुनि-पुनि नन्द बुलावति ।
अँचरा तर लै ढाँकि, सूर के प्रभु कौ दूध पियावति ।[१]

सांसारिक अनुभवो से दूर रहते हुए भी सूर ने सांसारिक सम्बन्धों का अप्रतिम वर्णन किया है। पुरुष होकर भी वे माता के हृदय से विभूषित थे और अन्धे होते हुए भी सूक्ष्मदर्शी और दूरदृष्टा थे। माँ के हृदय दी कोमल कामनाओ का निम्नलिखित पद मे कितना सुन्दर स्फुरण हुआ है :

जसुमति मन अभिलाष करै ।
कब मेरौ लाल घुटुरुनि रेंगै, कब धरनी पगु द्वैक धरै ।
कब द्वै दाँत दूध के देखौं, कब तोतरे मुख बचन भरै ।
कब नन्दहिं बाबा कहि बोलै, कब जननी कहि मोहिं ररै ।
कब मेरौ अँचरा गहि मोहन जोइ सोइ कहि मोसौं झगरै ।
कब धौ तनक-तनक कछु खैहै, अपने करसौं मुखहिं भरै ।
कब हँसि बात कहैगो मोसौ, जा छवि ते दुःख दूरि हरै ।[२]

बच्चे के विकास के प्रति माँ के हृदय में अदम्य उत्सुकता रहती है । उसकी समस्त क्रियाएँ और भावनाएँ उसी मे केन्द्रित हो जाती है । वह उस दिन को देखने के लिए लालायित रहती है, जब उसका लाल घुटनों चलकर उसके पास तक आने लगेगा, प्रथम बार तोतली वाणी से निकले हुए 'माँ' शब्द के माधुर्य पर वह संसार की समस्त विभूति को न्यौछावर कर सकती है । त्याग की यह भावना मातृत्व की देन है, स्वार्थ का तकाजा नही । वह अपने पुत्र को इसलिए प्यार करती कि वह उसका पुत्र है, इन्ही भावनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति इस पद मे हुई है । माँ का भीरु हृदय पुत्र की अनिष्ट की आशका से विचलित हो उठता है, वह ऐसी नौबत ही क्यों आने दे कि उसके बच्चे को किसी की नजर भी लग सके ? तभी तो वह भौह पर दिठौना लगा देती है (यदि मैथिलीशरण जी की "हेतु बन रहा था आप दीठ का दिठौना ही", उक्ति के अनुसार उसको नजर लगने की सम्भावना बढ़ ही जाय, तो माँ का क्या कसूर है ?), वह तो अपना सर्वस्व बच्चे के ऊपर वार देती है :

लालन, बारी या मुख ऊपर ।
माई मोरिहि दीठि न लागै तातै मसि-बिन्दा दियौ भ्रूपर ।
सरबस मैं पहले हों वार्‌यौ, नान्ही-नान्ही दँतुली दू पर ।
अब कहा करौं निछावरि सूरज, सोचति अपने लालन जू पर ।[३]

बच्चे को दूध न पीता हुआ देखकर समवयस्कों के प्रति उसके 'स्पर्धा' के भाव को उद्‌बुद्ध कर दूध पिलाती हुई माता का चित्र देखिये :

कजरी कौ पय पियहु लाल, जासौ तेरी बेनि बढ़ै ।
जैसै देखि और ब्रज-बालक, त्यौ बल-बैस चढ़ै ।

---

१ सूरसागर (सभा) पद ७२८
२ सूरसागर (सभा) पद ६९४
३ वही (,,) पद ७१०

यह सुनि कै हरि पीवन लागे, ज्यौं त्यौं लयौ लढ़ै ।[१]

बच्चे के नामकरण और अन्नप्राशन आदि संस्कारों के अवसर पर माता का हृदय फूला नहीं समाता। कनछेदन में उसके हृदय में मोद के साथ धुक-पुक भी होती रहती है, उसके बच्चे को कान छिदाने में कष्ट भी तो होगा! और जब कान छेदे गये तो यशोदा की क्या दशा थी :

'लोचन दोऊ भरि-भरि माता कनछेदन देखत जिय मुरकी' ।[२]

माँ का हृदय बडा ही शङ्कालु होता है। घर से निकलते ही उसके बच्चे पर न जाने क्या आपत्ति आ जाय? छोटा-सा बालक खेलने के लिये दूर चला जाय, तो न जाने कहाँ बहक जाय? पर बच्चे तो बच्चे होते हैं। उनकी जिद का क्या कहना? मजबूर होकर माँ को साम छोड़कर दाम नीति का आश्रय लेना पड़ता है। देखिये, कल्पित 'हाऊ' का कृष्ण को कैसा भय दिखाया जा रहा है :

खेलत दूर जात कत कान्हा।
आजु सुन्यौ मैं हाऊ आयौ, तुम नहिं जानत नान्हा।
इक लरिका अबहीं भजि आयौ, रोवत देख्यौ ताहि।
कान तोरि वह लेत सबनि के, लरिका जानत जाहि।[३]

घर में मङ्गल करने वाले बच्चों को खेलते देखकर जब माता-पिता का वात्सल्य उमडता है तो वे तन्मय हो जाते हैं, उनका बचपन लौट आता है और वे अपने आप भी बच्चे के साथ में बालक की भाँति खेलने लगते है, वही हार-जीत की सम्भावना से प्रेरित स्पर्धा का भाव माधुर्य का आवरण धारण करके उनके हृदय मे आ बैठता है। देखिये, नन्द और यशोदा की प्रतियोगिता के कारण बेचारे कृष्ण की स्थिति 'नट के बटा' की सी हो रही है, उन्हें खिलौना ही बना लिया गया :

कबहुँक दौरि घुटुरुवनि लपकत, गिरत उठत पुनि धावै री।
इतते नन्द बुलाइ लेत है, उततैं जननि बुलावै री।
दम्पति होड़ करत आपुस मे, श्याम खिलौना कीन्हौ री।[४]

कृष्ण कुछ बड़े होते है, माखन-चोरी की आदत पड़ गई, नित घर-घर कमोरी साफ होने लगी, अकेले ही नही, सखाओं का गिरोह भी बना लिया, खाते तो कम थे, पर बिखेरते बहुत थे। जब 'नित-प्रति हानि होति गोरस की' तो ब्रजनारियों के नाकों दम आ गया। यशोदा से शिकायत करनी पड़ी, पर क्या यशोदा का मातृ-हृदय कृष्ण के विरुद्ध इस अभियोग को आँख मूंद कर मान लेता? उसे यकीन आ सकता है, विशेषकर यौवन मदमाती ग्वालिनों का :

मेरौ गोपाल तनक सौ, कहा करि जानै दधि की चोरी।
हाथ नचावति आवति ग्वारिनि, जीभ करै किन थोरी।
कब सीकैं चढ़ि माखन खायौ, कब दधि-मटुकी फोरी।
अँगुरी करि कबहूँ नहिं चाखत, घर ही भरी कमोरी।[५]

× × ×

---

१ सूरसागर (सभा) पद ७६२
२ वही ,, पद ७६८
३ वही ,, पद ८३८
४ वही ,, पद ७१६
५ वही ,, पद ९११

कहैं जनि ग्वारिन झूठी बात।
कबहुँ नहिं मनमोहन मेरी, धेनु चरावन जात।
बोलत है बतियाँ तुतरौरी, चलि चरननि न सकात।
कैसे करै माखन की चोरी, कत चोरी दधि खात।
देही लाइ तिलक केसरि कौ, जोवन-मद इतराति।
सूरज दोष देति गोविन्द कौ, गुर लोगनि न लजाति।[१]

कृष्ण का उत्साह और भी बढ़ जाता है, वे पक्के चोर बन गये। माखन के साथ उन्हे रस भी तो मिलता था। अब चोरी के साथ उत्पात भी चला, जिससे ग्वालिनों की चूड़ियाँ और चोलियाँ भी तहस-नहस होने लगी। वे आतीं और यशोदा को अपनी खाली मटकी दिखातीं, यशोदा उन्हे मक्खन से भर देती, इस डर से कि कहीं कोई उसके लाल को कोसे नही। अपने बच्चे के अनिष्ट के विषय में किसी के द्वारा कुछ शब्दों के प्रयोग की आशङ्का-मात्र माता के हृदय को कँपा देने के लिये पर्याप्त है, तभी तो :

करि मनुहर कोसबे डर भरि-भरि देति जसोदा मात।[२]

एक दिन यशोदा को क्रोध आ ही गया। एक गोपी शिकायत कर ही रही थी कि दूसरी चोरी करते कृष्ण का हाथ पकड़ कर ही ले आई। यशोदा खीझ उठी, कृष्ण को ऊखल से जकड़ दिया ओर हाथ में साँटी लेकर सजा देना प्रारम्भ किया, पर क्या ग्वालिनें वास्तव मे कृष्ण को सजा दिलाने आई थीं ? वे यशोदा को बुरा-भला कहने लगी। यह भी खूब रही, उन्होंने शिकायत की ओर वे ही अब उसे बेबकूफ बना रही हैं। यशोदा खीझ उठी, पर इस खीझ मे गोपियो के प्रति अमर्ष का मूल कारण कृष्ण-विषयक वात्सल्य ही है, और साथ ही यशोदा का पश्चात्ताप और व्याकुलता भी झलक पड़ रहे हैं। सुनिये, वह क्या कह रही है :

कहन लगी अब बढ़ि-बढ़ि बात।
ढोटा मेरौ तुमहिं बँधायौ, तनकहिं माखन खात।[३]

सीधी-सादी डेढ़ पंक्ति है, न कोई वक्रोक्ति है और न अलंकार, पर एक-एक शब्द यशोदा के मातृ-हृदय का पूरा चित्र खीचने के लिये पर्याप्त है। 'कहन लगी अब बढ़ि-बढ़ि बात' से गोपियो की (यशोदा के अनुसार) झूठी सहानुभूति और यशोदा का उनके प्रति अमर्ष व्यञ्जित है। 'ढोटा' शब्द से कृष्ण की अबोधता और उसके प्रति यशोदा की ममता फूटी पड़ती है।

कृष्ण को गोचारण के लिए यशोदा इसलिये भेजती है कि उनका मन बहल जाय, पर जब सभी ग्वाल-बाल अपनी गाये उन्हीं से घिरवाते है, कृष्ण थक जाते है, और यशोदा को बताते हैं, उसकी ममता जाग्रत हो जाती है, वह ग्वालों को गाली तक दे बैठती है। वास्तव में उसका हृदय इतना कठोर नही कि वह किसी का अनिष्ट चाहे। यह तो पुत्र की ममता के— उसके प्रति असीम वात्सल्य के—उफान का स्वाभाविक विकास है। वह कहती है :

मैं पठवति अपने लरिका कौं, आवै मन बहराइ।
सूर स्याम मेरो अति बालक, मारत ताहि रिंगाइ।

१ सूरसागर (सभा) पद ९१२
२ वही ,, पद ९५०
३ वही ,, पद ९७३
४ वही ,, पद ११२८

बाल्यावस्था का बड़ा ही सुन्दर और स्वाभाविक वर्णन सूर ने किया है। बच्चों की मनोवृत्तियों, व्यापारों और चेष्टाओं का साकार और सजीव चित्रण सूरसागर मे मिलता है। सूर की अन्तर्दृष्टि मानव-मानस की तह मे गोता लगाकर भावरत्न लाने मे बेजोड़ है। बालकों की दैनिक चर्या के सूक्ष्म भेद को, छोटे से छोटे व्यापार को और गूढ़ से गूढ़ अनुभूति को चित्रित करना कवि भूला नही। एक के बाद दूसरा चित्र इस सफाई से कवि ने दिया है कि उसकी चित्रपटी का सौन्दर्य देखते ही बन पड़ता है। माखन खाते हुए कृष्ण का एक धूलिधूसर चित्र देखिये :

सोभित कर नवनीत लिए।

घुटुरुनि चलत रेनु-तन-मंडित, मुख दधि लेप किए।

यह तो हुआ कृष्ण का वह स्वाभाविक रूप, जो उन्होंने स्वयं अपनी हरकतो से बनाया है; इससे बिलकुल सटा हुआ उनका अलंकृत रूप भी देखिये—

चारु कपोल; लोल लोचन, गोरोचन-तिलक दिए।
लट-लटकनि मनु मत्तु मधुप-गन, मादक मधुहिं पिए।
कठुला-कंठ, बज्र केहरि-नख, राजत रुचिर हिए। [1]

इन दोनों स्वरूपों के समन्वय की गंगा-जमुनी आभा से शाब्दिक चित्रकार सूर का वह चित्र कितना मनोहर हो उठा है? यह सहृदय विद्वान स्वय अनुभव कर सकते है, पर यह लीजिये, ये माखन खाते हुए खीझने क्यों लगे? शायद मन के मुआफिक माखन नहीं मिला :

खीझत जात माखन खात।
अरुन लोचन, भौंहें टेढ़ी, बार-बार जँभात।
कबहुँ झुकि कै अलक खैंचत, नैन जल भरि जात। [2]

पैरों चलने के प्रयत्न मे डगमगाकर गिरते हुए कृष्ण का चित्र देखना हो, तो इधर आइये :

चलत चहत पाइन गोपाल।
लए लाइ अँगुरी नँदरानी, सुन्दर स्याम तमाल।
डगमगात गिरि परत पानि पर, भुज भ्राजत नँदलाल। [3]

मथानी के घमरके साथ कृष्ण का नृत्य प्रदर्शनीय है। बाजे के साथ बच्चो का मन और तन दोनों नाच ही उठते हैं। सूर का यह शब्द-चित्र नृत्य की गति का भी स्पष्ट अनुभव कराता है :

आनन्द सों दधि मथति जसोदा, धमकि मथनियाँ घूमै।
निरतत लाल ललित मोहन, पग परत अटपटे भू में। [4]

तथा

त्यौं-त्यौं मोहन नाचै ज्यौं-ज्यौं रई घमरकौ होइ री। [5]

बच्चों में स्पर्धा का भाव बड़ा तीव्र होता है। वे किसी चीज मे अपने हमजोलियों से पीछे नहीं रहना चाहते। एडलर के अनुसार बच्चों की यही भावना उन्हें उन्नत बनने मे सहायता देती है। कृष्ण की चोटी से बलराम की चोटी बड़ी है, वे अपनी चोटी को बढ़ाना चाहते है। यशोदा

१ सूरसागर (सभा) पद ७१७
२ वही ,, पद ७१८
३ वही ,, पद ७३२
४ वही ,, पद ७६५
५ वही ,, पद ७६६

उनकी इस प्रवृत्ति का लाभ उठाकर उन्हें चोटी बढ़ने का लोभ देकर दूध पिलाती है, क्योंकि वे वैसे दूध पीते नहीं, पर जब फिर भी चोटी न बढ़ी तो वे यशोदा से शिकायत करते है :

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहत बल की बेनी, ज्यौ ह्वै है लाँबी-मोटी।
काढ़त-गुहत-न्हवावत जै है, नागिन सी भुई लोटी।
काचौ दूध पियावति पचि-पचि, देति न माखन रोटी।[१]

और न्हाने से गुरेज करना बच्चों की कितनी स्वाभाविक मनोवृत्ति है :

जसुमति जबहिं कह्यौं अन्हवावत, रोइ गए हरि लोटत री।
तेल उबटनौ लै आगै धरि, लालहिं चोटत-पोटत री।
मैं बलि जाऊँ न्हाउ जनि मोहन, कत रोवत बिनु काजैं री।[२]

कभी-कभी बच्चा इतना मचलता है कि मानता ही नहीं। बाल-हठ तो प्रसिद्ध ही है न, क्षोभ में वह अपने वस्त्रों को भी बकोटने लगता है। यदि कोई उसे हाथ भी लगाता है तो वह और भी मचल कर अपनी रोदन-क्रिया को जारी रखता है, प्रसन्न होता है तो स्वयं ही अपनी मौज में आकर। बच्चे की इस मनोवैज्ञानिक दशा का सूर ने सुन्दर चित्रण किया है :

चवल अधर, चरन-कर चंचल, मंचल अँचल गहत बकोटनि।
लेति छुडाइ महरि कर सौं कर, दूरि भई देखति दुरि ओटनि।[३]

समवयस्कों द्वारा—विशेषत: अपने ही बड़े भाई द्वारा—चिढ़ाये जाने पर बच्चों के हृदय में जो आत्म-गौरव की भावना जागरित होती है, वह उन्हें शिकायत करने के लिये उत्तेजित करती है। बच्चे अपनी सुख-दुःख की बात सबसे अधिक अपनी माता से ही कहना चाहते है, क्योंकि उन के लिये वही सबसे अधिक निश्छल स्नेह रखती है। यही कारण है कि जब खेल ही खेल मे बलराम ने कृष्ण को मोल लिया हुआ बताया, तो कृष्ण ने भी घर आकर शिकायत की—

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसौं कहत मोल कौ लीन्हौं, तू जसुमति कब जायौ।
गोरे नन्द जसोदा गोरी, तू कत स्यामल गात।
चुटकी दै दै ग्वाल नचावत, हँसत सबै मुसकात।[४]

ऐसे बच्चों के साथ न खेलना, और उनसे दूर रहने की चेष्टा करना, बाल-हृदय का स्वभाव है। बालक-हृदय स्नेह का भूखा होता है, वह उनके साथ क्यों खेले, जिनसे उसे खीझ और झुंझलाहट के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता—

खेलत अब मेरी जाइ बलैया।
जबहिं मोहिं देखत लरिकनि-संग तबही खिझत बल भैया।[५]

खेलने मे झगड़ते हुए बालकों के 'क्षोभ' का कितना सुन्दर उदाहरण निम्नलिखित पद मे मिलता है—

---

१ सूरसागर (सभा) पद ७६३
२ वही ,, पद ८०४
३ वही ,, पद ८०५
४ वही ,, पद ८३२
५ वही ,, पद ८३५

खेलन में को काकौ गुसैयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ।
जाति-पाँति हमते बड़ नाही, नाही बसत तुम्हारी छैयाँ।[१]

बलराम तथा अन्य ग्वाल-बालों को गोचारण के हेतु जाते देखकर कृष्ण की बाल-स्वभाव-सुलभ अनुकरण की प्रवृत्ति जाग उठती है। वे स्वयं भी गोचारण के लिये जाना चाहते है, क्योकि अब वे बड़े हो गये है—

मैया हौं गाइ चरावन जैहौं।
तू कहि महर नन्द बाबा सौं, बड़ौ भयौ न डरैहौ।[२]

प्रकृति की सुरम्य पृष्ठ-भूमि पर गोचारण के अत्यन्त सुन्दर दृश्य सूरदास जी ने चित्रित किये है। ग्वाल-बालों की स्वाभाविक सरल चित्त-वृत्तियों के साथ उनके क्रिया-कलापो के भी क्रम-बद्ध अनेक चित्र आपको सूरसागर मे दीख पड़ेंगे। बलराम कृष्ण की गैया खुद घेरते हैं और उन्हे वन के फल तोड़-तोड़ कर देते हैं—

मैया री मोहिं दाऊ टेरत।
मोकौ बन-फल तोरि देत है, आपुन गैयन घेरत।
और ग्वाल संग कबहुँ न जैहौ, वे सब मोहिं खिझावत।
मै अपने दाऊ संग जैहौं, बन देखैं सुख पावत।[३]

खिझाने वालों के साथ न जाकर वनफल तोड़कर देने वाले दाऊ के साथ जाने का आग्रह कृष्ण की बाल-प्रवृत्ति का द्योतक है, जिसके अनुसार बालक स्नेह का व्यवहार ही पसन्द करता है। बालकों को अपने से बड़ों के कार्य करने मे आत्मा के प्रसार से उद्भूत आनन्द का आस्वादन होता है, अतएव उस मार्ग के लिये उनके हृदय में बहुत ही अधिक उत्साह और चाव रहता है। कृष्ण के हृदय में गोचारण की इतनी उत्सुकता है कि वे कलेऊ करते-करते ही भाग खड़े होते हैं, किन्तु जब भूख सहन नहीं होती तो घर जाने वाले ग्वालो से यशोदा के पास खबर भेजते है। यशोदा घर की ही एक ग्वालिन को छाक लेकर भेजती है। भूख मे चाहे भजन न हो, परन्तु मनोविनोदी व्यक्ति तो विनोद किये बिना नही चूकता। कृष्ण और बलराम—दोनों छिप जाते हैं, बेचारी ग्वालिन सारे वृन्दावन को छानती फिरती है, बार-बार टेर लगाने पर हजरत निकल कर आते हैं—

बृन्दा आदि सकल बन ढूंढ्यौ, जहँ गाइन की टेर।
सूरदास प्रभु दुरत दुराए, डुंगरनि ओटि सुमेर।[४]

तथा

बहुत फिरी तुम काज कन्हाई।
टेरि-टेरि हौं भई बावरी, दोउ भैया तुम रहे लुकाई।[५]

कृष्ण पहाड़ी पर चढ़कर सखाओं को टेरते है और छाक-जेंवन के लिए बैठते हैं। ग्वाल-बालों के प्रति कृष्ण की ममता इतनी है कि वे सब का जूंठन लेकर खाते हैं—

---

१ सूरसागर (सभा) पद ८६३
२ वही (,,) पद १०३०
३ वही (,,) पद १०४२
४ वही (,,) पद १०८०
५ वही (,,) पद १०८४

ग्वालनि कर तें कौर छुड़ावत ।
जूठौ लेति सबनि के मुख कौ, अपने मुख लै नावत ।
षट्रस के पकवान धरे सब, तिनमे रुचि नहिं लावत ।
हा-हा करि-करि माँग लेत है, कहत मोहिं अति भावत ।[1]

'सह नौ भुनक्तु' का यह आचरण, गोपालो का यह पारस्परिक स्नेह, सहभोज का यह प्रभावशाली दृश्य भी वस्तुतः दृष्टव्य है, जिसमे आधुनिक सभ्य मित्रों की तकल्लुफ और फार्मेलिटी से पूर्ण पार्टी का मजा चाहे न हो, पर सरल हृदय से उमड़ती हुई प्रेमरस धारा का माधुर्य बरस रहा है ।

कभी-कभी बच्चों मे खेल-खेल में ही एक-दूसरे को डराने की भावना भी आ जाती है, इसी के कारण कभी-कभी ऐसी घटनाएँ भी घटती थीं, जिनके कारण कृष्ण को शिकायत भी करनी पड़ जाती थी :

मैया बहुत बुरौ बलदाऊ ।
कहन लग्यौ बन बड़ौ तमासौ सब मौड़ा मिलि आऊ ।
मोहूँ कौ चुचकारि गयौ लै, जहाँ सघन बन झाऊ ।
भागि चलो, कहि गयौ उहाँते, काटि खाइ रे हाऊ ।[2]

इस प्रकार के न जाने बाल्यावस्था के कितने स्वाभाविक चित्र सूरसागर में भरे पड़े है, विस्तार-भय से हम अधिक चर्चा नहीं करते ।

कृष्ण और गोपियों के प्रेम का विकास प्रकृति के सुन्दर वातावरण मे हुआ है, बाल्यावस्था मे साथ-साथ खेलने वाले सरल प्रकृति वाले सखा और सखी, किशोरावस्था के आकर्षण, कौतूहल, जिज्ञासा आदि भावों से गुजरते हुए यौवन काल के प्रिय और प्रिया बन गये । उनके प्रणय की निष्पत्ति मे साहचर्य और सौन्दर्य-प्रियता; दोनों का ही योग है । यह प्रेम अचानक ही बैठे-बिठाये गैब से टूट पड़ने वाली चीज नही है, जो अपनी आकस्मिक चमक से मनुष्य को हक्का-बक्का बनादे और आँखों देखकर भी जिस पर मनुष्य विश्वास न कर सके । यह तो उस प्रथम स्वाभाविक आकर्षण का परिपाक है जो दो हृदयों को चचल बनाकर स्वाभाविक गति से एक दूसरे की ओर चलने के लिए प्रेरित करता है और स्वयं सघन होता हुआ उन्हें परिवेष्टित कर अन्त मे एक दूसरे से दृढ़ता के साथ जकड़ देता है, जो साथ-साथ हँसने-खेलने, उठने-बैठने हौर चलने-फिरने में स्वाभाविक-हँसी-मजाक और छेड़-छाड़ के साथ परिपुष्ट हुआ है और जिसका स्फुरण मन्द, किन्तु निश्चित और नियमित गति से हुआ है । यह वह लोभ नहीं है, जो वासन्ती उषा मे अँगड़ाई लेकर चटकती हुई कलियों के अन्तराल से उड़ते हुए सौरभ का समीरण से परिचय पाकर रस-पान लिप्सु मधुपों को एक के अनन्तर दूसरी की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देता है । गोपियों के प्रेम का अंकुर बरसाती घास-फूँस नहीं है । इसकी जड़ इतनी गहरी है कि उसे वाह्य सिञ्चन की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, केवल आन्तरिक रस से ही हरा-भरा रहता है । इस विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत उल्लेखनीय है । वे लिखते हैं :

"इस प्रेम को हम जीवनोत्सव के रूप में पाते हैं, सहसा उठ खड़े हुए तूफान या मानसिक विप्लव के रूप में नहीं, जिसमें अनेक प्रकार के प्रतिबन्धों और विघ्न-बाधाओं को पार करने की

---

१ सूरसागर (सभा) पद १०८६

२ सूरसागर (सभा) पद १०९६

लम्बी-चौड़ी कथा खड़ी होती है।"[1] बाल्यावस्था से ही पली हुई यह प्रेम-लतिका क्या परित्याग का निष्ठुर झटका देकर तोडी जा सकती है ? सूर की गोपियाँ साफ कहती है—"लरिकाई का प्रेम कहो अलि कैसे छूटे।" साहचर्य तो पशु-पक्षी, वन-उपवन, वृक्ष-लता, यहाँ तक कि ईंट-पत्थरों के साथ भी हमारे हृदय में अनुराग उत्पन्न कर देता है। आज भी हमारे बचपन का क्रीड़ाओं के स्थल और साधन-भूत वृक्ष-लताओं आदि के दर्शन हमारी स्मृति को जाग्रत करके भाव विभोर कर देते है। किराये के मकान को छोडकर जाते समय, जिसका वास्तव में हमारे जीवन मे सराय से अधिक महत्व नही, हमारे हृदय पर उन्यमनस्कता क्यो छा जाती है ? इस सब का कारण खोजने के प्रयत्न मे हमारे अन्तःकरण के किसी कोने में साहचर्य-जन्य अनुराग ही झाँकता दीख पड़ेगा।

कृष्ण का सौन्दर्य वैसे ही ब्रज में सर्वजनीन चर्चा का विषय था, फिर उनकी कैशोर्य जन्य चपलता और वेणु-वादन-निपुणता ने मिलकर गोपियों पर टोना ही कर दिया। कृष्ण के सौन्दर्य का प्रभाव बड़ा ही व्यापक है। उनके शरीर के प्रत्येक अङ्ग से छवि फूटी पड़ती है। गोपियाँ उनके सौन्दर्य पर अपना सर्वस्व वारने को प्रस्तुत है :

तरुनी निरखि हरि-प्रतिअङ्ग।
कोउ निरखि नख-इन्दु भूली, कोउ चरन-जुग-रंग।
कोउ निरखि नूपुर रही थकि कोउ निरखि जुग जानु।
कोउ निरखि जुगजंघ-सोभा करति मन-अनमानु।
कोउ निरखि कटि पीत कछनी मेखला रुचिकारि।
कोउ निरखि हृदयनाभि की छवि डारयौ तन-मन वारि।[2]

श्याम के जिस सौन्दर्य ने 'वन उपवन सरिता सब मोहे', वह यदि गोपियों को इस स्थिति पर पहुँचा दे कि—'सूर स्याम बिनु और न भाव, कोउ कितनौ समुझावै' तो क्या आश्चर्य ? कृष्ण के विशाल लोचन, चारु कपोलों पर डोलते हुए चंचल कुण्डल, अरुण अधरों पर थिरकती हुई माधुर्य-वाहिनी मुरलिका, नीले मेघ और धूम्रपटल-सी रोमराजि, कमल-कोमल चरण, सब कुछ इतने मादक हैं कि इनकी सौन्दर्य-सुरा के खुमार मे ब्रजनारियाँ मत्त है।

तरुनी स्याम रस मत वारि।
प्रथम जोवन-रस चढ़ायौ, अतिहि भई खुमारि।
दूध नहिं, दधि नही, माखन नहीं, रीतौ माट।
महारस अंग-अंग पूरन, कहाँ घर कहँ बाट।
मातु-पितु गुरुजन कहाँ के, कौन पति, को नारि।
सूर प्रभु कैं प्रेम-पूरन छकि रही ब्रजनारि।[3]

माखन-चोर कृष्ण का सौन्दर्य गोपियों का चित्तचोर बन गया तो फिर भोली राधिका उसकी चपेट से कैसे बच सकती थी ? एक दिन कृष्ण खेलने के लिये निकले और यमुना-तट पर जा पहुँचे, वही राधा का प्रथम दर्शन हुआ :

खेलन हरि निकसे ब्रजखोरी।
गये स्याम रवि तनया के तट, अङ्ग लसति चन्दन की खोरी।

---

१ सूरदास (आ० शुक्ल)
२ सूरसागर (सभा) पद १२५२
३ वही ,, पद २४४२

औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल भाल दिये रोरी।
नील बसन-फरिया कटि पहिरे, बेनी पीठि रुलित झकझोरी।
संग लरिकिनी चलि इत आवति, दिन थोरी अति छबि तन गोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझै, नैन-नैन मिलि परी ठगोरी।[१]

राधा भी कुछ कम सुन्दर नही थी। उसके सौन्दर्य ने कृष्ण को आकृष्ट किया और :

बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति, काकी तू बेटी, देखी नाहिं कबहूँ ब्रज-खोरी।
काहे कौ हम ब्रजतन आवति, खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनत रहति स्रवनिन नँद-ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी।
तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलौ संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातनि भुरइ राधिका भोरी।[२]

प्रथम परिचय के पश्चात् ही साथ-साथ खेलना, एक-दूसरे के घर आना-जाना और परस्पर कार्य मे हाथ बँटाना आदि बातें उस परिचय को प्रेम के रूप मे परिणत करने लगी। बीच-बीच मे हास-परिहास, मनोविनोद और नोक-झोंक के मन्द-तेज, शीत-उष्ण वातावरण मे प्रेमरस के मधुर और चरपरे अनुभव होते रहे—साहचर्य रस पाकर प्रेम का अंकुर लहलहाने लगा। एक दिन राधा ने कृष्ण से दूध दुहने की प्रार्थना की, क्योकि उसकी चूनरी का रंग दूध की बूदों से फीका हो जाता। कृष्ण गाय दुहने लगे परन्तु :

हाथ धेनु-थन, बदन तिया-तन छीर छाँटि छल छोरे।

राधा को भी मजाक सूझी। वह बिगड़ गई, कृत्रिम मान धारण किया और बोली :

तुम पै कौन दुहावै गैया।
इत चितवत उत धार चलावत, यहै सिखायौ मैया।[३]

इतना ही नही, और भी दो-चार खरी-खोटी सुनाईं और अन्त मे 'अल्टीमेटम' दे दिया :

करि न्यारी हरि आपुनि गैयाँ।
नही अधीन तेरे बाबा के, नहिं तुम हमरे नाथ-गुसैयाँ।
हम तुम जाति-पाँति के एकै, कहा भयौ अधिकी द्वै गैयाँ।
जा दिन तै सचरे गोपिन मे, ताहि दिन तें करत लँगरैयाँ।

बेचारा कृष्ण का मुँह फक पड गया और उन्हे हार माननी पडी :—

मानी हार सूर के प्रभु तब, बहुरि न करिहौ नन्द दुहैया।[४]

पर कृष्ण की हार में भी जीत ही रही। उन्हें भुला देना हँसी-खेल नही, गोपियाँ कितना ही मान करें, रूठने का अभिनय करें, पर उनके लोभी नयन धोखा देते ही हैं। अपना ही लोहा खोटा हो, तो लोहार का क्या कसूर ? और कृष्ण का रूप ही ऐसा है कि वे अजनबी ही बने रहते है। तभी तो राधा कहती हैं :—

स्याम सों काहे की पहिचानि।
निमिष निमिष वह रूप, न वह छवि रति कीजै जेहि।

× × ×

---

१ सूरसागर (सभा) पद, १६१०
२ वही ,, पद १२६१
३ वही ,, पद १३५२
४ वही ,, पद २३५३

इत लोभी, उत रूप परमनिधि कोउ न रहत मिति मानि ।[1]

"क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूप रमणीयतया:" को चरितार्थ करने वाले सौन्दर्य के समक्ष तो 'मान उड़ि जात ज्यों कपूर उड़ि जात है ।'

इसी प्रकार प्रतिदिन पनघट-प्रस्ताव, यमुना-विहार, भरे घर मे संकेतो द्वारा वार्तालाप, हिंडोला, रास आदि की लीलाएँ होती रही, जिसके द्वारा विकसित होता हुआ वह प्रेम स्वच्छन्द रमण के साम्राज्य मे जा उतरा । राधा और कृष्ण के स्वच्छन्द-विहार का एक दृश्य देखिये :

नवल किशोर नवल नागरिया ।
अपनी भुजा स्याम-भुज ऊपर, श्याम-भुजा अपनै उर धरिया ।
क्रीड़ा करत तमाल-तरुन-तर, स्यामा स्याम उमँगि रस भरिया ।
यों लपटाइ रहे उर-उर ज्यौं, मरकत मनि कंचन मैं जरिया ।
उपमा काहि देउँ, को लायक, मन्मथ कोटि वारने करिया ।
सूरदास बलि-बलि जोरी पर, नन्द-कुँवर वृषभानु-कुँवरिया ।[2]

इस प्रकार राधाकृष्ण की क्रीड़ाओं के वर्णन में सूर ने न जाने कितने भावों की कल्पना की है ? उनकी संयोग-वर्णन रीतिकालीन कवियो की भाँति गुलगुली गिलमो और गलीचो तक ही नही रह गया है, उसमे प्रकृति का अनन्त प्रसार है, सीमित सचारियों की कृत्रिम धारा के स्थान पर सरस हृदय का उन्मुक्त भाव-वर्षण है । आचार्य शुक्ल का यह कथन कितना सत्य है :

"उनकी उमड़ती हुई वाग्धारा उदाहरण रचने वाले कवियों के समान गिनाये हुए संचारियों से बँध कर चलने वाली न थी ।"[3] तथा "सूर का संयोग-वर्णन एक क्षणिक घटना नही है, प्रेम-संगीतमय जीवन की एक गहरी धारा है, जिसमे अवगाहन करने वाले को दिव्य माधुर्य के अतिरिक्त और कही कुछ नही दिखाई पडता ।"[4]

सूरदास के शृङ्गार का वर्णन करते समय हमें यह नही भूल जाना चाहिए कि वे पहले भक्त थे, और बाद मे कुछ और । उन्होंने जो कुछ कहा है, माधुर्य-भक्ति के आवेश में । उनकी रचनाएँ शृङ्गार-रस से सम्बद्ध उदाहरणों के उद्‌देश्य से नहीं लिखी गईं । सूर को तो बस इतना ध्यान था कि वे अपने प्रभु के सौन्दर्य का गान कर रहे हैं । उन्होने यह कभी न सोचा होगा कि आगे चलकर उनके साहित्य का क्या प्रभाव पड़ेगा अथवा उनकी रचनाओं में काव्य-शास्त्र के लक्षणों के उदाहरण भी आये हैं ? इतना जरूर मानना पड़ेगा कि वे जयदेव, विद्यापति आदि भक्त शृङ्गारी कवियों से प्रभावित अवश्य थे, अतः अनायास ही उनके मुँह से जो शृङ्गारमयी उक्तियाँ निकली, उनमे काव्य-शास्त्र के अनेक लक्षणों का समन्वय हुआ है । 'साहित्य-लहरी' मे तो नायिका-भेद के अनेक उदाहरण प्राप्त होते ही हैं, किन्तु उसे नायिका-भेद का ग्रन्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसमें लक्षणों का अभाव है । 'सूरसागर' में भी ऐसे बहुत से पद मिल जाते हैं । आगे चलकर रीति-कालीन आचार्यों ने नायिका-भेद का अलग ही साँगोपांग विवेचन किया, जिससे वह काव्य-शास्त्र का एक स्वतन्त्र ही विषय बन गया, उनसे पहले यह रस का ही एक अंग माना जाता था ।

---

१ सूरसागर (सभा) पद, २४७०
२ वही ,, पद, २३०६
३ सूरदास (आचार्य शुक्ल) पृष्ठ १६७
४ वही (,, ,,) पृष्ठ १८२

यद्यपि प्रेममार्गी कवियों ने परकीया के प्रेम की बाधाओं के वर्णन द्वारा प्रेम-मार्ग की कठिनाइयों का वर्णन किया, किन्तु पुष्टि-सम्प्रदाय मे स्वकीया के प्रेम को ही प्रश्रय दिया गया है। वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुसार राधा स्वकीया और चन्द्रावली परकीया है। सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार सूरदास ने भी स्वकीया का ही अधिक वर्णन किया है, परन्तु परकीया भक्ति के भी अनेक उदाहरण उनकी रचनाओं मे मिल जाते हैं। विस्तार भय से हम नायिका भेद के थोड़े से ही उदाहरण यहाँ दे सकेंगे :

गोपियों के यौवन-विकसित अंगों की ओर कृष्ण उपमानो द्वारा संकेत करते है, पर उन्हे अभी अपने अन्दर इस परिवर्तन की मानसिक अनुभूति नही हुई। अतः वे कृष्ण की टेढ़ी बात को नहीं समझ पाती है। उनकी उक्ति 'अज्ञात यौवन' की उक्ति प्रतीत होती है :

यह सुनि चकित भई ब्रज-बाला।
तरुनी सब आपुस में बूझति, कहा कहत गोपाला।
कहाँ तुरंग, कहाँ गज केहरि, हँस सरोवर सुनियै।
कंचन-कलस गढ़ाये कब हम, देखौ धौं यह गुनियै।[1]

बचन-विदग्धा—

तब राधा इक भाव बतावत।
मुख मुसकाइ सकुचि पुनि सहजहिं, चली अलक सुरझावति।
एक सखी आवति जल लीहें, तासों कहति सुनावति।
टेरि कह्यौ मेरै घर जैहौं, मैं जमुना तै आवति।
तब सुख पाइ चले हरि घर कौं हरि प्रियतमहिं मनावति।
सूरज-प्रभु बितपन्न-कोक-गुन, तातैं हरि-हरि ध्यावति।[2]

क्रिया-विदग्धा—

स्याम कौ भाव दै गई राधा।
नारि नागरिनि काहूँ लाख्यौ, कोउ नही, कान्ह कछु करत है बहुनु राधा।
चितै हरि-बदन याकौ हँसत मैं लखी, वै उतहि गए कछु हरिष कीन्हें।
भावते भाव के संग नाहीं सुने, ये महाचतुर चतुराई लीन्हें।
आजुही रैनि दोउ संग ये मिलैगे, हरैं कहि परस्पर मनहिं जानी।
सूर ब्रजनागरी नारि नागरिनि संग, फिरी ब्रज तुरत लै जमुन पानी।[3]

बासकसज्जा—

राधा रुचि-रुचि सेज सँवारति।
तापर सुमन सुगन्ध बिछावति, बारम्बार निहारति।
भवन गवन करिहैं हरि मेरै, हरषि दुःखहिं निरुवारति।
आवैं कबहुँ अचानक ही कहि, सुभग पाँवड़े डारति।
इहिं अभिलाखहिं मैं हरि प्रगटे, निरखि भवन सकुचानी।
वह सुख श्री राधा माधौ को, सूर उनहिं जिय जानी।[4]

---

१ सूरसागर (सभा) पद २१६८
२ वही (,,) पद २६४२
३ वही ,, पद २६४३
४ वही ,, पद २६४७

खण्डिता—

प्यारी चितै रही मुख पिय कौ।
अंजन अधर, कपोलनि चन्दन, लाग्यौ काहू तिय को।
तुरत उठी दर्पन कर लीन्हें, देखौ बदन सुधारौ।
अपनौ मुख उठि प्रात देखिकै, तब तुम कहूँ सिधारौ।
काजर चदन, अधर कपोलनि, सकुचे देखि कन्हाई।
सूर स्याम नागरि-मुख जोवत, वचन कह्यौ नहिं जाई।[1]

मानवती (सखी की शिक्षा)—

मन-मन पछितायौ रहि जैहै।
सुनि सुन्दरि यह समौ गए तै, पुनि न सूल सहि जैहै।
मनहु मैन-मजीठ प्रेम-रंग, तैसे ही गहि जैहै।
काम हरष, हरेरे हरि अम्बर, देखत ही बहि जैहै।
इते भेद की बात सखी री, कत कोऊ कहि जैहै।
बरत भवन खनि कूप सूर त्यौ, मदन-अगिनि दहि जैहै।[2]

उत्कण्डिता—

ललिता कौं सुख दै गए स्याम।
आजु बसैगे रैनि तिहारैं, प्रान-पियारी हौ तुम बाम।
यह कहिकै अनतहि पगु धारे, बहु नायक के भेद अपार।
साँझ समय आवन कहि आए, सौहैं बहुत करि नंदकुमार।
वह बैठी हरि-मारग जोबति, इकइक पल बीतत इक जाम।
सूर स्याम आवन की आसा, सेज संवारति व्याकुल काम[3]

प्रोषित पतिका—

बिछुरे री मेरे बाल-सँघाती।
निकसि न जात प्रान ये पापी, फाटति नाहिन छाती।
हौ अपराधिनि दही मथति ही, भरि जोबन मदमाती।
जो हौ जानति हरि कौ चलिबौ, लाज छाँड़ि संग जाती।
ढरकत नीर नैन भरि सुन्दर, कछु न सोह दिन-राती।[4]

विप्रलब्ध—

राधा चक्रत भई मनमाहीं।
अबही स्याम द्वार ह्वै झाँके, ह्याँ आये क्यों नाहीं।
आपु न आइ तहां जो देखैं, मिले न नन्द-कुमार।
आवत ही फिरि गए स्याम-घन अति भयौ विचार।
सूनै भवन अकेली मैं ही, नीके उझकि निहार्‌यौ।
मोते चूकि परी मैं जानी, तातैं मोहि बिसार्‌यौ।

---

१ सूरसागर (सभा) पद ३१००
२ वही ,, पद ३१६८
३ वही ,, पद ३०६६
४ वही ,, पद ३६६६

इक अभिमान हृदय करि बैठी, एते पर झहरानी।
सूरदास प्रभु गए द्वार ह्वै, तब व्याकुल पछितानी।[1]

कलहान्तरिता—

सखि मिलि करौ कछुक उपाउ।
मार मारन चढ्यौ बिरहिनि, निदिरि पायौ दाउ।
हुतासन-धुज जात उन्नत, चैल्यौ हरिदिसि बाउ।
कुसुम-सर-रिपु-नंद-वाहन, हरषि हरषित गाउ।
बार अबकी प्रानप्रीतम, विजय सखा मिलाउ।
रति विचारि जु मान कीन्हौं, सोउ वहि किन जाउ।
सूर सखि सुभाउ रहिहौं, संग सिरोमनि-राउ।[2]

प्रेम के उद्‌भव और विकास मे अन्य इन्द्रियों की अपेछा नेत्रो का ही अधिक हाथ रहता है। प्रेमी युगल के हृदयों को जोड़ने मे वे माध्यम का कार्य करते है, परस्पर उलझ कर, लगकर या लडकर वे हृदय को अटूट प्रेम-पाश मे जकड़ देते है और बेचारा हृदय 'ज्यों-ज्यों सुरिझि चहत, भज्यौ त्यों-त्यों उरझ्यो जात।' नेत्रों के कारनामे का खमियाजा बेचारे हृदय को उठाना पड़ रहा है। उधर स्वयं कृष्ण (आलम्बन) के नेत्र ही ऐसे गजब के हैं कि खोजने पर भी कोई उपमा मिलती ही नही—

देखि हरि जु के नैननि की छबि।
इहै जानि दु:ख मानि जु अनुदिन, मानहुं अम्बुज सेवत है रबि।
खंजरीट अति वृथा चपल भये, गए बन मृग जलमीन रहे दबि।
तहुँउ जानि तनु तजत, जबहिं कछु पटतर देबै कहत कबहुं कबि।
इनसे येई, पचि हारि रही हौं, आवे नहीं कहत कछु वह फबि।[3]

अनन्वय अलंकार द्वारा नयनों के लोकोत्तर सौन्दर्य की अभिव्यंजना की गई है, ऐसे नेत्रों का वार क्या खाली जा सकता है? पर दोष तो सब अपने ही नेत्रों का है, अपना ही लोहा खोटा हो, तो लुहार का क्या दोष! तभी तो एक ब्रज-युवती कहती है—

नैन आपने घर के री।
लूटन देहु स्याम-अंग-सोभा, जो हम पर वै तरके री।
यह जानी नीकै करि सजनी, नहीं हमारे डरके री।[4]

अफसोस, 'इस घर को आग लग गई, घर के चिराग से।' इन नैनों ने मुझे बड़ा सताया है। कहना न मानकर सौन्दर्य-सलिल के भँवर में पड़ ही गये, उन्होंने लोक-लाज को खो दिया है और श्याम के रंग मे ही वे रँग गये हैं। इन नैनों का विश्वास ही क्या? ये चोर है, पर चोरी करना जानते नही। श्याम के सौन्दर्य को चुराने गये थे, परन्तु हृदय को बन्दी करा आये। सारा अपराध इन्ही का है। ये धृष्ट नयन घर की ही चोरी करते हैं, इनकी बानि छूट थोड़े ही सकती है। ये तो बचपन से ही चपल रहे हैं—

---

१ सूरसागर सभा पद २६९३
२ वही पद २७०३
३ वही पद १८२३
४ वही पद २८३६२

जाकी जैसी बानि परी री।
कोऊ कोटि करै नहीं छूटै, जो जिहिं धरनि धरी री।
बारे ही तै इनके ये ढग, चञ्चल चपल अनेरे
बरजत ही बरजत उठि दौरे, भये स्याम के चेरे।
ये उपजे ओछे नक्षत्र के, लंपट भये बजाइ।
सूर कहा तिनकी संगति, जे रहे पराएँ जाइ।[1]

'ये उपजे ओछे नक्षत्र के' में गोपियों की खीझ और अमर्ष के साथ रमणी-हृदय की पीर भी फूटी पड़ती है। इन भावों की अभिव्यक्ति के लिये, नारी-हृदय से निकली हुई परम्परा-प्राप्त इस सीधी-सादी उक्ति के अतिरिक्त और कोई चमत्कारपूर्ण कथन उपयुक्त होता, इसमे सन्देह है।

प्रिय की समस्त वस्तुएँ और क्रियाएँ प्रेमी को आकृष्ट करती है, उनसे उसे 'अपनापन' अनुभव होता है, इसलिए उससे चुटकी लेना प्रायः स्वाभाविक ही है। तभी तो गोपियाँ कृष्ण की मुरली से भी ठठोली करने मे नही चूकती। वे उसके भाग्य की सराहना करती है। पर नारी-हृदय की इस उदारता की भी सीमाएँ हैं। वह प्रिय की वस्तु को प्यार करता है, परन्तु जब प्रिय किसी वस्तु से इतना लगाव रखने लगता है कि आठों पहर उसी के रंग में मस्त रहकर अपने प्रेमी की ओर से उदासीन हो जाय, तो उस वस्तु से (प्रेमी को) ईर्ष्या भी हो जाती है जो स्त्रियो में सौतिया डाह की सीमा तक पहुँच जाती है। अहर्निश कविता-कामिनी के स्वागत मे आँखें बिछाकर एकाग्रचित्त से उसकी साधना करने वाले कवि के हाथ से उसकी प्रेमिका द्वारा कागज पेंसिल का छीना जाना सुना है;[2] पुस्तकों से फुरसत न पाने वाले अध्ययन-व्यसनी विद्वान् की अर्धाङ्गिनी पुस्तकों को कोसती हुई देखी गई है, फिर यदि दिन-रात गोपीवल्लभ के अधरो पर गर्व और शान से थिरकती हुई मुरलिका गोपियों की ईर्ष्या-भाजन बन जाय, तो गोपियों से 'आरज-पथ' का त्याग कराकर कृष्ण से नाता जुडवाया था, और इसी ने "अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति" की उपेक्षा करके तुडवा भी दिया। यदि इसे चुरा लिया जाय तो कैसा रहे? न रहे बाँस, और न बजे बाँसुरी।

सखी री मुरली लीजै चोरि।
जिन गुपाल कीन्हें अपनै बस, प्रीति सबन की तोरि।
कबहूँ कर, कबहूँ अधरनि, कटि कबहूँ खोंसति जोरि।
ना जानौ कछु मेलि मोहिनी, राखे अंग अंग मोरि।
सूरदास प्रभु कौ मन सजनी, बाँध्यौ राग की डोरि।[3]

पति प्रेम-गर्विता नायिका की भाँति मुरली किसी को बदती ही नहीं—

(माई री) मुरली अति गर्व, काहूँ बदति नाहिं आजु।
हरि कैं मुख कमल-देस, पायौ सुख राजु।[4]

वियोग-वर्णन (वात्सल्य-वियोग)

संयोग की भाँति वियोग का वर्णन भी सूर ने वात्सल्य से ही प्रारम्भ किया है। कृष्ण की लीलाओं से ब्रज-भूमि का चप्पा-चप्पा मुखरित हो रहा था। चारों ओर सुख और सन्तोष का राज्य

---

१ सूरसागर सभा पद ३०१४
२ देखिये सुदर्शन की कहानी "कवि की स्त्री"
३ सूरसागर सभा पद १२७५
४ वही ,, पद १२७१

था। यशोदा, नन्द, गोप, गोपियाँ सब प्रसन्न थे, पर एक दिन रंग मे भग हुआ। अक्रूर जी कंस का निमन्त्रण लेकर आये और कृष्ण-बलराम को ले आने का प्रस्ताव रखा। यशोदा पुत्र-वियोग की आशंका से सिहर उठी, पुत्र की सुकुमारता और कंस की दुष्टता को देखकर उसका वियोग और भी तीव्र हो उठा :

देखि अक्रूर नरि-नारि बिलखे।
धनुभंजन जस हेतु बोले इन्हें, और डर नही सब कहि संतोष।
महिर व्याकुल दौरि पाँइ गहि लै परी, नंद-उपनद सग जाहु लैके।
कहति ब्रज-नारि नैननि नीर ढारि कै, इन्हनि कौ काज मथुरा कहा है?
सूर नृप क्रूर अक्रूर क्रूरै भए, धनुष देखन कह्यौ कपटी महा है।[१]

लाड़-प्यार में पले हुए जो कृष्ण गुरुजनों को भी प्रणाम करना नही जानते, वे राजसभा नियमों को क्या जानें? मथुरा के हत्यारे असिधारी असुर क्या इन बातों को सह सकेंगे? यशोदा का मातृ-हृदय यह सोचकर व्याकुल हो उठता है :

ये कहा जानैं राज-सभा कौं, ये गुरुजन बिप्रहुँ न जुहारे।
मथुरा असुर-समूह बसत है, कर-कृपान जोधा हत्यारे।[२]

कृष्ण के बिना घर-आँगन, गोकुल सब कुछ सूना है। जिस कृष्ण के बिना यशोदा पलभर भी नहीं रह सकती थी, उसे वह कैसे वियुक्त कर दे? चाहे कंस बन्दी बना ले, उसे पर्वाह नहीं, पर वह अपनी आँखों के तारे कृष्ण को अलग नही करना चाहती। चाहे प्राण ही क्यों न देने पड़ें :

मेरौ माई निधनी कौ धन माधौ।
बारम्बार निरखि सुख मानति, तजति नहीं पल आधौ।
छिनु-छिनु परसति अङ्कम लावति, प्रेम प्रकृत ह्वै बाँधौ।
करिहै कहा अक्रूर हमारौ, दैहैं प्रान अबाधौ।
सूर स्यामघन हौ नहिं पठवौ, अबहिं कंस किन बाँधौ।[३]

'निधनी कौ धन' में कितनी निरीहता और विवशता है? सन्तोष के शान्त-सागर मे पुत्र वियोग के विक्षोभ से जनित कितनी तरंगें है? शायद आप गिन नहीं सकते। यह कृष्ण के लिए यशोदा का स्नेह नही है? पुत्र के प्रति माता की ममता है, जिसकी गम्भीर धारा में ससार के सारे सम्बन्ध और स्वार्थ डूब जाते हैं; माँ के हृदय से निकला हुआ वह निःश्वास है, जो समस्त विश्व को प्राणवान् बनाता है, मातृत्व का अदम्य त्याग है, जिसमे स्वयं मिटकर भी पुत्र की कल्याण-कामना की पावन भावना अन्तर्हित है। आज यशोदा को गोकुल मे कोई ऐसा हितैषी नही दीख पड़ता, जो कृष्ण को मथुरा जाने से रोक दे :

जसोदा बार-बार यों भाषै।
है कोउ ब्रज में हितू हमारौ, चलत गुपालहिं राखै।[४]

---

१ सूरसागर सभा पद ३५८५
२ वही ,, पद ३५८६
३ वही ,, पद ३५९१
४ वही ,, पद ३५९२

वियोग की सम्भावना ही संयोग के सुखो की स्मृति द्वारा हृदय की व्याकुलता को बढाने के लिए पर्याप्त है। यशोदा के मुख से निकले हुए ये शब्द कितने मर्मस्पर्शी है ?

जिहि मुख तात कहत ब्रजपति सौ, मोहि कहत है माइ।
तेहि मुख चलन सुनत जीवति हौ, विधि सौ कहा बसाइ।
को कर-कमल मथानी धरि है, को माखन अरि खैहै।
बरसत मेघ बहुरि ब्रज ऊपर, को गिरि बल कर लैहै।[1]

नन्द के मुख से यद्यपि इतनी विह्वलता-पूर्ण उक्तियाँ नही निकलती, तो क्या उनके हृदय मे वियोग का सागर नही उमड़ रहा ? उनकी वियोगजन्य अधीरता फूटती नही, है, क्योकि पुरुषत्व का बाँध उसे रोके हुए है। हृदय पर पत्थर रख कर वे यशोदा को समझाते है। उनके भाव बुद्धि और तर्क से सयत है, इसलिये अबाध रूप से उबल नहीं पड़ते।

भरोसौ कान्ह का है मोहि।
सुनहि जसोदा कंस नृपति-भय तू जनि व्याकुल होहि।[2]

परन्तु माता का हृदय क्या इस प्रकार के आश्वासनों से आश्वस्त हो सकता है ? एक ओर तो यशोदा बेहाल हो रही है और दूसरी ओर रोहिणी का यह चित्र कितना मार्मिक है :

'ये दोउ भैया जीवन हमरे, कहति रोहिणी रोइ।
धरनी गिरति उठति अति व्याकुल,कहि राखत नहि कोइ।[3]

और जब पुत्र ही माता को संसार की निःसारता चार दिन फूलने वाली सायन की बेल का उदाहरण देकर समझाता है, तो उसका हृदय ही टूट जाता है :

यह सुनि गिरी धरनि झुकि माता।
कहा अक्रूर ठगौरी लाई, लिये जात दोउ भ्राता।
विरध समय की हरत लकुटिया, पाप पुण्य डर नाही।
कछू नफा है तुमको यामे, सोचौ धौ मन माही।
नाम सुनत अक्रूर तुम्हारौ, क्रूर भए हौ आइ।
सूर नन्द-घरनी अति व्याकुल, ऐसैहि रैन बिहाइ।[4]

यशोदा की इच्छा तो यही रहती है कि उसका कृष्ण उससे जननी का नाता रखे। चलते-चलते वह फिर पुत्र का मुख देखना चाहती है और 'जनम के खेरे' को निरखने को कहती है—

मोहन नैकु बदन तन हेरौ।
राखौं मोहि नात जननी कौ, मदनगुपाल लाल मुख फेरौ।
बिछुरन भैंट देहु ठाढ़े ह्वै, निरखौ घोष जनम कौ खेरौ।[5]

सुख-दुख की अनुभूति मे एक दशा वह भी आती है, जब हृदय इतना भर आता है कि वाणी भावों को अभिव्यक्ति करने में असमर्थ होकर मूक हो जाती है, कण्ठ गद्गद् हो जाता है

---

१ सूरसागर सभा पद ३५६५
२ वही ,, पद ३५९६
३ वही ,, पद ३५९६
४ वही ,, पद ३५९८
५ वही ,, पद ३६०८

और टूटे-फूटे शब्द ही मुख से निकल पाते है । इस दशा में वाणी का काम आँखे करती है । सूर की विरह की चरम अनुभूति का यह चित्रण देखिये :

जबही रथ अक्रूर चढ़े ।
तब रसना हरि नाम भाषिकै, लोचन नीर बढ़े ।
महरि पुत्र कहि सोर लगायौ, तरु ज्यौं धरनि लुटाइ ।
देखति नारि चित्रसी ठाडी, चितये कुँवर कन्हाइ ।[1]

कृष्ण चले गये, यशोदा की आशा थी कि नन्द के साथ ही कृष्ण भी लौट आयेगे । परन्तु कृष्ण ने मथुरा से नन्द को जब यह कहकर विदा कर दिया :

पुत्र-हेत प्रतिपार कियौ तुम, जैसै जननी तात ।
गोकुल बनत, हँसत, खेलत मोहिं, द्यौस न जान्यौ जात ।
होहु विदा, घर जाहु गुसाँई, माने रहियौ नात ।[2]

और नन्द असह्य व्यथा को हृदय मे लिये हुए अकेले आते दीख पडते है, तो यशोदा पुत्र-वियोग की तीव्रता के कारण आपे मे नही रहती । वेदना के आधिक्य के कारण वह इस बात को भूल जाती है कि स्वयं नन्द भी विवश हैं और उनकी भी उसी जैसी दशा है । वह उन्हें भी जी भरकर बुरा-भला कहती है :

जसुदा कान्ह-कान्ह कै बूझै ।
फूटि न गईं तुम्हारी चारौ, कैसे मारग सूझै ।
इक तौ जरी जात बिनु देखें, अब तुम दीन्हौ फूँकि ।
यह छतिया मेरे कान्ह कुँवर बिनु, फटि न भई द्वै टूकि ।
धिक् तुम धिक् ये चरन अहौ पति, अध-बोलत उठि धाए ।
सूर स्याम बिछुरन की हम पैं, दैन बधाई आए ।[3]

यशोदा के ये कटुवचन पति के प्रति पत्नी की धृष्टता नहीं, अपितु पुत्र वियोगिनी माता के हृदय को उस गहरी व्यथा को सूचित करते है, जिसमे प्रिय वस्तुएँ भी अप्रिय-सी लगती है । ये उसकी विक्षिप्त-मनोदशा के ध्वनिमय चित्र हैं, जिनमे एक-दूसरी से मिलती हुई अनेक भाव-रेखाएँ दीख पड़ती है, जिनका विश्लेषण करना किसी के बस की बात नही ।

नन्द को दशरथ के समान पुत्र-वियोग के कारण प्राण-त्याग न करने पर यशोदा जो उलाहना देती हैं, उसी के सदृश उसको सखी का यह उलाहना कितना मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक है :

तब तू मारिबोई करति ।
रिसनि आगें कहि जु आवति, अब लै भाँडे भरति ।
रोम कै कर दाँवरी लै, फिरति घर घर धरति ।[4]

यशोदा को पुत्र-वियोग इतना अखर रहा है कि वह ब्रज छोड़कर मथुरा मे देवकी और वसुदेव की दासी बनकर रहने को तैयार है । प्रेम में आत्म-विस्मृति की भावना गहरी हो जाती है और मिलन की उत्सुकता का उद्रेक समस्त भावों को तिरोभूत कर देता है :

१ सूरसागर (सभा) पद ३६१०
२ वही ,, पद ३७४२
३ वही ,, पद ३७५२
४ वही ,, पद ३७५६

हौं तौ माई मथुरा ही पै जैहौं।
दासी ह्वै बसुदेव राइ की, दरसन देखत रैहौं।
मोहि देखि के लोग हँसैंगे, अरु किन कान्ह हँसै।
सूर असीस जाइ दहौं, जनि न्हातहु बस खसै।[1]

अन्तिम शब्दों मे मातृ-हृदय का समूचा वात्सल्य मानो एक बारगी उमड पडा है, पुत्र कही भी हो, सकुशल रहे, यही माता की कामना होती है। "जनि न्हातहु बार खसै" का आशीर्वाद सुत के प्रति माता के निःस्वार्थ प्रेम-भाव का सन्देश-वाहक है।

पुत्र के प्रिय खाद्य पदार्थों को देखते ही उसकी याद आ जाना स्वाभाविक ही है। माता को यह भी विश्वास नही होता कि उसके बिना अन्य कोई उसके पुत्र के खाने-पीने आदि की समुचित व्यवस्था कर सकता है। यह अविश्वास वात्सल्य-जनित ही है। कृष्ण राजा हो गये है, फिर भी यशोदा को चिन्ता है कि उन्हे प्रातःकाल ही कौन बिना माँगे माखन रोटी देता होगा :

जद्यपि मन समुझावत लोग।
सूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन के सुख जोग।
प्रातःकाल उठि माखन-रोटी को बिनु माँगे दैहै।
को मेरे वा कान्ह कुँवर कौ छिनु-छिनु अंकम लैहै।[2]

विप्रलम्भ

संयोग की अपेक्षा वियोग-शृङ्गार को साहित्यको ने अधिक उच्च स्थान दिया है, क्योंकि जहाँ सयोग मे प्रिय-सान्निध्य से प्राप्त सुख हृदय की अनेक सात्विक वृत्तियों को तिरोहित किये रहता है, बहाँ वियोग उन्हें उद्बुद्ध कर भावों के प्रसार के लिए समस्त विश्व का क्षेत्र खोल देता है। संयोग मे प्रेमी-युगल एकान्त चाहते है, उन्हें अन्य की सहानुभूति की आवश्यकता नहीं रहती, पर वियोग में उनकी आत्मा का प्रसार हो जाता है और वे प्राणिमात्र के साथ ही नही, जड़ पदार्थों के साथ भी तादात्म्य स्थापित करते हैं। वियोगी व्यक्ति अपनी स्थिति को भूलकर अपनी सामान्य भाव-भूमि पर आ जाता है, जहाँ से उसकी दृष्टि प्रत्येक छोटी-मोटी वस्तु की सत्ता पर पड़ती है। उसके हृदय की अनुभूति रेचन का साधन न मिलने के कारण घनीभूत और तीव्र होती चली जाती है। समस्त संसार मे उसे उसका प्रिय ही दीख पडता है, इसी कारण से सहृदय कवियों ने संयोग की अपेक्षा वियोग को ही अधिक पसन्द किया है।

संगम-विरहविकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्तस्याः।
संगे सैव तथैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे।

अर्थात्—संगम और विरह मे प्रियतमा का विरह ही श्रेष्ठ है, क्योंकि मिलन में तो वह एक रहती है, पर विरह में त्रिभुवन ही तन्मय हो जाता है। शृङ्गार-रस के सिद्ध कवि अमरूक ने विरहावस्था में समस्त विश्व में अपनी प्रेयसी के स्वरूप का दर्शन करते हुए अद्भुत अद्वैत का प्रतिपादन किया है—

सा-सा-सा-सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः।

यह वह सात्विक अवस्था है, जिनमे मानव-हृदय से दुराव का आवरण हट जाता है और वह अपने स्वाभाविक निर्मल रूप में उक्तियों के साथ लिपटा चला आता है। पशु-पक्षियों और

१ सूरसागर (सभा) पद ३७८८
२ सूरसागर (सभा) पद ३७९१

लता-पादपों के साथ भी सम्बन्ध जोड़ने की प्रेरणा देने वाला यह भाव धन्य है। इसी दशा मे कालिदास के यक्ष ने अपनी प्रियतमा को सन्देश भेजने के हेतु आषाढ़ के प्रथम मेघ को रोक लिया, जायसी की रूप-गर्विता नागमती ने भौरे और काग के हाथो प्रिय को 'सदेसड़ा' भेजने का विचार किया और तुलसी के राम 'खगमृग' और मधुकर श्रेणी' से सीता का पता पूछते फिरे। शृङ्गार को रस-राजत्व प्रदान करने वाला तत्व वियोग ही है, क्योकि इसमे सयोग-जन्य सुख के सदृश उथलापन नही रहता, अपितु अनुभूति की गहनता रहती है।

सयोग-शृंगार के समान वियोग का भी सूर ने व्यापक वर्णन किया है। कृष्ण के चलने के समय ब्रज-युवतियो को वियोग-जन्य जड़ता घेर लेती है—

> चलत जानि चितवति ब्रज-जुवती, मानहु लिखी चितेरै।
> जहाँ सु तहाँ एक टक रहि गई, फिरनि न लोचन फेरै।
> बिसरि गई गति भाँति देह की, सुनति न स्रवनन टेरै।
> मिलि जु गई मानौ पै पानी, निबरति नही निबेरै।[1]

गोपियों की आँखों से आँसू बह निकलते है। उन्हे रह-रहकर ख्याल आता है—'अब देखि ले री स्याम कौ मिलनौ बडी दूरि।' विरहानल की जलन से वे तड़प उठती है, उनकी दृष्टि में अनल से विरहाग्नि अधिक दाहक है—

> अनल ते विरह अगिनि अति ताती।
> माधव चलन कहत मधुबन कौ, सुने तपति अति छाती।
> न्याइहि नागरि नारि बिरह-बस, जरति दिया ज्यौ बाती।
> जे जरि मरीं प्रगट पावक परि, ते तिय अधिक सुहाती।[2]

'नैषधकार' श्रीहर्ष की दमयन्ती ने भी विरहाग्नि के विषय में ऐसे ही विचार प्रकट किये है।[3] कृष्ण का रथ चला गया और गोपियाँ लौटकर घर की ओर चली, परन्तु पैर आगे को नही पड़ते और आँखे, जिनके रूप-लोभ ने यह गति बनादी, अब भी पीछे की ओर ही लगी थी। उनके मन की मन मे रह गई। यदि ईश्वर ने उन्हे पवन, पताका या धूलि बना दिया होता तो वे श्याम के साथ ही चली जाती—

> पाछै ही चितवत मेरे लोचन, आगे परत न पाँय।
> मन लै चली माधुरी मूरति, कहा करौ ब्रज जाय।
> पवन न भई पताका अम्बर, भई न रथ के अग।
> धूरि न भई चरन लपटाती, जाती उहै लौ सग।
> ठाढी कहा करौ मेरी सजनी, जिहि विधि मिलहि गुपाल।
> सूरदास प्रभु पठै मधुपुरी, मुरझि परी ब्रजबाल।

'मुरझि परी ब्रजबाल' से कृश, विषण्णा और विवर्ण गोपियो का सजीव चित्र सामने आ जाता है। गोपियों के विरह का वर्णन करते हुए स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—

---

१ सूरसागर (सभा) पद ३५७८

२ वही (सभा) पद ३५८१

३ दहनजा न पृथुर्दवथुर्व्यथा विरहजैव पृथुर्यदि नेदृशम्।
दहनमाशु विशन्ति कथं स्त्रिय प्रियमपासुमुपासितुमुद्धुराः।

नैषध, चतुर्थ सर्गः

'परिस्थिति की गम्भीरता के अभाव से गोपियों के वियोग मे भी वह गम्भीरता नहीं दिखाई पड़ती, जो सीता के वियोग मे है। उनका वियोग खाली बैठे का काम-सा दिखाई पड़ता है। सीता अपने प्रिय से वियुक्त होकर कई सौ कोस दूर दूसरे द्वीप मे राक्षसो के बीच पड़ी हुई थी गोपियों के गोपाल केवल दो-चार कोस के एक नगर मे राज-सुख भोग रहे थे। सूर का वियोग-वर्णन 'वियोग वर्णन' के लिए ही है, परिस्थिति के अनुरोध मे नही। कृष्ण गोपियो के साथ क्रीड़ा करते-करते कुंज या झाड़ी मे जा छिपते है, या यो कहिए कि थोडी देर के लिये अन्तर्धान हो जाते है। बस, गोपियाँ मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है।[1]

आचार्य शुक्ल जी के इस कथन की आलोचना हमारा ध्येय नही : हमारा तो यही निवेदन है कि वियोग—वियोग ही है, चाहे वह क्षणिक हो या अनन्त, प्रियतम कहीं समीप ही छिपा हो या दूर! प्रेमाप्लावित हृदय मे विरह के तूफान से विक्षोभ उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। विरह की गम्भीरता की माप क्या प्रिय के निवास की दूरी ही पर आधारित है? हमारी समझ मे तो प्रिय के चले जाने पर यह निश्चय कि न जाने अब कभी मिलन होगा या नही, विरह की पूर्ण अनुभूति के लिए पर्याप्त है, उसमे काल या देश का हस्तक्षेप हमे उपयुक्त नही जँचता। रास की चरमावस्था और सयोग की मधुरतम अनुभूति मे वियोग—क्षण भर के लिए ही सही—क्या असह्य नही होगा?

कृष्ण के वियोग में गोपियो की दशा दयनीय हो गई। उनके दिन कृष्ण की क्रीड़ाओं के वर्णन में ही व्यतीत होते है। ब्रज मे सब कुछ पहले की ही चीजें है, परन्तु फिर भी वह पहले का ब्रज नही। जब ब्रजपति ही नही, तो ब्रजबालाओं का ब्रज भी सूना है। उन बेचारियों के औसान ही नहीं बनते :

बिचारत ही लागे दिन जान।
तुम बिनु नन्द-सुवन इहिं गोकुल, निसि भइ कल्प समान।
मुरलि सब्द, कल धुनि की गुँजनि, सुनियत नाही कान।
चलत न रथ गहि रही स्याम, कौ अब लागी पछितान।
है कोउ जाय कहे माधो सौं, धीरज धरहिं न प्रान।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु फुरत नाहिं औसान ॥[2]

गोपियाँ अपना सर्वस्व कृष्ण पर वार बैठी थी। उनके वियोग मे उनका तन, मन, यौवन—सब विषधर की फूंकार के समान है। कालिदास के "प्रियेषु सौभाग्यफला ही चारुता" के अनुसार रमणी का सौन्दर्य और शृङ्गार प्रिय को लुभाने के लिए ही होता है। जब प्रिय ही नही तो शृङ्गार ही कैसा :

मुख तमोर नैननि नहिं अंजन, तिलक ललाट न दीन।
कुचिल वस्त्र, अलकें अति रूखी, दिखियत है तन छीन।
प्रेम-तृषा तीनौ जन जानै; बिरही, चातक, मीन।
सूरदास बीतति जु हृदय में, जिन जिय परबस कीन।[3]

---

१ सूरदास (आचार्य शुक्ल) पृष्ठ १७२
२ सूरसागर (सभा) पद ३८३१
३ वही ,, पद ३८८५

अपने प्रियतम का स्वप्न मे दर्शन करने वाली नारियाँ धन्य है, परन्तु बेचारी गोपियों के लिए यह भी सम्भव नही, क्योकि प्रियतम के जाने से भी चार दिन पहले उनकी निद्रा जा चुकी थी :

सुनहु सखि धन्य ते नारि।
जो आपने प्रान-बल्लभ की, सपनै हूँ देखति अनुहारि।
कहा करौं री चलत श्याम के पहिलैहि नीद गई दिन चारि।[१]

दिलवर को दिल नजर करने के बाद बहुत से उर्दू शायर भी 'करवटें लेते ही लेते साफ उड जाती है नीद' कहते हुए नीद का रोना रोते देखे गये है, परन्तु गोपियों की नीद तो कृष्ण के जाने से भी चार दिन पूर्व जा चुकी हैं, मानो वह स्वय इस भावी विपत्ति को अपनी आँखों देखना नहीं चाहती थी। गोपियों के विरह का अन्त नही, मिलन की आशा में विरह कम हो जाता है, पर यहाँ तो वह भी नही :

उदित सूर चकई मिलाप निसि अलि जु मिलै अरबिन्दहि।
सूर हमे दिन राति दुसह दुःख कहा कहैं गोविन्दहि।[२]

कृष्ण के बिना मुरली कौन सुनावै। उनके बिना ब्रज का सब कुछ सूना है। कृष्ण की मुरली फिर बजी ही नही :

माई बहुरि न बाजी बेन।
को जैहै खरिक दुहावन, गाइनि रही फिरि ऐन।
सूनौ घर सूनी सुख सेज्या, जहाँ करत सुख सैन।
सूने ग्वाल-बाल सब गोपी, नही कहूँ उन चैन।[३]

मानव-हृदय के भावों का प्रकृति के साथ सभी भारतीय कवियों ने सामञ्जस्य स्थापित किया है। वह मनुष्य के सुख-दुःख मे हँसती और रोती है। पाश्चात्य आलोचक चाहे इसे (Pathetic fallacy) कहकर अनुपयुक्त भी माने, परन्तु जड़ और चेतन जगत की एक ही ब्रह्म से उत्पत्ति मानने वाले भारतीय मनीषी तो उनमे अभेद देखते ही हैं। यही कारण है कि वियोगिनी गोपियों को यमुना नदी भी कृष्ण के वियोग-ज्वर से काली पड़ी हुई दीख पड़ती है :

देखियति कालिन्दी अति कारी।
अहो पथिक कहियौ उन हरिसौं, भई बिरह जुर जारी।
गिरि-प्रजंक तै गिरति धरनि धँसि, तरंग तरफ तन भारी।
तट बारू उपचार चूर जलपूर प्रस्वेद प्रनारी।
निसि दिन चकई पियजु रटति है, भई मनौ अनुहारी।
सूरदास प्रभु जो जमुना गति, सो गति भई हमारी।[४]

परन्तु मधुवन अब भी हरा-भरा खड़ा है। वही मधुवन, जिसने गोपी-वल्लभ की अगणित क्रीड़ाओं का साक्षात्कार किया था, जिसके निकुञ्ज कृष्ण की वंशी के मधुर स्वर के साथ कामिनी कलकण्ठों में निर्गत कोमल ध्वनियों से गूँजते रहे थे, जिसके हृदय मे रासकर्त्ता मोहन के पदचिन्ह

१ सूरसागर (सभा) पद ३९८८
२ वही ,, पद ३८८८
३ वही ,, पद ३९६८
४ वही ,, पद ३८०९

आज भी बने हुए है, कृष्ण के वियोग मे गोपियो का साथी न बना। साथी वही है, जो दुःख मे साथ दे, सुख मे तो कोई भी साथ दे सकता है। मधुवन की यही विषमता गोपियों को क्षुब्ध कर देती है और कोसने लगती है :

मधुबन तुम क्यो रहे हरे ?
बिरह वियोग स्यामसुन्दर के ठाढ़े क्यो न जरे।
मोहन बेनु बजावत तरु तर, साखा टेकि खरे।
मोहे थावर अरु जड़ जंगम, मुनि-जन ध्यान टरे।
वह चितवनि तू मन न धरत है, फिर-फिर पुहुपु धरे।
सूरदास प्रभु बिरह दबानल, नख सिखलौ न जरे।[1]

विरह की अवस्था मे चित्त स्थिर नही रहता। अतः एक ही वस्तु कभी अनुकूल और कभी प्रतिकूल दीख पडने लगती है। अभी-अभी जो यमुना गोपियो को अपने ही समान विरह जुर-जारी लग रही थी, अब यम के समान लगने लगी—क्योकि वह गोपियों और कृष्ण के बीच मे बाधा बनकर बह रही है। विरह-जन्य-चित्त-विभ्रम के अभिव्यञ्जन मे कवियों ने प्रायः ऐसी ही उक्तियों का आश्रय लिया है :

मोकौ माई जमुना जम ह्वै रही।
कैसै मिलौ स्यामसुन्दर कौं, बैरिनि बीच बही।[2]

इसी प्रकार चातक भी कभी तो उन्हें जीवन दाता और कभी विरहिणी नारी के रूप मे दीख पडता है, तो कभी जली हुई को और जलाता हुआ ज्ञात होता है। पी-पी रटने वाला बेचारा चातक स्वय विरह से काला पड गया है। समान दुःख वालों मे पारस्परिक समवेदना का होना स्वाभाविक ही है। तभी तो गोपियाँ चातक के प्रति स्नेह प्रदर्शित करती है :

बहुत दिन जीवौ पपिहा प्यारौ।
बासर रैनि नाम लै बोलत, भयौ बिरह जुर कारौ।
आपु दुखित पर दुःखित जानि जिय, चातक नाम तुम्हारौ।
सूरदास-प्रभु स्वाति बूंद लगि, तज्यौ सिंधु करि खारौ।[3]

और कभी-कभी उसकी उद्दीपक 'पी-पी' की वाणी को सुनकर वे तिलमिला जाती हैं और उसकी अदूरदर्शिता पर उसे खोटी-खरी सुनाती है :

(हौ तौ मोहन के) विरह जरी, रे तू कत जारत।
रे पापी तू पँखि पपीहा, पिय पिय करि अधराति पुकारत।
करी न कछु करतूति सुभट की, मूठि मृतक अबलनि सर मारत।
रे सठ तू जु सतावत औरनि, जानत नहिं अपने जिय आरत।
सब जग-सुखी दुखी तू जल बिनु, तऊ न उर की व्यथा बिचारत।
सूर श्याम बिनु ब्रज पर बोलत, काहै अगिलौ जनम बिगारत।[4]

जो नैन प्रेम के प्रवर्त्तक थे, जिनके उत्पात के कारण गोपियाँ कृष्ण के प्रेम-पाश मे बद्ध हुईं, उनकी भी वियोग में सावन-भादों की मेघ-घटाओं के समान दशा हो गई। मेघ तो कुछ देर के लिये रुक भी जाते है, पर गोपियों के नैन निश-दिन बरसते है।

---

१ सूरसागर (सभा) पद ३८२८
२ वही ,, पद ३८९२
३ वही ,, पद ३९५५
४ वही ,, पद ३९५६

निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति बरषा रितु हम पर, जब ते स्याम सिधारे।[1]

ंभी तो इन नैनों से बादल भी हार गये—

सखी इन नैननि तैं घन हारे।
बिनही रितु बरसत निसि बासर, सदा मलिन दोउ तारे।[2]

सूर का विरह-वर्णन हिन्दी-साहित्य मे बेजोड है, 'भ्रमर-गीत' मे गोपियों के तर्क के सामने उद्धव भले ही कुछ उत्तर दे सके, पर उनके प्रेम विह्वल अटपटे वचनों से उन्हें भी हार माननी पड़ी। उनकी प्रेम-रसधारा मे उद्धव के ज्ञान की गुरु गठरी न जाने कहाँ बह गई? इस प्रसङ्ग में गोपियों की अन्तर्दशा का जैसा वर्णन सूर ने किया है, अन्यत्र दुर्लभ है।

सूर का भ्रमर-गीत

'भ्रमर' शब्द अत्यन्त प्राचीन काल से ही साहित्य मे रस लोलुप पुरुष का प्रतीक बनकर प्रयुक्त हुआ है। कली-कली का रसपान करने वाले भ्रमर के समान नित्य नवीन मुग्धा से अठखेलियाँ करने वाला पुरुष भ्रमर के नाम से उपालम्भ का आस्पद बनाया जाता रहा है।

अभिव्यक्ति को सशक्त बनाने के लिये ही मानव-मस्तिष्क प्रतीकात्मक भाषा का सहारा लेता है, इसलिये प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के मूल मे एक महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया कार्य करती है। ह्वाइट हैड ने अपनी पुस्तक 'सिम्बलिज्म' मे प्रतीक की चर्चा करते हुए कहा है कि—'मानव-अनुभवो के आधार पर जब उन विश्वासों, भावनाओ और व्यापारों का उद्भव होता है, जिनका सम्बन्ध इन अनुभवों के अन्य उपाङ्गो से होता है तो मानव-मस्तिष्क प्रतीकात्मकता की ओर झुक जाता है।[3] बेवेन का कथन है कि—मेरे विचार से प्रतीक मुख्य रूप से इन्द्रिय अथवा कल्पना के सम्मुख प्रस्तुत कोई वस्तु है, जिसका प्रयोग किसी अन्य वस्तु के लिये होता है।"[4]

बेवेन की परिभाषा के अन्तर्गत सभी सादृश्य मूलक अलङ्कार आ जाते है, किन्तु प्रतीक की अभिव्यंजना शक्ति किसी भी अलङ्कार मे आये हुए अप्रस्तुत से अधिक होती है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने अपने कबीर साहब की 'प्रतीक-योजना' शीर्षक निबन्ध में लिखा है—

"प्रतीक से अभिप्राय किसी वस्तु की ओर इंगित करने वाला न तो संकेत-मात्र है और न ही उसका स्मरण दिलाने वाला कोई चित्र या प्रतिरूप है। यह उसका एक जीता-जागता एवं पूर्णतः क्रियाशील प्रतिनिधि है, जिस कारण इसे प्रयोग मे लाने वाले को इसके ब्याज से उसके उपयुक्त सभी प्रकार के भावों को सरलता पूर्वक व्यक्त करने का पूरा अवसर मिल जाया करता है। प्रतीकों का प्रयोग अपनी भाषा मे केवल किन्हीं चमत्कारों द्वारा अधिक क्षमता लाने के उद्देश्य से भी नहीं किया जाता, और न इससे उसमें उक्ति-वैचित्र्य का ही समावेश कराया जाता

---

१ सूरसागर (सभा) पद ४१०३

२ वही (,,) पद ३८५४

३ "The human mind is functioning symbolically when some components of its experience elicit consciousness, beliefs, emotions and usages respecting other components of its experience."
(बेवेन द्वारा अपने 'सिम्बलिज्म' एण्ड बिलीफ ग्रन्थ के ११ वें पृ० पर उद्धृत)

४ A symbol certainly, I think, means something presented to the senses or the imagination—usually to the sense which stands for something else. (वही पृ० ११)

है। सादृश्य मूलक दिखाने के कारण इसे कभी उपमानों का स्थान दे दिया जाता है जो उचित नही है। यह उससे कही अधिक व्यापक है। इसकी सहायता बहुधा ऐसे अवसरो पर ली जाती है, जब हमारी भाषा पंगु और अशक्त-सी बनकर मौन धारण करने लगती है और जब अनुभवकर्ता के विविध भाव पत्थरों से चतुर्दिक् टकराने वाले स्रोतों की भाँति फूट निकलने के लिए मचलने से लग जाते है। ऐसी दशा मे हम उनकी यथेष्ट अभिव्यक्ति के लिए उनके साम्य की खोज करके अपने जीवन के विभिन्न अनुभवों में करने लगते है और जिस किसी को उपयुक्त पाते है, उसका प्रयोग कर उसके मार्ग द्वारा अपनी भाव-धारा को प्रवाहित कर देते हैं।[1]

प्रतीक-परिभाषा के वाद-विवाद मे पड़ना हमारा उद्देश्य नही है। उपर्युक्त उद्धरणों से हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति का आधार मनोवैज्ञानिक है, चमत्कार सृष्टि नही। पुरुष के लिए 'भ्रमर' शब्द के प्रयोग का आधार भी इससे भिन्न नही है।

पुरुष की बेवफाई के प्रति नारी की शिकायत का इतिहास बहुत पुराना है। इस शिकायत के अवसर बहुत कुछ तो वाह्य परिस्थितियों के कारण और कुछ नारी के असमान विनिमय-जनित असन्तोष के कारण आते रहे है। सब कुछ मिलाकर नारी ने पुरुष को जितना दिया, उतना पाया नही। उसकी आन्तरिक एव वाह्य सुकुमारता का लाभ उठा कर पुरुष ने उसे अपनी चल सम्पत्ति ही बना लिया। वैदिक काल मे जो समानता-अधिकार नारी को प्राप्त थे, उनका पुरुष द्वारा उत्तरोत्तर अपहरण होता गया। उसका स्वयवर का अधिकार पिता की प्रतिज्ञा की वेदी पर बलिदान हो गया। सावित्री ने अपनी इच्छा के अनुसार वर चुना था, तो सीता को अपने पिता के प्रणानुसार शिव-धनुष को तोड़ने वाले के ही साथ विवाह करना था और द्रोपदी तो इसके अतिरिक्त पैतृक सम्पत्ति के समान पाँच भाइयों की उपभोग्या बनी, तथा चल सम्पत्ति के सदृश जुए मे भी दाव पर लगा दी गई। इससे आगे चलकर सामन्ती युग मे तो नारी की दशा और भी करुण हो गई। पुरुष प्रणय की आकांक्षिणी नारी ने अपना सर्वस्व देकर भी प्रणय नहीं पाया। सपत्नी और उपपत्नी की मार्मिक कथा भी उसे झेलनी पड़ी तो उसकी अधिकार-अपहरण-जन्य कुण्ठा पुरुष के प्रति उपालम्भ के रूप में फूट पड़ी। प्रकृति के आँगन में भी उसने पुरुष-नारी के प्रणय क्षेत्र में असमान विनिमय का प्रतिबिम्ब देखा; और देखा क्षण-क्षण में एक के बाद दूसरी कली का रसपान करके छोड़ देने वाले अपनी धुन में मस्त भ्रमर को जिसके रूप में उसके उपालम्भ का माध्यम पाया। पुरुष की रसलोलुपता की अभिव्यक्ति हेतु भ्रमर और कली का प्रतीकात्मक रूप साहित्यिक क्षेत्र मे भले ही पुरुष द्वारा ही अवतरित किया गया हो, परन्तु लोक मे उसकी अवतारणा नारी द्वारा ही हुई होगी। नारी की इस देन को पाकर भावुक कवियों की अभिव्यक्ति खिल उठी और उसकी मूक पीड़ा मुखरित होकर समाज का सर्वश्रेष्ठ काव्य बन गई, दुनिया के रवैये के अनुसार एक का रुदन दूसरे का गीत बन गया।

सबसे पहले शायद महाकवि कालिदास ने दुष्यन्त की पहली रानी हँसपदिका द्वारा शकुन्तला के प्रेम में डूबे हुए दुष्यन्त को लक्ष्य कर भ्रमर-विषयक उक्ति द्वारा उपालम्भ दिलाकर साहित्य में एक नई रूढ़ि का बीजवपन किया और इसके बाद विकटनितम्बा, गोवर्धन आदि संस्कृत कवियों की रचनाओं और अपभ्रंश के दूहो मे से गुजरती हुई यह परम्परा हिन्दी साहित्य में पहुँची। कृष्ण भक्ति का विकास और उसमे माधुर्य भाव की प्रतिष्ठा हो जाने पर तो इस धारा को एक नई दिशा ही मिल गई, जिसका संकेत भागवत के उद्धव-गोपी-संवाद के प्रसंग मे मिलता

१ अवन्तिका वर्ष २, अङ्क १, १९५४ पृ० ५१

है। यहाँ आकर भ्रमरोपालम्भ, जो अब तक भौतिक प्रेम के क्षेत्र मे ही सीमित रहा था, आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी अवतीर्ण हुआ। धीरे-धीरे इसमें अनेक तत्वों का समावेश होता गया और एक ओर तो एक विशिष्ट दार्शनिक पृष्ठ-भूमि में इसकी जड जमी, और कई दार्शनिक विचारधाराओं से इसका संघर्ष भी हुआ। अनेक शताब्दियों की दीर्घ अवधि मे बदलती हुई परिस्थितियों और विकसित होनी हुई भक्ति-साधना के साथ कवित्व का मणिकाञ्चन योग हो जाने के कारण इस परम्परा ने जो रूप धारण किया, वह हिन्दी साहित्य मे 'भ्रमर-गीत साहित्य' के नाम से प्रसिद्ध है। यह श्रेय हिन्दी के ही भाग्य मे बदा था। वस्तुतः कवित्व और भक्ति का जैसा सुन्दर समन्वय पूर्व मध्य-कालीन हिन्दी साहित्य मे हुआ, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

भागवत के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध में ४६ वें और ४७ वे अध्यायो में भ्रमर-प्रसंग आया है। कृष्ण अपने प्रियसखा उद्धव को यह कहकर कि—"तुम ब्रज मे जाकर मेरे माता-पिता और गोपियों को, जिनका मन मुझ में रमा रहता है, मेरा सन्देश देकर वेदनामुक्त करो" उन्हे ब्रज भेजते है। उद्धव ब्रज जाते है और नन्द तथा यशोदा को समझाते है। यशोदा मूक होकर अश्रु बरसाती हुई उनके ज्ञान की बातें सुनती है और उससे प्रभावित तो नही होती—हाँ, हत-प्रभ-सी अवश्य हो जाती है।

सूर्योदय के समय गोपियाँ नन्द के द्वार पर खड़े रथ को देखकर अटकलें लगाने लगीं कि रथ किसका है? इस प्रसंग में उनका वार्तालाप अक्रूर के प्रति घृणा और तीखे व्यंग्यों से भरा पड़ा है। जब उन्हें पता चलता है कि कृष्ण के समान रूप-रंग और वेष-भूषा वाले अभ्यागत उनका सन्देश लेकर आये हुए उनके सखा है तो वे उनका सत्कार करती हैं और उनसे जो कुछ कहती हैं, उसका सार यह है—

"उद्धव जी! आप ब्रजनाथ, नहीं-नहीं, यदुनाथ जी के पार्षद है। उन्होंने अपने माता-पिता को सुख देने के लिये आपको यहाँ भेजा है और उनका यहाँ है भी कौन? अपने माता-पिता के अतिरिक्त दूसरों के साथ जो प्रेम-सम्बन्ध किया जाता है, वह स्वार्थवश होता है। मतलब निकल जाने पर प्रेम का स्वाँग समाप्त हो जाता है। भौंरे का पुष्प से और पुरुष का स्त्री से ऐसा ही प्रेम होता है। यहाँ सब प्रेम-सम्बन्ध स्वार्थ पर आधृत हैं। धन न रहने पर वेश्या अपने कामुक को धता बता देती है; अध्ययन समाप्त होने पर कितने शिष्य अपने आचार्यों की सेवा करते है? वृक्ष पर फल नही रहते तो पक्षी भी उड़ जाते है। वन मे आग लगी कि पशु भाग खड़े हुए। स्त्री के हृदय में कितनी ही आसक्ति हो, व्यभिचारी पुरुष मतलब निकल जाने पर उलट कर भी नही देखता। संसार के प्रेम-सम्बन्ध ऐसे ही होते हैं।"

गोपियों के कथन मे उनकी मनोदशा का चित्रण है। वैभव की खाई के कारण वे कृष्ण को अपने से कितना दूर समझती हैं? इसलिए तो ब्रजनाथ कहते ही यदुनाथ कह उठती है। वे सोचने लगीं कि जब उनमें प्रेम की पवित्रता ही नही, तो वे हमारे हृदय की व्यथा को क्या समझें। भ्रमर क्या कभी पुनः कली के पास लौटता है? स्वार्थ, आनन्द और उपभोग में लिप्त अवसरवादी दूसरे का ध्यान कब करता है? और कृष्ण भी इनके अपवाद नही, अपितु प्रमाण ही हैं।

यद्यपि इस कथन में कहीं कृष्ण का नाम नहीं आया है, तथापि अप्रत्यक्ष रूप से कृष्ण पर ही सब व्यंग्य किये गये हैं। प्रेम का प्रतिपादन न पाकर ही गोपियों ने उद्धव के समक्ष व्यंग्य किये, क्योंकि वे समझती थीं कि उनके द्वारा कृष्ण तक उनकी भावाभिव्यक्ति पहुँच जायेगी। कृष्ण की सब लीलाएँ उनकी आँखों में छा जाती है और वे फूट-फूट कर रो पड़ती है। नारी के दो ही

अस्त्र है—व्यंग्य और रुदन।) एक गोपी को कृष्ण-मिलन की लीलाओं का स्मरण हो रहा था कि एक भ्रमर गुनगुनाता हुआ उधर आ निकला। गोपी ने उसे कृष्ण-सखा का प्रतीक मानकर कहना आरम्भ किया :

"कपटी के सखा भ्रमर। सपत्नी के कुचो से मसली हुई माला के कुकुम मे सनी हुई अपनी मूँछो से हमारा स्पर्श न कर। तुम जिनके दूत हो—वे कृष्ण ही मथुरा मे अपनी मानिनी नायिकाओ को मनावें। केवल एक बार अपनी अधर सुधा की मोहिनी पिलाकर वे हमे ऐसे ही छोड़कर चले गये, जैसे तुम फूलो को छोड़कर चले जाते हो; पता नही लक्ष्मी उनकी चरण सेवा क्यो करती है? शायद उनकी चिकनी-चुपड़ी बातो मे आ गई है। तू हमारे सामने कृष्ण का गान क्यों कर रहा है? हमे मनाने के लिए हो तो! पर वे तो हमारे जाने-पहचाने है। जा उनकी मथुरावासिनी सखियो के सामने ही उनका गुणगान करना; हम जानती है—वे कितने निर्मम हैं। काम-संतप्ता शरणागता सूर्पणनखा को उन्होने विरूप कर दिया, वामन रूप मे बलि से मुँह माँगी वस्तु पाकर भी उसके साथ क्या किया?" वरुणापाश से बाँधकर पाताल मे डाल दिया। तू मेरे पैरों मे सिर मत टेक! क्या तू भी श्रीकृष्ण से चाटुकारिता सीख आया है? हम कालो की मित्रता से बाज आईं। किन्तु क्या करे, कृष्ण की याद आती ही है। हम चाहने पर भी उनकी चर्चा नही छोड़ सकती। जैसे हरिणी व्याध के सुमधुर गान के चसके मे मारी जाती है, वैसे ही हम भोली-भाली गोपियाँ कृष्ण के प्रेमजाल में फँस गईं। तू इस विषय मे कुछ न कह। यदि तुझे कुछ कहना ही है, तो कुछ अन्य बात कर। इतने मे ही भौरा कुछ दूर उड़कर फिर लौट आता है, तब गोपियाँ कुछ आदर के साथ कहना प्रारम्भ करती हैं :

प्रियतम के प्यारे सखा! तुम हमारे माननीय हो। कहो तुम्हारी क्या इच्छा है! सच कहो, क्या हमे वहाँ ले जाना चाहते हो। पर उनके पास जाकर लौटना कठिन है। हम तो उनकी हो चुकी हैं पर हमे वहाँ ले जाकर क्या करोगे? उनके हृदय मे तो उनकी प्यारी पत्नी लक्ष्मी रहती है न। अच्छा, प्रियतम के प्रियदूत मधुकर! बताओ तो कि कृष्ण मधुपुरी मे सुख से तो हैं। क्या वे कभी नन्द बाबा, यशोदा और ग्वाल-बालों की भी याद कर लेते है? क्या हम दासियो का भी कभी जिक्र करते हैं? बताओ, वे कब अगर के समान दिव्य सुगन्ध से युक्त अपनी भुजा हमारे सिर पर रखेगे? क्या हमारे जीवन में ऐसा शुभ अवसर आयेगा?

भागवत के इस प्रसंग मे भ्रमर-गीत के सभी तत्वो का मूलरूप विद्यमान है। 'भ्रमर-गीत' अन्योक्ति के उपकरण—गोपी, कृष्ण, उद्धव, भ्रमर, उपालम्भ—सभी इनमे आ गये हैं। भ्रमर को कितवबन्धु कहा गया है, जो एक अप्रस्तुत व्यंग्य है, जिसका लक्ष्य कृष्ण ही नही, उद्धव भी हैं। कृष्ण की चाटुकारिता और कपट के वश में होकर गोपियाँ अपने मन को खो बैठती हैं। उनके अलौकिक प्रभाव के कारण उनकी ओर से ध्यान हटाने मे असमर्थ है। अपनी इस परवशता के कारण वे विवश है, कृष्ण के विरह मे व्याकुल है। उनका नारी हृदय काम के बाणों से पीड़ित है। मधुपुर की चतुर नागरिकाओं से कृष्ण के प्रणय सम्बन्ध का अनुमान ही उनके मर्मवेध के लिए पर्याप्त है। सौतों के आलिंगन से मलिन माला में कुकुम की कल्पना उनके हृदय से सपत्नी भाव-जन्य ईर्ष्या को भी जन्म देती है। इस प्रकार गोपियों को साधारण मानवी रूप भी प्रदान कर दिया गया है।

भागवत के इन प्रसंगों मे हृदय और बुद्धि का समानान्तर प्रभाव लक्षित होता है। गोपियाँ, नन्द और यशोदा कृष्ण-लीलाओं की स्मृति सँजोये उनका चिन्तन करते रहते हैं और उद्धव

उनके निराकार परब्रह्म रूप का प्रतिपादन करते है। अन्त मे भागवत की गोपियाँ उद्धव की ज्ञान चर्चा से संतुष्ट हो जाती है। इस प्रकार भागवत मे निराकार उपासना का ही स्वर प्रबल सुनाई पड़ता है, फिर भी इसमे सन्देह नहीं कि भागवतकार ने कृष्ण के जीवन को एक नवीन भावात्मक रूप प्रदान किया।

भागवत के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य मे अन्यत्र कही भ्रमर-गीत की रचना उपलब्ध नही होती। भ्रमर दूत और भ्रमर-सन्देश नामक दो दूत-काव्य अवश्य मिलते है जो कथानक, विषय और शैली—सब की दृष्टि से बिलकुल भिन्न वस्तुएँ है। इनमें कृष्ण-कथा के स्थान पर राम कथा की घटनाओ का वर्णन है। अपभ्रंश मे कृष्ण-लीला गान की परम्परा तो चली आ रही थी, पुष्पदन्त के महापुराण मे एतद्विषयक कई गीत मिलते है। भ्रमर-विषयक अन्योक्ति द्वारा उपालम्भ देने की परम्परा भी अक्षुण थी, किन्तु इन तत्वों का एकीकरण कर भ्रमर-गीत जैसी रचना की सृष्टि करने का प्रयास अपभ्रंश साहित्य मे नही हुआ।

भागवत के पश्चात् विद्यापति मैथिल कोकिल के कतिपय पद ऐसे मिलते है, जो भ्रमर-गीत परम्परा में स्थान पाने के अधिकारी है। वे पद ये हैं :

(१)

कत दिन माधव रहब मथुरपुर विहि बाम।
दिवस लिखि-लिखि नखा खो आयनु बिछुरत गोकुल नाम।
हरि-हरि काह कहब सम्बाद !
सुमरि-सुमरि नेह खिन मेला मोर देह, जिवनक अब कौन साथ।
पूरब पियारि नारि हम अछून, अब दासनहु संदेह।
भ्रमर भ्रमरी भ्रमि सबहु कुसुम रमि, नहिं तजे कमलनि नेह।
आस निगड़ करि, जिउ कत राखब अबहिं ज करत परान।
विद्यापति कह आसहीन नह अबउ सो कर कान।[1]

(२)

ऊधव कब हमसो ब्रज जाइब।
कब प्रिय छबलि सरमि स्यामलि, तेइ सखन से दूध दुहाइब।
कब श्रीदामा सुचल प्रिय मित, मिलि कानन धेनु चराइब।
कब जमुना तिर नीप तरुतर मोहन बेनु बजाइब।
कब वृष भानु किशोरि गोरि सौं, कुँजहिं रास रचाइब।
कब ललितादि सखी सुन्दरि कहँ, सादर अँक लगाइब।
विद्यापति कह अइसन सुभ दिन राइक मान मनाइब।[2]

(३)

प्रेम अँकुर जात आत मेल न मेल जुवल पलाशा।
प्रतिपद चाँद उदय जैसे भामिनी सुख लव मै गैल निराशा।
सखि हे अब मोहे निठुर मधाई अवधि रहलि बिसराई।
के जाने चाँद चकोरिणी वंचब माधव मधुप सुजान।

---

१ मैथिल कोकिल विद्यापति (बाबू ब्रजनन्दन सहाय) पद ३८

२ मैथिल कोकिल विद्यापति (बाबू ब्रजनन्दन सहाय) पद ६८

अनुभवि कानु पिरीति अनुभामिये विघटिन विहि निरमान।
पाप पराण आन नहि जानत कान्ह कान्ह करि झूरत।
विद्यापति कह निकरुण माधव गोविन्ददास रस पूरन।[1]

इन स्फुट पदों के अतिरिक्त भ्रमर-गीत का व्यवस्थित कथात्मक स्वरूप विद्यापति की पदावली मे प्राप्त नही होता। विद्यापति हिन्दी के पहले कवि है, जिन्होंने भागवत के इस प्रसंग की अवतारणा हिन्दी मे की। परिणाम की दृष्टि से उनकी यह रचना नगण्य है। परम्परा का विकसित रूप भी उसमे नही मिलता, किन्तु इससे उनके मूलसूत्र उद्घाटन का महत्व कम नही हो जाता। यदि सांख्य शास्त्र की शब्दावली प्रयोग करने की छूट हो तो हम कह सकते है कि भ्रमर-गीत की पुष्टि परम्परा इसी मूल प्रकृति की विकृति है। भ्रमर-गीत प्रसंग को व्यापक विकसित और व्यवस्थित रूप देने का श्रेय सूरदास जी को ही है। सूर-सारावली और सूरसागर दोनो मे ही यह प्रसंग पाया जाता है। सूर सारावली का कथानक श्रीमद्भागवत पर ही आधृत है, किन्तु उद्धव को ब्रज भेजने के कारण में भेद है। भागवत मे कृष्ण गोपियों पर अनुग्रह करके उन्हें सुख देने के लिए उद्धव को वहाँ भेजते हैं, किन्तु सारावली में गोपियो की चरण रेनु सिर पर धर उद्धव को अभय पद प्राप्त करने के लिए वे ऐसा करते है। काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से सारावली के इस प्रसंग का अधिक महत्व नही है।

सूरसागर मे तीन भ्रमर-गीत मिलते है। एक तो लगभग ३०० पदों मे है, जिसमे नन्द, यशोदा और गोपियों का विरह वर्णन है। इसकी समता हिन्दी साहित्य का कोई भी शब्द नहीं कर सकता। इस विस्तृत भ्रमर-गीत के अतिरिक्त एक भ्रमर-गीत की रचना केवल दो पदों में की गई है। प्रथम पद उद्धव ब्रजागमन, गोपियों की आशा-निराशा, कुब्जा पर व्यंग्य, और कृष्ण के पुनर्मिलन की आशा का वर्णन है; और दूसरे मे उद्धव द्वारा ज्ञानोपदेश, गोपियों का प्रतिवाद और उद्धव के भक्त बनकर लौटने का वर्णन है। अन्त मे भ्रमर-गीत के सुनने सुनाने का महत्व है।[2] उद्धव का मथुरा-गमन प्रसंग और उससे पहले ब्रज की दशा का चित्रण इसमे नही है। निर्गुण-सगुण चर्चा इसका प्रमुख विषय है और अन्त में उद्धव गोपियों को गुरु मान लेते है। तीसरा भ्रमर-गीत केवल एक ही पद मे है, जो सत्तर पंक्तियों का है। कथानक की दृष्टि से दूसरे सक्षिप्त भ्रमर-गीत से इसमें अन्तर है, क्योंकि इसका प्रारम्भ उद्धव के उपदेश से ही होता है; जैसे—नन्ददास के भ्रमर-गीत का। इसके अन्तर्गत गोपियाँ अधिक व्यवहार कुशल प्रतीत होती है। गोपियों की तल्लीनता देखकर उद्धव के संकोच, पाती-सन्देश और ज्ञान-चर्चा का उल्लेख इसमे भी है। उद्धव कुछ दिन प्रेममग्न होकर ब्रज मे रहते है और जब कृष्ण के पास जाते हैं, तब कृष्ण अपने प्रेम व्यवहार से उन्हें शान्त करते है।[3] दोनो ही सक्षिप्त भ्रमर-गीतो मे भ्रमर के आने का उल्लेख नही है। हाँ, 'अलि' और 'मधुप' शब्दों का प्रयोग अवश्य मिलता है।

सूर का विस्तृत भ्रमर-गीत बड़ा ही महत्वपूर्ण है। इसके अन्तर्गत विभिन्न घटनाओं और पात्रों के व्यापारों का विकास बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से हुआ है। स्थूल रूप से इसका विभाजन दो भागों में किया जा सकता है। प्रथम भाग में कृष्ण के वियोग मे ब्रजवासियो की दशा और कृष्ण के प्रति यशोदा, नन्द आदि के द्वारा भेजे गये सन्देशो से लेकर उद्धव के ब्रज-आगमन तक के पद रखे जा सकते हैं और दूसरे मे उद्धव-गोपि-संवाद से लेकर उद्धव के प्रेमाभक्ति से प्रभावित

---

१ विद्यापति (नगेन्द्र नाथ गुप्त) पद ६७०

२ सूरसागर पद ४७११-४७१२

३ वही पद ४०६५

होकर व्रज लौटने तक के। प्रथम भाग को पुनः दो अंशो में विभाजित किया जा सकता है—१ व्रज की दशा और व्रजवासियो के सन्देश। २—मधुपुर वासियो के सन्देश से उद्धव के आगमन तक के पद जिन्हें हम भ्रमर-गीत की क्रमशः पूर्वपीठिका और उत्तरपीठिका कह सकते है।

समूचा भ्रमर-गीत उपालम्भ जिस भावना से ओत-प्रोत है, उसकी कुञ्जी व्रज-वर्णन-प्रसंग में वह पद है, जिसमें एक ग्वाला मधुपुरवासी कृष्ण के सम्बन्ध मे कहता है कि—'मधुपुरी जाकर कृष्ण अब बड़े वंश वाले बन गए है, राजा हो गए हैं, सूतजन उनका गान करते है। उनके माता-पिता यशोदा और नन्द नही, देवकी और वसुदेव हो गए है। कुब्जा उनकी अर्धाङ्गिनी बन गई है, जिसके वशीभूत होकर वे विभिन्न प्रकार के रास-रंग मे लीन है।'[1] गोप द्वारा दी गई इस सूचना की गोपियों पर भारी प्रतिक्रिया होती है। कृष्ण पर अपना एकाधिकार रखने वाली गोपियों को यह कैसे सह्य होता कि वे किसी और के होकर रहे? उनका भावुक, शङ्कालु नारी-हृदय कृष्ण के मथुरावास के अन्य कारणों को बहानामात्र तथा कुब्जा के प्रणय को मूल कारण मान बैठता है, और उनकी विचार धारा कुब्जा पर ही केन्द्रित हो जाती है। वे उस पर व्यंग्य करती है, उसके कारण कृष्ण को भी अधिकाधिक उपालम्भ देती हैं और फिर अपनी परवशता पर रोती-बिसूरती हुई कुब्जा के कूबड़ का मजाक उडाकर ही मन को शान्त करना चाहती हैं; पर व्यर्थ, घूम-फिर कर उनका ध्यान कृष्ण पर पहुँचता है और वे खीझ कह उठती है—"सखी री काके मीत अहीर!" अपना ही लोहा खोटा है, तो लुहार का क्या दोष? निरीह गोपियाँ कभी अपने रूप-रस लोभी नेत्रों को कोसती हैं, तो कभी कपटी हृदय को। ऐसी मनःस्थिति में प्राकृतिक-सौदर्य भी उन्हें काटने दौड़ता है। अतः चन्द्रोपालम्भ और उद्दीपन रूप मे प्रकृति-वर्णन के भी बहुत से पद मिलते हैं।

विरह वेदना से पीड़ित गोपियाँ कृष्ण को सन्देश भेजती है। भिन्न-भिन्न प्रकार से अपनी दशा प्रकट करती हैं। इतने सन्देश भेजे कि मधुपुरी के कूप भर गए, पर कृष्ण का प्रति-सन्देश नही मिला। ऐसी स्थिति मे कुब्जा और कृष्ण के प्रति उनके हृदय मे उपालम्भ की भावना का और भी उद्दीप्त हो जाना स्वाभाविक ही है। यशोदा भी सन्देश भेजती है कि—यद्यपि लोग मेरे हृदय को समझाते है, फिर भी मक्खन देकर मेरे हृदय में पीड़ा होती है। पथिक! कृष्ण से कहना कि मेरे जैसी माँ के होते हुए वे क्यों दुःख पा रहे है।[2] तभी यशोदा को गोप की बात याद आ जाती है। ध्यान आता है—कृष्ण की माँ तो देवकी है। तब वे कहती हैं कि—यदि कृष्ण माँ का नाता नही मानते, तो धाय समझ कर ही दर्शन दे जायें। फिर वे सोचती है, क्यों न देवकी के पास ही कृष्ण के भेजने के लिये सन्देश भेजा जाये। यही तो उचित है, इसी बीच मे यशोदा का वात्सल्य फिर उसे आत्म-विस्मृत कर देता है और वह यह भूल कर कि—कृष्ण देवकी के पुत्र है,[3] देवकी को सन्देश भेजती है:

तुम रानी हो और मै अहीर। मुझे ऐसी हँसी अच्छी नही लगती, यहाँ मेरी गायें कौन चराये। मेरे पुत्र को भेज दो! वहाँ उसे चाहे जितना ऐश्वर्य प्राप्त हो, पर उसे तो मक्खन भाता है न?[4] इस प्रकार गोपियाँ और यशोदा के हृदय में जो विचार उठते है, वे परस्पर सम्बद्ध

---

१ सूरसागर पद ३७५६
२ वही पद ३७९०
३ वही पद ३७९१
४ वही पद ३७९७

और मनोवैज्ञानिक है । गोप द्वारा ब्रज-कृष्ण के ऐश्वर्य की सूचना देना, कुब्जा का प्रेम, यशोदा और गोपियों के सन्देश—सूर की अपनी कल्पना की उपज है । भागवत मे ये प्रसंग नहीं हैं ।

इसी प्रकार भागवत में उद्धव को ब्रज भेजने का उद्देश्य बिल्कुल दूसरा है । वहाँ वे गोपियो को ज्ञानोपदेश देने के लिए भेजे जाते है, पर सूर के कृष्ण उन्हें प्रेम-भक्ति का उपदेश ग्रहण करने के लिए भेजते हैं, ज्ञान के घमंड में फूले उद्धव की वे प्रेम-भजन की प्राप्ति के लिए ब्रज भेजना उचित समझते थे ।[१] स्वयं कृष्ण को उनके योग की बात अच्छी नही लगती थी । वे कहते है:—

संग मिलि कहौं कासौं बात ।
यह तो करत जोग की बातें, जामे रस जरि जात ।[२]

उद्धव को ब्रज भेजने का कारण सूर के चतुर कृष्ण संकेतित भी कर देते है, किन्तु ज्ञान-मद मे मत्त उद्धव—उसे समझ भी नहीं पाते :

सूर स्याम इहिं कारन पठवत, ह्वै आवैगो संत ।

इस प्रकार उद्धव को ब्रज भेजने का कारण उनके योग-नीरस-हृदय को भक्ति-रस से पूरित करना (योग के ऊपर भक्ति का महत्व प्रतिपादन करना) तथा ब्रजवासियों की दशा जानना है । गोकुल से आये हुए सन्देशो के उत्तर रूप मे सूरदास-देवकी, कुब्जा और कृष्ण द्वारा प्रतिसन्देश भिजवाना नहीं भूले हैं । कृष्ण मौखिक रूप मे तथा पत्र के रूप मे भी सन्देश देते है । यशोदा ने धाय बन कर दर्शन की कामना की थी, जिसके उत्तर मे कृष्ण ने सन्देश भेजा कि–हम उन्ही के पुत्र है ।[३] यहाँ के अवशिष्ट कार्य को पूरा कर हम वही लौटेंगे, अन्यत्र हमे कहाँ सुख मिल सकता है । धाय कहला भेजना हमे अच्छा नही लगा ।[४] जब से तुमसे वियुक्त हुए है, कोई कन्हैया कहने वाला नहीं मिला और न ही सवेरे उठकर कलेवा किया, और न घैया ही चाखी ।[५] नन्द बाबा को उपालम्भ पूर्ण सन्देश यह भेजा कि—मथुरा पहुँचाकर उन्होंने फिर सुधि ही नही ली ।[६] गोपियों के लिये केवल जोग का ही सन्देश भेजा, क्योकि इसी के द्वारा उनका अभीष्ट (उद्धव के ज्ञान का गर्व दूर होना) सिद्ध हो सकता था । जोग के सन्देश द्वारा उन्होने गोपियो के हृदय को उद्दीप्त करना चाहा ।

शिष्टता और स्नेह के नाते वसुदेव-देवकी भी यशोदा के सन्देश का उत्तर लिखकर देते है कि—नन्द और यशोदा ! तुम धन्य हो, हमारे पुत्र का पालन कर तुमने हमें उपकृत किया; यहाँ आकर उनसे क्यों नहीं मिल जाते ? उन्हें मै भेज तो दूँगी ही, बाल-लीला का आनन्द तो तुम्हें ही मिला मुझे तो वे कुमार मिले हैं ।[७]

इसके बाद सूर ने कुब्जा द्वारा गोपियों को पत्र लिखाया है । वह स्वयं गोपियों के आक्रोश, उपालम्भ और व्यंग्य का आस्पद रही थी । शिष्टता के नाते ही सही, उसे अपनी सफाई मे कुछ कहना ही चाहिए था । उसने लिखा—"मुझ पर तो कृष्ण की अकस्मात् कृपा हो गई; मुझ पर क्रोध क्यों करती हो । कड़वी तुम्बी को तो घूरे पर स्थान मिलता है, पर जब वह वाद्य-निर्माता के हाथ पड़ जाती है तो सुन्दर राग उत्पन्न करने लगती है । यही दशा मेरी थी । मै त्रिभंगी

१ सूरसागर पद ४०३१
२ वही पद ४०३३
३ सूरसागर ४०५३
४ वही ४०५६
५ सूरसागर ४०५७
६ वही ४०५७
७ वही ४०६०

शरीर ! कंस की दासी ! करुणाकर ने कृपा कर दी । अपने हाथ से मुझे सँवार दिया ।[१] उसने मौखिक सन्देश देते हुए उद्धव से कहा—उद्धव राधा से कहना, मै तो इनकी सेविका हूँ; मुझ पर क्रोध न करो । जैसे कृष्ण ने मुझ पर कृपा की है वैसे ही वे भी करती रहे । तुम तो श्याम की अर्धाङ्गिनी हो । मैं तुम्हारे समान कहाँ,[२] इतनी नम्रता दिखाने के पश्चात् कुब्जा का अभिमान जाग उठा और वह उपालम्भ के बदले मे उपालम्भ देती हुई बोली—

सुनियत ऊधी लए सँदेसो, तुम गोकुल को जात ।
पाछे करि गोपिन सौ कहियौ, एक हमारी बात ।।
मातु पिता को नेह समुझि कै, स्याम मधुपुरी आए ।
नाहिन कान्ह तुम्हारे प्रीतम, ना जसुदा के जाए ।।
देखौ बूझि आपने जिय मै तुम धौ कौन सुख दीन्हे ।
ये बालक तुम मत्त ग्वालिनी, सब मूँड़ करि लीन्हे ।।
तनक दही माखन के कारन, जसुदा त्रास दिखावै ।
तुम हँसि सब बाँधन कौ दौरी, काहू दया न आवै ।।
जो वृषाभान-सुता उत कीन्ही, सो सब तुम जिय जानौ ।
ताही जाल तज्यौ ब्रजमोहन, अब काहैं दु.ख मानौ ।।[३]

भागवत में केवल कृष्ण का मौखिक सन्देश है । वसुदेव, देवकी और कुब्जा के सन्देश कवि की मौखिक प्रतिभा के परिणाम हैं । भागवत मे राधा का नाम नही मिलता, किन्तु सूर ने राधा को प्रधानता दी है । कुब्जा और कृष्ण राधा को ही सन्देश भेजते है । गोपियो का विरह राधा के विरह की धुरी पर घूमता है और अन्त मे उद्धव भी उसी की 'अति मलीन' दशा से प्रभावित होकर कृष्ण से कहते है कि—"अति मलीन बृषभानु कुमारी" । सन्देश-प्रतिसन्देश की यह कल्पना पूर्णतया घटनाओं के मनोवैज्ञानिक विकास के ऊपर आधारित है ।

मधुपुरियो के सन्देश गाँठ में बाँधकर ऊधो चल दिये । इसके बाद सूर ने ब्रज मे होने वाले शुभ शकुनों और गोपियों के उत्कण्ठित हृदयों का सुन्दर चित्रण किया है । एक भारतीय सस्कृति और आचारों का प्रतीक है; तो दूसरा सञ्चारियों के अभिव्यञ्जन की दृष्टि से उच्च-साहित्यिक आदर्श का प्रतिबिम्ब है । शुभ-शकुन तो हो ही रहे थे; मथुरा की ओर से आता हुआ कृष्ण का रथ भी दूर से दीखने लगा । गोपियो के हृदय में कृष्ण-मिलन की आशा दृढ़ हो गई । रथ कुछ पास आया तो उसमें एक व्यक्ति दीख पड़ा । कृष्ण अकेले नही आ सकते थे, वे तो बलराम के साथ होते । आशा निराशा में परिणत हो गई । लगा, जैसे कृष्ण मिलकर बिछुड गए हों । नवीन विरह जग गया और गोपियों के हृदय से खीझभरा उपालम्भ निकल पड़ा—

सूरदास यहाँ कत आवें, बँधे कुबिजा रस-दाम ।[४]

यशोदा तो मूर्च्छित होकर ही गिर पड़ी । गोपियाँ अपना दु.ख भूल गईं और यशोदा को सान्त्वना देने लगी :

---

१ सूरसागर ४०६२
२ वही ४०६४
३ सूरसागर (सभा) पद ४०६५
४ वही ,, पद ४०८५

भूल भई हरि सुरति करी।
उठो महरि कुशलात बूझिए, आनन्द उमग भरी।[१]

इस प्रकार आत्म-विस्मृत विरह-विधुरा ग्रामीण गोपियो मे भी सूर ने कर्त्तव्य, बुद्धि और सहानुभूति की प्रतिष्ठा की है, जो उनके सरल स्वभाव को और भी आकर्षक बना देती है।

सूरसागर मे उद्धव के ब्रजागमन का प्रसंग विभिन्न पदो मे भिन्न-भिन्न प्रकार से मिलता है।

एक अन्य स्थान पर उद्धव-गोपी-मिलन का प्रसङ्ग भागवत के समान दिया है। नन्द के द्वार पर खड़े रथ को देखकर गोपियाँ शकित होती है कि—कही फिर अक्रूर आ गए। जब उन्हे उद्धव के दर्शन होते है, तो वे उन्हें कृष्ण का सखा समझ कर प्रणाम करती हैं। कहती है—'तुम्हारे दर्शन पाकर हम धन्य हुई, तुमसे मिलकर वैसा ही सुख हुआ, जैसे मछली को पानी मिलने पर होता है।'

स्वभावत: गोपियाँ उद्धव से एकदम प्रश्न करती है कि—'कृष्ण कुशलपूर्वक तो है ! उन्होने यहाँ आने के लिये कहा है या नही !' सब गोपियाँ सन्देश सुनने के लिए दौड आई, उद्धव ने कृष्ण की पाती उन्हे दी।

कह्यौ तुमकौ ब्रह्म ध्यावन, छाँड़ि विषय विकार।
सूर पाती दई लिखि मोहिं, पढ़ौ गोप कुमारि।[२]

इस प्रकार सूर उद्धव के योग का कटु सन्देश विस्तार पूर्वक न कहकर पाती से ही परिस्थिति स्पष्ट कर देते हैं। पत्रिका प्राप्त कर गोपियाँ प्रेम-विभोर हो जाती है। यहाँ सूर ने सम्बन्ध-भावना का उत्तम निदर्शन प्रस्तुत किया है। गोपियाँ कृष्ण की पाती को कभी नेत्रों पर धरती है और कभी छाती से लगाती हैं। पर इससे कृष्ण का विरह और भी अधिक अखरने लगता है, और वे कह उठती है कि—इस पाती का हम क्या करें ? वे सोचती है कि कृष्ण हमसे रुष्ठ है; तभी तो इस प्रकार स्वय न आकर 'मधुप' के हाथो सन्देश और पाती भेज दिये हैं। उद्धव की योग-चर्चा उन्हें तनिक नहीं सुहाती। वे व्याकुल हो जाती है और—

इहि अन्तर मधुकर इक आयौ।
निज स्वभाव अनुसार निकट ह्वै सुन्दर शब्द सुनायौ।
पूछनि लागी ताहि गोपिका कुबिजा तोहिं पठायौ।
को धौ सूर स्यामसुन्दर कौ हमे सन्देसौ लायौ।[३]

यही से मूल भ्रमर-गीत का प्रारम्भ होता है। भ्रमरागमन के पूर्व के दो पदों में गोपियो ने भी उद्धव को ही 'मधुप' और 'अलि' नाम से सबोधित किया है :

'कहियौ मधुप संदेश सुचित दै, मधुवन स्याम उजागर'।[४]
'याही तें लिखि पठवत अलिकर बातें प्रेम छकोंही'।[५]

---

१ सूरसागर (सभा) पद ४०८८
२ वही ,, पद ४१०३
३ वही ,, पद ४११५
४ वही ,, पद ४०१३
५ वही ,, पद ४०१४

वस्तुत: यहाँ उन्होने कृष्ण के सखा उद्धव को कृष्ण का ही प्रतिनिधि समझकर ऐसा किया है। गोपियों के प्रेम प्रवाह में उद्धव का ज्ञान बह जाता है और उनका कहना 'पवन का भुस' हो जाता है। अन्त मे वे प्रेमा-भक्ति से ओत-प्रोत हृदय होकर लौटने लगते है, तो यशोदा और गोपियाँ पुनः भावपूर्ण सन्देश देती है।

भागवत और सूर के भ्रमर-गीत की तुलना से स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि सूर ने भागवत का आश्रय लिया है, तथापि अपनी प्रतिभा से ऐसी-ऐसी घटनाओ की उद्‌भावना की है, जिनसे मानव हृदय की शाश्वत वृत्तियो की अनुभूति होती है। उनके कृष्ण भागवत के कृष्ण के समान केवल कर्तव्य निष्ठता के आग्रह से ही गोपियों को संदेश भेजने में प्रवृत्त नहीं होते, अपितु भावुक हृदय होने के कारण विरह की कसक का अनुभव भी करते है। उनका प्रेम मानवीय धरातल पर ही पल्लवित हुआ है। सूर ने उद्धव को भागवत के उद्धव के समान मुखरता भी प्रदान नही की; वे बहुत कम बोलते है। कारण यही है कि गोपियो के रूप मे स्वय सूरदास अपनी प्रेमाभक्ति का प्रतिपादन करते हुए ज्ञानी उद्धव को बोलने का अवसर ही नही देते। उन्हे वे मुखरता प्रदान करते हैं, जब ये स्वयं सूर के भक्ति सम्प्रदाय मे दीक्षित हो जाते है और मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय को प्रमुखता देने लगते हैं।

भ्रमर का अवतरण होने के पश्चात् मूल भ्रमर-गीत का प्रारम्भ होता है। गोपी-उद्धव के इस संवाद में गोपियाँ उद्धव को बोलने का बहुत ही कम अवसर देती है। योग की बात सुनकर वे उद्धव से ताबड़तोड़ प्रश्न करती चली जाती हैं, उस पर व्यंग्य कसती हैं। उसकी बुद्धि पर तरस खाती है, कभी उसे मतवाला कहती है, तो कभी उस पर अहसान जताती है कि हमसे तुमने योग की कहनी-अनकहनी बात कहली, चलो कोई बात नही; यदि किसी स्त्री को अपना पति छोड़कर अन्य को कर लेने का उपदेश देते तो कुछ महमानी खाते। वस्तुतः गोपियों की स्वतः प्रेरित भावपूर्ण उक्तियों के आगे उद्धव की बोलती बन्द हो जाती है। गोपी-उद्धव संवाद के इन पदों मे अनायास ही अनेक प्रकार के तत्व—दार्शनिक, साहित्यक, सांस्कृतिक, सामाजिक आदि प्रविष्ट हो गये है।

भ्रमर-गीत का दार्शनिक दृष्टिकोण

हम पहले कह आये हैं कि सूरदास का उद्देश्य किसी दार्शनिक वाद-विवाद के झमेले में पडना नहीं था। वे भक्त थे और भगवान् की प्रेमा-भक्ति की महिमा की अनुभूति को ही अपनी रचनाओ मे व्यक्त किया करते थे। यद्यपि वह पुष्टि-सम्प्रदाय मे दीक्षित थे, तथापि उनका उद्‌देश्य उनके सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना नही था। फिर भी सामयिक वातावरण और अभिव्यक्ति की सहज लपेट मे कुछ सामान्य दार्शनिक बातें भी आ गई हैं; जिनका सम्बन्ध पुष्टि-सम्प्रदाय से ही अधिक है।

सूर के समय में ज्ञान-योग और भक्ति का त्रिकोण संघर्ष चल रहा था। वेदान्ती लोग अन्तःकरण की शुद्धि, जप, तप, आदि को प्रमुखता देते थे और नाथ-पन्थी योग को। इधर सन्त-मत, जिसने उक्त दोनों ही सम्प्रदायों से कुछ न कुछ लिया था, निराकार निर्गुण की उपासना का प्रचार कर रहा था; साथ ही साकार की उपासना और भक्ति का आन्दोलन भी जोर पकड़ चुका था। इस प्रकार भ्रमर-गीत में निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों मार्गों का संघर्ष है।

उद्धव गोपियों की विरह-व्यथा का कारण अज्ञान ही मानते हैं। अतः वे गोपियों से कहते है—"ज्ञान बिना कहुँवे सुख नाही।[1]" वे परब्रह्म का ध्यान करने का उपदेश देते हैं[2]; जिसे जीव अज्ञानवश नही देख पाता [3] तत्व ज्ञान प्राप्त करके ही गोपियाँ सोना बन सकती है :

तत्व भजै वैसी ह्वै जैहौ, पारस परसै लोहु।
मेरो बचन सत्य करि मानौ, छांडौ सबकौ मोहु।[4]

क्योंकि—

जब लगि ज्ञान हृदै नहिं आवै।
तब लगि कोटि जतन कर कोऊ, बिन बिवेक नहि पावै।[5]

किन्तु प्रेम-रस से मग्न भक्ति की प्रतीक गोपियाँ ज्ञान के पारस को अपने लिये व्यर्थ समझती हैं; वे तो स्वय कृष्ण के प्रेम में सुवर्णमयी हो गई है। पारस का महत्व लोहे के नजदीक कुछ भी हो, सोने को उसकी क्या जरूरत ?

सोहत लौह परसि पारसि कौ, ज्यौं सुबरन बरवानि।
पुनि वह कहा चारु चुम्बक सौ, लटपटाइ लपटानि।[6]

भगवान् के वियोग में तडपने वाले भक्त के नयनो के लिए तो उनके दर्शन ही पथ्य हैं, ज्ञान की बात तो शलाका का ही काम करती है।[7] जिनके कान कृष्ण की वेणु का रस पिये हुए हो, उन्हे ज्ञान की कथा ?[8]

उद्धव समझे कि ज्ञान की बात घनी बारीक है और गोपियों की बुद्धि मोटी। इसलिए पहले ज्ञान के स्थूल पक्ष 'साधना' को ही इनके गले से उतारा जाये। इसलिए वे योग के साधना-पक्ष की मानसिक और शारीरिक—दोनो प्रकार की क्रियाओं को अपनाने के लिये कहते है, और फुनगी छोड़कर जड़ पकड़ लेते है :

कर समाधि अन्तरगति ध्यावहु, यह उनकौ उपदेश।[9]
यह सन्देश कह्यौ है माधौ, करि विचार जिय साधन साधौ।
इडा पिंगला सुषमन नारी, सुन्य सहज मे बसत मुरारी।[10]

अब तो गोपियों को—हरि के प्रेम का आस्वादन करने वाली गोपियों को—सन्देह हो ही गया। वे समझने लगी कि उद्धव को कृष्ण ने नही भेजा; क्योकि जिस कृष्ण ने—

अग-अंग आभूषन अपने, कर करि हमहिं बनाए।
सूरदास प्रभु कैसें तुम कर, कंथा जोरि पठाए।[11]

जरूर कुछ दाल मे काला है। कही उद्धव परिहास ही तो नही कर रहे ?

सूरदास योग की अपेक्षा भक्ति के महत्व का अधिक प्रतिपादन करते हैं, किन्तु वे योग को सर्वथा हीन-दृष्टि से नही देखते। योग का मजाक उड़ाने से उनका तात्पर्य यही है कि भक्ति—योग की अपेक्षा सहज साध्य है। योग की साधना कठिन है; अतः सुकुमार नारियों को योग-साधन की सलाह देना एक विषमता मात्र है! उनके भावुक हृदय के लिये तो प्रेम-मार्ग का अनुकरण ही श्रेयस्कर है—

---

१ सूरसागर ४२२४
२ वही ४३०३
३ वही ४७१३
४ वही ४१५७
५ वही ४४०६
६ वही ४१५९
७ सूरसागर ४१८८
८ वही ४५४५
९ वही ४१२०
१० वही ४६६७
११ वही ४४९०

आए है ब्रज के हित ऊधौ, जुवतिनि कौ लै जोग।
आसन, ध्यान, नैन मूँदे सखि, कैसे कढ़ै वियोग ।।[१]

सच्चे भक्त का लक्ष्य तो एक ही है—भगवत्प्राप्ति। भगवान जिस मार्ग से सहज ही मिल जायँ, वही ग्राह्य है। अगर योग द्वारा फौरन ही हरि के मिलने की गारंटी हो, तो गोपियाँ उसे भी ग्रहण करने के लिये तैयार है—

ऊधौ तौ हम जोग करैं।
जौ हरि बेगि मिलें अब हमकौ, वैसे वेष धरै।[२]

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' के अनुसार चित्त की वृत्तियों को रोकना ही योग है, किन्तु गोपियो का चित्त तो कृष्ण ने चुरा लिया, फिर योग-साधन कैसा ? कौनसे मन से योग-साधना की जाय ?

ऊधौ मन नाही दस बीस।
एक हुतौ सो गयौ स्याम सग, को अवराधै ईस।[३]

यदि वे अपना मन वापिस पा ले, तो इतनी रुचि के साथ लाये हुए योग को अवश्य स्वीकार करले।[४] वास्तविक बात तो यह है कि वेदों और उपनिषदों के इस तत्व में (योग) को बेचारी अबला कैसे साध सकती हैं ? समाधि लगाना साधारण मानव के बस की बात नही !

यह तो वेद उपनिषद मत हैं, महापुरुष व्रतधारी।
हम अबला अहीर ब्रज-वासिन नाही परत सँभारी।[५]

भला निर्गुण ब्रह्म से कैसे प्रेम किया जावे ?

अति अगाध श्रुति वचन अगोचर, मनसा तहाँ न जाई।
जाकै रूप न रेख वरन बपु, संग न सखा सहाई।
ता निरगुन सौ नेह निरन्तर, क्यो निबहै री माई।[६]

इसलिए सूर की गोपियाँ सगुन को ही पसन्द करती हैं—

ऊधौ निरगुनहिं कहत, तुमही सो लेहु।
सगुन मूरति नन्दनन्दन, हमहिं आनि देहु।
अगम पथ परम कठिन, गौन तहाँ नाहिं।
सनकादिक भूले फिरे, अबला कहँ जाहिं ।।[७]

उस निर्गुण के सगुण रूप को प्राप्त कर गोपियों का हृदय स्थिर हो गया। अब उन्हें अन्य किसी की आवश्यकता नही। चित्त की यह स्थिरता योग से क्या कम है ? उन्होंने सगुण के प्रकाश को पा लिया है, जिसके अभाव मे उद्धव का जीवन स्वयं ज्ञान के अन्धकार मे डूबा हुआ है :

इहिं ब्रज सरगुन दीप प्रकास्यौ।
सुनि ऊधौ त्रिकुटी त्रिवेद पर, निसदिन प्रकट अभास्यौ।
सब के उर सरवास नेह भरि, सुमन तिली को बास्यौ।

---

१ सूरसागर (सभा) ४२०८
२ वही ४४१३
३ वही ४३४४
४ वही ४३३७
५ सूरसागर (सभा) पद ४५१९
६ वही ४५४९
७ वही ४५१७

गुन अनेक ते गुनि कपूर सम, परिमल बारह मास्यौ।
साधन भोग निरजन तेरे, अन्धकार तम नास्यौ।
वा दिन भयो तिहारो आवन, बोलत हो उपहास्यौ।
रहि न सके तुम सींक रूप ह्वै, निरगुन काज उकास्यौ।
बाढी जोति सुकेस देस लौ, टूट्यौ ज्ञान मवास्यो।
दुर्वासना सलभ सब जारे जे—छै रह्यौ अकास्यौ।

गोपियो के इस कथन से सूरदास के मत का स्पष्टीकरण हो जाता है। उन्होने ज्ञान और योग की अपेक्षा भक्ति को प्रधानता दी है, और भक्ति के क्षेत्र मे भी निर्गुण के स्थान मे सगुण की उपासना का प्रतिपादन किया है। किन्तु सूर के भ्रमर-गीत का यह पक्ष सर्वथा गौण है। अपने दार्शनिक विचारों को ही व्यक्त करने के लिए उन्होने भ्रमर-गीत की रचना नही की। उनका प्रमुख लक्ष्य है—प्रेम की पीर को अभिव्यक्ति करना; जिसके साथ-साथ तत्कालीन समाज मे प्रचलित अन्य धार्मिक विचार धाराओं का भी उद्घाटन स्वतः ही हो गया है। हिन्दी के विद्यार्थी के लिए भ्रमर-गीत का साहित्यिक महत्व ही अधिक आकर्षक है। विप्रलम्भ शृङ्गार का इतना उत्कृष्ट उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है।

उद्धव ने यह कह कर कृष्ण का सन्देश और पाती गोपियों को दी; कि—

"कह्यौ तुमकौं ब्रह्म ध्यावन, छाँड़ि विषय विकार।
सूर पाती दई लिखि मोहि, पढ़ौ गोप कुमारि।"[1]

प्रिय-प्रेषित वस्तु के दर्शन से प्रेमी के हृदय मे प्रेम का अन्तःस्रोत फूट पड़ता है और वियोगावस्था में घनीभूत अनुभूति सात्विक भावो के रूप मे विकास पाती है। कृष्ण की पत्रिका को प्राप्त कर गोपियाँ निहाल हो जाती हैं और प्रेम से अतिशय सचार के कारण उद्धव की पहली बात (कह्यौ तुम कौ ब्रह्म ध्यावन) को भूल ही जाती हैं। कृष्ण की पाती उनके लिये अपूर्व सम्पत्ति है, जिसे प्राप्त कर वे फूली नही समाती। भवसागर का मन्थन करने वाले सूर ने गोपियों की इस मानसिक दशा की अभिव्यक्ति के लिये कैसे प्रभावपूर्ण अनुभवों की कल्पना की है :

निरखति अङ्क स्याम सुन्दर के, बार-बार लावति छाती।
लोचन-जल कागद-मसि मिलि कै, ह्वै गई स्याम की पाती।[2]

प्रिय-रूप-रस-पिपासु नेत्रों से निर्गत सात्विक वाष्प के मसि-मिश्रित हो जाने से तो श्याम की पाती चक्षु इन्द्रिय से देखने में श्याम (काली) दीख पड़ी थी, परन्तु वियोगावस्था में प्रिय द्वारा प्रेषित होने के कारण वह प्रेम-जागृति का साधन होकर भी गोपियो की मानसिक एकाग्रता के फलस्वरूप भावात्मक दृष्टि से उससे भी पहले श्याम (कृष्णमय) हो चुकी है; तभी तो वे उसे बार-बार छाती से लगा कर प्रिय के अङ्क के आश्लेष का आनन्द प्राप्त करती हैं। वियोगानल-संतप्त मानस में प्रिय-प्रेषित वस्तु अपूर्व शीतलता और शान्ति का संचार करती है, परन्तु सच तो यह है कि इस शान्ति के क्षणिक संचार की परिणति प्रिय-मिलन अभिलाष की तीव्रता में होती है। यही कारण है कि कृष्ण की याद में विह्वल गोपियों के कण्ठ से अनायास ही निकल पड़ता है :

---

१ सूरसागर (सभा) पद ४१०३
२ वही ,, पद ४१०५

प्राननाथ तुम कबहिं मिलौगे, सूरदास प्रभु बाल-सँघाती ।[1]

गोपियों ने इतने सन्देशे भेजे कि मथुरा के कूप सन्देशों से भर गये। जिस पथिक को वे उधर जाता देखती, उसी के द्वारा सन्देश भी भेजती। सन्देश ले जाने के डर से पथिको ने उस मार्ग से जाना ही छोड़ दिया। इतने पर भी जब कृष्ण को उनकी याद आई तो उन्होंने स्वयं आने का कष्ट-वहन न कर पत्रिका भेज दी, जिसने वियोग मे योग का सन्देश देकर सयोग की आशा पर ही पानी फेर दिया। ऐसी पत्रिका का क्या किया जाय :

ऊधौ कहा करै लै पाती।
जौ लौ मदनगुपाल न देखे, विरह जरावत छाती।[2]

योग के उपदेश द्वारा उद्धव गोपियो के हृदय से कृष्ण की स्मृति को भी निकालना चाहते हैं। प्रिय से सम्बन्ध-विच्छेद कराने की चेष्टा करने वाले व्यक्ति के प्रति झल्लाहट उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है; चाहे वह प्रिय का कितना ही प्रिय क्यो न हो? उद्धव के कृष्ण का त्याग और निर्गुण की उपासना वाले उपदेश को सुनकर गोपियाँ झुंझला उठी। इस झुंझलाहट को व्यक्त करने के लिए सूरदास ने एक भ्रमर की कल्पना की, जो उडता हुआ गोपियों और उद्धव के निकट जा निकला। फिर तो गोपियों ने भ्रमर के बहाने उद्धव पर खूब व्यग्य-वाणों की वर्षा की। भला उन्हें निर्गुण से क्या लेना? उनके कृष्ण सलामत चाहिये :

रहु रे मधुकर, रहु मतवारे!
कौन काज या निरगुन सौ, चिर जीवहु कान्ह हमारे।[3]

अन्तिम शब्दों मे मानो गोपियों का चिरसञ्चित प्रेम मुखरित हो उठा है। प्रेम की उच्च अनुभूति मे स्वार्थ, वासना आदि की गन्ध तक नही रहती, केवल प्रिय के हित की ही कामना होती है। वह चाहे जितना निष्ठुर हो, चाहे जितना अन्याय करे, चाहे सुधि तक भी न ले; परन्तु प्रेमी यही चाहता है :

जहाँ रहौ तहँ कोटि बरष लगि, जियौ स्याम सुख सौ ही।

वियोग की अनुभूति भी विचित्र होती है। जहाँ एक ओर गोपियों का नारी-हृदय सोतिया डाहवश मुरली और कुब्जा को उपालम्भ देता हुआ नही थकता, वहाँ प्रिय की ममता उनसे यह भी कहला लेती है :

ब्याहौ लाख धरौ दस कुबरी, अन्तहि कान्ह हमारौ?[4]

प्रेम के घनत्व में अन्तर्हित यह प्रसार, वियोग की रसात्मक अनुभूति मे हृदय की उदारता के साथ साफ प्रकट हो जाता है, प्रिय के समस्त दोष दृष्टि से ओझल हो जाते है; उसके अपराधों से मान के स्थान में दीनता-मिश्रित सहिष्णुता, निष्ठुरता से विरति के स्थान में अनिर्वचनीय रत्युकर्ष और शठता से अविश्वास के स्थान में विश्वास ही का उदय होता है, यह वस्तुतः आश्चर्य की बात है। प्रेम की सीख देने वाले रासविहारी श्याम स्वय कुब्जा के रंग मे रंगकर गोपियों को योग का सन्देश भेज सकते हैं, यह बात उनके गले ही नही उतरती। उनकी उक्तियों में इस अविश्वास की साफ अभिव्यक्ति हुई है :

---

१ सूरसागर (सभा) पद ४१०५
२ वही ,, पद ४११२
३ वही ,, पद ४१२२
४ वही ,, पद ४११३

ऊधौ स्याम-सखा तुम साँचे ?
की करि लियौ स्वाँग बीचहिं तै वैसहिं लागत काँचे ।[१]

तथा

ऊधौ जाहु तुमहिं हम जाने ।
स्याम तुम्हें ह्याँ नहिं पठायौ, तुम ही बीच भुलाने ।[२]

उद्धव कृष्ण के मित्र हैं, यह सम्बन्ध-भावना गोपियों को उनसे चुटकी लेने और उन्हें सताने के लिये मुखरित कर देती है। कृष्ण को छोड़कर निर्गुण को भजने का उपदेश देने वाले उद्धव पर परिहासपूर्ण डाँट डालती हुई ये कहती हैं :

जैसी कही हमहिं आवत ही, औरनि कहि पछिताते ।
अपनौ पति तजि और बतावत, मेहमानी कछु खाते ।

अपने पति को त्याग कर और का उपदेश देने वाले व्यक्ति को क्या नारी सहन कर सकती है ? ऐसे व्यक्ति की पूजा हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। परन्तु कृष्ण से सम्बन्ध होने के कारण उद्धव को यह कहकर भी पछताना नहीं पड़ा और इसी के कारण उन्हे 'कपट चतुरई सानें', 'धूत' और 'बे सरम' जैसे स्नेह भरे हुए खिताब मिल सके।[३] सूर के प्रेम-परिहास के विषय में स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं :

"प्रेम के जिस हास-क्रीडामय स्वरूप को सूर ने लिया है, विप्रलम्भ दशा के अश्रु और दीर्घ निःश्वास के बीच-बीच में भी बराबर उसकी क्षणिक और क्षीण रेखा झलक जाती है।"[४]

गोपियों के द्वारा प्रेम-मार्ग को ही अपनाये रहने का आग्रह पाकर भी उद्धव योग-योग ही गाये चले जाते है, तो उन्हें कुछ और झुँझलाहट आ जाती है। वे उद्धव को सलाह देती है कि कदाचित् तुम्हें सन्निपात हो गया है। पहले इसका उपाय तो कर लो, पीछे ही किसी को उपदेश देने का कष्ट करना :

समुझि न परति तिहारी ऊधौ ।
ज्यौ त्रिदोष उपजै जक लागत, बोलत बचन न सूधौ ।
आपुन कौ उपचार करौ अति, तब औरनि सिख देहु ।
बड़ौ रोग उपज्यौ है तुमकौं, भवन सबारे लेहु ।[५]

शुष्क योग की बातें सुनते-सुनते और उद्धव को बनाते-बनाते कृष्ण की स्मृति पुनः उनके प्रेम को उद्बुद्ध कर देती है और वे कृष्ण दर्शन के लिए भटकती हुई आँखो की दयनीय दशा का मर्मस्पर्शी चित्रण करती है। कृष्ण ने उन्हें भुला दिया, यह कितनी विडम्बना है

वे हरि बातें क्यों बिसरी ?
आवत राधा पंथ चरन-रज हित सौं अङ्क भरी ।
भाँति-भाँति किसलय कुसुमावलि, सेज्या सोभ करी ।

---

१ सूरसागर (सभा) पद ४१३४
२ वही ,, पद ४१३६
३ वही ,, पद ४१३८-४२ तथा ४१३३
४ सूरदास (आचार्य शुक्ल) पृष्ठ २२१-२२२
५ सूरसागर (सभा) पद ४१४७

मुरति स्रमित स्यामा रस-रजित, सोवित रंग भरी ।
आपुन कुसुम-व्यजन कर लीन्हे, करत मरुत लहरी ।
गोचारण मिस जात सघन बन, मुरली अधर धरी ।
नाद-प्रनालि प्रवेश घोष मे, रिझवत तिय सिगरी ।[1]

अभी-अभी जो गोपियाँ कृष्ण और उद्धव को खरी-खोटी सुना रही थी, सयोग-घटनाओं की स्मृति में तथा उद्दीप्त-संताप मे उनकी दशा कितनी शोचनीय हो गई है? वे दीनता पूर्वक कृष्ण के दर्शन की याचना करती हैं। उन्हे और कुछ अभीष्ट नही।

ऊधौ हमरौ दोष नहिं कछु, वै प्रभु निपट कठोर ।
हम हरि-नाम जपति है निसदिन, जैसे चद चकोर ।
हम दासी बिन मोल की ऊधौ, ज्यों गुडिया बिनु डोर ।
सूरदास प्रभु दरसन दीजै, नाही मनसा और ।[2]

अतीत की मधुर स्मृति से विह्वल गोपिकाओ के मानस से विप्रलम्भ-रस की जो निर्मल धारा बही, उसमें उद्धव के ज्ञान का अहंकार-मैल धुल गया। गोपियो को कुछ नहीं सुहाता। जिसे प्रेम-बाण की कठिन चोट लगी ही नही, वह उनका दुख-दर्द क्या जाने? अन्धे के आगे रोने से क्या लाभ? उद्धव से प्रेम-कथा का कहना घास काटना है, फिर भी उनका हृदय अपनी व्यथा को उँडेल कर हल्का होना चाहता है। वे अनेक प्रकार से अपनी दीन दशा का वर्णन करती है और अन्त मे उद्धव के हाथ कृष्ण को अपनी पत्रिका और सन्देश भेजती है।

ऊधौ इक पतिया हमारी लीजै ।
चरनि लागि गोविन्द सौ कहियौ, लिखौ हमारौ दीजै ।
हम तौ कौन रूप गुन आगरि, जिहिं गुपाल जू रीझै ।
निरखत नैन नीर भरि आये, अरु कंचुकि पट भीजै ।
तलफत रहति मीन चातक, ज्यौ जल बिनु तृषा न छीजै ।
अति व्याकुल अकुलाति बिरहिनी, सुरति हमारी कीजै ।
अँखियाँ खरी निहारति मधुवन, हरि बिनु ब्रज विष पीजै ।
सूरदास प्रभु कबहिं मिलेगे, देखि-देखि मुख जीजै ।[3]

उनकी अभिलाषा यही है कि कृष्ण उन्हे याद करते रहे। नैराश्य पूर्ण प्रेमी हृदय के संतोष का यह कितना सूक्ष्म और दृढ आधार है :

नंदनंदन सौ इतनी कहियौ ।
जद्यपि ब्रज अनाथ करि डार्यौ, तद्यपि सुरति फिरउ चित रहियौ ।
तिनका तोर करहु जनि हमसौ, एक बास की लाज निबहियौ ।[4]

"एक बास की लाज निबहियौ' शब्द मे गोपियों की निरीहता और दीनता की चरमकाष्ठा है, कृष्ण के स्नेह और सहानुभूति को जागरित करने के लिए साहचर्य की स्मृति दिलाने के

---

१ सूरसागर (सभा) पद ४२५१
२ वही पद ४२५३
३ वही पद ४६८२
४ वही पद ४६८४

अतिरिक्त उनके पास उपाय ही क्या है ? वे कृष्ण के साथ हँसी-खेली और उठी-बैठी है। अब कृष्ण बड़े हो गये है, वे राजा है, उन पर कुछ जोर नही चल सकता। बस एक बात का ध्यान ही उन्हे गोपियो की सुधि लेने को प्रेरित कर सकता है। इतने पर भी जब उन्हें सन्तोष नही होता तो वे नन्द, यशोदा और गायों की दयनीय दशा सुनने को कहती है। उनका एकमात्र उद्देश्य है—कृष्ण-दर्शन। वे जैसे भी आवें, उद्धव को अपनी समझ से वैसे ही कहना चाहिए।

तुम कहियौ जैसे गोकुल आवै।
दिन दस रहे भली सो कीन्ही, अब जनि गहरु लगावै।
नहिं न सुहात कछू हरि तुम बिनु, कानन भवन न भावै।
धेनु विकल अति चरित नही तृन, बच्छ न पीवन धावै।
देखत अपनी आँखिनि तुमही हम कहि कहा जनावै।
सूरदास प्रभु कठिन होत कत, वै ब्रजनाथ कहावै।[1]

परन्तु उनके प्रभु ऐसे कठोर तो नही है। उन पर कुब्जा ने ही कुछ जादू कर दिया है। गोपियाँ झुंझला उठती हैं और कुब्जा को भला-बुरा कह कर अपनी मनोगत स्त्री-सुलभ सापाल्य-जनित ईर्ष्या व्यक्त करती है। उनकी उक्तियाँ पारदर्शी है, जिनके बीच से उनका वियोग-व्यथित हृदय स्पष्ट झलक रहा है :

ऊधौ अब कछु कहत न आवै।
सिर पर सौति हमारै कुबिजा, चाम के दाम चलावै।
कछु इक मंत्र कर्यौ चदन मे, तातै स्यामहिं भावै।
अपनै ही रंग रचे साँवरे, सुक ज्यौ बैठि पढावै।
तब जो कहत असुर की दासी, अब कुल-बधू कहावै।
नटिनी लौ कर लिये लकुटिया, कपि ज्यौ नाच नचावै।
टूट्यौ नातौ या गोकुल कौ, लिखि-लिखि जोग पठावै।
सूरदास प्रभु हमहिं निदरि, दाढ़े पर लोन लगावै।[2]

यद्यपि प्रेमी के लिये प्रिय का वियोग असह्य होता है और वह सर्वदा उसे अपने साथ देखना चाहता है, परन्तु स्वयं दुःख झेलकर भी वह प्रिय को दुःखी देखना नही चाहता। यदि कहीं दुःखमय स्थान पर उसे रहना पडे, तो वह अकेला रहकर वियोग के असह्य संताप को सहने के लिए तैयार हो जाता है, किन्तु, अपने प्रिय को उस स्थान के दुःखो में डालना नही चाहता। गोपियाँ कृष्ण के दर्शन के लिए तड़पती है, परन्तु फिर भी यह नही चाहती कि वे वियोगी ब्रज की विषम परिस्थिति से उद्भूत दुःख मे पड़ें :

ऊधौ इतनी जाइ कहौ।
सबै बिरहिनी पा लागति है, मथुरा कान्ह रहौ।
भूलिहुँ जनि आवहु इहिं गोकुल, तपति तरनि ज्यौ चन्द।
सुन्दर बदन स्याम कोमल तन, क्यौ सहिहैं नँद-नँद।[3]

---

१ सूरसागर (सभा) पद ४८८९
२ वही ,, पद ४२५७
३ वही ,, पद ४६८५

सूर के वियोग वर्णन की पूर्णता देखे ही बन पडती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की सम्मति है—'वियोग की जितनी अन्तर्दशाएँ हो सकती है, जितने ढगों से उन दशाओ का साहित्य में वर्णन हुआ है और सामान्यतः हो सकता है, वे सब उनके भीतर मौजूद है।'[1] रीति-आचार्यों ने विरह की ग्यारह अवस्थाओं का उल्लेख किया है—

(१) अभिलाषा, (२) चिन्ता, (३) स्मरण, (४) गुण-कथन, (५) उद्वेग, (६) प्रलाप, (७) उन्माद, (८) व्याधि, (६) जडता, (१०) मूर्च्छा, और (११) मरण।

सूर के अनेक पदो मे इन अवस्थाओं का वर्णन हुआ है। यहाँ सक्षेप मे इनके उदाहरण दिये जाते हैं :

(अभिलाषा)

ऐसे समय जो हरि जू आवहिं।
निरखि-निरखि वह रूप मनोहर, नैन बहुत सुख पावहिं।
कबहुँक संग जु हिलि खेलहिं, कबहुँक कुंज बुलावहिं।
बिछुरे प्रान रहत नहिं घट मे, सो पुनि आनि जियावहिं।
अबकै चलत जानि सूरज-प्रभु, सब पहलै उठि धावहिं।[2]

(चिन्ता)

ऊधौ अँखियाँ अति अनुरागी।
इक टक मग जोवति अरु रोवति, भूलेहुँ पलक न लागी।
बिनु पावस—पावस करि राखी, देखत हौ विदमान।
अब धौ कहा कियौ चाहत हौ, छाँड़ौ निरगुन ज्ञान।[3]

(स्मृति)

मेरे मन इतनी सूल रही।
वे बतियाँ छतियाँ लिखि राखीं, जे नँदलाल कहीं।[4]

(गुण-कथन)

एक द्यौस कुञ्जनि मे माई।
नाना कुसुम लेइ अपनैं कर, दिये मोहिं सौं सुरति न जाई।
इतने मैं घन गरजि वृष्टि करी, तनु भीज्यौ मो भई जुडाई।
कंपत देखि उढ़ाइ पीट-पट, लै करुनामय कंठ लगाई।
कहँ वह प्रीति रीति मोहन की, कहँ अब धौं ऐती निठुराई।
अब बलबीर सूर-प्रभु सखि री, मधुबन बसि सब प्रीति भुलाई।[5]

---

१ सूरदास (आ० शुक्ल) पृष्ठ १८७
२ सूरदास (सभा) पद ४००
३ वही ,, पद ४१६१
४ वही ,, पद ४०१३
५ वही ,, पद ४००२

(उद्वेग)

तुम्हारी प्रति किधो तरवारि ।
दृष्टि-धार धरि हती जु पहिलै, घायल सब ब्रजनारि ।
गिरी सुमार खेत वृन्दावन, रन मानी नहिं हारि ।
विह्वल विकल सँभारति छिनु-छिनु, बदन-सुधा-निधि बारि ।[1]

(प्रलाप)

सखि मिलि करौ कछुक उपाउ ।
मार मारन चढ्यौ विरहिनि, निदरि पायौ दाउ ।
हुतासन-धुज जात उन्नत, चल्यौ हरि-दिस बाउ ।[2]

(व्याधि)

बिनु गुपाल बैरिन भइ कुंजै ।
तब वै लता लगति तन सीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजै ।
वृथा बहति जमुना खग बोलत, वृथा कमल-फूलनि अति गुंजै ।
पवन, पान, घनसार, सजीवन, दधिसुत किरनि भानु भई भुंजै ।[3]

(उन्माद)

ऊधौ इतनी कहियौ जाय ।
अति कृस गात भई ये तुम बिनु, परम दुखारी गाइ ।
जल-समूह बरषति दोउ अँखियाँ, हूँकति लीन्हें नाउँ ।
जहाँ जहाँ गोदोहन कीन्हौ, सूँघति सोई ठाउँ ।[4]

(जड़ता)

देखी मै लोचन चुवत अचेत ।
मनहुँ कमल ससि त्रास ईस कौ, मुक्ता गनि गनि देत ।
कहुँ ककन कहुँ गिरी मुद्रिका, कहुँ टाड़ कहुँ नेत ।
चेतति नही चित्र की पुतरी, समुझाई सौचेत ।[5]

(मूर्च्छा)

तब तैं इन सबहिनि सचु पायौ ।
जब तैं हरि संदेस तुम्हारौ, सुनत तांवरौ आयौ ।
फूले ब्याल दुरे ते प्रगटे, पवन पेट भरि खायौ ।[6]

(मरण)

अति मलीन वृषभानु कुमारी ।
हरिश्रम-जल भीज्यौ उर-अञ्चल, तिहिं लालच न धुवावति सारी ।

---

१ सूरसागर (सभा) पद ४२८०
२ वही ,, पद २७०३
३ वही ,, पद ४६८६
४ वही ,, पद ४६८८
५ वही ,, पद ४७३३
६ वही ,, पद ४७५६

अधमुख रहति अनत नहिं चितवति, ज्यौ गथ हारे थकित जुवारी।
छूटे चिकुर बदन कुम्हिलाने, ज्यौ नलिनी हिमकर की मारी।
हरि सदेस सुनि सहज मृतक भई, इक विरहिनि दूजे अलिजारी।[1]

'भ्रमर-गीत' सूर की सर्वश्रेष्ठ रचना है, इसमे एक ओर विप्रलम्भ-शृङ्गार की उद्दाम सरिता का अबाध प्रवाह ब्रज-नारियों के नयनाम्बु से पूरित होकर उमडता हुआ पाठक की मनोभूमि को आप्लावित करता चलता है, और दूसरी ओर सगुण भक्ति का निर्झर ऊँची-नीची और समतल भाव-भूमि में योग-मार्ग की कठोर प्रस्तर-शिलाओं को तोडता और निर्गुण उपासना के घास-फूँस को आत्मसात् करता हुआ प्रवाहित होता है। गोपियो के भक्ति-भाव एवं विश्वास से पुष्ट सरस तर्कों की झञ्झा में उद्धव की निर्गुण-साधना का शुष्क भुस कही का कही उड गया।[2] यद्यपि भ्रमर-गीत का दार्शनिक पहलू भी है। विरह-विधुरा गोपियाँ परमात्मा से वियुक्त आत्मा की प्रतीक कही जा सकती है, तथापि प्रेम का लौकिक पक्ष ही उसमे अधिक उभरा हुआ प्रतीत होता है। सूर की गोपियां मिलन ही नही, उसका उपभोगमय उपयोग भी चाहती है।

अन्य रस

यद्यपि मुख्य रूप से सूर वात्सल्य और शृङ्गार के ही कवि है तथापि उनकी रचनाओं में अन्य रसों का आस्वादन भी किया जा सकता है। उक्त दोनों रसों के बीचों-बीच कभी-कभी अन्य रस की धारा भी 'सूरसागर' को तीर्थराज बनाती हुई दीख पडती है। प्रसग के अनुसार हास्य, करुण, वीर आदि रसों का परिपाक भी उनकी रचना मे मिलता है।

हास्य

सूरदास जी की शैली से ही उनकी विनोद-प्रियता टपकती है। प्रारम्भ से अन्त तक उनके सुख और उल्लास, अश्रु और निःश्वास—सभी मे हास्य का पुट मिलता है। बाल-लीला वर्णन में कृष्ण की चेष्टाएँ, बहाने और राधा की सरल उक्तियाँ हास्य की सृष्टि करते है। सयोग मे राधा या अन्य गोपी की साड़ी और आभूषण धारण कर लेना और फिर भेद खुलने पर चातुर्यपूर्ण उत्तर बनाना आदि तथा विप्रलम्भ मे गोपियों द्वारा उद्धव के निर्गुण की धज्जियाँ उड़ाकर उन्हे बनाना, हास्य का सञ्चार करने वाली घटनाये है। वात्सल्य-वर्णन के अनेक उदाहरण, जिसमे हास्य का पुट है, हम पीछे दे चुके हैं। ऐसे स्थानों पर हास्य रस की कोटि तक प्रायः नही पहुँचा है। यहाँ एक-दो उदाहरण दिये जाते हैं।

एक ग्वालिन ने कृष्ण को दही की चोरी करते हुए ऐन मौके पर पकड़ लिया। मुद्दा पूरा था, कृष्ण इन्कार नही कर सकते, क्योकि उनका हाथ दधि-भाजन में था। अब किया क्या जाय? उन्होंने फौरन ही बात बनाई—

मैं जान्यौ यह मेरौ घर है, तो धोखे में आयौ।
देखत ही गौरस में चींटी, काढ़न कौ करि नायौ।[3]

उनकी बात पर विश्वास हो या न हो, पर चतुरता-पूर्ण उत्तर सुनने वाले के अधरों पर हास्य थिरक ही उठेगा।

---

१ सूरसागर (सभा) पद ४६६१
२ देखिये इसी ग्रन्थ का परिशिष्ट
३ सूरसागर (सभा) पद ८९७

कभी-कभी किसी व्यक्ति को झूंठ-मूंठ बनाया जाता है, वह हैरान होता है और देखने वाले हँसते है, परन्तु सूर के माखन-चोर इस आर्ट का प्रयोग अपनी चोरी छिपाने के लिए सफलता-पूर्वक करते है, जिससे हास्य-भाव और भी उद्दीप्त हो जाता है ।

माखन चोआइ बैठ्यौ, तौलौं गोपी आई ।
देखे तब बोल्यौ कान्ह, ऊतर यौ बनाई ।
आँखे भर लीनी उराहनौ देन लाग्यौ ।
तेरौ री सुवन मेरी मुरली लै भाग्यौ ।

इतना ही नही जनाब ने आँसू भी निकाल लिये :

दैरी मोकों ल्याइ बेनु, कहि, कर गहि रोवें ।
ग्वालिनी डराति जियहिं, सुनै जनि जसोदै ।
तू जो कह्यौ ऐसौ बेनु, इहाँ नाहि तेरौ ।
मुरली में जीवन-प्रान बसत अहै मेरौ ।
मेवा मिष्टान और बंसी इक दीनी ।
लागी तिय चरन औ बलैया झुकि लीनी ।[1]

यदि चोर उलटे कोतवालको डाँटता हुआ न देखा हो, तो यहाँ देख लीजिये । जब उपालम्भ देने वाली गोपियों का ताँता ही लग गया तो यशोदा ने अपने कुल की मर्यादा की दुहाई देकर कृष्ण को माखन-चोरी से विरत करना चाहा । परन्तु चोर पक्का है, वह स्वीकार ही नही करता कि उसने चोरी की है । यद्यपि चोरी का माल उसके हाथ मे है, किन्तु तर्क ऐसा देता है कि आश्चर्य होता है । 'नान्हे कर वाले' हाजिर जबाब इस चोर की बातों पर जब दण्डनायक को ही हँसी आ जाती है, तो औरों का तो कहना ही क्या ।

मैया मैं नहि माखन खायौ ।
ख्याल परै ये सखा सबै मिलि, मेरै मुख लपटायौ ।
देखि तुही छीकें पर भाजन, ऊँचै धरि लटकायौ ।
हौ जु कहत नान्हे कर अपने, मैं कैसे करि पायौ ।
मुख दधि पोछि, बुद्धि इक कीन्ही, दोना पीठि दुरायौ ।
डारि साँटि, मुसुकाइ जसोदा, स्यामहि कण्ठ लगायौ ।[2]

इस पद मे हास्य रस की कोटि तक पहुँच जाता है । कृष्ण आलम्बन है यशोदा आश्रय । कृष्ण की बातें बनाना तथा दोना छिपाना आदि उद्दीपन विभाव हैं और यशोदा का हर्षित होना मुस्काना आदि अनुभाव ।

करुण

दावानल के प्रसंग मे करुणरस की व्यंजना हुई है :

अब कै राखि लेहु गोपाल ।
दसहूँ दिसा दुसह दवागिनि, उपजी है इहि काल ।

---

१ सूरसागर सभा पद ९०२
२ वही सभा पद ९५२

पटकत बाँस-काँस कुस चटकत, लटकत ताल तमाल ।
उचटत अति अंगार फुटत पर, झपटत लपट कराल ।
धूम धूँधि बाढी उर अम्बर, चमकत बिच-बिच ज्वाल ।
हरिन-बराह-मोर-चातक-पिक जरन जीव बेहाल ।[1]

इस पद मे दु:ख एवं शोक स्थायी-भाव है । अङ्गारो का उचटना, बाँसों का पटकना, कराल लपटों का झपटना और बेहाल जीवों का जलना—उद्दीपन एवं आलम्बन विभाव, तथा कृष्ण को रक्षा के लिए पुकारना —'स्मरण' संचारी-भाव है ।

रौद्र

ब्रजवासियों द्वारा कृष्ण के कहने पर, इन्द्र की पूजा त्याग कर गोवर्द्धन पर्वत का पूजन होने पर इन्द्र का कोप 'रौद्र रस' की कोटि तक पहुँच गया है :

प्रथमहिं देऊँ गिरिहिं बहाइ ।
बज्रघातनि करौ चुरकुट, देउँ धरनि मिलाइ ।
मेरी इन महिमा न जानी, प्रगट देउँ दिखाइ ।
बरसि जल ब्रज धोइ डारौ लोग देउँ बहाइ ।
खात-खेलत रहे नीकै, करी उपाधि बनाइ ।
बरस दिन मोहिं देत पूजा, दई सोउ मिटाइ ।
रिसि सहित सुरराज लीन्हें, प्रलय मेघ बुलाइ ।
सूर सुरपति कहत पुनि-पुनि, परौ ब्रज पर धाइ ।[2]

इस पद मे क्रोध स्थायी-भाव, इन्द्र आश्रय, ब्रजवासी आलम्बन, पूजा को मिटा देना उद्दीपन विभाव, पर्वत को धूल मे मिलाना, मेघों को बुलाकर ब्रज को बहाने के लिये आदेश देना आदि अनुभाव और खोई हुई पूजा की स्मृति—सचारी-भाव है ।

वीर

आजु जो हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ ।
तौ लाजौं गंगा जननी कौ, सांतनु-सुत न कहाऊँ ।
स्यन्दन खण्डि महारथि खंडौ, कपिध्वज सहित गिराऊँ ।
पाण्डव-दल-सम्मुख ह्वै धाऊँ, सरिता रुधिर बहाऊँ ।
इती न करौ सपथ तौ हरि की, छत्रिय-गतिहिं न पाऊँ ।
सूरदास रन-भूमि विजय-बिनु, जियत न पीठि दिखाऊँ ।[3]

इस पद मे भीष्म नायक (आश्रय), कृष्ण प्रतिनायक (आलम्बन), कृष्ण की शस्त्र ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा उद्दीपन और उसकी स्मृति संचारी तथा स्यन्दन और महारथों को खण्डित करने, खून की नदी बहाने आदि की प्रतिज्ञा अनुभाव है ।

मथुरा मे कस के मल्लों और कंस के वध वर्णन वाले पदों मे भी वीर-रस ही है ।[4]

सूर ने शृङ्गार के अंग-रूप में भी वीर-रस का चित्रण किया है । शृङ्गारान्तर्गत वीर-रस का एक उदाहरण देखिये :

---

१ सूरसागर (सभा) पद १२३३
२ वही ,, पद १४७०
३ वही ,, पद २७०
४ वही ,, पद ३६९१ और ३६९६

रुपे संग्राम रति-खेल नीके ।
एक तै एक रनबीर जोधा प्रबल, मुरत नहिं नैकु अति सबल जीके ।
भौंह कोदण्ड, सर नैन, धनुर्षि काम, छुटनि मानौ कटाच्छनि निहारै ।
हँसन दुज-चमक करतरनि लौहै झलक, नख निछत घात नेजा सम्हारै ।
पीत पट डारि कंचुकी मोचित करन, कबच सन्नाह सो छुटै तन तै ।
भुजा-भुज धरत, मनु द्विरद मुँडनि लरत, उर उरनि भिरे दोउ जुरे मन तै ।
लटकि लपटानि मानौ सुभट लरि परे खेत, रति सेज रुचि ताम कीन्हे ।
सूर प्रभु रसिक प्रिय राधिका रसिकिनी, कोक-गुन सहित सुख लूटि लीन्हे ।[१]

भयानक

भहरात झहरात दवानल आयौ ।
घेरि चहुँ ओर, करि सोर अन्दोर बन, धरनि आकास चहूँ पास छायौ ।
बरत बनबाँस, थरहरत कुसकाँस, जरि उड़त है भाँस, अति प्रबल धायौ ।
झपटि झपटति लपट फूल-फल चट-चटकि फटत, लटलटकि द्रुम-द्रुम नवायौ ।
अति अगिनि-झार भंभार धुँधार करि, उचटि अंगार झझार छायौ ।
बरत बनपात, भहरात झहरात अररात, तरु महा धरनि गिरायौ ।
भए बेहाल सब ग्वाल ब्रजबाल तब, सरन गोपाल कहिकै पुकार्‌यौ ।
तृनावर्त, केसी सकट, बकीबक अघासुर, बामकर राखि गिरिज्यौ उबार्‌यौ ।[२]

यहाँ पर भयकर दावानल को देखकर उद्‌भुत भय स्थायी-भाव हैं । बावानल आलम्बन और ग्वाल-जन आश्रय है । वृक्षो का भहराकर गिरना, लपटों का झपटना आदि उद्‌दीपन, ग्वालों का बेहाल होना, कृष्ण को पुकारना आदि अनुभाव तथा केशी, अघासुर आदि का वध कर उनकी रक्षा करने की पूर्व स्मृति सञ्चारी भाव है ।

वीभत्स

सूर कोमल-भावों के कवि थे । उनकी रचनाओं मे पलायन के स्थान मे 'प्रवृत्ति' और संकुचन के स्थान मे 'प्रसारण' ही अधिक लक्षित होता है । यही कारण है कि किसी वीभत्स-रस की रचना को उनके काव्य मे से खोज निकालना दुस्तर कार्य है ।

अद्‌भुत

बालक कृष्ण मिट्‌टी खा रहे थे । यशोदा को पता चला, मुँह खुलवा कर देखा तो देखती ही रह गई । कृष्ण के नन्हे-से मुख मे पूर्ण ब्रह्माण्ड देखकर चकित हो गई :

नन्दहिं कहत जसोदा रानी ।
माटी कै मिस मुख दिखरायौ, तिहूँ लोक रजधानी ।
स्वर्ग, पताल, धरनि, बन, पर्वत, बदन माँझ रहे आनी ।
नदी, सुमेर देखि चकित भई, याकी अकथ कहानी ।
चितै रहे तब नन्द जुवति-मुख, मन-मन करत बिनानी ।
सूरदास तब कहति जसोदा, गर्ग कही यह बानी ।[३]

---

१ सूरसागर (सभा) पद २४५७
२ वही ,, पद १२१४
३ वही ,, पद ८७४

शान्त

सूर के विनय के पदों में शान्त-रस की प्रचुरता है। इस रस का स्थायी-भाव निर्वेद है, जिसके मूल मे संसार से विरक्ति की भावना कार्य करती है। ससार की निःसारता अपने पापो की गणना और किये पर पश्चात्ताप आदि अनुभाव तथा हर्ष, आत्म-ग्लानि आदि सचारी-भाव है :

थोरे जीवन भयो तन भारो।
कियौ न संत समागम कबहूँ, लियौ न नाम तुम्हारौ।
अति उन्मत्त मोह माया बस, नहिं कछु बात बिचारौ।
करत उपाव न पूछत काहूँ, गनत न खाटौ-खारौ।
इन्द्री-स्वाद-बिबस निसि-बासर, आप अपुनपौ हारौ।
जल औंड़े में चहुँ दिसि पैर्यौ, पाउँ कुल्हारौ मारौ।
बाँधी मोट पसारि त्रिबिधि गुन, नाहि कहुँ बाच उतारौ।
देख्यौ सूर बिचारि सीस परी, तब तुम सरन पुकारौ।[1]

अपने भावों की ईप्सित अभिव्यक्ति के लिए प्रत्येक कवि प्रकृति का भी आश्रय लेता है; क्योंकि भावों के उद्भव, विकास और उद्दीपन मे प्रकृति का बहुत घना योग रहता है। इसलिए किसी कवि के प्रकृति-चित्रण पर प्रकाश डाले बिना भाव-पक्ष का निरूपण अधूरा ही रह जाता है, अतएव हम संक्षेप में सूर के प्रकृति-वर्णन का विवेचन करेंगे।

प्रकृति चित्रण

प्रकृति और मानव का सम्बन्ध अनादिकाल से है। जन्म से मरण तक फैले हुए जीवन के विस्तृत क्षेत्र में प्रकृति सदा उसके साथ रह कर भाव-विकास और आनन्द-प्रसार में योग देती रही है। इस अनादि साहचर्य के कारण प्रकृति की ओर मानव की रागात्मिका वृत्ति सदैव सजग रही है, परन्तु ज्यो-ज्यों सभ्यता की शृंखलाओ से जकड़ा हुआ मनुष्य उससे दूर होता गया, त्यों-त्यों उसकी आनन्दानुभूति भी निष्प्राण होती गई। यही कारण है कि प्रकृति के निरीक्षण से वंचित रहने वाले कवियो की रचनाओं मे भावों की व्यापकता की कसक बनी ही रही। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार—'मनुष्य शेष प्रकृति के साथ अपने रागात्मक सम्बन्ध का विच्छेद करने से अपने आनन्द की व्यापकता को नष्ट करता है। बुद्धि की व्याप्ति के लिए मनुष्य को जिस प्रकार विस्तृत और अनेक रूपात्मक क्षेत्र मिला है, उसी प्रकार भावों की व्याप्ति के लिए भी।'[2]

कविता की आत्मा भाव है और भावों का परिष्कार प्रकृति के विविध रूपों तथा व्यापारो के साथ सामञ्जस्य होने पर ही सम्भव है। इसलिए काव्य में प्रकृति-चित्रण का समावेश स्वतः ही हो गया। विभिन्न कवियों की प्रवृत्ति, निरीक्षण और अनुभूति के अनुसार प्रकृति का चित्रण कई ढंगों से हुआ है।

१—आलम्बन रूप में :—

(क) जब कवि किसी प्राकृतिक दृश्य अथवा व्यापार का सूक्ष्म एवं सश्लिष्ट चित्रण करता है, तथा उसके रूप-रंग, अङ्ग-प्रत्यंग, परिस्थिति आदि का सम्यक् विवरण देता है तो पाठक के

१ सूरसागर (सभा) पद १५२
२ चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृष्ठ ५

हृदय में अन्तर्हित प्रकृति-साहचर्य-जनित अनुराग उद्बुद्ध होकर आनन्दानुभूति में परिणत हो जाता है। ऐसे स्थलों पर प्रकृति का चित्रण आलम्बन रूप में माना जाता है। अतः कुछ आचार्यों का यह मत है कि—अचेतन होने के कारण प्रकृति की ओर से कवि के अनुराग की समुचित प्रतिक्रिया दीख नही पडती। अतएव वह रसानुभव की कोटि तक नहीं पहुँच सकता, निभ्रान्ति नहीं कहा जा सकता। आचार्य शुक्ल ने तो स्पष्ट ही कहा है—"मैं आलम्बन मात्र के विशद वर्णन को श्रोता में रसानुभव करने मे पूर्ण समर्थ मानता हूँ।"[1]

(ख) जब कवि प्रकृति के विभिन्न व्यापारों में व्यक्तिगत जीवन का आरोप कर लेता है तो पशु-पक्षी, वृक्ष लता—सभी में उसे मानव-क्रिया-कलाप की झलक दीख पडती है। प्रकृति का यह चित्रण मानवीकरण के नाम से प्रचलित है।

(ग) जब प्रकृति का सौन्दर्य कवि के हृदय मे रम जाता है और वह प्रकृति-सौन्दर्य की चेतना से ऊपर उठ जाता है, तो प्रकृति का सौन्दर्य स्वयं आनन्द रूप होकर अभिव्यक्ति की प्रेरणा बन जाता है। इसी आत्म-तल्लीनता की दशा मे प्रकृतिवादी रहस्यानुभूति होती है।

२—उद्दीपन रूप मे :—

जब प्रकृति से इतर आलम्बन को लेकर कोई भाव आश्रय के मन मे अन्तर्हित रहता है और प्रकृति स्वयं उस भाव द्वारा विहित आश्रय की मनोदशा की सतह पर आकर उसका उद्घाटन करती है या व्यक्ति भाव को उद्दीप्त करती है, तो उसका चित्रण उद्दीपन रूप मे माना जाता है।

(क) प्रकृति का आलंकारिक वर्णन—जब कवि प्रकृति से अनेक उपमान लेकर साम्य या वैषम्य का सयोग उपस्थित कर अलकारों द्वारा अभीष्ट रूप का चित्रण और भाव का अभिव्यंजन करता है तो प्रकृति का चित्रण आलंकारिक माना जाता है। इस रूप मे प्रकृति का सबसे अधिक वर्णन हुआ है। इस प्रकार का चित्रण जब लक्ष्य-च्युत होकर और साधन न रह कर साध्य बन जाता है, तो उपहासास्पद हो जाता है।

(ख) प्रकृति—भावों अथवा मानव-क्रिया-कलाप की पृष्ठ-भूमि के रूप में—

कभी-कभी कवि कथानकों की साधारण परिस्थितियों एव घटना-स्थितियों को उपस्थित करने के लिए भी प्रकृति का वर्णन करता है। इस प्रकार के चित्रण का ध्येय केवल वस्तु स्थिति को ही समझ रखना नहीं होता, अपितु भाव-ग्रहण योग्य वातावरण भी उपस्थित करना होता है। प्रकृति का व्यंजनात्मक वर्णन एक ओर तो भावात्मक वातावरण का निर्माण करता है, और दूसरी ओर आगामी भावों को उद्बुद्ध करके सामने लाता है। इस रूप मे प्रकृति अनुकूल या प्रतिकूल होकर घटनाओं के लिये वातावरण या मानवीय क्रिया कलाप के लिये पृष्ठ-भूमि उपस्थित करती है।

कभी-कभी कवि प्रकृति के स्वतःसम्भवी उपमानों से अभीष्ट सिद्धि न देखकर उनके सौन्दर्य में घटा-बढ़ी करके अथवा अनेक उपमानो के विशेष-विशेष गुणों को एकत्र कर कल्पित उपमान बनाकर प्रयोग करता है। ऐसी स्थिति में यदि कल्पना अस्वाभाविकता और असम्भवता लिये हुए होती है तो काव्य में चमत्कार या वैचित्र्य भले ही आ जाय, उसके स्वाभाविक रस मे विरसता आ जाती है।

(३) कवि-समय :—

कविगण कुछ प्राकृतिक पदार्थों का ऐसे रूप में भी वर्णन करते आए है, जो वस्तुतः प्रकृति के क्षेत्र में दीख नहीं पड़ता; जैसे—नदियों में कमल का खिलना, चकोर का चिनगारियाँ चुनना,

---

१ चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृष्ठ ३७

चकवा-चकवी का रात्रि मे वियुक्त होना आदि। इस रूप में केवल निश्चित पदार्थों का ही वर्णन किया जा सकता है, जिनके विषय मे कवियों का समझौता-सा हो गया है। इसलिए इन्हें 'कवि-समय-सिद्ध' कहा जाता है।

संस्कृत के कवियो ने प्रकृति का आलम्बन और उद्दीपन—दोनों रूपों में समान रूप से चित्रण किया है। कालिदास के 'रघुवंश' और 'कुमार-सम्भव' मे बीच-बीच मे प्रकृति के सुन्दर और संश्लिष्ट वर्णन है। 'मेघदूत' का 'पूर्वमेघ' तो उत्तरी भारत का सजीव प्राकृतिक चित्र ही है। भवभूति के 'उत्तर रामचरित' मे भी प्रकृति के सुन्दर संश्लिष्ट चित्रों की कमी नही है। उत्तरकालीन संस्कृत-साहित्य में प्रकृति का उद्दीपन रूप मे अधिक चित्रण हुआ है। हिन्दी साहित्य ने अन्यान्य प्रवृत्तियों के साथ यह प्रवृत्ति भी उससे ग्रहण की।

मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य मे निर्गुण और सगुण नाम से दो काव्य धाराएँ प्रवृत्त हुईं, जिनके प्रवर्त्तकों की भावनाओं के अनुसार प्रकृति-चित्रण भिन्न-भिन्न रूप मे हुआ। सन्त कवियों ने जहाँ प्रेम की महत्ता स्वीकार की है और परमात्मा को पति-रूप मे माना है वहाँ उनका प्रकृति-वर्णन प्रेम-भाव को उद्दीप्त करने का कार्य करता है। आध्यात्मिक तथ्यों की व्यंजना में उन्होंने अतिप्राकृत पदार्थों का आश्रय लिया है और उनकी उलट-बाँसियो के विचित्र उपमान मन में आश्चर्य ही उत्पन्न करते है। प्रेम-मार्गी कवियों ने जहाँ प्रकृति में परमात्मा की रहस्यमय सत्ता का दर्शन किया है, वहाँ भौतिक रूप-वर्णन मे प्रकृति के पदार्थो को उद्दीपन रूप मे भी सजोया है और भक्त कवियों के आराध्य के सम्पर्क ने तो प्रकृति में चिरन्तन सौन्दर्य और सजीवता ही फूँक दी है। उसमे परिवर्तन और क्षणिकता के लिए स्थान ही नही रहा। सच्चिदानन्द के साहचर्य से वह आनन्दमयी ही हो उठी है।

सूरदास के उपास्य कृष्ण ब्रज-भूमि मे अवतरित हुए थे। उनका व्यक्तित्व प्रकृति की ही गोद में विकसित हुआ और प्रकृति का उन्मुक्त क्षेत्र ही उनकी बाल-लीलाओ और किशोरकेलियों का रंग-स्थल बना। उनके लोकोपकारी कार्यों की कर्म-भूमि भी प्रकृति ही रही। वन मे गोचारण करते हुए गिरिधर ने यही विकट असुरों का वध करके जनता के आतङ्क को दूर किया। राधा और कृष्ण के प्रथम मिलन का दृश्य आज भी यमुना की आँखों में घूम रहा है। प्रेमालाप और रति-क्रीड़ाओं से मुखरित कुंज अब भी रासलीला की अपूर्वता की गवाही दे रहे है और कृष्ण के स्पर्श से पुलकित, और संकेत से पूजित गोवर्द्धन आज भी पूजा जा रहा है। यमुना का पवित्र प्रवाह, कदम्ब वृक्षों का कमनीय कानन, करील के कल निकुंज और कालिन्दी-कछार मे फैले हुए लता-पादप अपनी मनोमुग्धकारी छटा से आकृष्ट कर ही लेते है। फिर कृष्ण की सम्बन्ध-भावना के कारण तो उनमें लोकोत्तर सौन्दर्य और चेतना का भी समावेश हो गया है, जिससे नटनागर की लीलाओं का गानकर वे हमारे हृदय को भक्ति-विभोर कर देते है। इसी भावना के वशीभूत होकर करील की कुंजों के ऊपर 'कोटिनहू कलधौत के धाम' वारने वाले रसखान तो पक्षी, पशु और पत्थर तक बनने के लिए तैयार थे। यदि उन्हें कालिन्दी-कूल-कदम्ब की डालियों पर, नन्द की धेनुओं के मध्य मे और गोवर्द्धन पर्वत के अंचल में बसेरा लेने, चरने और पड़े रहने की छूट दे दी जाती; फिर ब्रज-भूमि तो सूर की अपनी ही जन्म-भूमि थी। उनके शरीर के एक-एक परमाणु में यहीं के तत्त्व व्याप्त थे। इस 'स्वर्गादपि गरीयसी' भूमि के प्रति सूर का अनन्य प्रेम स्वाभाविक ही है:

> कहाँ सुख ब्रज कौ सौ संसार।
> कहाँ सुखद बंसी बट जमुना, यह मन सदा विचार।

कहूँ बनधाम कहाँ राधा संग, कहाँ संग ब्रज बाम।
कहूँ रस रास बीच अन्तर सुख, कहाँ नारि तन ताम।
कहाँ लता तरु-तरु प्रति बूझनि, कुँज-कुँज नव धाम।
कहाँ बिरह सुख बिन गोपिन सग, सूर स्याम मन काम।[1]

सूर ने प्रकृति के क्षेत्र मे विचरण करने वाले गोपाल कृष्ण को ही अपने काव्य का नायक बनाया है, गीता के योगिराज कृष्ण अथवा महाभारत के राजनीति-विशारद कृष्ण को नही। वस्तुतः ब्रज की प्राकृतिक लीलाओं और राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओ मे इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि प्रकृति-वर्णन के बिना राधा-कृष्ण के प्रेम व्यापारों का वर्णन किया ही नही जा सकता। इस लीला-क्षेत्र मे कृष्ण की लीला के साथ-साथ प्रकृति की जो लीला चला करती है, उसे छोडकर कोई भी कवि कृष्ण-काव्य की चर्चा नही कर सकता था। इसीलिये सूरदास को अपने नायक कृष्ण के जीवन के साथ यमुना, कदम्ब कुँज, ऋतु-परिवर्तन, दावानल और न जाने प्रकृति के कितने अग गूँथ देने पड़े ?[2] कृष्ण का विकास जैसे ब्रज की प्रकृति मे होता है, उसी प्रकार सूर-साहित्य का विकास भी ब्रज-प्रकृति की छाया मे ही होता है। ब्रज की प्रकृति ने उन्हे केवल उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं के लिये ही सामग्री नही दी है, वह उनके काव्य के केन्द्र मे प्रतिष्ठित हुई है।[3]

यहाँ पर इस बात का उल्लेख असगत न होगा कि कृष्ण के लीलाधाम वृन्दावन को वल्लभ-सम्प्रदाय मे आचार्य वल्लभ के दर्शन-पक्ष के गोलोक का छायारूप तथा शाश्वत माना गया है। इसी धाम में आचार्य वल्लभ ने अपने इष्टदेव श्रीनाथ जी के मन्दिर की प्रतिष्ठा की।

सूर ने जहाँ अपने प्रान्त के ब्रज-प्रदेश की परिवर्तनशील प्रकृति का वर्णन किया है, वहाँ इस शाश्वत ब्रज की ओर संकेत करना भी वे नही भूले हैं।

नित्य धाम वृन्दावन स्याम। नित्य रूप राधा ब्रजबाम॥
नित्य रास जल नित्य बिहार। नित्य मान खण्डिताऽभिसार॥
नित्य कुँज सुख नित्य हिंडोर। नित्यहिं त्रिविध समीर झकोर॥
सदा बसन्त रहत जहँ बास। सदा हर्ष जहँ नही उदास॥
कोकिल कीर सदा तहँ रोर। सदा रूप मन्मथ चित चोर॥
बिबिध सुमन बन फूले डार। उन्मत मधुकर भ्रमत अपार॥[4]

सूर के पात्र प्रकृतिमय है। उनके हृदय का अध्ययन सूर द्वारा उपस्थित प्रकृति-चित्र-पटी के सहारे भली-भाँति किया जा सकता है। साहचर्य के कारण उनका प्रकृति के साथ ऐसा तादात्म्य हो गया है कि किसी भी घटना-व्यापार की प्रतिक्रिया पहले किस पर हुई और बाद मे किस पर, यह बताना बड़ा ही कठिन है। कृष्ण के वियोग मे गोपियों की भाँति प्रकृति भी पूर्ण वियोग का अनुभव करती है और संयोग मे पूर्णसयोग का। ऐसी स्थिति में सूर-काव्य में असम्बद्ध प्रकृति-चित्रण की खोज करना मानव और प्रकृति के भावात्मक मिलन को चुनौती देना ही है। उनके पात्रो की मनोदशाओं के वर्णन मे प्रकृति के विभिन्न रूपों और व्यापारो का अनायास ही समावेश हो गया है। हाँ, बीच-बीच में आलम्बन रूपों मे भी प्रकृति-चित्रण की झलक दिखाई दे जाती है। प्रातःकाल का स्वाभाविक वर्णन देखिए :

---

१ सूरसागर (सभा) पद ४०३४
२ रामरतन भटनागर 'सूर साहित्य की भूमिका' पृष्ठ २१०
३ वही पृष्ठ २११
४ सूरसागर (सभा) पद ३४६२

बोले तमचुर, चार्‌यौ जाम कौ गजर मार्‌यौ;
पौन भयौ सीतल तमि तै तमता गई।
प्राची अरुनानी, भानु किरनि उज्यारी नभ छाई;
उडुगन चन्द्रमा मलीनता लई।
मुकले कमल, बच्छबंधन बिछोह्‌यौ ग्वाल;
चरैं चली गाइ, द्विज तैती कर कौं दई।
सूरदास राधिका सरस बानी बोलि कहै;
जागो प्रान प्यारे जू सबारे की समैं भई।[1]
चिरई चुहचुहानी, चाँद की ज्योति परानी;
रजनी बिहानी, प्राची पियरी प्रबान की।
नारिका दुरानी, तम घट्‌यौ, तमचुर बोले;
स्रवन भनक परी ललिता के तान की।
भृङ्ग मिले भारुता, बिछुरी जोरी कोक मिले;
उतरी पनच अब काम के कमान की।
अथवत आए गृह, बहुरि उवत भानु;
उठौ प्राननाथ महा जान मनि जानकी।[2]

रात्रि भर कुंज-सुखानुभव करने के पश्चात् प्रातःकाल होता हुआ देखकर गुरुजन-भय से घर जाने के लिए संकेत करती हुई राधा की कृष्ण के प्रति उस उक्ति का किसी न किसी रूप में शृङ्गार से ही सम्बन्ध है, परन्तु निम्नलिखित पद में प्रातःकाल का वर्णन बिलकुल शुद्ध रूप में हुआ है।

जागिए ब्रजराज कुँवर कमल-कुसुम फूले।
कुमुद-वृन्द सकुचित भए, भृङ्ग लता भूले।
तमचुर खग-रोर सुनहु, बोलत बबराई।
राँभति गो खिरकनि मे, बछरा हित धाई।
बिधु मलीन, रबि प्रकास, गावत नर-नारी।
सूर स्याम प्रातः उठौ, अम्बुज कर धारी।[3]

मेघों के उमड-उमड़ कर गिरने का वर्णन निम्नलिखित पद मे हुआ है :

माधौ महा मेघ घिरि आयौ।
घर कौ गाइ बहोरौ मोहन, ग्वालनि टेरि सुनायौ।
कारी घटा सुधूम देखियत, अति गति पवन चलायौ।
चारौं दिशा चितै किन देखहु, दामिनि कौंधा लायौ।
अति घनस्याम सुदेस सूर-प्रभु, कर गहि सैल उठायौ।
राखे सुखी सकल ब्रजवासी, सुरपति गरब नबायौ।[4]

---

१ सूरसागर (सभा) पद २६५६
२ वही ,, पद २६५७
३ वही ,, पद ८२०
४ वही ,, पद १४८३

किन्तु ध्यान से देखने पर कवि ने इस वर्णन का उद्देश्य गोवर्द्धन-धारण करने की घटना के लिये उचित परिस्थिति उपस्थित करके, 'कर गहि सैल उठायौ' और 'सुरपति गरब नबायौ' के द्वारा अपने आराध्य की अलौकिक शक्ति की ओर इंगित करना ही लक्षित होता है, जो १४८८वें पद में आये हुए 'नाम गिरिधर पर्‌यौ भक्त काजै' से स्पष्ट हो जाता है। सूरदास जी ने अपने भावों के अनुकूल प्रकृति के कोमल रूपों को ही प्रायः ग्रहण किया है। लीला-पुरुषोत्तम की प्रणय-लीलाओं का साक्षात्कार करने वाले नेत्र प्रकृति के रौद्र-रूप के दर्शन करना कैसे पसन्द करे? फिर भी अवसर के अनुकूल जहाँ कहीं उन्होने प्रकृति के उग्र-रूप का चित्रण किया है, वहाँ वे पूरी तरह सफल हुए है, और अपने काव्य में आलम्बन रूप मे प्रकृति-वर्णन के अभाव की शिकायत को दूर कर सके है। दावानल के चित्रण का एक ही उदाहरण इस तथ्य की पुष्टि कर देगा :

भहरात झहरात दवा (नल) आयौ।
घेरि चहुँ ओर करि सोर अन्दोर बन, धरनि आकास चहुँ पास छायौ।
बरत बनबाँस, थरहरत कुसकाँस जरि, उड़त है भाँस अति प्रबल धायौ।
झपटि झपटत लपटे, फूल-फल चटचटकि, फटत लटलटकि द्रुम-द्रुम नवायौ।
अति अगिनि-झार भंभार-धुँधार करि, उचटि अंगार झंझार छायौ।
बरत बनपात, भहरात झहरात अररात तरु महा, धरती गिरायौ।[1]

वन के बाँसो के जलने, कुश और काँस के जल कर क्षार होकर उड़ने, लपटों के झपटने, फूल-फलों के चटक-चटक कर फटने, वृक्षों के झुलस कर लटक जाने, ज्वाला के फैलने, अँगारों को उचटने और धुँआ छा जाने के व्यापारों के वर्णन ने दावानल का साक्षात् चित्र उपस्थित कर दिया है, जिनसे विभिन्न वर्णों का अनुप्रास वन-दहन-क्रिया मे होने वाले वास्तविक घोष का अनुकरण करता हुआ तादात्मक सौन्दर्य द्वारा गति और सजीवता भर रहा है।

रहस्यानुभूति-विषयक प्रकृति-चित्रण भी सूर के कुछ पदों मे मिल जाता है :

चलि सखि, तेहिं सरोवर जाहिं।
जिहिं सरोवर कमल कमाल, रवि बिना बिकसाहिं।
हंस उज्ज्वल पंख निर्मल, अंग मलि मलि न्हाहिं।
मुक्ति-मुक्ता अनगिने फल, तहाँ चुनि-चुनि खाहिं।
अतिहि मगन महा मधुर रस, रस न मध्य समाहिं।
पदुम-वास सुगन्ध-सीतल, लेत पाप नसाहिं।
सदा प्रफुलित रहैं जल बिनु, निमिष नहिं कुम्हिलाहिं।
सघन गुंजत बैठि उन पर, भौरहू बिरमाहिं।[2]

वस्तुतः सूर के प्रकृति-वर्णन का महत्व उद्दीपन रूप में ही सर्वाधिक हैं। ब्रज-भूमि की मोदमयी गोद में खेलते हुए राधा और कृष्ण के हृदय में जो पारस्परिक स्नेह का अंकुर फूटा, उसे ब्रज की प्रकृति ने अपनी सरसता से पल्लवित और पुष्पित किया। फिर उससे जो आनन्दमय प्रेम-भक्ति-सौरभ उड़ा, वह सांसारिक विषयों के कटु-रस मे बहते हुए जनमन-मधुपों को प्रेरणा देकर सच्चे आनन्द-रस का आस्वादन करा सका। चतुर-सखी की भाँति प्रकृति राधा और कृष्ण के

---

१ सूरसागर १२१४
२ सूरदास पद ३३८

मिलन के लिए उनके प्रेम-भाव को उद्दीप्त करने के लिये अनुकूल वातावरण उपस्थित करती है। शरद् ऋतु की चाँदनी वृन्दावन के श्री कुज में छिटक कर रास का निमन्त्रण दे रही है :

सरद चाँदनी रजनी सोहै, वृन्दावन श्री कुंज।
प्रफुलित सुमन बिबिध-रंग जहँ-तहँ, कूजत कोकिल पुंज।
जमुना पुलिन स्याम घन सुन्दर, अद्‌भुत रास उपायौ।[1]

× × ×

आजु निसि सोभित सरद सुहाई।
सीतल मन्द सुगन्ध पवन बहै, रोम-रोम सुखदाई।
जमुना पुलिन पुनीत परम रुचि, रचि मंडली बनाई।[2]

राधा और कृष्ण के प्रथम मिलन के समय ही प्रकृति अपने कामोद्दीपन कर्तव्य को उचित रूप से पूरा करती है और देखते ही देखते गगन घहरा उठता है, काली घटाएँ छा गई, पवन झकोरे लेने लगा, चपला चमकने लगी, आकाश श्याम-वर्ण हो गया, दोनों रोमाञ्चित हो गये, काम जाग उठा;[3] और फिर तो—

नयौ नेह, नयौ गेह, नयौ रस, नवल कुँवरि वृषभानु-किशोरी।
नयौ पीताम्बर, नई चूनरी, नई-नई बूँदनि भीजति गोरी।
नयौ कुंज, अति पुंज नये द्रुम, सुभग जमुन जल पवन हिलोरी।
सूरदास प्रभु नव रस बिलसत, नवल राधिका जोवन भोरी।[4]

नवल वृषभानु किशोरी ही नही—नई-नई बूँदों, नवीन कुंजों और नये द्रुम-पुजों से सजी हुई प्रकृति रस-विलास कर रही है।

संयोग की भाँति वियोग में भी प्रकृति भावोद्दीपन का कार्य करती है। प्रिय के साथ मे उद्दीपन पदार्थ भावों का उत्कर्ष कर सुखदायी बनते है, किन्तु वियोग में उनके द्वारा उद्दीपन हुए भावो का आलम्बन प्रिय के समक्ष न होने के कारण प्रणय-चेष्टाओं द्वारा रेचन संभव नहीं होता। अतएव वियोगी हृदय भार का अनुभव करता हुआ व्यग्र हो उठता है और उसे वे ही सुखदायी पदार्थ दाहक प्रतीत होने लगते है। वही वर्षा ऋतु, जो सयोग केलियो में चक्षुओं में रस उँड़ेल देती थी, कृष्ण के वियोग में गोपियों के नयनों से झर लगा देती है।[5] बादल क्या है? मानो मदन के हाथी है, जिन्होंने बन्धनों की अवहेलना कर विरहिणी बालाओं पर चढ़ाई ही कर दी है :

देखियत चहुँ दिसि तैं घन घोरे।
मानौ मत्त मदन के हथियनि बल करि बंधन तोरे।
स्याम सुभग तन चुवत गंडमद, बरषत थोरे थोरे॥
रुकत न पवन महाबत हू पै, मुरत न अंकुस मोरे।
मानो निकसि बग-पंक्ति दंत, उर-अवधि-सरोवर फोरे।
बिनु बेला बल निकसि नयन जल, कुच कंचुकि बंद बोरे।

---

१ सूरसागर (सभा) पद १७९९
२ वही ,, पद १७५६
३ वही ,, पद १३०२
४ वही ,, पद १३०३
५ वही ,, पद ३९१७

तब तिहि समय आनि ऐरापति, ब्रजपति सौं कर जोरे ।
अब सुनि सूर कान्ह-केहरि बिनु, गरत गात जस ओरे ।[1]

कामदेव के इन भयानक हाथियो के आक्रमण को देखकर प्रलय-मेघों से रक्षा करने वाले ब्रजपति गिरिधर की याद आना स्वाभाविक ही है। दादुर, मोर और कोकिल बोलते है, सघन बादल छा गए है, दामिनी और इन्द्र-धनुष काम का शृंगार कर रहे है, ऐसे मे हरि को यह संदेश कौन सुनावे ? 'यदि कृपा करके वे दर्शन दें, तो गोपियों को सुख मिले।'[2] सावन का महीना आ गया, सरोवर जल से भर गये और मोहन के आने का मार्ग बन्द हो गया। सावन के दिन कैसे कटें, वे तो रावण के सिर ही हो गए है।

कैसे कै भरिहैं री दिन सावन के ।
हरित भूमि भरे सलिल सरोवर, मिटे मग मोहन आवन के ।
दादुर मोर सोर चातक पिक, सूही निसा सिरावन के ।
गरज चहूँ घन घुमड़ि दामिनी, मदन धनुष धर धावन के ।
पहिरि कुसुम सारी कचुकि तन, झुडनि झुडनि गावन के ।
सूरदास-प्रभु दुसह घटत क्यों, सोक त्रिगुन सिर रावन के ।[3]

शरद की पीयूष-वर्षिणी निशा, जो कभी रास-रस-आस्वादन कराती थी, आज आग ही बन गई है, जो आँसुओं की अविरल धारा से शान्त ही नही होती, और भी भड़क उठती है। इधर श्याम रासलीला को भूल गए, यह बात ब्रज-युवतियो को बहुत ही चुभ रही है :

गोविन्द बिनु कौन हरै नैननि की जरनि ।
सरद निसा अनल भई, चन्द भयौ तरनि ।
तन मे सताप भयौ, दुर्यौ आनन्द धरनि ।
प्रेम पुलक बार-बार, अँसुअन की ढरनि ।
वै दिन जौ सुरति करौ, पाइनि की परनि ।
सूर स्याम क्यौ बिसारी, लीला बन करनि ।[4]

वर्षा और शरद ही नही, सभी ऋतु ब्रज में कुछ और ही बन गई हैं :

सबै रितु और लागति आहि ।
सुनि सखि वा ब्रजराज बिना, सब फीकौ लागत चाहि ।
वै घन देखि नैन बरसत है, पावस गए सिरात ।
सरद सनेह सँचै सरिता उर, मारग ह्वै जल जात ।
हिम हिमकर देखे उपजत अति, निसा रहति इहिं जोग ।
सिसिर विकल काँपत जु कमल उर, सुमिर स्याम रस भोग ।
निरखि बसन्त बिरह बेली तन, वे सुख-दुख ह्वै फूलत ।
ग्रीषम काम निमिष छाँडत नहिं, देह दसा सब भूलत ।

---

१ सूरसागर (सभा) पद ३९२१
२ वही ,, पद ३९३०
३ वही ,, पद ३९३४
४ वही ,, पद ३९६३

षट् ऋतु ह्वै इक ठाम कियौ तनु, उठे त्रिदोष जुरे।
सूर अवधि उपचार आजु लौ राखे प्रान जुरे।[1]

सूर का यह प्रकृति-वर्णन उद्दीपन रूप मे होता हुआ भी बडा महत्वपूर्ण है। यह किसी दिलजले रूप-लिप्सु के शोर करते हुए दिल की दास्तान नही, घनश्याम के रस से वञ्चित आधार-हीन ब्रजबाला-बल्लरियों के मुरझा कर गिरने का इतिहास है; कलेजे मे सैकड़ों घावों को लिये हुए फिरने वालों का असम्बद्ध प्रलाप नहीं, बचपन से ही प्रेम-पयोधि में गहरा गोता लगाने वाले हृदय के वियोग की तपती हुई मरु-भूमि मे निर्वासित किये जाने पर फूट निकलने वाले उद्‌गार है।

यह वह मनोदशा है, जो मानव को अहं की संकुचित परिधि से निकाल कर विश्व के पदार्थ-मात्र से तादात्म्य स्थापित करने के योग्य बनाती है और प्रकृति के विभिन्न पदार्थों मे प्राण-प्रतिष्ठा कर उन्हें मानव का अनुभूतिशील हृदय प्रदान करती है। तभी तो कृष्ण के वियोग में कालिन्दी की ऐसी दशा हो जाती है कि वह विरहिणी गोपियों की उपमान बन जाती है :

देखियति कालिन्दी अति कारी।
अहो पथिक कहियो उन हरि सौ, भई बिरह जुर जारी।
गिरि-प्रजंक तै गिरति धरनि धँसि, तरंग तरफ तन भारी।
तट बारू उपचार चूर, जलपूर प्रस्वेद पनारी।
बिगलित कच कुस काँस कूल पर, पँक जु काजल सारी।
भौर भ्रमत अति फिरति भ्रमित गति, दिसि-दिसि दीन दुःखारी।
निसि दिन चकई पिय जु रटति है, भई मनौ अनुहारी।
सूरदास प्रभु जो जमुना गति, सो गति भई हमारी।[2]

सूरदास ने अलङ्कारों के रूप मे प्रकृति का बहुत ही अधिक प्रयोग किया है। उनकी उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ बड़ी सुन्दर बन पडी है और 'अद्‌भुत एक अनुपम बाग' वाला उनका पद तो अतिशयोक्ति-जगत् मे अपना सानी ही नही रखता। परन्तु उनके अधिकांश उपमान परम्परा-प्राप्त एवं कवि-समय-सिद्ध हैं। प्रकृति के गिने-चुने स्वरूपों का ही उन्होने बार-बार वर्णन किया है। कही-कही तो उपमा पर, उपमा और उत्प्रेक्षा पर उत्प्रेक्षा लादने की धुन मे सूर की कल्पना हास्यास्पद ही हो गई है। 'हरि-कर राजत माखन-रोटी' के प्रसंग मे 'मनो बराह भूधर-सह पृथिवी धरी दसनन की कोटी' कहकर छोटी-सी रोटी पर पहाड़ सहित पृथ्वी का बोझ लाद देना ऐसी ही बात है। किन्तु सूर के विशाल 'सागर' में विलीन हुआ यह दोष महाकवि कालिदास के "एकोहि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः" कथन की स्मृति दिलाता है।

सूर का प्रादुर्भाव हिन्दी-साहित्य मे एक चमत्कार है, उनकी अकल्पनीय शिल्प का नमूना है तथा उनके चरित्र सुचारु चातुर्य और अप्रतिम प्रतिभा के प्रदर्शक हैं।

———

१ सूरसागर (सभा) पद ३९६३
२ सूरसागर (सभा) पद ३८०९

परिशिष्ट १

सूर-साहित्य की कुछ ज्ञातव्य बातें

सूरदास जी पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित थे। उनका सारा जीवन सम्प्रदाय की सेवा-प्रणाली मे ही व्यतीत हुआ। अपने इष्टदेव परब्रह्म स्वरूप श्रीकृष्ण का कीर्तन ही उनकी नित्य-जीवन-चर्या थी, परन्तु वे कोरे कीर्तनकार ही नहीं, उच्चकोटि के साहित्य-मर्मज्ञ और भावुक कवि भी थे। युग-द्रष्टा की भाँति उन्होंने सच्चे अर्थ में अपने युग का प्रतिनिधित्व किया है। पुष्टि-मार्ग में दीक्षित होने से पहले ही वे संसार को अपनी बन्द आँखों से पूर्णतया देखकर व्यापक अनुभव कर चुके थे, विभिन्न मत-मतान्तर और सम्प्रदायों की मर्यादाओं का उन्हें ज्ञान था। आज का आलोचक उनकी कविता को अश्लील और मर्यादा-रहित कह उडाने की चेष्टा कर सकता है, परन्तु यदि निष्पक्ष और सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो उसमें ऐसी विशेषताएं परिलक्षित होंगी, जो सूर को सार्वभौम और सार्वजनीन बनाने के लिये पर्याप्त है। सूर सामञ्जस्यवादी कवि थे। साम्प्रदायिकता की दृष्टि से उनकी कविता में चाहे कोई कितनी ही त्रुटियाँ क्यों न निकाले, परन्तु शुद्ध काव्य की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में उनके जोड़ का कवि नही है। उनका आविर्भाव हिन्दी-जगत के लिये एक विशेष चमत्कार ही समझना चाहिये। उनके काव्य-पक्ष का विवेचन हम पहले कर चुके है। यहाँ हम कुछ ऐसी वार्ता की ओर सकेत करते हैं, जो हमारे चरितनायक कवि को सार्वकालिक सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं। सूर की कविता का मुख्य प्रेरक तत्व तो उनकी भक्ति-भावना ही थी, चाहे वह सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पहले की हो या बाद की। सम्प्रदाय मे दीक्षित होने के पश्चात् उनकी भक्ति-भावना का प्राण अवश्य बदल गया था। इस भक्ति-भावना के साथ उनके साहित्य की सृष्टि में तत्कालीन परिस्थितियों का भी योग है। वे परिस्थितियाँ सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक—सभी प्रकार की थीं। अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, उनके काव्य में इन परिस्थितियों का प्रभाव लक्षित होता है। काव्य-कला के लिये शैली का अपना अलग महत्व हैं। भाषा और शैली की दृष्टि से सूरदास जी ने ब्रजभाषा-साहित्य की समृद्धि में जो योग दिया है, उसका उल्लेख भी हम पहले कर चुके है। पुष्टि-सम्प्रदाय के भक्ति-पक्ष को जन-साधारण के लिये सुलभ और सुबोध बनाने का कार्य सूरदास जी ने ही किया है। इनकी भक्ति-भावना वास्तव में साम्प्रदायिक संकीर्णता से बहुत ऊपर उठ चुकी थी; और यही कारण है कि सारे वैष्णव सम्प्रदाय सूर को अपना-अपना बताने में गौरव का अनुभव करते है। हम पीछे दिखा चुके हैं कि किस प्रकार सूर ने सम-सामयिक प्रचलित वैष्णव-सम्प्रदायों की भक्ति-भावना का सामञ्जस्य प्रस्तुत किया है। विशेष लक्ष्य करने की बात तो यह है कि उनके साहित्य में तत्कालीन प्रचलित वैष्णवेतर सम्प्रदायों का भी उचित प्रतिनिधित्व हुआ है। सूफियों की प्रेमाश्रयी शाखा के व्यापक प्रभाव का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं, इसके अतिरिक्त दूसरे उल्लेखनीय सम्प्रदाय पश्चिमी भारत में नाथ-पंथ और कबीर-पंथ थे। बंगाल के सहजिया सम्प्रदाय की भक्ति-भावना को तो चैतन्य-सम्प्रदाय आत्मसात् कर चुका था और उसका प्रभाव स्पष्ट रूप से पुष्टि-

सम्प्रदाय पर पर्याप्त मात्रा में पड़ा था, जिसका संकेत हम पीछे कई बार कर चुके है। सूर की रचना मे नाथ-योगियो के सिद्धान्तों का इतना उल्लेख है कि कभी-कभी तो यह धारणा होने लगती है कि सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पहले सूर का नाथ-सम्प्रदाय से विशेष सम्पर्क रहा होगा। उस समय के उत्तर भारत में नाथ-योगियों का काफी प्रभाव था।

भक्ति-आन्दोलन की पृष्ठ-भूमि का विवेचन करते हुए हमने यह बताया है कि नाथ-पंथ बौद्धों और शैवों के मतों से प्रभावित था और एक योग-सम्प्रदाय के रूप मे था। बौद्धों की बज्रयान शाखा के—जो तन्त्रवाद को लेकर चली थी—चौरासी सिद्ध भी नाथ-पथियों के समान हठ-योग मे विश्वास रखते थे। सूर के काव्य में स्थान-स्थान पर हठ-योग के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि भक्त सूरदास नाथ-पंथ की तुलना में भक्ति-योग को श्रेष्ठ सिद्ध करने में बड़े प्रयत्नशील हैं। जहाँ कही उन्होने भक्ति-योग के महत्व का प्रतिपादन किया है, वहाँ अनिवार्य रूप से दो बातों का उल्लेख करना वे नहीं भूले हैं—एक तो शिव और विरञ्चि की भक्ति को कृष्ण-भक्ति से निम्नकोटि की बताना और दूसरे अष्टांग योग और उसकी क्रियाओं को जन-साधारण के लिए अगम्य दिखाकर उनकी अनुपयोगिता को प्रमाणित करना।

सूरदास निराकार ब्रह्म की उपासना को मन और वाणी से अगम, अगोचर मानकर सगुणोपासना को ही श्रेयस्कर मानते है :

मन-बानी कौं अगम-अगोचर, सो जानै जो पावै।
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु, निरालम्ब मन चक्रत धावै।
सब विधि अगम बिचारहिं तातैं, सूर सगुन लीलापद गावै।[1]

सम्प्रदाय मे दीक्षित होने से पहले सूर की उपासना का रूप निश्चित नहीं था, क्योंकि उन्होंने बार-बार अनेक पदों मे अपने अतीत पर खेद प्रकट किया है :

जनम तौ बादहिं गयौ सिराइ।
हरि सुमिरन नहिं गुरु की सेवा, मधुवन बस्यौ न जाइ।
अब की बार मनुष्य-देह धरि कियौ न कछु उपाइ।[2]

उन्होंने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि यदि भगवान् कृष्ण की कृपा उन पर नही होती, तो वे :

"औघड़ असत कुचीलनि सौं मिलि मायाजल मे तरतौ।"[3]

बिना गोविन्द-भक्ति के और सब साधनाओं को तो वे बादल की छाँह के समान मानते थे।

और सकल मैं देखे-ढूंढ़े, बादल की सी छाहीं।[4]

गोविन्द-भक्ति के सम्मुख और सब भावों को वे हेय समझने लगे थे। उन्होंने स्पष्ट लिखा है।

भक्ति पंथ कौ जो अनुसरै। सो अष्टांग जोग कौ करै।
यम, नियमासन, प्रानायाम। करि अभ्यास होइ निष्काम।

---

१ सूरसागर (सभा) पद २
२ वही ,, पद १५५
३ वही ,, पद २०३
४ वही ,, पद ३२३

प्रत्याहार-धारना-ध्यान। करै जु छाँड़ि वासना आन।
क्रम-क्रम सों पुनि करै समाधि। सूर स्याम भजि मिटै उपाधि।[1]

इन छुट-पुट पदों के द्वारा भक्ति के महत्व का प्रतिपादन करने-मात्र से सूरदास जी को संतोष नही हुआ। जब वे नन्दालय की लीला गा चुके, कृष्ण-लीलाओं का विस्तार से गान कर चुके और उनका मानस भक्ति के निर्मल सलिल से परिपूर्ण हो गया, तब उन्हे अभिनयात्मक ढंग से अष्टांग-योग की हीनता और भक्ति की महत्ता प्रतिपादित करने की सूझी, और यह सुयोग उन्हें 'भ्रमर-गीत' के प्रसंग में मिल गया। साहित्यिक दृष्टि से 'भ्रमर-गीत' का चाहे जो कुछ महत्व हो, किन्तु जैसा कि हम कह आए है; धार्मिक और दार्शनिक दृष्टिकोण से तो उसका सार केवल इतना ही है कि उसमें निराकार की उपासना के ऊपर साकार-साधना की विजय के गीत गाये गए हैं। निराकारपरक योग-साधना और साकारपरक भक्ति-साधना ही 'भ्रमर-गीत' की आधार-भूमि हैं। हरि का संदेश सुनाते हुए उद्धव जी गोपियों से कहते हैं :

सुनौ गोपी हरि कौ संदेस।
करि समाधि अन्तर गति ध्यावहु, यह उनकौ उपदेस।[2]

इस संदेश को सुनकर गोपियाँ उद्धव पर बिखर पडती है और अनेक प्रकार से अष्टांग-योग की अनुपयोगिता सिद्ध करती है। उनकी व्यङ्ग्योक्तियाँ सूर की अपनी भावना की प्रतीक है। इस प्रकार के कुछ पदों के नमूने नीचे दिये जाते हैं :

मधुकर कौन देश तै आए।
आसन ध्यान, वायु-आराधन, अलि मन-चित तुम ताए।
अतिहिं विचित्र बुद्धि सुलच्छन, गुनी जोग मत गाये।
मुद्रा, भस्म, विषान, त्वचा-मृग, ब्रज-जुबतिनि नहिं भाए।
अतिसी-कुसुम-बरन मुख मुरली, सूरज-प्रभु किन लाए।[3]

सूर की गोपियाँ गोकुलनाथ की आराधना करती है। माता-पिता हित, निगम-पंथ आदि का त्याग कर सुख-दुःख को भ्रम समझकर, मानापमान में संतोष रखकर, गुरुजन-मर्यादा की अग्नि चारों ओर रखकर उपहास का धूम पीती हुई ब्रज युवतियाँ प्रेम-योग की कठिन साधना करती हैं :

हम अलि गोकुलनाथ अराध्यौ।
मन, क्रम, बचन हरि सौ धरि पतिव्रत, प्रेम-जोग तप साध्यौ।
मातु-पिता हित, प्रीति निगम-पथ, तजि दुःख-सुख भ्रम नाख्यौ।
मानऽपमान परम परितोषी, सुस्थल थिति मन राख्यौ।
सकुचासन कुल सील करषि कर, जगत बंद्य करि बन्दन।
मौनऽपवाद पवन आरोधन, हित-क्रम काम-निकन्दन।
गुरुजनि कानि अगिनि चहूँदिसि, नभ तरनि ताय बिनु देखे।
पिवत धूम उपहास जहाँ तहँ, अपजस सबन अलेखे।
सहज समाधि सारि बपु बानक, निरखि निमेष न लागति।
परम ज्योति प्रति अंग माधुरी, धरति यहै निसि जागति।

---

१ सूरसागर (सभा) पद ३६४
२ वही ,, पद ४११०
३ वही ,, पद ४११३

त्रिकुटि संग भ्रूभग तराटक, नैन-नैन लगि लागै।
हँसनि प्रकास सुमुख कुण्डल मिलि, चन्द सूर अनुरागै।
मुरली अधर स्रवन धुनि सो सुनि, सबद अनाहद कानै।
बरषत रस रुचि बचन संग सुख, पद आनन्द समानै।
मंत्र दियौ मन जात भजन लगि, ज्ञान ध्यान हर्ष ही कौ।
सूर कहौ गुरु कौन करैं अलि, कौन सुनै मत फीकौ।[१]

योग की कथा का उत्पात ब्रज जैसी सीधी-सादी नगरी में कोई क्या समझे ? अबलाओं को योग का उपदेश देना वस्तुतः शठ का ही काम है :

फिरि फिरि कहा सिखावत मौन।
बचन दुसह लागत अलि तेरे, ज्यौं पजरे पर लौन।
शृङ्गी, मुद्रा, भस्म त्वचा-मृग, अरु अवराधन पौन।
हम अबला अहीरि सठ मधुकर, धरि जानहिं कहि कौन।
यह मत जाइ तिनहिं तुम सिखवहु, जिनहिं आजु सब सोहत।
सूरदास कहुँ सुनी न देखी, पोत सूतरी पोहत।[२]

बेचारी गोपियाँ वियोग में भी योग कर ही रही है; यदि किसी मोटी बुद्धि वाले को सूझे ही नहीं, तो उनका क्या दोष ? कृष्ण को मथुरा जाते ही गोपियो ने योग ले लिया है :

हम तो तबहिं तै जोग लियौ।
जब ही तैं मधुकर मधुबन कौ मोहन गौन कियौ।
रहित सनेह सिरोरुह सब तन, श्रीखंड भसम चढ़ाए।
पहिरि मेखला चीर पुरातन, फिरि-फिरि फेरि सियाए।
स्रुति ताटंक मेलि मुद्रावलि, अवधि अधार अधारी।
दरसन भिच्छा माँगति डोलति, लोचन पात्र पसारी।
बाँधे बेनु कंठ सिंगी, पिय सुमिरि सुमिरि गुन गावत।
करतल बेंत दंड डरत, न सुनत स्वान दुःख धावत।
रहत जु चित्त उदास फिरति, बन बीथिनि दिन अरु राति।
बारक आवत कुटुम्ब जातरा, सोऊ अब न सुहाति।
भोग भुगति भूलै नहिं भावत, भरीं बिरह बैराग।
गोरख सब्द पुकारत आरत, रस रसना अनुराग।
भोगी को देखत इहिं ब्रज में, जोग देन जिहिं आए।
जानी सिद्धि तुम्हारे सिध की, जिन तुम इहाँ पठाए।
परम गुरू रतिनाथ हाथ सिर, दियौ मंत्र उपदेस।
चतुर चेटकी मथुरानाथ सौं, जाइ करौं आदेस।

१ सूरसागर (सभा) पद ४१४८
२ वही ,, पद ४३०८

सूर सुमति प्रभु तुमहीं लखायौ, सोई हमरें ध्यान।
अलि चलि औरै ठौर दिखावहु, अपनौ फोकट ज्ञान।[1]

कहीं-कहीं तो सूरदास ने योगमत के आचार्य का नामोल्लेख कर अपने मन्तव्य को और भी स्पष्ट कर दिया है, उक्त पद की रेखाङ्कित पंक्ति में उन्होंने गोरख का नाम स्पष्ट लेकर योग का खण्डन किया है। जैसा कि ऊपर प्रतिपादित किया गया है, गोपियों का योग तो दूसरा ही है :

ऊधौ करि रही हम जोग।
कहा एतौ बाद ठान्यौ, देखि गोपी भोग।
सीस सेली केस मुद्रा, कान बीरी बीर।
बिरह भस्म चढ़ाइ बैठीं, सहज कंथा चीर।
हृदय सिंगी टेर मुरली, नैन खप्पर हाथ।
चाहतीं हरि दरस, भिच्छा देहिं दीननाथ।[2]

बिना गुरु के योग सिखायेगा कौन? गोपियाँ उद्धव से मथुरा ले जाने के लिए कहती हैं, जहाँ जाकर वे अपने गुरु श्याम से योग सीख लें। केवल संदेश से तो सीखा जा नहीं सकता :

जोग विधि मधुवन सिखिहै जाइ।
मन-बच-कर्म सपथ सुनि ऊधौ, संगहि चलौ लिबाइ।
सब आसन, रेचक अरु पूरक, कुम्भक सीखहिं भाइ।
बिनु गुरु निकट संदेसनि कैसें, अवगाह्यौ जाइ।
हम जो करत देखि हैं कुबिजहिं, तेई करब उपाइ।
स्रद्धा-सहित ध्यान एकहिं संग, कहत जाहिं जदुराइ।
सूर-सुप्रभु की जा पर रुचि है, सो हम करिहैं आइ।
आग्या-भंग करै हम क्यौ करि, जो पतिव्रत बिनसाइ।[3]

और असल बात तो यह है कि अगम-अगाध की उपासना कैसे की जाय? जिसने प्रेम का पूर्ण सुख प्राप्त किया हो, वह योग का अपूर्ण सुख क्यों ले? माणिक्य को त्याग कर राख को पल्ले बाँधना कहाँ की बुद्धिमानी है—

हमरें कौन जोग व्रत साधै।
बटुआ, झोरी, दड, अधारी, इतननि को अवराधै।
जाकौ कहूँ थाह नहिं पैयै, अगम अधार अगाध।
गिरिधरलाल छबीले मुख पर, इसे बाँध को बाँधै।
सुन मधुकर जिन सरबस चाख्यौ, क्यौं सचु पावत आधै।
सूरदास मानिक परिहरि कै, छार गाँठि को बाँधै।[4]

गोपियाँ ही नहीं, ब्रज-भूमि ही योग के अनुपयुक्त है, क्योंकि उसका कण-कण भक्ति-भाव से अनुप्राणित है—

---

१ सूरसागर (सभा) पद ४३११
२ वही ,, पद ४३१२
३ वही ,, पद ४३२८
४ वही ,, पद ४५१३

यह गोकुल गोपाल-उपासी ।
जे गाहक निरगुन के ऊधौ, ते सब बसत ईसपुर कासी ।
जद्यपि हरि हम तजी अनाथ करि, तदपि रहति चरननि रस-रासी ।
अपनी सीतलता नहिं छाँडत, जद्यपि बिधु भयौ राहु-गरासी ।
किहिं अपराध जोग लिखि पठवत, प्रेम-भगति तैं करत उदासी ।
सूरदास ऐसी को बिरहिन, माँगि मुक्ति छाड़ै गुन-रासी ।[1]

इन पदों से सिद्ध होता है कि सूर के समय में नाथ-सम्प्रदाय का पर्याप्त प्रभाव था, और सूर का इस सम्प्रदाय से घनिष्ठ परिचय था । उनके शिव विषयक पद इस बात के भी परिचायक हैं कि उनकी शैव-भक्ति में निष्ठा थी । इसका उल्लेख हम पीछे भी कर चुके है ।

सन्तों की परम्परा में कबीर के महत्व का उल्लेख हम पहले कर आये है । वे एक निर्भीक सन्त थे और उन्होंने सभी सम्प्रदायों की अच्छी-अच्छी बातों को ग्रहण करके अपने मत का प्रतिपादन किया था । वज्रयानी सिद्धों के उत्तराधिकारी 'सहजिया' और 'बाउल' सम्प्रदायों का उल्लेख भी हम पहले कर चुके हैं ।

गोरखनाथ के हठ-योग का प्रभाव प्रायः सभी सम्प्रदायों पर पड रहा था । इसके अतिरिक्त उदासी, निरंजनी, मुड़िया आदि अन्य सम्प्रदाय भी प्रचलित थे । उधर रामानन्द जी अपनी भक्ति का प्रचार कर रहे थे । कबीर ने अपने पंथ में इन सभी सम्प्रदायो का समन्वित रूप रखा और सूफी-सम्प्रदाय के प्रेम का पुट लगाकर उसका जनता में प्रचार किया । इसलिये उनके पदों में हमें प्रेम की वही पुकार मिलती है, जो प्रायः सभी सन्त-भक्तों के अन्तःकरण की ध्वनि थी । नाथ-पंथ में हठ-योग के अतिरिक्त पाण्डित्य-प्रदर्शन, जाति-पाँति का भेद और पूजा के बाह्य आडम्बरों की भी निन्दा की गई थी । कबीर ने भी उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाकर कहा था—

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोय ।
एकै आखर पीव का, पढ़ै सो पण्डित होय ।
कबीर पढ़िबौ दूरि करि, पुस्तक देइ बहाय ।
बामन आखर सोधि करि, रटै ममै चित लाय ।

कबीर की रचनाओं मे योग-मार्ग की कुण्डलिनी, सुषुम्ना, शून्य, सहस्रार आदि को भी महत्व दिया गया है, परन्तु सबसे बढ़कर उन्होंने प्रेम को ही माना है । बाह्याडम्बर और पूजोपचार को वे व्यर्थ समझते थे । आत्मा की खोज के लिए बाहर जाने को उन्होने भटकना बताया है, भगवान् की भक्ति में जाति-पाँति का कोई विचार नहीं । कबीर ने अपने मन का वैराग्य अन्योक्तियों और उलटबाँसियों द्वारा प्रकट किया है । कहना न होगा कि सूरदास की रचना में कबीर के अधिकांश भाव लक्षित होते है । कुछ पदो में तो इतनी समानता है कि यह सन्देह होने लगता है कि यह रचना कबीर की है, या सूर की । सूर ने भगवत्कृपा को वेद से भी बढ़कर माना है, और भगवत्प्रीति के सम्मुख राव-रंक और नर-नारी के भेद को तुच्छ बताया है ।

निगम तें अगम हरि-कृपा न्यारी ।
प्रीति बस स्याम हैं राव कै रंक कोउ, पुरुष कै नारि नहिं भेद कारी ।
प्रीति-बस देवकी गर्भ लीन्हौ बास, प्रीति कै हेतु ब्रज-वेष कीन्हौ ।
प्रीति कैं हेतु जसुमति पयपान कियौ, प्रीति कैं हेतु अवतार लीन्हौ ।

---

१ सूरसागर (सभा) पद ४५४६

प्रीति कै हेतु बन धेनु चारत कान्ह, प्रीति कै हेतु नँद-सुवन नामा।
प्रीति कै हेतु सूरज-प्रभुहिं पाइये, प्रीति कैं हेतु दोउ स्याम स्यामा।[१]

तथा—

ऊधौ वेद वचन प्रमान।
कमल मुख पर नैन-खंजन, निरखि हैं क्यों आन।
श्रीनिकेत, समेत सब गुन, सकल रूप निधान।
अधर-सुधा पियाइ बिछुरे, पठैं दीन्हौ ज्ञान।
दूरि नहीं कृपाल केसौ, ये जु हिये समान।
निकरि क्यो न गोपाल बोलत, दुखिन के दुःख जान।
रूप-रेख न देखिए तहँ, स्वाद सब्द भुलान।
इच्छु-दंड अडारि हरिगुन, गहत पानि विषान।
बीतराग सुजान जोगिन, भक्त जननि निवास।
निगम बानी मेटि कहि, क्यों सकै सूरजदास।[२]

सूर की प्रेमा-भक्ति का विवेचन हम पीछे कर चुके हैं। इस भक्ति मे विरह का अपना अलग महत्व है। सूर की गोपियाँ कहती है—

ऊधौ बिरहौ प्रेम करै।
ज्यौं बिनु पुट पट गहत न रंग कौ, रंग न रसै परै।
ज्यौं घर दहै बीज अँकुर गिरि, तौ सत फरनि फरै।
ज्यौ घट अनल दहत तन अपनौ, पुनि पय अमी भरै।
ज्यौ रन सूर सहै सर सम्मुख, तौ रवि रथहूँ अरै।
सूर गुपाल प्रेम-पथ चलि करि, क्यों दुःख-सुखनि डरै।[३]

इसी की तुलना में कबीर का यह दोहा भी उपलब्ध है—

बिरहा बुरहा जिनि कहौ, बिरहा है सुलतान।
जिस घट बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान।

जाति-पाँति की निन्दा करने वाले पदों की कबीर मे तो भरमार है ही, सूर मे भी कमी नही है—

'जात, गोत कुल नाम गनै नहिं, रंक होइ कै रानो।[४]
'काहु के कुल तन न विचारत।'[५]
'जन की और कौन पति राखै।'
'जाति-पाँति कुल-कानि न मानत, वेद पुराननि साखै।'[६]

---

१ सूरसागर (सभा) पद २६३५
२ वही ,, पद ४६५३
३ वही ,, पद ४६०४
४ वही ,, पद ११
५ वही ,, पद १२
६ वही ,, पद १५

श्रीभागवत सुनै जो कोई, ताको हरि-पद प्रापति होई।
ऊँच-नीच ब्यौरो न बढ़ाई, बाकी सखी मै सुनि भाई।[1]
कह्यौ एक श्रीभागवत विचार।
जाति-पाँति कोई पूछत नाहीं, श्रीपति के दरबार।[2]

इस प्रकार के अनेक पद सूरसागर में प्राप्त होते है।

सूर के विनय के पदों में ऐसे अनेक पद है, जो कबीर के पदों की तुलना में रखे जा सकते है।

'सूर' के 'अपुनपौ आपुन ही में बिसर्‌यौ।'[3]
तथा 'अपुनपौ आपुन ही में पायौ'[4]

पदो का उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। इन भावों को व्यक्त करने वाले कबीर के अनेक पद है; जैसे—'मुझको क्या ढूँढ़े बन्दे, मैं तो तेरे पास मे' तथा 'कस्तूरी मस्तक बसै, मृग ढूँढे बन माँहि' आदि। इस प्रकार के सूरदास के अन्तःसाधना-परक और भी पद हैं, जो कबीर के पदों की तुलना मे रखे जा सकते है। कबीर के—'काहे री नलिनी तू कुम्हलानी' तथा 'पानी मे मीन प्यासी, मोहि देखत लागै हाँसी' वाले पद को सूर के निम्नलिखित पद से मिलाइये—

धोखै ही धोखै डहकायौ।
समुझि न परी विषय-रस गीध्यौ, हरि हीरा घर माँझ गँवायौ।
ज्यौं कुरंग जल देखि अवनि कौ, प्यास न गई चहूँ दिस धायौ।
जनम-जनम बहु करम किये हैं, तिनमें आपुन आपु बँधायौ।
ज्यौ सुक सेमर सेब आस लगि, निसि-बासर हठि चित्त-लगायौ।
रीतौ पर्‌यौ जब फल चाख्यौ, उड़ि गयौ तूल ताँबरो आयौ।
ज्यौ कपि डोरि बाँधि बाजीगर, कन-कन कौं चौहटें नचायौ।
सूरदास भगवन्त भजन बिनु, काल-ब्याल पै आपु डसायौ।[5]

ऐसा प्रतीत होता है कि बल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पहले सूरदास जी इसी संत परम्परा के भक्त थे, इसका विशद विवेचन हम पीछे कर चुके हैं। यद्यपि सूर ने उलट बाँसियाँ नहीं लिखी, तथापि उनके दो-एक पद ऐसे अवश्य मिल जाते हैं, जिनसे उनकी इस प्रवृत्ति का पता चलता है। एक उदाहरण देखिये :

अब मेरी राखौ लाज मुरारी।
संकट मैं एक संकट उपज्यौ, कहै मिरग सौं नारी।
और कछू हम जानत नाहीं, आई सरन तिहारी।
उलटि पवन जब बाबर जरियौ, स्वान चल्यौ सिर झारी।

१ सूरसागर (सभा) पद २३०
२ वही „ पद २३१
३ वही „ पद ३६९
४ वही „ पद ४००
५ वही „ पद ३२६

नाचन-कूदन मृगिनी लागी, चरन कमल पर वारी।
सूर स्याम प्रभु अविगत-लीला, आपुहिं आपु सँवारी।[1]

संत कवि अनेक प्रकार के रूपक और अन्योक्तियो द्वारा एक मन:कल्पित परम-धाम की ओर सकेत करते रहे है। अनूठी अन्योक्तियों द्वारा ईश्वर-प्रेम की व्यंजना सूफियों में भी प्रचलित थी। कबीर ने अपने कई पदों मे उस स्थान की ओर संकेत किया है—'जहा उदय न अस्त सूर्य नहीं ससहर ताको भाव भजन करि लीजै।' सिद्धों की रचनाओं मे भी ऐसे स्थानो का उल्लेख मिलता है :

जहि मन पवन न संचरहि, रवि शशि नाहि पवेश।
तहि बट चित्त विषाण कर, सरहहि कहिए कुवेश।

संत समाज में दीर्घ काल से चली आती हुई इस प्रवृत्ति के दर्शन सूरदास जी के भी अनेक पदों मे होते हैं।

चकई री चलि चरन-सरोवर, जहाँ न प्रेम-वियोग।
जहँ भ्रम-निसा होत नहिं कबहूँ, सोइ सायर सुख जोग।
जहाँ सनक-सिव हंस; मीन मुनि नख रवि प्रभा प्रकास।
प्रफुलित कमल, निमिष नहिं ससि-डर, गुञ्जत निगम सुबास।
जिहिं सर सुभग मुक्ताफल, सुकृत अमृत रस पीजै।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि विहगम, इहाँ कहा रहि कीजै।
लक्ष्मी सहित होत नित क्रीड़ा, सोभित सूरजदास।
अब न सुहात विषय-रस छीलर, वा समुद्र की आस।[2]
× × × ×
चलि सखि तिहिं सरोवर जाहि।
जिहिं सरोवर कमल कमला, रवि बिना विकसाहिं।
हंस उज्जल पंख निर्मल, अग मलि-मलि न्याहिं।
मुक्ति-मुक्ता अनगिने फल, तहाँ चुनि-चुनि खाहिं।
अतिहिं मगन महा मधुर रस, रसन मध्य समाहिं।[3]

'भृङ्गी री भजि स्याम-कमल-पद 'जहाँ न निस कौ त्रास',[4] तथा 'सुवा चलि ता बन कौ रस पीजै'[5] भी ऐसे ही पद है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर सूरदास जी ने सभी सम-सामयिक वैष्णव, सम्प्रदायों के सिद्धान्तो को अपनाया है, वहाँ वे अवैष्णव सम्प्रदायों के प्रभाव से भी अछूते नही रहे हैं।

सूर-साहित्य के विषय में दूसरी ज्ञातव्य बात यह है कि उन्होंने अपने काव्य मे प्रत्यक्ष रूप से तो सामाजिक परिस्थितियों का वर्णन नही किया है, परन्तु अपने इष्ट-देव के माध्यम से अपने समय के प्रचलित सभी संस्कारो, सामाजिक व्यवस्थाओं और मनोविनोद के साधनो का वर्णन

---

१ सूरसागर (सभा) पद २२१
२ वही ,, पद ३३७
३ वही ,, पद ३३८
४ वही ,, पद ३३९
५ वही ,, पद ३४०

किया है। ब्रज-प्रान्त की सामाजिक परिस्थितियों का जितना विस्तृत वर्णन हमें सूर के काव्य में मिलता है, उतना किसी भी इतिहास-ग्रन्थ मे नही मिलता। इस दृष्टि से भी सूर के साहित्य का बड़ा महत्व है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विनय के पदों मे तो उनकी ज्ञान वैराग्य की वे ही उक्तियाँ है, जो उन्हें परम्परा से प्राप्त थी और जिनका अनुसरण शंकर के माया मिथ्यात्ववाद को मानने वाले करते चले आ रहे थे, परन्तु लीला के पदो मे सूरदास जी ने सामाजिक परिस्थितियों के वास्तविक चित्र प्रस्तुत किये हैं। हम पहले कह चुके है कि पुष्टि-सम्प्रदाय मे मानवीय वासनाओ को कृष्णाभिमुख करने का सफल प्रयत्न किया गया था और इनके कृष्ण राजसी ठाट-बाट के प्रतीक थे। कृष्ण के जन्म से लेकर मथुरा-गमन की दिनचर्या का सूरदास जी ने बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। यह ठीक है कि भक्ति के आवेश मे इस वर्णन मे उन्होने अतिशयोक्ति का आश्रय लिया है, जो स्वाभाविक ही है, परन्तु ये अतिशयोक्तियाँ तत्कालीन रीति-रिवाजो की अनुमिति मे बाधक नही है 'गोकुल प्रगट भये हरि राई' वाले पद से ही ब्रज के रीति-रिवाज का प्रारम्भ हो जाता है। वृद्धावस्था मे नन्द यशोदा की पुत्रोत्पत्ति बड़े सौभाग्य की सूचक थी, इसलिए नेवगियो का अपने-अपने नेग के लिए झगड़ना स्वाभाविक ही था। प्रत्येक प्रसंग का सूर ने विस्तृत वर्णन किया है। कृष्ण-जन्म के अवसर पर ब्रजवासियों के हर्ष का पारावार उमडा पड़ता है :

ब्रज भयो महर कै पूत, जब यह बात सुनी।
सुनि आनन्दे सब लोक, गोकुल गनक-गुनी।[१]

सूरसागर के ६३२ से ६६० तक के पदों मे सूरदास जी ने जन्मोत्सव की बधाइयो, मंगल-गानो आदि का वर्णन किया है। ६५८ संख्या वाले पद मे छठी का; और फिर नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगाँठ, कनछेदन आदि का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। ये संस्कार उत्तरी भारत मे आज भी प्रचलित है और अपने-अपने सामर्थ्य के अनुकूल सभी द्विजो के यहाँ इनकी मान्यता है। संस्कारो के विषय मे सूर ने मर्यादा का निर्वाह बड़ी कुशलता के साथ किया है। वे कृष्ण का उपनयन-संस्कार गोकुल मे नही कराते, क्योकि शास्त्रीय परम्परा के अनुसार यह संस्कार द्विज बालकों के लिये ही विहित है। अतएव कृष्ण का उपनयन सूर ने मथुरा मे कराया है, जिसका उन्होने सागोपाँग वर्णन किया है[२]। कृष्ण का विवाह-संस्कार रास-लीला के अन्तर्गत आता है, जिसमे सभी प्रचलित परम्पराओ—जैसे—निमत्रण, मण्डप, गान, गालियाँ देना आदि का पालन हुआ है।[३] कृष्ण और रुक्मिणी के विवाह का वर्णन भी सूर ने उसी शान-शौकत से कराया है।

इन संस्कारों के अतिरिक्त भोजनादि की व्यवस्था का भी विस्तृत वर्णन सूर ने किया है। कृष्ण की दिनचर्या के साथ-साथ कलेऊ, भोजन और ब्यालू—सभी का वर्णन हुआ है। भोज्य सामग्रियों की लम्बी-लम्बी सूचियाँ भी इन वर्णनों मे मिलती हैं,[४] जिनका उल्लेख पुष्टि-सम्प्रदाय के प्रभाव का परिचायक है; क्योकि इस सम्प्रदाय की सेवा-पद्धति में भोग-पद्धति को विशेष महत्व दिया गया है। अन्नकूट के दिन श्रीनाथ जी को छप्पन प्रकार के भोग लगाने की प्रथा है।

कृष्ण की दिनचर्या के प्रसंग मे ही पूजा के विधि-विधानो, व्रतो और उत्सवों का भी वर्णन है, जिसका उल्लेख हम पुष्टि-सम्प्रदाय की सेवा-प्रणाली मे कर चुके है।

---

१ सूरसागर (सभा) पद, ६४२

२ सूरसागर (वेंकटेश्वर प्रेस) पृ० ४७३ पद ३६

३ देखिये, सूरसागर (सभा) पद १६८६ से १७०१

४ वही ,, पद १०१४ तथ, १८३१

रासलीला और होली-धमार ब्रज की अपनी विशेषता है। सूर ने इनका भी सविस्तार वर्णन किया है, जिसका उल्लेख हम पीछे कर आये है। इस प्रकार सूरदास जी ने उन सभी संस्कारों और उत्सवों को, जो उस समय ब्रज-प्रान्त मे प्रचलित थे, कृष्ण के सम्पर्क से अमर बना दिया। उनके वर्णन इतिहास-पूरक होते हुए भी प्रभु के सम्पर्क से अलौकिक हो गए। परिशिष्ट २ मे हमने 'सूर-साहित्य मे ब्रज-सस्कृति' पर कुछ विस्तार से विचार किया है।

सूर-साहित्य की एक और विशेष बात का उल्लेख करके हम इस प्रकरण का समाप्त करेंगे। सूर के चरित्र-चित्रण मे यह दिखाया जा चुका है कि सूर के राधा-कृष्ण और गोपियाँ अति-प्राकृत की अपेक्षा प्राकृत अधिक हैं। उनके चरित्र अलौकिक होते हुए भी मानव-भूमि पर खड़े हुए है। सूर के युग मे माधुर्य-भाव की प्रेमा-भक्ति का ही अधिक प्रचार था और उसको जन-साधारण तक पहुँचाने का श्रेय सूर को ही था। राधा और कृष्ण का प्रेम-वर्णन तथा गोपिका-विहार यद्यपि अश्लीलता की कोटि तक पहुँचे दिखलाई पड़ते है, तथापि यह निर्विवाद है कि वे सूर की सच्ची भक्ति-भावना के उद्गार है। उन्होने लौकिक रस की गीति-परम्परा को रागात्मिका भक्ति के साँचे में ढाला था। भक्ति-भाव को रस की कोटि तक पहुँचाना सूर का ही काम था, परन्तु आगे चलकर भक्ति-भावना के इस प्रवाह का रीतिकालीन कवियों ने दुरुपयोग किया और राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओ को लेकर अनेक प्रकार की कुरुचिपूर्ण कल्पनाएँ की, जिनसे वे उपास्य के स्थान में उपहास ही बन गये। 'उज्ज्वल नीलमणि' ग्रन्थ का उल्लेख हम पीछे कर चुके है, जिसमें 'रूप गोस्वामी' ने भगवान् कृष्ण की प्रेयसियों और मित्रो के विस्तार के साथ भेद-प्रभेद किये है। सूर-साहित्य का सहारा पाकर दबी हुई लौकिक-रस की काव्य-धारा फिर उभर आई और रीति-कालीन कवियों ने बात का बतगड़ ही बना दिया। सूर ने शृङ्गार-भाव को भक्ति का पोषक मानकर ही लिया था, परन्तु आगे के कवियो ने तो भक्ति के बहाने शृङ्गार का खुल्लम-खुल्ला नग्न नृत्य कराया :

'आगे के सुकवि रीझि है तौ सुकविताई,
न तु राधा-गोविन्द सुमिरन को बहानो है।'

यह कहना अनुचित न होगा कि आगे के कवियो की भाव-सृष्टि का मूल स्रोत इन कृष्ण-भक्त कवियो का साहित्य ही था। इस दृष्टि से सूर-साहित्य का परवर्ती हिन्दी-साहित्य पर बड़ा बुरा प्रभाव पडा। इसके साथ-साथ यह भी नही भूलना चाहिये कि रीति-काल के अनेक कवि प्रेम-पंथ के सच्चे पथिक भी थे। घनानन्द और देव की कविता मे सच्ची भक्ति-भावना की झलक मिल ही जाती है। महाकवि देव के तो बहुत से पद सूर के पदो के ही परिवर्तित रूप से दिखाई पड़ते हैं। रीति-कालीन कवियो के अधिकांश उपमान भी सूर-साहित्य के ही हैं।

भाव-पक्ष के अतिरिक्त कला-पक्ष मे भी सूर-साहित्य ने परवर्ती साहित्य को पर्याप्त प्रभावित किया है। सूर ने स्वय तो नायिका-भेद पर कोई ग्रन्थ नहीं लिखा, परन्तु उनके साहित्य में वे संकेत अवश्य आ गये है, जो नायिका-भेद की धारा के मूल स्रोत कहे जा सकते हैं। उन्होने 'साहित्य-लहरी' की रचना नन्ददास के लिये की थी, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके है। नन्ददास की 'रस-मञ्जरी' हिन्दी मे नायिका-भेद की प्रथम पुस्तक मानी जाती है, जिसकी रचना भानुदत्त की 'संस्कृत-रस-मञ्जरी' के आधार पर हुई थी। आगे चलकर तो रीति-कालीन हिन्दी-कवियों ने संस्कृत-काव्य-शास्त्र के अनुकरण पर अनेक ग्रन्थों की रचना की। कला-पक्ष में चाहे हिन्दी के परवर्ती साहित्य पर सूर-साहित्य का प्रभाव न रहा हो; परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि आज तक जितने भी कृष्ण-काव्य रचे गए है, उन पर सूर का प्रभाव अवश्य लक्षित किया जा सकता है।

———

परिशिष्ट २

सूर—साहित्य और ब्रज-संस्कृति

संस्कृति की व्याख्या और उसका सभ्यता से भेद

आजकल 'संस्कृति' और 'सभ्यता' शब्दों का प्रयोग प्रायः एक ही अर्थ मे किया जाने लगा है। इसमें सन्देह नहीं कि सभ्यता और सस्कृति एक ही वस्तु के दो पहलू है। सभ्यता उसका बाह्य रूप है, और संस्कृति आन्तरिक। यह इन दोनो शब्दों की व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट हो जाता है। सभ्यता शब्द का सम्बन्ध सभा से है। पाणिनि के अनुसार सभा मे साधु आचरण करने वाले को सभ्य कहा जाता है।[१] सभ्य से ही भाव-वाचक संज्ञा सभ्यता का जन्म हुआ। संस्कृति का अर्थ है—सम्यक् करने का भाव अथवा क्रिया। अतः स्पष्ट है कि सभ्यता का क्षेत्र संकीर्ण है, और सस्कृति का व्यापक। सभा में ठीक ढँग से उठने-बैठने, बात-चीत और व्यवहार करने मात्र से ही किसी को सभ्य कहा जा सकता है, किन्तु संस्कृत बनने के लिए इतना ही काफी नहीं है। सस्कृति न केवल सभा में; अपितु सर्वत्र ही साधु आचरण की गारण्टी देती है। किसी विशिष्ट समाज द्वारा दीर्घ सामाजिक अनुभवों के आधार पर साधु आचरण के जो मापदण्ड स्थिर कर दिए जाते है, वे जब सूक्ष्म भावात्मक रूप मे परिणत होकर समाज के दैनिक जीवन मे अनायास ही व्यवहृत होने लगते हैं, तो संस्कृति का नाम पाते है। सभ्यता संस्कृति के वस्त्र का कार्य करती है; इसीलिए उसकी नकल आसानी से की जा सकती है, परन्तु संस्कृति की नही। सच तो यह है कि आधुनिक युग मे बनावट का ही दूसरा नाम सभ्यता हो गया है। इसलिए सभ्यता का आवरण जितना सघन होता जाता है, संस्कृति उतनी ही अलक्ष्य होती जाती है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति का अधिक स्पष्ट स्वरूप नई रोशनी से जगमगाते हुए शहरों मे नही, चाँद सूरज के नैसर्गिक प्रकाश से प्रकाशित ग्रामों मे दीख पड़ता है। विद्युद्व्य जनो के वायुमण्डल मे नही—जंगल मे अमराइयो, खलिहानों, देवालयो और पीरों के मजारों के स्वस्थ वातावरण मे भारतीय संस्कृति के श्वासों की आहट सुन पड़ेगी, भुमिया के मठ, शिव के मन्दिर और जाहरपीर के मजार के निकट से गुजरता हुआ ग्रामीण भारतीय हाथ जोड़कर अपनी श्रद्धा प्रकट करना नही भूलेगा। खलियान मे रास (अन्न-राशि) उठाने से पहले किसान पुजारी जी के भाग को मन्दिर पर पहुँचा देगा। जन्म-मरण, विवाह-शादी और इसी प्रकार के अन्य अवसरों पर जिन नेग-जोग और टेहलों का परम्परागत विधान चला आया है, वे हिन्दू-संस्कृति की सुन्दर झांकी प्रस्तुत करते हैं। इनको व्यवहार मे लाने वाले लोग चाहे पढ़े-लिखे न हों, तकल्लुफ, नजाकत और नफरत की शिष्ट भाषा से परिचित न हों, उनके तन पर सूट-बूट और नैकटाई के स्थान पर चाहे हाथ के कते-बुने गाढ़े के मलिन फटे हुए ही वस्त्र क्यों न हों; और एक शब्द में, आधुनिक शिष्ट-जन की दृष्टि में चाहे वे असभ्य ही क्यो न सही, संस्कृति के सच्चे पोषक और उज्जीवक है। सारांश यह है कि संस्कृति वह सूक्ष्म भावात्मक तत्व है, जो हृदय की प्रेरणा से वाह्य आचारों मे प्रस्फुटित होकर भी सूक्ष्मता के निकट ही अधिक

१ 'तत्र साधु' के अधिकार मे 'सभाया य. सभा शब्द से य प्रत्यय करता है।

रहता है; और सभ्यता वह तत्व है, जो हृदय की अपेक्षा बुद्धि से अधिक सम्बन्ध रखता है। उसकी जड़े सूक्ष्म की अपेक्षा स्थूल मे अधिक गहरी उतरी हुई होती हैं; अर्थात्—वह भौतिकता की ओर अधिक झुकी होती है, इसीलिए सस्कृति की अपेक्षा सभ्यता अधिक परिवर्तनशील भी है।

लोक-जीवन और संस्कृति

जैसा कि कहा जा चुका है, यदि किसी देश की संस्कृति का वास्तविक रूप देखना हो, तो वहाँ के लोक-जीवन को देखना चाहिए। जन-जीवन मे प्रचलित रूढ़ियो को 'अन्ध-विश्वास' की फूंक से उड़ा देना श्रेयस्कर नही। इन्ही रूढ़ियो पर सस्कृति के विशाल प्रासाद का ढाँचा खड़ा है। उनका सावधान अध्ययन संस्कृति के विकास मे महत्वपूर्ण शृङ्खला जोड़ सकता है। विविध पर्वो और उत्सवों के अवसर पर विशेष आचरणों का पालन आज भले ही रूढ़ि बन कर रह गया हो; किन्तु वह अतीत की किसी गौरवमयी वास्तविकता की ओर सकेत अवश्य करता है। उदाहरणार्थ—'अहोई अष्टमी' और 'करवा चौथ' के पर्वो पर स्त्रियो द्वारा विशिष्ट देवियो की आकृतियाँ गृह-भित्ति पर चित्रित करने की प्रथा उत्तरी भारत मे सर्वत्र पाई जाती है। इसका धार्मिक और पौराणिक महत्व चाहे कुछ भी हो, किन्तु ललित कलाओं के प्रति भारतीय अभिरुचि के औत्सुक्य का यह स्पष्ट निदर्शन है। यहाँ चित्रकला का चौसठ कलाओं में एक विशिष्ट स्थान रहा है, और प्रत्येक किशोरी के लिए इसमे दक्षता प्राप्त करना आवश्यक समझा जाता था। उपर्युक्त प्रथा भारतीय जीवन की इस वास्तविकता का उद्घाटन करती है। इसी प्रकार साँझी रखने की प्रथा मूर्तिकला के प्रति सम्मान की परिचायिका है। नि.सन्देह हमारे गाँव किसी समय अत्यन्त स्वस्थ और संस्कृत थे। गाँवों की स्थापत्य-कला, स्त्रियो द्वारा बनाई गई चित्रकला, मूर्ति तथा देवताओं की मूर्तियों से जान पडता है कि यथार्थ संस्कृति हमारे ग्रामीण जीवन में ही थी।

लोक-साहित्य और संस्कृति

यह कहा जाता है कि साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है। शिष्ट साहित्य के विषय मे यह उक्ति कुछ अंशों मे लागू भी नही हो सकती, क्योंकि शिष्ट-जीवन कृत्रिम जीवन होता है और सभ्यता के फेर मे वह बहुत-सी बातों पर पर्दा डाल देता है। यह कृत्रिमता इतनी बढ चुकी है कि इसके अभाव के कारण प्राकृतिक जीवन को 'ग्राम्य' कह कर तिरस्कृत किया जाता है। ग्राम्य और गँवार शब्द असभ्य और हेय के पर्यायवाची बन गए है। काव्य-शास्त्रियों के फतवे के अनुसार 'ग्राम्यत्व' एक दोष ही मान लिया गया है। वस्तुत लोक-साहित्य ही जीवन के अधिक निकट पाया जाता है, क्योंकि वह शिष्ट-साहित्य की भाँति सधे-बँधे रूप और पूर्व निर्मित साँचे मे न ढाला जाकर वन्य निर्झर के समान स्वतन्त्र गति में चलता है। शिष्ट-साहित्य में भाव, बुद्धि, तर्क, युक्ति—सभी का संस्कृत रूप रहता है। प्राकृतिक सामग्री को कलात्मक रूप देने के लिए शिष्ट कवि कल्पना का गहरा रंग चढ़ा देता है। वह जीवन की वास्तविकताओं की चोटी पकड़ता है; जबकि लोक-साहित्य उनके मौलिक स्वरूप को अभिव्यक्ति करता है। इसलिये लोक-साहित्य मे चाहे कलात्मक सौन्दर्य का अभाव दीख पड़े, किन्तु सत्य और शिव का सच्चा स्वरूप उसके प्रकृत सौन्दर्य का हृदयहारी स्वरूप प्रस्तुत करता है। नरसी का चरित, जाहरपीर के झूलने, ढोलामारू का कथानक तथा भर्तृहरि और गोपीचन्द के गीत महाकाव्य के लक्षणों से कोसों दूर भले ही पडते हों, किन्तु सम-सामयिक जीवन के विविध पक्षों का चित्रण करने में उनसे बहुत आगे दिखाई देते है। तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक विचार धाराओ का जैसा सङ्गम इनमें प्रस्तुत हुआ है, वैसा आधुनिक

महाकाव्यों मे कहाँ ? इसी प्रकार डुकरिया पुराण का कहानी-साहित्य और गीत-साहित्य भी बड़ा ही समृद्ध है—आकार की दृष्टि से ही नही, अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी। उदाहरण के लिये विवाह के अवसर पर आँधी-पानी को बाँधने वाले गीत भारतीय जीवन पर तान्त्रिक प्रभाव के सूचक है। रोग दूर करने के लिए झाड-फूंक और टोने का प्रचलन भी इसी की ओर संकेत करता है।

भारतीय संस्कृति में ब्रज का महत्व

संस्कृति वास्तव मे एक व्यापक और गतिमान् वस्तु है, जिसे किसी प्रकार की परिभाषा अथवा सीमा मे नही बाँधा जा सकता। अनादिकाल से मानव-संस्कृति मे विकास होता रहा है। इसलिए सस्कृति से उस स्थिति का बोध होता है, जो समाज के विकास-क्रम की निर्देशिका है, यह एक प्रकार से प्रकृति-सिद्ध है। मानव की सम्पूर्ण जीवन शक्तियों और प्रगतिशील साधनाओं का सामूहिक रूप संस्कृति कहलाता है। इसलिये किसी देश या क्षेत्र विशेष की सस्कृति उस महान् संस्कृति का एक अग ही ठहरती है। प्रत्येक देश प्रत्येक काल मे अपनी-अपनी परिस्थितियों और साधनों के अनुसार इस व्यापक संस्कृति में योगदान देता रहा है, और देता रहेगा। देशिक या प्रादेशिक सस्कृतियाँ अगभूत हो सकती है। हाँ, योगदान की मात्रा मे अन्तर अवश्य होता है। जब हम भारतीय संस्कृति का नाम लेते है, उस समय इस संस्कृति के उन व्यापक तत्वो और मानव के विकास-क्रम में योग देने वाले शाश्वत सिद्धान्तो की ओर हमारा ध्यान जाता है, जो व्यापक संस्कृति के वृक्षों को पल्लवित एव पुष्पित करने मे सहायक रहे है। इस प्रकार संस्कृति समाज की उपज है, जिसमें मानव-समाज के लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक अभ्युदय के उपयुक्त मन बुद्धि, अहकार आदि चेष्टाएँ और सस्कार सम्मिलित है। जीवन का कोई अंग इससे अछूता नही है। साहित्य, संगीत, कला, दर्शन, धर्म, विज्ञान आदि सभी तक संस्कृति का विस्तार है। सस्कृति की इस व्यापक परिभाषा मे सस्कृति और सभ्यता दोनो का समावेश हो जाता है। हम पहले कह आये है कि संस्कृति का साक्षात् सम्बन्ध आत्मा के अभ्युत्थान से है, और सभ्यता का शरीर की साज-सज्जा और मनो-विकारो से; पर सामाजिक जीवन मे दोनों अन्योन्याश्रित है। अन्तर केवल पारिभाषिक है, क्योकि दोनो ही मानव-विकास से सम्बन्ध रखती है। एक का क्षेत्र मानसिक एवं पारमार्थिक विकास है, तो दूसरी का पार्थिव।

भारतीय संस्कृति के अध्येताओं ने उसे कई कालों मे विभाजित किया है, परन्तु वह विभाजन हमारी दृष्टि से काल्पनिक ही है। सस्कृति स्वयं अविभाज्य है। उसके उदय, विकास और अभ्युदय का कोई निश्चित काल नही है। फिर भी विषय-विवेचन के सौन्दर्य के लिए भारतीय सस्कृति को विभिन्न कालो में विभाजित किया जा सकता है। सामूहिक रूप से भारतीय संस्कृति की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जो सर्वकालावच्छिन्न कही जा सकती है। भारतीय संस्कृति की प्राचीनता मे अब किसी को सन्देह नही है। साथ ही साथ उसकी समन्वय-भावना, विकास-शीलता, सर्वाङ्गीणता और उदारता भी उसके सर्वमान्य गुण है। अध्यात्मपरता भारतीय संस्कृति का मूल तत्व है। यह अध्यात्मपरता और समन्वय की भावना भारतीय संस्कृति के ऐसे गुण है, जिनकी अभिव्यक्ति समाज के प्रत्येक क्षेत्र में हुई है। सम्पूर्ण वाङ्मय, कला और साहित्य, शासन और समाज, लोक और परलोक; इन दोनों तत्वों से ओत-प्रोत है। दूसरे देशों की संस्कृतियो को आत्मसात् अथवा समन्वित करने की अपूर्व शक्ति भारतीय संस्कृति में है। यह शक्ति ही वास्तव मे भारतीय संस्कृति की जीवनदायिनी अमोघ शक्ति है।

भारतीय संस्कृति की कुछ देवगत विशेषताएँ भी रही हैं, और कुछ क्षेत्रीय विशेषताएँ भी। सामूहिक रूप से भारतीय संस्कृति आर्य संस्कृति के नाम से अभिहित होती रही है। आधुनिक इतिहासकारों ने आर्येतर संस्कृति के तत्वों की भी खोज की है और यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि भारतवर्ष मे प्राचीन काल से ही कई संस्कृतियों का सगम रहा है। आधुनिक आलोचकों ने संस्कृति को और भी कई रूपों मे बाँटा है; जैसे—राष्ट्रीय संस्कृति, प्रादेशिक संस्कृति, क्षेत्रीय संस्कृति, ग्रामीण संस्कृति, नागरिक संस्कृति, आदि। भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध मे जब हम ब्रज संस्कृति का नाम लेते है, तो हमे एक क्षेत्रीय संस्कृति का बोध होता है; अर्थात्—उस क्षेत्र के विभिन्न संस्कार, रीति-रिवाज, वेष-भूषा, परम्पराएँ, कर्म-काण्ड, पर्व, उत्सव और खान-पान आदि कैसे रहे है, तथा मानव के विकास में इन सब का क्या योगदान रहा है।

ब्रज शब्द भारतीय वाङ्मय मे बड़ा पुराना है; पर इसका प्रयोग क्षेत्र अथवा प्रदेश विशेष के लिए अपेक्षाकृत बाद मे हुआ है। ऋग्वेद मे ब्रज शब्द का प्रयोग 'गोष्ठ' अथवा 'गोशाला' के अर्थ में हुआ है। महाभारत मे भी इसका प्रयोग देश अर्थ मे न होकर, बड़े-बड़े सीगो वाली गायों के निवास-स्थान के अर्थ मे हुआ है। पुराणो मे अवश्य ही यह शब्द देश-वाचक मिलता है। हरिवंश पुराण, वायु-पुराण, श्रीमद्भागवत-पुराण, वाराह-पुराण, पद्म-पुराण आदि मे ब्रज की चर्चा की है। ब्रज की सीमा के सम्बन्ध मे भी कुछ मत-भेद के साथ पुराणों मे उल्लेख हुआ है। सम्भवतः प्रदेश के अर्थ में ब्रज का प्रयोग १३वी शताब्दी के पश्चात् ही हुआ, और उसी समय यहाँ की भाषा का नाम भी 'ब्रज-भाषा' हुआ। श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी ने बड़े सुन्दर ढंग से ब्रज का इतिहास प्रस्तुत किया है; [1] जिससे ब्रज के महत्व पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

भारतीय इतिहास मे ब्रज के पुनीत क्षेत्र का महत्वपूर्ण स्थान है। इस क्षेत्र मे विकसित संस्कृति की छाप समूचे उत्तर भारत की संस्कृति पर आज भी देखी जा सकती है। सांस्कृतिक और राजनीतिक—दोनों ही दृष्टियों से इसका अमिट प्रभाव पड़ा। प्राचीन काल में यह भू-भाग शूरसेन जनपद के नाम से प्रसिद्ध, और भारत के जनपदों मे विशेष रूप से समादृत था। जिसका राजनीतिक प्रभाव से भी अधिक महत्वपूर्ण प्रभाव भाषा, धर्म और कला के क्षेत्र में पड़ा; और यह कहने की आवश्यकता नही कि ये तीनो ही वस्तुएँ संस्कृति के आधारभूत तत्व माने जाते हैं।

इस प्रदेश की भाषा किसी समय शौरसेनी के नाम से संकेतित होती थी। शौरसेनी प्राकृत को संस्कृत साहित्य में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, और यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि अन्य प्राकृतो की अपेक्षा इसमे माधुर्य-गुण की अधिकता थी। यही कारण है कि कुछ ऐतिहासिक कारणों और साहित्यक परम्पराओ के प्रभाव से कविता की भाषा के रूप में महाराष्ट्री के प्रतिष्ठित हो जाने पर भी उच्च वर्ग के स्त्री पात्रों की भाषा के रूप मे शौरसेनी ही संस्कृत नाटककारों को अधिक आकृष्ट कर सकी। इसी से उद्भूत ब्रज-भाषा का साहित्य के क्षेत्र मे शताब्दियों तक अटल साम्राज्य रहा और आधुनिक हिन्दी के ढाँचे मे भी बहुत कुछ शौरसेनी की ही सामग्री लगी हुई है। आज भी यदि ब्रज-भाषा के साहित्य को अलग करके देखा जाये, तो हिन्दी साहित्य पूर्णतया निःश्रीक दीख पड़ेगा। पिछली शताब्दियों मे रचित वैष्णव साहित्य पर—चाहे वह बँगला मे लिखा गया हो या गुजराती में—ब्रज-भाषा के वैष्णव साहित्य का पर्याप्त प्रभाव है। धर्म के क्षेत्र मे भी इस जनपद की प्रगति अद्वितीय रही। भारत के प्रमुख धर्म—वैष्णव-धर्म का आविर्भाव इसी जनपद के मूल धार्मिक तत्वों के आधार पर हुआ और उसके विकास में भी इसका योग सबसे अधिक है।

---

१ ब्रज का इतिहास, श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी, प्रकाशक—ब्रज-साहित्य-मण्डल, मथुरा।

किन्तु हमारी दृष्टि से इस जनपद की इससे भी कही अधिक गौरवशाली देन है—समन्वयात्मक दृष्टिकोण। वासुदेव कृष्ण को विष्णु का अवतार मानकर अन्य देवी-देवताओ मे भी इन्ही के अश की कल्पना कर सभी के साथ उनका तादात्म्य स्थापित किया गया। प्राचीन काल मे यक्ष, नाग और मातृ-देवों की पूजा शूरसेन जनपद मे प्रचलित थी। इनको भी विष्णु की सी विभूति स्वीकार कर मान्यता प्रदान की गई। गिरिमह, इन्द्रमह और नदीमह नामक प्राचीन उत्सवों को गोवर्धन-पूजा, इन्द्र-पूजा और यमुना-पूजा के रूप मे अगीकार किया गया, जिनका सूरसागर मे स्पष्ट वर्णन हुआ है। हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्म यहाँ शताब्दियो तक साथ-साथ फलते-फूलते रहे और यहाँ की सस्कृति को कुछ न कुछ तत्व प्रदान करते रहे। इन तीनो ही धर्मों ने कला के विकास मे भी महत्वपूर्ण योग दिया। मथुरा मे प्राप्त मूर्तियाँ इस बात की साक्षी है कि उदात्त धार्मिक भावना और मानवीय सौन्दर्य मे पूर्ण समन्वय एतत्प्रदेशीय शिल्पियों का मौलिक लक्ष्य रहा। यही नही, विदेशी आक्रान्ताओ के अभियान भी प्रायः मथुरा तक होते थे और मध्य-देश के इस द्वार पर अधिकार करके वे अपनी स्थिति सुदृढ़ समझते थे। उनके सम्पर्क के कारण यूनानी और ईरानी आदि कलाओं का प्रभाव भी यहाँ की कला पर पडा। पह्लवों और शको ने भी इसमे महत्वपूर्ण योग दिया।

ब्रजक्षेत्र के इस सांस्कृतिक विकास में वहाँ के जीवन-साधनों की सुगमता का भी योग कुछ कम नहीं था। यहाँ की भूमि सोना उगलती थी और गोपालन इतने उच्च स्तर पर पहुँच चुका था कि—'घी-दूध की नदियाँ बहती थी।' वाणिज्य की दृष्टि से भी मथुरा एक महत्वपूर्ण केन्द्र था। जहाँ कौशाम्बी, साकेत और पाटिलपुत्र से आने वाले सार्थवाह कपिशा, तक्षशिला और शाकल से आने वाले सार्थवाहों के साथ अपने पुण्यो का विनिमय करते थे। इन सब साधनो से सम्पन्न प्रदेश मे आध्यात्मिक चिन्तन के साथ-साथ सांसारिक आमोद-प्रमोद और हास-उल्लास की अभिव्यक्ति के स्रोतों का स्फुटन भी स्वाभाविक ही था। यही कारण है कि सामूहिक रास-नृत्य, वंशी-वादन और नारायण-गीतो की परम्परा यहाँ अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही थी—जिसका प्रभाव आज भी ब्रज के जन-जीवन पर स्पष्टतया लक्षित होता है। मध्य-काल मे इस परम्परा की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई। सूरदास के अमर पद नारायण-गीतो की ही परम्परा मे आते है, जिनमे वंशी-वादन और मण्डलीकृत रास-नृत्य की परम्पराएँ भी पूर्णतया प्रतिबिम्बित हुई है।

पुष्टि-सम्प्रदाय का पूर्ण विकास ब्रज-क्षेत्र मे हुआ। यह आनुषगिक थी कि इस सम्प्रदाय के पल्लवित और पुष्पित होने के लिए वह क्षेत्र मिला जो इस सम्प्रदाय के उपास्य की जन्म-भूमि और लीला-भूमि भी थी। पर इस सम्बन्ध मे यह बात नही भुलाई जा सकती कि इस क्षेत्र की परम्परायें और वातावरण सोलहों आने इस सम्प्रदाय की आचरण-पद्धति से मेल खाने वाली थी। साथ ही साथ यह भी एक दैविक घटना थी कि सम्प्रदाय के प्रचार और प्रसार का कार्य ऐसे भावुक भक्तों के द्वारा सम्पन्न हुआ जो प्राय इसी क्षेत्र के रहने वाले थे और यहाँ की प्राचीन परमपराओं से परिचित थे। सांस्कृतिक दृष्टि से चाहे जितने परिवर्तन इस क्षेत्र मे हुए हैं, किन्तु परम्पराओंओं की दृष्टि से यह क्षेत्र एक सीमा तक अक्षुण्ण ही बना हुआ था। शैव-धर्म और बौद्ध-धर्म भी अपने-अपने ढग से इन्हीं परम्पराओं को लेकर प्रसृत हुए थे। अष्टछाप के कवि सामाजिक होते हुए भी सामाजिकता से दूर रहे। राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियाँ उन्हें बहुत अधिक प्रभावित न कर सकी। उनका ब्रज-लोक लौकिक होते हुए

भी अलौकिक था, और आमुष्मिक होते हुए भी पारलौकिक था। भौतिक जीवन में ही उन्हे आध्यात्मिक जीवन का संबल था। ब्रज की संस्कृति का चित्रण जिस सहज भाव से उन्होने किया है, उसमे स्वाभाविकता है और अतिशयोक्ति भी यथार्थ पर आधृत है। भारतीय वाङ्मय मे जो अब तक कृष्ण-चरित गाया गया था, वह प्रायः परम्पराओं मे अथवा रूढियों से बँधा हुआ था। कृष्ण की जन्म-भूमि मे, उनकी केलि-स्थली मे, आज तक कृष्ण-चरित का इतना व्यापक चित्रण नही हुआ था जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास—तीनो ने ही ब्रज से दूर रहकर कृष्ण-चरितामृत का स्रोत बहाया था, पर अष्ट-छाप के कवियों को ब्रज-भूमि की पावन रज से अपने मन-मुकुर को पवित्र और शुद्ध करने का अवसर मिला था। सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण कुछ धार्मिक भावनाओं और परम्पराओ का समावेश अवश्य उनके काव्य मे हो गया है, पर प्रधानता ब्रज की परम्पराओं की ही रही है। इतना अवश्य है कि साम्प्रदायिक भावनाओं ने इन कवियो के वर्णनों को कलात्मक रूप देने में सहायता की है। पुष्टि-सम्प्रदाय मे सेवाभावना का बड़ा महत्व है। इसका विस्तार से वर्णन हम पुष्टि-सम्प्रदाय वाले अध्याय मे कर चुके है। अष्ट-छाप के सभी कवियों की भक्ति का स्वरूप आत्म-निवेदन है, उनकी जीवन-चर्चा ही भक्ति के विविध अंगों का क्रियात्मक रूप है। ब्रज-लोक उनके के लिए नित्य-लोक है। भगवान् कृष्ण की सब लीलाएँ भी उनके लिये नित्य है। इस गोलोक में यमुना, वृन्दावन, निकुंज इत्यादि नित्य रूप मे ही विराजते है। भगवान् की नित्य लीला-सृष्टि में प्रवेश करना ही इन भक्तों का साध्य रहा है। इस अनित्य में नित्य की, और लौकक मे अलौकिक की कल्पना इन कवियों ने इतने स्वाभाविक ढंग से की है कि वह कल्पना—कल्पना-सी प्रतीत न होकर सत्य ही प्रतीत होती है। इस कल्पना मे भी भौतिक दृष्टि से तो सभी कुछ लौकिक और ऐहिक है, किन्तु भक्त की दृष्टि में वह सब कुछ व्यापी वैकुण्ठ से सम्बन्ध रखने वाला है। इसलिए प्रवाही जीवो को उनकी कल्पना मे कुछ अतिशयोक्ति दीखना स्वाभाविक ही है। हमारा उद्देश्य यहाँ इस विवाद को उठाकर नीर-क्षीर विवेक नही है। हम तो केवल यह देखना चाहते हैं कि सूरदास ने जिन आधारों पर कल्पना के इस सुन्दर प्रासाद का निर्माण किया था, वे आधार कौन से है।

सूरदास जी श्रीनाथ जी के मन्दिर मे ठाकुर जी के नित्य और नमित्तिक उत्सवों, भोगों तथा शृङ्गारों का कीर्तन स्वनिर्मित पदो द्वारा किया करते थे। इस गायन-पद्धति मे अनेक राग-रागनियो तथा ताल-स्वर का समावेश था। भगवान् कृष्ण के सभी उत्सव, भोग तथा शृङ्गार ब्रज-भूमि में हुए। इसलिये इन सब के लिये ब्रज के ही पदार्थों, ब्रज की ही कथाओं और ब्रज के ही साधनों का उपयोग हो सकता था। यही कारण है कि सूर-साहित्य में ब्रज-भूमि के अनेक संस्कारों, प्रथाओं, व्यञ्जनों, वेष-भूषा, विश्वास, पर्व, उत्सव आदिकों का समावेश अपने आप हो गया। यहाँ हमे यह बात नही भूल जानी चाहिये कि पुष्टि सम्प्रदाय का मूल आधार श्रीमद्भागवत रहा है। श्रीमद्भागवत के रचना-काल तथा रचना-स्थल के सम्बन्ध मे अभी तक कोई निर्विवाद निर्णय नही हुआ है, पर उसके अन्तःसाक्ष्य के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि इसका रचना-स्थल दक्षिण भारत मे कोई स्थान रहा होगा। इसके वर्णन दक्षिण भारत के नैसर्गिक रूप से ही अधिक मेल खाते है। उत्तर भारत का वर्णन प्रत्यक्ष-दर्शन की अपेक्षा श्रुत और परम्परागत ज्ञात होता है। इसमे ब्रज का जो वर्णन है, वह भी श्रुति एवं परम्परा से ही आया हुआ प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए दशम-स्कन्ध के श्लोकों को ही ले लीजिए—

बनौकसः प्रमुदिता वनराजार्मधुच्युतः।
जलधारा गिरेर्नादानासन्ना ददृशे गुहाः।

क्वचिद्वनस्पति क्रोडे गुहायाँ चाभिवर्षति ।
निर्विश्य भगवान् रेमे कन्दमूलफलाशनः ।। श्रीमद्भागवत ।। १०।२०।२७-२८

भील, किरात आदि जातियों का निवास-स्थान तथा गिरि, कन्दराओं आदि का बाहुल्य ब्रज-भूमि की अपेक्षा दक्षिण भारत में ही अधिक है । पुष्पों के वर्णन से भी ऐसा ही प्रतीत होता है, जैसे—

कच्चित्कुरबकाशोकनागपुन्नागचम्पकाः ।
शामानुजो मानिनीनामितो दर्पहरः स्मृतः ।।
मालत्यार्दशि वः कच्चिन्मल्लिके जातियूथिके ।
प्रीतिं वो जनयन् यातः करस्पर्शेण माधवः ।।

इसी प्रकार भागवत मे जिन सास्कृतिक परम्पराओ का वर्णन हुआ है, वे दक्षिण भारत की परम्पराओ से ही अधिक मेल खाती हैं । इसलिए पुष्टि-सम्प्रदाय के कवियों के काव्य में अनजाने ही इन वर्णनों और परम्पराओं का पुट आ गया है, परन्तु यह पुट इतना सूक्ष्म और अल्प-मात्रा मे है कि ब्रज की सांस्कृतिक परम्पराएँ उनके साहित्य मे स्पष्ट रूप से झलकती है । सूर-साहित्य में ब्रज की सांस्कृतिक परम्पराओं की शृङ्खला जोड़ते समय हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि सूर एक उच्चकोटि के कवि और सिद्ध गायक थे । अनेक कवि प्रसिद्धियाँ, संगीत-परम्पराएँ और परम्परागत प्रतीक एवं उपमान उनके सामने रहे होगे । उन सभी का समुचित उपयोग उन्होने अपने साहित्य मे किया है । इन सभी साधनों को उन्होंने ब्रज-संस्कृति का जामा पहनाया है, इसमे कोई सन्देह नही । एक बात और लक्ष्य करने की यह भी है कि सूर कम से कम पुष्टि-सम्प्रदाय मे दीक्षित होने के समय नेत्रहीन अवश्य थे । इसलिए सम्भव है कि उनके वर्णन में यथार्थ की अपेक्षा कल्पना का योग पर्याप्त मात्रा मे रहा हो फिर भी सूर-साहित्य के पीछे ब्रज की सास्कृतिक परम्पराओं की एक सुदृढ़ और व्यवस्थित शृङ्खला है । उसमे ब्रज-साहित्य ब्रज-लोक-जीवन और ब्रज लोक परम्पराओ से गुँथा हुआ है । लोकसाहित्य का जैसा निखरा हुआ रूप हमें ब्रज प्रान्त मे मिलता है, वैसा अन्य किसी क्षेत्र मे दुर्लभ है । हो सकता है कि संस्कृति की प्राचीन परम्पराएँ मौखिक रूप मे अथवा लोक-साहित्य के रूप मे चली आ रही हो, पर सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से उन सभी का महत्व है ।

किसी विशिष्ट समाज अथवा प्रदेश की जब हम चर्चा करते है, तो उसके आचार-विचार, रीत-रिवाज, पर्व-उत्सव, कला-कौशल, उपासना-पद्धति, विविध विश्वास, विविध प्रथाओं आदि सभी अगों पर दृष्टिपात करते हैं । इन्ही सब अंगों द्वारा किसी जाति-विशेष अथवा प्रदेश की संस्कृति का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि सूरदास जी ने ब्रज-संस्कृति का उल्लेख बड़ा अतिशयोक्ति-पूर्ण किया है । सूरदास जी के काव्य में अनेक प्रकार के भोजन का उल्लेख है । छप्पन प्रकार के भोजन तो साधारण रूप से उल्लिखित हैं, पर किसी-किसी अवसर पर उन्होंने १६०० प्रकार के भोजनों का भी उल्लेख किया है।[१] जहाँ तक अनुमान है, सूरदास जी ने भक्ति-भाव विभोर होकर श्रीकृष्ण चरित्र की अलौकिकता दिखाने के लिए ही ऐसा अतिशयोक्ति-पूर्ण वर्णन किया है ।

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद ८०१, १०१४, १८३१ आदि ।

निम्नलिखित रूपों मे सूर-साहित्य मे ब्रज-संस्कृति का वर्णन मिलता है—

१—पौराणिक कथाएँ

पौराणिक कथाओं का सस्कृति मे अति महत्वपूर्ण स्थान है। सूरदास जी ने अपने समय मे प्रचलित अनेक पौराणिक कथाओ की चर्चा की है, पर अधिकांश की तो केवल नाम लेकर ही समाप्ति कर दी है। यदि वास्तव मे देखा जाय तो कुछ गिनी-चुनी कथाओं की पुनरावृत्ति ही अधिक की गई है। इन सब बातो की आवश्यकता उन्हें भगवान् के साकार रूप की पुष्टि के लिए पड़ी। सूरदास जी ने लगभग १२५ कथाओं का उल्लेख अपनी रचनाओं मे किया है। अधिकाश कथाएँ ईश्वर के विविध अवतारों—शिव, राम, कृष्ण, आदि से सम्बन्धित है। प्रमुख कथाएँ निम्नलिखित है—

(अ) जरासंध तथा राजाओं को छुड़ाने की कथा।[१]

(ब) गौतम-तिय अहिल्या के उद्धार की कथा।[२]

(स) गज और ग्राह की कथा।[३]

(द) प्रहलाद की कथा।[४]

(य) द्रौपदी की लाज-रक्षा की कथा।[५]

(र) सुदामा और कृष्ण की कथा।[६]

(ल) अजामिल और व्याध के उद्धार की कथा।[७]

(व) गोवर्धन धारण की कथा।[८]

(स) विभिन्न राम कथाएँ।[९]—इत्यादि।

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समाज मे सगुण-भक्ति का स्वर प्रधान था तथा पौराणिक कथाओं का अच्छा प्रचार था। सूरदास जी ने भगवान् के अनेक अवतारों मे नाम के अतिरिक्त और कोई विशेष अन्तर नही रखा है।

विभिन्न उत्सव एवं त्यौहार

सूरदास जी पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित थे, अतः जो उत्सव एवं त्यौहार आदि उक्त सम्प्रदाय में मनाये जाते थे, उनका ही उल्लेख सूरदास जी ने विशेष रूप से किया है। दधिकाधा, होली एवं गोवर्धन पूजा का उल्लेख सूर ने विशेष रूप से किया है।

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद ४, १७, ३१, १०६, ११३, १२१, १७१, ११८७।
२ वही ,, ,, पद ४, २६, २८, ३४, ६४, ११६, १२३, १५८, ३०८, ४१६, ६२०, ३६६६।
३ वहो ,, ,, पद ५, ७, ६, १४, २८, १६०, ३२६, ११८५, ३६६६।
४ वही ,, ,, पद ६, ११, २६, ३०, १०६, १३३, १७२, ३०६, ११८५, ३६६६
५ वही ,, ,, पद ५, १६, ३२, ३६, १३३, १७२ २५५, ३०६, ११८५, ३६६६
६ वही ,, ,, पद ५, ७, ६, २०, २७, ३५, ६५, १३३, १७६, ४८४२
७ वही ,, ,, पद १२, २७, ३५, १०४, १२०, १४५, २३४, ३०६, ४१५
८ वही ,, ,, पद ५, १४, ३०, ३७, १२१, ३३६, १४४०, १५६४, आदि।
६ वही ,, ,, पद ४६०, ४६५, ४७०, ४७४, ५००, ५१४, ५६४, ६०६ इत्यादि।

दधिकांधा उत्सव

यह उत्सव आज भी ब्रज के मन्दिरों में श्री कृष्ण-जन्म अवसर पर होता है। सूरकाल मे यह उत्सव कई-कई दिन तक बड़े समारोह पूर्वक मनाया जाता था। कलशों मे दही और हल्दी मिलाकर आगन्तुको पर छिडका जाता था। शकुन के लिए स्त्रियाँ सिर पर दधि, दूब आदि रखकर गाती हुई आती थी। ब्राह्मणो को गौ आदि का दान दिया जाता था।

आजु हो बधायौ बाजे नन्द गोप राइ के।
जदुकुल जादौराइ जनमे हैं आइ के।

× × ×

सिर पर दूब धरि, बैठे नन्द सभा मधि,
द्विजनि कौं गाइ दीनी, बहुत मँगाइ कै,
कनक कौ माट लाइ, हरद-दही मिलाइ,
छिरकै परसपर छल-बल धाइ कैं।

× × ×

जोइ-जोइ माँग्यौ जिनि, सोइ-सोइ पायौ तिनि।
दीजै-सूरदास दर्स, भक्तनि बुलाइ कै ॥[1]

दीपावली

सूरदास जी ने दीपावली का उल्लेख केवल एक ही स्थान पर किया है। इस दिन सर्वत्र दीप जलाये जाते थे। समस्त ग्रामवासी ग्राम-मुखिया के यहाँ एकत्र होकर धूम-धाम से उत्सव मनाते थे। चौक आदि पूरे जाते थे तथा उन पर पुष्प, अक्षत, रोली आदि चढ़ाकर पूजा की जाती थी।

आजु दीपति दिव्य दीप मालिका।

× × ×

गज मोतिन के चौक पुराये, बिच-बिच लाल प्रवालिका।

× × ×

झलमल दीप समीप सौज भरि, लेकर कंचन थालिका।
नन्दद्वार आनन्द बढ्यो अति, दिखियत पड़न रसालिका।[2]
सूरदास कुसुमन नर बरषत, कर संपुट करि मालिका ॥

अन्नकूटोत्सव

यह पकवानो का त्यौहार होता था, अनेक प्रकार के षट्रस व्यंजन आदि बनाकर भगवान् को अर्पित कर ब्रजवासी खुशियाँ मनाते थे। महत्वपूर्ण वार्षिक पर्व के रूप मे इसे बड़े उत्साह-पूर्वक मनाया जाता था। इस दिन इन्द्र की पूजा का विशेष विधान था।

हँसत गोप कहि नन्द महर सौं, भली भई यह बात सुनाई।

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद ६४६।
२ वही „ पद ८०६, १४२७

× × ×

बरष दिवस कौ दिवस हमारौ, घर-घर नेवज करौ चडाई।
अन्नकूट-विधि करत लोग सब, नेम सहित कर-कर पकवान।
महरि बिनै करि जोरि इन्द्र सौ, सूर अमर कर दीजै कान्ह ॥[1]

गोवर्धन पूजा

गोवर्धन पूजा के अवसर पर गिरिराज गोवर्धन की आराधना की जाती थी। आराधना के समय घर-घर से पकवान, मिष्ठान्न एवं दूध-दहि आदि आता था। दूर-दूर के ग्रामों से भी गाड़ियों में भर-भर कर यह सब सामग्री गोवर्धन की तलहटी मे एकत्र की जाती थी। सूर ने पूजा-विधि का उल्लेख करते हुए कहा है कि—वेद, पाठों की मधुर ध्वनि के मध्य ग्राम-मुखिया सर्व प्रथम गिरिराज की स्तुति कर उनकी आराधना करता था। वही उसके शिखर पर सर्व प्रथम दूध से भरे कलशों को डालकर गिरिराज को नहलाता था। उस काल में यह पूजा एक सामूहिक पर्व के रूप मे सम्पन्न होती थी।

गोवर्धन पूजहु जाइ।
मधु मेवा, पकवान, मिठाई, व्यंजन बहुत बनाइ।[2]

तथा—

ब्रज घर-घर अति होत कुलाहल।
जहँ, तहँ ग्वाल फिरत उमगे सब, अति आनन्द उमाहल।
दधि, लवनी, मधु माट धरत लै, राम-स्याम संग राजत।
सहस सकट मिष्टान्न अन्न बहु, नन्द महर घर ही के।
सूर चले सब लै घर-घर तें, संग सुवन नन्द जी के ॥[3]

तथा—

सकट साजि सब ग्वाल चले मिलि, गिरि पूजा कै काज।
घर-घर ते मिष्टान चले बहु, भाँति-भाँति के बाज ॥[4] —इत्यादि।

फाग-(होली)

फाग एक ऐसा पर्व है, जिसे समस्त ब्रजवासी चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, बच्चा हो या बूढा; सभी उत्साह और आनन्द-पूर्वक मनाते है। यह वहाँ का बड़ा आकर्षक और महत्वपूर्ण त्यौहार है। सूर ने अनेक स्थानों पर इसका बड़े विस्तार से उल्लेख किया है। उन्होंने अन्य त्यौहारों की अपेक्षा फाग-सम्बन्धी पद ही अधिक संख्या में लिखे हैं। सूर-काल में स्त्री-पुरुष सभी बड़ी स्वच्छन्दता-पूर्वक फाग खेलते थे। दोनों ही एक-दूसरे पर रंग, गुलाल, अबीर, चन्दन, चोवा, अरगजा इत्यादि डालते थे। समाज के समस्त बन्धन इस अवसर पर ढीले हो जाते थे। ढोल, मृदंग, झाँझ, ढप आदि अनेक वाद्य-यंत्र लोगों को उत्साहित करने के लिए निरन्तर बजाये जाते थे।

गोकुल सकल गुवालिनी, घर-घर खेलत फाग।
× × × ×

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद ८१६, १४३४
२ वही ,, पद ८२५ ॥ १४४३ ॥
३ वही ,, पद ८२६ ॥ १४४४ ॥
४ वही ,, पद ८२८ ॥ १४४६ ॥

चोवा, चन्दन, अरगजा, उड़त अबीर गुलाल।
कर-करताल बजावहीं, छिरकत सब ब्रजनारि ।।[1]

तथा—

हरि सँग खेलत है सब फाग।
× × × ×
ढप, बाँसुरी, रुंज अरु महुअरि, बाजत ताल मृदंग।
अलि आनन्द मनोहर बानी, गावत उठति तरँग ।।[2]

तथा—

हो हो हो हो हो हो होरी।
खेलत आत सुख प्रीति प्रगट भई, उत हरि इतहि राधिका गोरी।
बाजत ताल, मृदंग, झाँझ, ढप, बीच-बीच बाँसुरि धुनि थोरी।
गावत दै-दै गारि परसपर, उत हरि इत वृषभानु किसोरी।
मृगमद साख जवादि कुमकुमा, केसरि मिलै-मिलै मथि घोरी ।।[3]

ब्रज के कुंज-कुंज मे फाग की धूम मची हुई है। गोपाङ्गनाओ को कितना आनन्द आ रहा है—फाग खेलने में—लाज, पर्दा आदि सबको त्याग दिया है—

होरी खेलत ब्रज खोरिन में, ब्रजबाला बनि-बनि बनवारी।
ढप की धुनि सुनि विकल भई सब, कोउ न रहत घर घूँघटवारी ।।
जाहि अबीर देत आँखिनि मे, ताही कों छिरकत पिचकारी।
सोधैं तेल अबीर अरगजा, तैसी जरद केसरि चटकारी ।।[4]

सूरदास जी ने अपने सूरसागर में नन्दगाँव-बरसाने की प्रसिद्ध लट्ठमार होली की ओर भी संकेत किया है, जिसका रूप आज भी हम वहाँ देख सकते हैं—

खेलत फागु कुँवर गिरिधारी।
अग्रह, अनुज, सुबाहु श्रीदामा, ग्वाल-बाल सब सखाऽनुसारी।
इत नागरि निकसीं घर-घर तें, दै आगैं वृषभानु दुलारी।
दुंदुभि, ढोल, पखावज, आवझ, बाजत, डफ, मुरली रुचिकारी।
मारति बाँस लिये उन्नत कर, भाजत गोप त्रियनि सों हारी ।।[5]—इत्यादि

फूलडोल

होली का उत्सव समाप्त होते-होते ही ब्रज में फूलडोलोत्सव प्रारम्भ हो जाता था। इसमें लोग संध्या समय एक निश्चित स्थान पर एकत्र होकर गले मिलते थे। इस उत्सव में पुष्पों की ही बहुलता होती थी। पुष्पों से ही शृङ्गार कर और पुष्पों से ही सुसज्जित झूला पर नर-नारी झूलते थे—

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद ३४८२
२ वही ,, पद ३४७८
३ वही ,, पद ३४८६
४ वही ,, पद ३४८६
५ वही ,, पद ३५११

गोकुलनाथ विराजत डोल ।
कंचन खचित लाल मनि मोती, हीरा जटित अमोल ।
झुलवहिं जूथ मिलै ब्रज सुन्दरि, हरषित करत किलोल ।।[1]

विभिन्न संस्कार

उत्सवों और पर्वों ही की भाँति सूरदास जी ने संस्कार आदि की ओर भी कम ही ध्यान दिया है। वास्तव में सूर भक्ति कवि थे। उनका मुख्य उद्देश्य भक्ति-भावना का प्रतिपादन करना ही था। संस्कृति के अंगों, उत्सव-पर्वों, संस्कारों आदि का वर्णन करना नहीं। उनकी रचनाओं में जो कुछ ऐसी बातें मिलती हैं, वे केवल स्वाभाविक रूप मे ही आई हुई हैं। फिर भी सूर ने जन्म-जातकर्म—नारछेदन, छटी-पूजन, नामकरण, अन्न-प्राशन, कर्णछेदन, घुटरुअन चलना, प्रथम गोचारण, यज्ञोपवीत, विवाह आदि अनेक संस्कारों की चर्चा की है। इन सभी संस्कारो पर बाजे बजाना, गाना, बन्दनवार बाँधना, दधि-हल्दी का छिडकाव, वेदपाठ, मुहूर्त-शोधन, विप्र-पूजा, याचकों को दान, नगर और ग्रामवासियों का भेट लेकर जाना, बधाई गाना, सतियैं, चौक आदि पूरना, दूब, रोली, अक्षत, फल, मिठाई, आदि का आना, अनेक प्रकार के पकवानों का बनना, पूजन, आशीर्वाद आदि विभिन्न प्रसंगों का उल्लेख किया है।

जन्म संस्कार

जन्मोत्सव आज ही की भाँति बड़ी धूम-धाम और उल्लास से मनाया जाता था, पर आज की भाँति पुत्र और पुत्री के जन्म मे कोई भेद नही रखा जाता था। जिस उल्लास और आनन्द के साथ पुत्र-जन्मोत्सव होता था, उसी आनन्द के साथ पुत्री का जन्मोत्सव भी सम्पन्न होता था। पितरों, ब्राह्मणों, देवताओं आदि का पूजन कराया जाता था। द्वार पर बन्दनवार बाँधे जाते थे, तथा शुभ के लिए मंगल-घट रखे जाते थे। बड़े-बूढ़े, लोग शुभ के लिए ही कानों मे और सिर पर दूब और अक्षत आदि रखकर सस्कार में बैठते थे। वाद्य तो निरन्तर बजते ही रहते थे।

नन्दराइ के नवनिधि आई।

× × ×

बाजत ताल, मृदग, जंत्र, गति चरचि, अरगजा अंग चढ़ाई।
अच्छत, दूब लिए रिषि ठाड़े, बारनि बन्दनवार बँधाई ।।[2]

तथा—

आजि ही बधायौ बाजे नन्द गोप-राइ कै।
सिर पर दूब धरि बैठे नन्द सभा मधि, द्विजनि कौं गाइ दीनी बहुत मँगाइ कै।
ढाढी और ढाढिनि गावै, ठाढ़े हुरके बजावै, हरषि असीस देत मस्तक नवाइ कै।
जोइ-जोइ माँग्यौ, सोइ-सोइ पायौ तिनि, दीजै सूरदास दर्श भक्तनि बुलाइ कै ।।[3]

सतिये रखना

जन्म के कुछ समय पश्चात् सतिये रखे जाते हैं। गाय के गोबर से द्वार के दोनों ओर,

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद ३५३७
२ वही ,, पद ३६७
३ वही ,, पद ६४९

तथा माँ की चारपाई के पायों पर सतिये रखे जाते थे। शिशु का रोली, अक्षत, चन्दन आदि से पूजा कर तिलक किया जाता था।

नन्द द्वारै भेंट लै-लै, उमह्यौ गोकुल गाँव।
चौक चन्दन लीपि कै, धरि आरती संजोइ।

× × ×

द्वार सतिया देति स्यामा, सात सीक बनाइ।
नव किसोरी मुदित ह्वै-ह्वै, गहृति जसुदा पाइ।

× × ×

गाइ बच्छ सँवारि ल्याए, भई ग्वारनि भीर।
मुदित मंगल सहित लीला, करै गोपी ग्वाल।
हरद, अच्छत, दूब, दधि लै, तिलक करै ब्रजबाल ।।—इत्यादि ।।[1]

नामकरण संस्कार

इस सस्कार को वंश परम्परा से चला आता हुआ परिवार का ज्योतिषी ही सम्पन्न कराता था। ज्योतिष के अनुसार आज ही की भाँति नक्षत्र, ग्रह आदि देखकर शिशु का नामकरण किया जाता था—

आदि ज्योतिषी तुम्हरे घर कौ, पुत्र जन्म सुनि आयौ।
लगन सोधि सब जोतिष गनिकै, चाहत तुमहिं सुनायौ ।।[2]

अन्न-प्राशन संस्कार

सूर ने अन्न-प्राशन का विस्तृत वर्णन किया है। शिशु के खाने-पीने योग्य हो जाने पर ही यह संस्कार होता था। इस अवसर पर ग्राम-बधुएँ, अपनी श्रद्धानुसार अनेक प्रकार की वस्तुएँ भेंट स्वरूप लाती थी। शुभ मुहूर्त पर पिता उस शिशु को गोद में लेकर बैठता था, तथा अपने सम्मुख रखे अनेक प्रकार के व्यंजनों में से कुछ को शिशु के होठों से स्पर्श करा जूठा कराते थे। फिर इस जूठन में से सब लोग प्रसाद ग्रहण करते थे—

आजु कान्ह करिहैं अनप्रासन।

× × ×

कनक थार भरि खीर धरी लै, तापर घृत-मधु नाइ।
नन्द लै-लै हरि मुख जुठरावत, नारि उठी सब गाइ।
षट्‌रस के परकार जहाँ लगि, लै-लै अधर छुवावत।
विस्वंभर जगदीश जगत गुरु, परसत मुख करुवावत ।।—इत्यादि ।।[3]

बाल्यावस्था के इन संस्कारों के अतिरिक्त वर्षगाँठ, कर्णछेदन, विद्यारंभ आदि संस्कार भी वैदिक रीति से होते थे। इन सभी संस्कारों में प्रायः भोज, नाच-गान आदि का ही बाहुल्य होता था। इन्हीं शुभावसरों पर गौ, वस्त्र, धनादि देकर बदले में याचकों से आशीर्वाद प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता था।

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद ६४४
२ वही ,, पद ७०४
३ वही ,, पद ७०६

यज्ञोपवीत संस्कार

यज्ञोपवीत संस्कार कही तो विवाह के पूर्व, और कही विवाह के पश्चात् सम्पन्न होता था। इसमे युवक को दण्ड-कमडलु हाथ मे लेकर तथा मृगछाला ओढकर और खडाऊँ धारण कर (ब्रह्मचारी का-सा वेष रखकर) भिक्षा माँगनी पडती थी, तथा गायत्री मत्र के उच्चारण सहित विविध अलकारो से सज्जित गायों का दान किया जाता था। तत्पश्चात् मस्कार कर महभोज और ज्यौनार आदि का आयोजन किया जाता था।

वसुधौ कुल ब्यौहार बिचारि।
हरि-हलधर कौ दियौ जनेऊ, करि पट्रस ज्यौनारि।
× × ×
विधि सो धेनु दई बहु विप्रनि, सहति सर्व अलकार।
जदुकुल भयौ परम कौतूहल, जहँ-तहँ गावति नार ॥—इत्यादि ॥[1]

विवाह संस्कार

विवाह के समय जो-जो कर्म और क्रियाएँ होती थी, उन सव का नामोल्लेख सूर ने किया है। ककण, बारात, ग्रन्थि-बन्धन आदि किसी को भी सूरदास जी भूले नही है। उन्होने सामान्य बातो का भी उल्लेख किया है यथा—लड़के की लग्न आना, भॉवरे पड़ना, ज्यौनार आदि का होना इत्यादि। वेद-शास्त्रो के अनुसार ही विवाह की समस्त विधियाँ सम्पन्न होती थी।[2] कुछ पदो से ऐसा भी ज्ञात होता है कि दहेज प्रथा सूर-काल मे भी प्रचलित थी—

दसरथ चले अवध अनदत।
जनकराइ बहु दायज दे, करि बार-वार पद बंदत ॥[3]

अन्त्येष्टि संस्कार

सूर ने मानव के अन्तिम कर्मो को भी अपने काव्य मे स्थान देने से नही छोड़ा है। दीप-दान, तेरही आदि सभी का उल्लेख किया है—

गुरु वसिष्ठ भरतहिं समुझावा।
× × ×
चन्दन अगर सुगन्ध और घृत, विधि करि चिता बनायौ।
चले बिमान सग गुरु पुरुजन, तापर नृप पौढायौ।
भस्म, अन्त तिल अंजलि दीन्ही, देव विमान चढायौ।
दिन दस लौ जल कुम्भ-साजि, सुचि दीप दान करवायौ।
जानि एकादस विप्र बुलाये, भोजन बहुत करायौ।
दीन्हों दान बहुत नाना विधि, इहि बिधि कर्म पुजायौ।[4]

इस भाँति सूर-काल में मानव संस्कारों को पूर्ण किया जाता था।

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद ७११
२ वही ,, पद १६६१ इत्यादि
३ वही ,, पद ४७१
४ वही ,, पद ४६४

विविध देवी-देवता

ब्रज-भूमि अति विस्तृत है। यहाँ आज अनेक देवी-देवताओं की पूजा एव उपासना होती है। सूर-काल मे भी श्री कृष्ण के अतिरिक्त शिव, राम, सूर्य, चन्द्र, पार्वती, शक्ति, इन्द्र, गोवर्धन, गंगा, यमुना, विष्णु, ब्रह्मा, गणेश, कुबेर आदि अनेक देवी-देवताओ की पूजा-उपासना समय-समय पर होती थी। इनमे से अनेक का जन्म, विवाह आदि विविध सस्कारों पर विधि-पूर्वक आह्वान किया जाता था।

राम

राम-भक्ति की चर्चा सूरदास जी ने कई स्थानों पर की है। उनके सूरसागर मे 'रामचरित' नाम से एक पृथक् अंश भी है, जिसमे रामावतार से लेकर अन्त तक की सम्पूर्ण कथा वर्णित है। इससे तो यही प्रमाणित होता है कि उस समय राम की उपासना का ब्रज मे यथेष्ट प्रचार था।

कहा कभी जोग रामधनी।

× × × ×

सूर कहत जे भजत राम कौ, तिजसौ हरि सौ सदा बनी।[1]

तथा—

अब कैसे पैयत सुख माँगै।

× × × ×

सूरदास तुम राम न भजि कै, फिरत काल संग लागै।।[2]

शिव-पार्वती

भक्ति-कालीन कवि सूर, तुलसी आदि की यह प्रमुख विशेषता रही है कि उन्होंने अपने समय में प्रचलित राम, शिव, कृष्ण—इन तीनो प्रमुख शक्तियों को एक ही ईश्वर का रूप और एक-दूसरे का पूरक वताकर बहुत समय से चले आते हुए इन देवताओ के उपासकों; विशेष रूप से वैष्णवों और शैवों के झगडो का अन्त कर दिया था।

दूसरे कर बान न लैहों।

× × × ×

सिव-पूजा, जिहि भाँति करी है; सोइ पद्धति परतच्छ दिखैहों।[3]

तथा—

नन्द सब गोपा-ग्वाल समेत।

गए सरस्वति तट इक दिन, सिव अम्बिका पूजा हेत।।[4]

सूर्य

सूर्य भी ब्रज के प्रमुख देवताओ मे से थे। कुमारियाँ इनसे सुन्दर पति की प्राप्ति के लिए मनौती मनाती थी।

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद ३९
२ वही ,, पद ६१
३ वही ,, पद ६०२
४ वही ,, पद १८०२

रवि सों विनय करति कर जोरे ।
प्रभु अन्तर जामी यह जानी, हम कारन जल खोरे ।।[१]

तथा—

आपु कदम चढि देखत स्याम ।
× × ×
बार-बार सविता सौ माँगति, हम पावें पति स्याम सुजान ।।[२]

इन्द्र

दन्द्र की पूजा वर्षा के देवता के रूप मे की जाती थी—

करौ विचार इन्द्र पूजा कौ, जो चाहौ सो लेहु मँगाई ।
बरष दिवस कौ दिवस हमारौ, घर-घर नेवज करौं चड़ाई ।।
× × ×
महरि बिनै कर जोरि इन्द्र सौ, सूर अमर कर दीजै कान्ह ।।[३]

श्रृंगार तथा वेष-भूषा

सूरदास जी ने श्रृगार और वेष-भूषा का चित्रण भली-भाँति किया है। इस प्रज्ञा-चक्षु से श्रृगार का कोई भी अग छूट नही पाया है। स्त्री-श्रृगार, पुरुष-श्रृगार, बाल-श्रृगार साधुओं का श्रृगार, केश-कलाप आदि; सभी की ओर उनकी समान दृष्टि गई है।

स्त्री-श्रृंगार तथा वेष-भूषा

ब्रज की स्त्रियों का रग-बिरंगे वस्त्र धारण करने का बडा शौक था। घर से बाहर निकलते समय विशेष रूप से किसी मंगल-कार्य को जाते समय वे पूर्णतः सुसुज्जित होकर ही निकलती थी। मस्तक पर तिलक, नेत्रों में काजल, हाथों में चूड़ियाँ एवं अन्य आभूषण तथा लहँगा अथवा साडी पहनने का विशेष प्रचलन था।

ब्रज भयौ महर कै पूत, जब यह बात सुनी।
सुन धाई सब ब्रजनारि, सहज सिंगार किये।
तन पहनें नूतन चीर, काजर नैन दिये।
कारी कंचुकि तिलक लिलार, सोभित हार हिये ।।[४]

तथा—

फूटी, चुरी गाद भरि ल्यावै, फाटै चीर दिखावै गात ।
सूरदास स्वामी की जननी, उर लगाइ हँसि पूछत बात ।।[५]

विविध अवसरों पर स्त्रियाँ अपने शरीर को अधिक सुन्दर बनाने के लिए विविध रंगो का प्रयोग करती थीं। शरीर पर कभी-कभी चन्दन का लेप भी कर लेती थी। आभूषण पहनने

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद १३८६
२ वही ,, पद १३८७
३ वही ,, पद १४३४
४ वही ,, पद ६६२
५ वही ,, पद ६५०

का विशेष शौक था। पैरो में जैहरि, कमर मे कर्धनी, हाथो मे चूडियाँ और कड़े, कानों में तर्की और कर्णफूल, नाक मे बेसरि और नथ, गले मे कठुला, हमेल, कठ श्री, हार आदि, तथा मस्तक पर शीशफूल ही उन दिनों विशेप प्रिय आभूपण थे। ठोडी पर काले या नीले रंग का बिन्दु लगा लेना या गुदना गुदवा लेना श्रृङ्गार का ही एक अग था।

बनी ब्रजनारि सोभा भारि।
पगनि जेहरि, लहँगा, अग पचरग सारि।
किंकिनी कटि, कनित ककन, कर चुरी झनकार।
हृदय चौकी चमकि बैठी, सुभग मोतिनि हार।
कठ श्री, दुलरी विराजति, चिबुक स्यामल बिन्दु।
सुभग बेसरि ललित नासा, रीझि रहे नद-नद।[१]

तथा—

ससि मुख तिलक दियौ मृगमद कौ, खुभी जराइ जरी है।
नासा तिल-प्रसून बेसरि छवि, मोतिनि माँग भरी है।
× × ×
सकरी कनक रतन मुक्तामय, लटकन चितहि चुरावै।
कबु कठ नाना मनि भूषन, उर मुकता की माल।
कनक किकिनी-नूपुर कलरव, कूजत बाल मराल॥[२]—इत्यादि॥

केश-कलाप

स्त्री-पुरुष दोनों ही सुन्दर से सुन्दर ढँग से बालों को आकर्षक बनाने का प्रयत्न करते थे। स्त्रियाँ कभी माँग को मोतियो से, तथा कभी पुष्पों से सज्जित कर लेती थी।

जसुमति राधा कुँवरि सवारति।
माँग पारि बेनी जु सँवारत, गूँथी सुन्दर भाँति॥[३]

तथा—

राजति राधे अलक भली री।
मुकुता माँग, तिलक, पन्नगि सिरसुत समेत भष लेन चली री।[४]

तथा—

बड़े-बडे बार जु ऍंड़िनि परसत, स्यामा अपने अचल मे लिएँ।
बेनी गूँथनि फूल सुगध भरे, डोलत हरि बोलत न सकुच हिये॥[५]

पुरुष तथा बाल-श्रृंगार

स्त्रियों की ही भाँति पुरुष भी आभूषण-प्रिय थे। वे भी अपने शरीर को विविध आभूषणों से सज्जित करते थे। कटि मे मेखला, हाथों मे कड़े, अँगुलियो मे मुद्रिकाएँ आदि पहनने का

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद १६६१
२ वही ,, पद १६७३
३ वही ,, पद १३२२
४ वही ,, पद २३२१
५ वही ,, पद ३२३५

प्रचलन था। उन्हे भी रगीन वस्त्र ही अधिक प्रिय थे। शरीर पर चन्दन का लेप भी किया जाता था, जो सम्भवत शीतलता के लिए होता होगा। सिर पर रग-बिरगी पाग बाँधने का भी प्रचलन था।

कटि-तट पीत बसन सुदेस।
× × ×
कनक मान मेखला राजत, सुभग स्यामल अग ॥[१]

तथा—

कुँडल श्रवन कनक मनि भूषित, जटिल लाल अति लोल मीन तन।
चन्दन चित्र-विचित्र अग पर, कुसुम सुबास धरे नँद-नंदन ॥[२]

तथा—

ऐसे सुन्दर साँवरे तै चित लियौ चुराइ।
पाग ऊपर गोसमावल, रग-रंग की बनाइ।
× × ×
कटि तट काछनि राजई, पीताम्बर छबि देत। —इत्यादि ॥[३]

विविध विश्वास

ब्रजवासियो का पुनर्जन्म, जादू-टोना, आदि अनेक बातो मे विश्वास था। अपने दैनिक कार्यों मे वे उन बातो का ध्यान रखते थे।

पुनर्जन्म

ब्रजवासियों का विश्वास था कि मनुष्य एक बार मर कर बार-बार जन्म लेता है। सूर ने स्थान-स्थान पर इस ओर सकेत किया है। उन्होंने पौराणिक कथाओ का भी आश्रय इसकी पुष्टि के लिए लिया है। उनका वह विश्वास था कि नवीन जन्म पिछले जन्म के कर्मानुसार ही मिलता है।

हरिहि मिलत काहे कौ घेरी।
× × × ×
पालागौ छाँडहु अब अँचल, बार-बार विनती करौ तेरी।
तिरछौ करम भयौ पूरब कौ, प्रीतम भयौ पाइ की बेरी ॥[४]

तथा—

कस हेतु हरि जनम लियौ।
× × × ×
पूरब तप बहु कियौ कष्ट करि, इनकौ बहुत रिनी हौ ॥[५]

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद १२५१
२ वही ,, पद ३६५४
३ वही ,, पद १६६०
४ वही ,, पद १४२५
५ वही ,, पद २२२२

जादू-टोना तथा जन्त्र-मन्त्र

ब्रजवासियो मे जादू-टोना आदि का भी भारी प्रचलन था। समाज में भी कुछ लोग ऐसे थे, जो जादू-टोना या जन्त्र-मन्त्र आदि का कार्य करते थे। स्त्रियो का तो ऐसी बातों पर इतना प्रगाढ़ विश्वास था कि वे अपने मरते हुए बच्चों तक को जादू-टोना आदि से भी बचाने का प्रयत्न करती थी।

टोना-टामनि, जन्त्र-मंत्र करि ध्यावौ-देव दुआरौ री।
सासु-ननद, घर घर लिए डोलति, याकौ रोग विचारौ री ॥[1]

तथा—

प्रात गई नीकैं उठि घर तैं।
× × × ×
सूर गारुडी गुन करि थाके, मंत्र न लागत थर तें ॥[2]

नजर लगना

सूर की व्यापक दृष्टि ने इस विषय को भी नही छोडा। माताएँ जैसा कि आज भी प्रचलन है, अपने बच्चो को दूसरों की कुदृष्टि से बचाने के लिए अपने बच्चों के मस्तक पर 'डिठौना' देती थी। कभी-कभी 'बघनखे' का प्रयोग करती थी।

जननी बलि जाइ हालरु हालरौ गोपाल।
कठुला-कंठ वज्र केहरि नख, मसि बिन्दुका सुमृग मद भाल ॥[3]

शिशु को नजर से बचाने के लिए सभी सम्भव उपाय कर लिए जाते थे। यदि तब भी किसी की कुदृष्टि लग ही जाती थी, तो उसे राई-लौन द्वारा उतारने का प्रयत्न किया जाता था।

बलि गई बाल रूप मुरारि।
× × ×
कबहुँ अंग भूषनि बनावति, राई लौन उतारि ॥[4]

तथा—

जब दधि बेचन जाहिं, मारग रोकि रहे।
× × ×
दीठि लगावति कान्ह कौ जरै-बरै वे आँखि ॥[5]

शकुन-अपशकुन आदि

शकुनों तथा अपशकुनों पर भी लोगों का विश्वास था। छींक आना अथवा बिल्ली द्वारा मार्ग काटना, अंगो का फडकना, कुत्ते द्वारा कान फटफटाना आदि बाते अपशकुन की प्रतीक मानी जाती थी।

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद ३८९०
२ वही ,, पद १३६२
३ वही ,, पद ७०२
४ वही ,, हद ७३६
५ वही ,, पद २१०६

खेलत चलें नन्दकुमार ।
× × × ×
महर पैठत सदन भीतर, छीक बाँई धार ।
सूर नंद कहत महरि सौं, आजु कहा विचार ।।[1]

तथा—

हाय-हाय करि सखनि पुकार्‌यौ ।
× × × ×
बाँए काग, दाहिने खर-स्वर, व्याकुल घर फिरि आई ।।[2]

तथा—

देखे नन्द चल घर आवत ।
पैठत पौरि छीक भई बाँए, दाहिने धाह सुनावत ।
फटकत स्रवन स्वान द्वारे पर, गररी करत लराई ।
माथे पर ह्वै काग उडान्यौ, कुसुगुन बहुतक पाई ।।[3]

तथा—

भुज फरकत अँगिया तरकति, कोउ मीठी बात सुनावै ।
स्याम सुन्दर कौ आगम जानिय, वै निश्चय घर आवै ।
इमि सगुननि कौ यहै भरोसौ, नैननि दरस दिखावै ।[4]

पर्दा प्रथा

सूर ने अनेक स्थानो पर घूँघट, लाज और संकोच आदि की चर्चा की है। इसका कारण यही था कि वे मुसलमानी युग मे उत्पन्न हुए थे। वैसे इन्होने कही भी पर्दा-प्रथा का खण्डन करने का प्रयत्न नहीं किया है।

मोहनि कर तै दोहनि लीन्ही, गोपद बछरा जोरे ।
× × × ×
दै घूँघट-पट ओट नील हँसि, कुँवरि मुदित मुख मोरे ।
मनहु सदय-ससि कौ मिलि दामिन, घेर लियौ घन घोरे ।।[5]

तथा—

स्यामा कनक-लकुट कर लीन्हे, पीताम्बर उर धारै ।
उत गिरिबर नीलाम्बर-सारी, घूँघट-ओट निहारै ।।[6]

नारी का स्थान

सूरदास ने तत्कालीन समाज में नारी का स्थान भी बता दिया है। समाज में; विशेषत: ग्रामीण समाज में, स्त्रियाँ स्वच्छन्द रूप से विचरण करती था। वही विशेष रूप से दूध-दही आदि बेचने नगरों में जाया करती थीं। सम्भवत: पुरुष-वर्ग यह कार्य न करता हो।

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद ११४२
२ वही ,, पद ११५८
३ वही ,, पद ११५९
४ वही ,, पद ४०७२
५ वही ,, पद १३५०
६ वही ,, पद २७७०

बूझत स्याम कौन तू गोरी ।
× × × ×
तुम्हरौ कहा चोरि हम लैहै, खेलन चलौ सग मिलि जोरी ॥[१]

तथा—

निसि काहै बन कौ उठि धाई ।
हँसि-हँसि स्याम कहत है सुन्दरि, की तुम ब्रज मारगहि भुलाई ।
गई रह्यौ दधि बेचन मथुरा, तहाँ आजु अवसेर लगाई ॥[२]

तथा—

निकसि कुवर खेलन चले रग होरी ।
गए वृषभानु की पौरि लाल रग होरी ।
ते सब आई दौरि लाल रग होरी ।—इत्यादि ॥[३]

विविध वाद्य एवं नृत्य-गान आदि

विवाह, जन्म, रास, पर्व, त्यौहार, उत्सव आदि पर अथवा अन्य मंगल के अवसरों पर प्रसन्नता प्रकट करने के लिए ब्रजवासी विविध प्रकार के वाद्य-यन्त्र बजाते थे । उस समय जिन थोडे से वाद्य-यन्त्रो का प्रचलन था, उन्ही की सूरदास जी ने अनेक स्थानो पर पुनावृत्ति की है ।

ताल मृदग, झाँझ इन्द्रिनि मिलि, बीना, बेनु बजायौ ।
मन मेरै नट के नायक ज्यौ, तिनही नाच नचायौ ॥[४]

नृत्य, गान और वाद्य-वादन का चोली-दामन का-सा साथ रहा है । एक के बिना दूसरा अधूरा माना जाता है । सूरदास जी सगीत विद्या के भी आचार्य थे । उनके प्रत्येक पद मे उनके संगीतज्ञ होने की झलक झलकती है । अनेक ताल, लय, स्वर आदि का उनके पदो मे समावेश है । नृत्य के समय ध्वनि करने के लिए कमर मे किंकिणी तथा चरणों में नूपुर बाँध लिए जाते थे, जिसमे नृत्य की ताल और लय ठीक बनी रहे ।

नृत्यत स्याम नाना रंग ।
× × ×
चलत गति करि कुनित किंकिनि, घुघरु झनकार ।
मनौ हँस रसाल बानी, अरस-परस बिहार ।[५]

तथा—

राग रागिनी प्रकट दिखायौ, गायौ जो जिहिं रूप ।
सप्त सुरनि के भेद बतावति, नागरि रूप अनूप ॥—इत्यादि ॥[६]

पाक विज्ञान

सूर ने ब्रज मे प्रचलित विविध प्रकार के खाद्य पदार्थों का नामोल्लेख मात्र किया है । विभिन्न सस्कारो तथा अन्य अवसरों पर अनेक प्रकार के व्यंजन एवं खाद्य पदार्थ बनते थे । प्रतिदिन के भोजन मे भी दूध तथा दूध से बने पदार्थों का ही आधिक्य होता था । मीठी, खट्टी, चरपरी, नमकीन आदि सभी रसों के व्यजनों से लोग भली-भाँति परिचित थे ।

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद १२६१
२ वही ,, पद १६९६
३ वही ,, पद ३४८४
४ वही ,, पद २०५
५ वही ,, पद १६७४
६ वही ,, पद १७६२

कान्हर बलि आरि न कीजै, जोइ-जोइ भावै सोइ लीजै।
खोवामय मधुर मिठाई, सो देखत अति रुचि उपजाई।
सुठि सरस जलेबी बोरी, जिहि जेवत रुचि नहि थोरी।
अरु खुरमा सरस सँवारे, ते परसि धरे है न्यारे।
सक्करपारे सद पागे, ते जेवत परम सभागे।
सेव, लाड़ू रुचिर सँवारे, जे मुख मेलत सुकमारे।
सुठि मोती लाड़ू मीठे, खात न कबहूँ उबीठे।
गूझा वहु पूरन पूजे, भरि-भरि कपूर रस चूरे।

× × ×

मृदु मालपूआ मधु साने, जो तुरत लपकत करि आने।
घेवर अति घिरत चभोरे, लै खाँड सरस रस बोरे।
मधुरी अति सरस खजूरी, सद परसि धरी घृत पूरी।
षटरस परकार मँगाए, जे वरनि जसोदा गाए ॥—इत्यादि ॥[1]

तथा—

खार-खाँड खीचरी सँवारी, मधुर महेरी गोपनि प्यारी।
राइ गोग लियौ भात पसाई, मूँग ढरहरी हीग लगाई।
पापर, बरी, अचार, परम रुन्दि, अदरक अरु निबुअनि ह्व है रुचि।
सरन करितरि सरस तोरई, सेम, सीगरी झाँकि झोरई ॥[2]

मनोरंजन के साधन

सूरदास जी के समय मे मनोरजन के लिए जल-क्रीड़ा, रस, खेल, हिडोले, आखट, चौपड, चौगान आदि का प्रयोग होता था। चौपड का नाम अनेक स्थान पर आया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि चौपड जन-साधारण मे प्रचलित थी—

चौपरि जगत मडे जुग बीते।
गुन पाँसे क्रम अंक चारि गति, सारि न कबहूँ जीजै ॥[3]

तथा—

खेलन जाहु बाल सब टेरत।

× × ×

ले चौगान-बटा अपने कर, प्रभु आये घर बाहर।
सूर-स्याम पूछत सब ग्वालिनि, खेलौगे किही ठाहर ॥[4]

तथा—

बहुरि रच्यौ सुख रास कियौ।
भुज-भुज जोरि जुरों ब्रजबाला, वैसेई रस उमँगि हियो ॥[5]

ब्राह्मण, ऋषि, मुनि आदि

ब्रज-समाज मे ब्राह्मण, ऋषि, मुनि आदि का बडा सम्मान तथा आदर होता था। यहाँ तक कि राजा और बडे-बडे सरदार भी उन्हें देखकर सिंहासन छोड़ उठ खड़े होते थे। वास्तव मे

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद ८०१
२ वही ,, पद १८३१
३ वही ,, पद ६०
४ वही ,, पद ८६१
५ वही ,, पद १७५०

ये लोग अपनी विद्वता एवं योग्यता के कारण ही इतने सम्मानित होते थे। सूर ने स्थान-स्थान पर साधु-सतो के सत्संग की महिमा गाई है। उनके आगमन मात्र से ही वहाँ करोड़ो तीर्थों की उत्पत्ति हो जाती है—

जादिन संत पाहुने आवत।
तीरथ कोटि सनान करै फल, जैसे दरसन पावत।
नयो नेह दिन-दिन अति उनके, चरन कमल चित लावत।
सूरदास संगति करि तिनकी, जे हरि सुरति करावत ॥[1]

आतिथ्य सत्कार, शिष्टाचार एवं अभिवादन

उस समय ब्रज में अतिथि-सत्कार की विभिन्न प्रथाएँ प्रचलित थी। सूरदास जी ने अपनी रचनाओ मे विभिन्न प्रकार और विभिन्न श्रेणी के व्यक्तियों के लिए विभिन्न प्रकार से सत्कार एवं स्वागत की व्यवस्था की है।

महाराज दसरथ तहँ आए।
बैठे जाइ जनक मन्दिर मँह, मोतिन चौक पुराए।
विप्र लगे धुनि बेद उचारन, जुवतिनि मंगल गाए ॥[2]

तथा—

पहुँचौ आइ नन्द कै द्वारे, जसुमति देख अनन्द बढ़ायौ।
पाइ धोइ भीतर बैठायौ, भोजन कों निज भवन लिपायौ ॥[3]

तथा—

पाटम्बर पाँवड़े बिछाए, महलनि बंदनवार बँधाए।
महर लिवाइ गए निज मन्दिर, हरषित लियो उतारी।
अरघ देत भीतर तिंहि लीन्हौ, धनि-धनि दिन कहि आज॥ इत्यादि ॥[4]

सूर-साहित्य में वर्णित ब्रज-संस्कृति का यह दिग्दर्शन-मात्र है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सूर के वर्णनों मे से कई तत्वों का समावेश है, इसलिए इनसे यह निष्कर्ष निकालना कि —ये सभी वर्णन सूर के समय में प्रचलित प्रथाओं का यथार्थ चित्रण करते है, कुछ भूल होगी। परन्तु जब हम ब्रज के आज के ग्रामीण-समाज की प्रचलित प्रथाओ और रिवाजो का अध्ययन करते है, तो बहुत कुछ यथार्थ चित्र सूर के समय का भी हमारे सामने आ जाता है। अब धीरे-धीरे बहुत-सी प्रथाओं का लोप होता जा रहा है और बहुत-सी नवीन प्रथाओं का प्रचलन हो रहा है। वास्तव में ये सब प्रथाएँ और प्रचलन संस्कृति के वाह्य रूप हैं, इन्ही के पीछे सस्कृति के मूल रूप की झाँकियाँ मिलती है। आज की सभ्यता के आवरण में वे झाँकियाँ कुछ मलिन-सी होती जा रही है। इस विज्ञान के भौतिकवादी युग में जब मानव और मानवता के आदर्श और मान-दण्ड बदल रहे है, तब इन झाँकियों के दर्शन और भी दुर्लभ हो जावेगे। इसलिए शीघ्र ही इनका संकलन और मूल्यांकन हो जावे, तो ये राष्ट्र की अपूर्व-निधि होगी।

———

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद ३६०
२ वही ,, पद ४६८
३ वही ,, पद ८६६
४ वही ,, पद १६०२

नामानुक्रमणिका

(अ)

(आ)

(ओ)

(क)

(ख)

(ग)

(घ)

(च)

(छ)

(ज)

(ड)

(त)

(द)

(ध)

(न)

(प)

(फ)

(ब)

(भ)

(म)

(य)

(र)

(ल)

(व)

(श)

(ष)

(स)

(ह)

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थों की सूची

(अ) वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, और पुराण-साहित्य

१ ऋग्वेद, यजुः, साम
२ ईशावास्योपनिषद्
३ तैत्तिरीयोपनिषद्
४ वृहदारण्यक
५ श्वेताश्वतरीपनिषद्
६ शतपथ ब्राह्मण
७ अग्नि पुराण
८ गरुण पुराण
९ देवी भागवत
१० पद्म पुराण
११ ब्रह्म पुराण
१२ ब्राह्मण पुराण
१३ ब्रह्म वैवर्त्त पुराण
१४ भविष्य पुराण
१५ (श्रीमद्) भागवत महापुराण
१६ मार्कण्डेय पुराण
१७ वामनपुराण
१८ वायु पुराण
१९ विष्णु पुराण
२० शिव पुराण
२१ स्कन्ध पुराण
२२ हरिवंश पुराण

(आ) सूत्र ग्रन्थ

२३ नारद भक्ति-सूत्र—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस गोरखपुर, सस्करण स० २००८

२४ शाडिल्य भक्ति-सूत्र व्याख्या—सम्पादक म० म० प० गोपीनाथ कविराज, मुद्रक जैंकृष्ण दास हरिदास गुप्त, काशी।

(इ) साम्प्रदायिक साहित्य

२५ आणु-भाष्य—बनारस संस्कृत सीरीज, १९०७ ई०; प्रकाशक—ब्रजवासीदास एण्ड कम्पनी बनारस।

२६ अष्ट सखामृत।

२७ उज्ज्वल नीलमणि किरण—सं० प्राणगोपाल गोस्वामी नवद्वीप, सस्करण सन् १९२७ ई०।

२८ जमुनादास कृत—धौल।

२९ तत्वदीप निबन्ध—शास्त्रार्थ व भागवतार्थ प्रकरण, ले० श्री वल्लभाचार्य, सं० नन्दकिशोर भट्ट, प्रकाशक—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

३० तत्वार्थदीप निबन्ध—शास्त्रार्थ प्रकरण, ले० श्री वल्लभाचार्य, प्रकाशक—पं० श्रीधर शिवलाल जी, ज्ञानसागर प्रेस, बम्बई, संस्करण स० १९६१।

३१ नागर सुमच्चय—(नागरीदास)।

३२ भक्तिमाल भक्ति-सुधा—(नाभादास) नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, सस्करण १९२२ ई०।

३३ भक्तिमाल की टीका (प्रियादास)।

३४ भक्त विनोद—(कवि मियाँ सिंह)।

३५ भाव संग्रह।

३६ वल्लभ दिग्वजय—ले० गोस्वामी यदुनाथ जी, प्रकाशक—नाथद्वारा विद्या-विभाग, स० १९७५ वि०।

३७ वल्लभ पुष्टि-प्रकाश।

३८ वृत्रासुर चतु.श्लोकी—श्री गोस्वामी पुरुषोत्तम जी के प्रकाश सहित, प्रकाशक—सेठ जेठानन्द आसामल, कालिवादेवी रोड, बम्बई; सन् १९३७।

३९ वैष्णवाह्निक पद।

४० षोडश ग्रन्थ—लेखक० श्री वल्लभाचार्य, सम्पादक—भट्ट रमानाथ शर्मा, १९३८ ई०।

४१ सम्प्रदाय कल्पद्रुम।
४२ सस्कृति वार्त्ता मणिमाला।
४३ सप्रकाश तत्वदीप निबन्ध—ज्ञानसार यन्त्रालय, बम्बई, सम्वत् १९६४ वि०।
४४ सिद्धान्त रहस्य विवृति—ले० श्री हरिराय जी, अनुवाद देवर्षि भट्ट, श्री रमानाथ जी, सस्करण सम्वत् १९८४ वि०।
४५ स्वरूप-निर्णय—ले० श्री हरिराय जी सम्पादक—द्वारकादास परीख, प्र०—सत्सग कार्यालय, सस्करण स० २००७ वि०।
४६ स्वामिनी स्तोत्र और स्वामिन्यष्टक—ले० गोस्वामी विट्ठलनाथ, वृहत्स्तोत्र सरित्सागर भाग २, निर्णय-सागर प्रेस, बम्बई।
४७ सुबोधिनी—ले० वल्लभाचार्य, भाषान्तर कर्त्ता—देवर्षि रमानाथ शास्त्री, प्रकाशक—विद्या-विभाग श्रीनाथ द्वारा।
४८ हरि भक्त-रसामृत सिन्धु—ले० श्री रूपगोस्वामी, प्रकाशक—अच्युत ग्रन्थमाला, काशी।
४९ श्री वल्लभ जी महाराज के वचनामृत—प्रकाशक—लल्लूभाई छगनलाल देसाई, अहमदाबाद, स० १९८० वि०।
५० श्री हरिराय वाङ्मुक्तावली—प्रकाशक—पुष्टिमार्गीय पुस्तकालय, नडियाड, १९९३ वि०।
५१ श्री हरिराय जी कृत बडे शिक्षापात्र—प्रकाशक—श्री सुबोधिनी सभा, जगदीश्वर प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई—संस्करण सं० २००१ वि०।
५२ श्री भागवत निबन्धानुसारी—गोकुलराय कृतोऽध्यायार्थः, प्रकाशक—जेठानन्द आप्तनमल, १९९६ वि०।

(ई) जीवन-चरित और वार्त्ता-साहित्य

५३ चरितावली—(भारतेन्दु) सं० १९१७
५४ मूल गुसाँई चरित।
५५ श्री चैतन्य चरितावली—प्रभुदत्त (ब्रह्मचारी)।
५६ श्री महाराज सूरदास जी का जीवन-चरित—भारत जीवन प्रेस, काशी, स० १९८३ वि०।
५७ प्राचीन वार्त्ता रहस्य—विद्या-विभाग, काँकरौली, स० १९८८ वि०।
५८ गोस्वामी श्री हरिराय जी कृत सूरदास की वार्त्ता—सम्पादक—श्री प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस मथुरा, संस्करण सं० २००८ वि०।
५९ चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता—प्रकाशक—वेकटेश्वर प्रेस, बम्बई; सम्वत् १९८५।
६० ए शॉर्ट बायोग्राफिकल स्केच ऑव श्री वल्लभाचार्य जीज लाइफ, लेखक—नटवरलाल, गोकुलदास शाह, प्रकाशक—लल्लूभाई छगनलाल देसाई, अहमदाबाद।
६१ हित हरिवश चरित (भगवन्मुदित), मालवीय पुस्तकालय, अलीगढ़।

(उ) दार्शनिक

६२ गीता रहस्य—ले० लोकमान्य तिलक, अनु० माधवराव प्रेस, सन् १९२४ ई०।
६३ श्रीमद्भागवद्गीता—गीता प्रेस गोरखपुर, संस्करण सं० २०७८ वि०।
६४ ब्रह्मवादसग्रहः शुद्धाद्वैतपरिष्कारश्च—प्रकाशक—जयकृष्णदास हरिदास गुप्त काशी, सं० १९८५ वि०।
६५ ब्रह्मवाद—ले० रमानाथ शास्त्री, प्रकाशक—पुष्टि-मार्गीय पुस्तकालय, नाथ द्वारा संस्करण स० १९९२ वि०।
६६ शुद्धाद्वैतदर्शन—भाग १, २, ३—ले० भट्ट रमानाथ शास्त्री, बडा मन्दिर भुईवाडा, बम्बई।
६७ शुद्धाद्वैत मार्तण्ड—ले० गोस्वामी गिरधर जी, प्रकाशक—रत्न गोपाल भट्ट, बनारस।

(ऊ) ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक

६८ अकबर दी ग्रेट मुगल—विसेण्ट स्मिथ १९१७ ई०।

६९ अकबर नामा—भाग ३ ।
७० आयने-अकबरी—अनु० ब्लाक मैन।
७१ इम्पीरियल फर्मान—झावेरी ।
७२ केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया—भाग ४
७३ मुन्तखिव-उल-तवारीख ।
७४ मुशियात अबुलफजल—अब्दुलसमद द्वारा संकलित स० १६६३ वि०
७५ हिस्ट्री ऑव मैडिविल इण्डिया (डा० ईश्वरी प्रसाद) ।
७६ पुष्टि मार्ग नो इतिहास—प्रकाशक—बसन्तराम हरिकृष्ण शास्त्री, अहमदाबाद, सस्करण १९३३ ई० ।
७७ हिन्दुत्व—(रामदास गौड) ।
७८ Influence of Islam on Indian Culture—(ले० डा० ताराचन्द) ।
७९ The Coming of the Brahmanism and the South of India J R A. S. 1912 (Govindacharya).
८० Historical sketches of Daccan, Book II and III (K. V. Subrahmanya Aiyer).
८१ South Indian History (S. K Ayangar)
८२ History of Indian Philosophy (Surendra Nath Gupta).
८३ Material for the study of Pushthimarga (Guru Prasad Tandan).
८४ Vaishnavism, Shavism and Minor Religious systems (Sir R G. Bhandarkar).

(ए) साहित्यिक एवं समीक्षात्मक

८५ अष्टछाप—ले० गोकुलनाथ कृत, सम्पादक डा० धीरेन्द्र वर्मा, प्रकाशक—रामनारायणलाल प्रयाग, सस्करण १९२९ ई० ।
८६ अष्टछाप परिचय—ले० प्रभुदयाल मीतल, प्रकाशक—अग्रवाल प्रेस, मथुरा ।
८७ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, भाग १, २—ले० डा० दीनदयालु गुप्त, प्रकाशक—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००४ वि० ।
८८ भारतीय साधना और सूर साहित्य—(डा० मुन्शीराम शर्मा)
८९ भक्त शिरोमणि महाकवि सूरदास—(नलिनी मोहन सान्याल) ।
९० महाकवि सूरदास—नन्ददुलारे बाजपेयी।
९१ सूरसागर हस्तलिखित प्रतियाँ (जिनका उल्लेख द्वितीय अध्याय में हुआ है)
९२ सूरदास मुद्रित प्रतियाँ ,, ,, ,,
९३ सूरदास के अन्य ग्रन्थ ,, ,, ,,
९४ सूरदास जी के दृष्टिकूट—नवलकिशोर प्रेस, स० १९०४ वि० ।
९५ सूरदास—ले० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सरस्वती मंदिर बनारस, सस्करण स० २००६ ।
९६ सूरदास—ले० जनार्दन मिश्र ।
९७ सूरदास—डा० ब्रजेश्वर वर्मा, हिन्दी परिषद् विश्वविद्यालय प्रयाग, संस्करण, सन् १९५० ।
९८ सूरदास—डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल, सम्पादक डा० भागीरथ मिश्र, लखनऊ ।
९९ सूर निर्णय—द्वारकादास परीख व प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस मथुरा, संस्करण सम्वत् २००६ ।
१०० सूर साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक—मध्यभारत हिन्दी साहित्य समिति, सस्करण स० १९९३ वि० ।
१०१ सूर साहित्य की भूमिका—रामरतन भटनागर, वाचस्पति त्रिपाठी ।
१०२ सूर सौरभ भाग १, २—(प्रो० मुन्शीराम शर्मा) सस्करण २००२ वि० ।

(ऐ) हिन्दी-साहित्य के इतिहास ग्रन्थ

१०३ मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर—(सर जार्ज ग्रियर्सन)।
१०४ मिश्रबन्धु विनोद—(मिश्रबन्धु)।
१०५ शिवसिंह सरोज—(शिवसिंह सेंगर)।
१०६ हिन्दी साहित्य—(डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी)।
१०७ हिन्दी साहित्य का इतिहास—(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल) ना० प्र० स० काशी, स० २००९।
१०८ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—(डा० रामकुमार वर्मा)।

(ओ) विविध विषयों के ग्रन्थ

१०९ इस्त्वार दैला लितेरा त्यूर ऐन्दवै ऐन्दुस्तानी।
११० ए वर्ड्स आई व्यू ऑव पुष्टिमार्ग—लें० नटवरलाल गोकुलदास शाह, प्रकाशक—लल्लूभाई छगनलाल देसाई, अहमदाबाद।
१११ गौडीय दशम खण्ड।
११२ तर्जुमा-उल-कुरान—(मौलाना आजाद) सैयद एम० हसन द्वारा अनूदित।
११३ भक्ति योग—लें० चौ० रघुनन्दनप्रसाद सिंह, प्रकाशक—गीता प्रेस गोरखपुर, संस्करण १९९३ वि०।
११४ वसन्त धमार कीर्तन संग्रह, भाग २—प्रकाशक—लल्लूभाई छगनलाल देसाई, अहमदाबाद स० १९८४ वि०।
११५ ब्रजयात्रा वर्णन—प्रकाशक—प० माधव शर्मा काशी, संस्करण सं० १९९६ वि०।
११६ रसेश श्रीकृष्ण—लें० जे० जी० शाह, प्रकाशक—लल्लूभाई छगनलाल देसाई, अहमदाबाद।
११७ राम रसिकावली—(ठा० साधुराम सिंह)।
११८ लघु भागवतामृत—लें० श्री रूप गोस्वामी, प्रकाशक—खेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई, स० ११५९ वि०।
११९ वर्षोत्सव और कीर्तन संग्रह—प्रकाशक-लल्लूभाई छगनलाल देसाई, संस्करण १९९३ वि०।
१२० व्यास वाणी—प्रकाशक—राधाकिशोर गोस्वामी वृन्दावन, संस्करण १९९४ वि०।

(औ) पत्र-पत्रिकाएँ—लेख, भाषण आदि

१२१ कल्याण, साधनाङ्क, कृष्णाङ्क और भागवताङ्क, गीता प्रेस, गोरखपुर।
१२२ Modern Hindusim and its Debt to the Nestorians C. Dr.
१२३ Grierson, Journal of Royl Asiatic Society.
१२४ वल्लभीय सुधा—मथुरा से समय-समय पर प्रकाशित।
१२५ ब्रज भारती—मथुरा से प्रकाशित।
१२६ श्रीकृष्ण—काशी से प्रकाशित।
१२७ Gorakhnath and Kanfata Yogis (an article by W. Briggs, Published in 'Religious Life in India' series.)
१२८ भाषण सूरदास और उनकी कविता, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, बंगाल।
१२९ हिन्दी मण्डल द्वारा प्रकाशित (सन् १९४४)।
१३० सूरदास और उनका साहित्य—पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी (सर्चलाइट प्रेस, पटना)।
१३१ The Birth date of Ballabhacharya, the advocate of Sudhadvait Vedant, by Prof. Bhatt of Baroda College (9th All India Oriental Conference, Trivendram)
१३२ गजेटियर ऑव दी मथुरा डिस्ट्रिक्ट, गवर्नमेण्ट प्रेस, इलाहाबाद, १९११ ई०।